वे प्रफुल्ल और प्रसन्न हैं; क्योंकि किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न होने से जो आनन्द मिलता है, वह उन्हें प्राप्त है। जो सौभाग्यशाली हैं, उन्हें आत्म-त्याग का भी आनंद प्राप्त होता है। आज, हम भारत को स्वतंत्र बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। यह एक बहुत बड़ी बात है। लेकिन उससे भी बड़ी है मानव-समाज की हित-कामना। हम यह समझते हैं कि हमारा आंदोलन वेदना और अत्याचार का अंत करने के लिए मानव-संग्राम का एक अंग है। इसलिए हमें प्रसन्नता होती है कि हम भी अपने संसार की प्रगति के लिए भर-सक थोड़ा-बहुत प्रयत्न कर रहे हैं।

इस अरसे में तुम तो आनंद-भवन में बैठी हो, तुम्हारी मा मलाका-जेल में हैं, और मैं इस नैनी-जेल में हूँ। कभी-कभी हम तीनों ही को एक दूसरे की याद से बेहद दर्द होता है। लेकिन उस दिन की याद करो, जब हम तीनों फिर मिलेंगे। मैं उत्सुकता के साथ उस दिन की प्रतीक्षा करूँगा। उसका ध्यान मेरे हृदय के बोझ को हलका करेगा।

(३)

इनक़िलाब ज़िंदाबाद

जनवरी ७, १९३१

प्रियदर्शिनि !—आँखों को प्यारी, लेकिन आँखों से ओझल होने पर और भी अधिक प्यारी ! आज जब मैं तुमको पत्र लिखने बैठा, तब सुदूर से मेघ-गर्जन के समान अस्पष्ट आवाज़ें मुझे सुनाई देने लगीं। पहले तो कुछ भी समझ में न आया कि वे क्या हैं । पर उनकी ध्वनि परिचित-सी थी; और मेरे हृदय से उनका प्रत्युत्तर-सा निकलने लगा । धीरे-धीरे वे पास आने और ज़ोर-ज़ोर से सुनाई देने लगीं । 'इनक़िलाब ज़िंदाबाद, इनक़िलाब ज़िंदाबाद'—सारा जेल इस उत्तेजना-पूर्ण आह्वान से गूँज उठा, और हमारे हृदय उसे सुनकर हर्ष से प्रफुल्लित हो गए । मैं नहीं जानता कि वे लोग कौन थे, जो हमारे रण-घोष को इतने पास मे जेल के बाहर चिल्ला रहे थे ? क्या वे शहर के नर-नारी थे अथवा देहात के किसान ? न मुझे आज उस अवसर ही का पता है, जिसके उपलक्ष में यह घोष हो रहा था । लेकिन वे कोई भी रहे हों, उन्होंने हमें सुखी बनाया, और हमने भी शुभ कामनाओं के साथ उनके अभिवादन का मूक उत्तर दिया ।

'इनक़िलाब ज़िंदाबाद' हम क्यों चिल्लाते हैं ? विप्लव और परिवर्त्तन के हम क्यों इच्छुक हैं ? निस्संदेह भारत आज दिन एक व्यापक परिवर्त्तन के लिए लालायित है । लेकिन जिस परिवर्त्तन की राह हम सब देख रहे हैं, उसके बाद और भारत के आज़ाद हो जाने पर भी, हम शांत होकर चुपचाप तो नहीं बैठ सकते । यह संसार (वह सब, जो सजीव है) सदा एक-सा नहीं रहता । सारी प्रकृति प्रतिदिन और प्रतिपल बदलती रहती है । सिर्फ़ मृतकों ही की वृद्धि रुक जाती है और वे शांत पड़े रहते हैं । ताज़ा जल बहा करता है, यदि तुम उसकी गति को रोक दो तो वह निश्चल (होकर गँदला) हो जाता है । यही हाल मनुष्य के जीवन और जाति के जीवन का भी है । हमारी इच्छा हो या न हो, हम बढ़ते-बढ़ते बूढ़े अवश्य हो जाएँगे । शिशु बढ़कर छोटी-छोटी कन्यकाएँ, और छोटी-छोटी कन्यकाएँ बढ़कर बड़ी कन्याएँ, प्रौढ़ महिलाएँ और फिर बूढ़ी औरतें हो जाती हैं । हमें इन परिवर्त्तनों को सहना ही पड़ता है । लेकिन हममें से अनेक इस बात को मानने से इनकार करते हैं कि संसार परिवर्त्तनशील है । वे अपने मन को ताले-कुंजी से बंद रखते और नए विचारों को उसमें घुसने की इजाज़त नहीं देते हैं । इतना वे किसी चीज़ से नहीं डरते, जितना मनन-चिंतन के विचारमात्र से भयभीत हो जाते हैं । वे और उनके समान दूसरे लोग बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को नहीं बना सकते । इसीलिए समय-समय पर भारी धड़ाके होते हैं । यही कारण है कि संसार में बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ होती हैं, जैसे एक सौ चालीस वर्ष पूर्व फ़्रांस का विप्लव हुआ या तेरह साल पहले रूस में क्रांति हुई । इसी तरह अपने इस देश में हम लोग भी आज दिन एक क्रांति के बीच से गुज़र रहे हैं । निस्संदेह हम स्वतंत्रता के इच्छुक हैं ।

लेकिन इसके अलावा हम कुछ और भी चाहते हैं। हम सारी बँधी हुई जल-राशियों को साफ़ कर डालना और स्वच्छ, निर्मल जल को सब जगह पहुँचा देना चाहते हैं। हम गर्द-गुबार, ग़रीबी और मुसीबत को अपने देश से निकाल फेंकने को उत्सुक हैं। बहुत-से लोगों के दिमाग़ों से उन मकड़ी के जालों को भी, जहाँ तक संभव हो, हमें साफ़ करना है, जो उनको हमारे परम ध्येय की सिद्धि के चिंतन और उसके लिए मिलकर काम करने से रोकते हैं। यह बहुत बड़ा काम है, और इसके करने के लिए, संभव है, बहुत समय की आवश्यकता हो। कम-से-कम हमें इसे आगे तो बढ़ा ही देना है। 'इनक़िलाब ज़िंदाबाद'!

हमारी क्रांति अभी आरंभ हुई है। भविष्य क्या दिखाएगा, हमें नहीं मालूम। लेकिन वर्त्तमान ने हमारे परिश्रम का उदार बदला दे दिया है। भारत की महिलाओं को देखो, वे संग्राम में सबसे आगे कैसे बढ़ रही हैं। सुकुमार परन्तु उसपर भी वीर और दुर्जेय, देखो वे कैसे दूसरों को रास्ता दिखा रही हैं। वह पर्दा, जो हमारी वीर और सुंदर देवियों को बंद रखता था, जो उनके तथा उनके देश के लिए अभिशाप सिद्ध हो रहा था, वही पर्दा क्या आज उन अजायबघरों की अलमारियों में अपने उचित स्थान पर पहुँचने के लिए जल्दी-जल्दी नहीं खिसक रहा है—उन अजायबघरों की अलमारियों में, जहाँ हम प्राचीन युगों के स्मारक पदार्थों को रखते हैं?

बच्चों को देखो, लड़के-लड़कियों को देखो, बानर-सेनाओं को देखो, बाल-बालिका-सभाओं को देखो। संभव है, बहुत-से बच्चों के माता-पिताओं ने कायरों या ग़ुलामों का-सा आचरण किया हो। लेकिन किसे संदेह करने का साहस हो सकता है कि हमारे ज़माने के बच्चे कभी दास या कायर बनना पसंद करेंगे।

इस प्रकार, परिवर्त्तन का चक्र घूमता जा रहा है। जो नीचे थे वे ऊपर उठ रहे हैं, और जो ऊपर थे वे नीचे जा रहे हैं। समय आ गया था कि यह चक्र हमारे देश में भी चलने लगता। लेकिन हमने उसे इस बार ऐसे ज़ोर का धक्का दिया है कि अब उसे कोई रोक नहीं सकता।

'इनक़िलाब ज़िंदाबाद!'

(४)

एशिया और योरप

जनवरी ८, १९३१

जैसा मैंने अपने पिछले पत्र में लिखा है, हर एक चीज़ निरंतर बदलती रहती है। इतिहास में परिवर्त्तनों के विवरण के अलावा और होता ही क्या है? यदि भूतकाल में बहुत थोड़े परिवर्त्तन हुए होते तो उतना ही कम इतिहास लिखने को होता!

जो इतिहास हम स्कूल और कालेजों में पढ़ते हैं, उसमें साधारणतया कुछ अधिक सार नहीं होता। मुझे दूसरों की बाबत तो ज्यादा जानकारी नहीं है, लेकिन अपने विषय में यह मालूम है कि स्कूल में मैंने बिलकुल ही कम सीखा था। मैंने कुछ थोड़ा—बहुत थोड़ा—भारतीय इतिहास और थोड़ा इंगलैंड का इतिहास पढ़ा था। भारतवर्ष का जो इतिहास मैंने पढ़ा था, वह अधिकांश में या तो अशुद्ध था या भ्रान्तिमूलक। उसके लेखक उन लोगों में से हैं, जो हमारे देश को अनादर की दृष्टि से देखनेवालों में से हैं। अन्य देशों के इतिहास का मुझे बिलकुल धुँधला बोध था। कालेज छोड़ने के बाद ही मैंने असली इतिहास का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया। सौभाग्य से जेल-यात्राओं में मुझे ज्ञान के बढ़ाने के अनेक अवसर मिले।

मैं अपने पिछले कुछ पत्रों में भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता तथा द्रविड़ों और आर्य्यों के आगमन के संबंध में लिख चुका हूँ। आर्य्यों के आने से पहले के समय के विषय में मैंने अधिक नहीं लिखा; क्योंकि उसका मुझे अधिक ज्ञान नहीं है। लेकिन तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि पिछले कुछ वर्षों में एक बहुत पुरानी सभ्यता के भग्नावशेष भारत में खोज निकाले गए हैं। उत्तर-पश्चिमी भारत के मोहेन-जोदारो-नामक स्थान के पास वे मिले हैं। लगभग पाँच हज़ार वर्ष के पुराने इन भग्नावशेषों को लोगों ने खोद निकाला है। मृतकों के शव भी अच्छी दशा में मिले हैं—उसी तरह के शव, जैसे प्राचीन मिस्र में होते थे। सोचो तो सही! यह सब आर्य्यों के आने से हज़ारों साल पहले यहाँ था? योरप में तो उस ज़माने में निरानिर जंगल ही जंगल रहे होंगे।

आज योरप बलवान् और शक्तिशाली है। वहाँ के लोग अपने को संसार में सबसे अधिक सभ्य और संस्कृत समझते हैं। वे एशिया और उसके जन-समुदाय को तुच्छ गिनते और एशिया के मुल्कों में जाकर वहाँ जो कुछ मिलता है, उसे लपककर हड़प कर लेते हैं। समय ने कैसा पलटा खाया! आओ, हम इस योरप और एशिया को एक बार अच्छी तरह से निहार लें। किसी एटलस* को खोलो। उसमें तुम्हें एशिया के विशाल महाद्वीप से चिपटा हुआ छोटा-सा योरप दिखाई देगा। वह तो उसी का छोटा-सा विस्तार-मात्र मालूम होता है। जब तुम इतिहास को पढ़ोगी, तब तुम्हें पता चलेगा कि एशिया सुविस्तृत युगों तक शक्तिशाली रह चुका है। उसके निवासियों की एक लहर के बाद दूसरी लहर योरप में बढ़ती गई और उसे पराजित करती रही। उन्होंने योरप को उजाड़ा भी और सभ्य भी बनाया। आर्य्य,

* नक़्शों की किताब

शक, हूण, अरब, मंगोल, तुर्क—एशिया के किसी भाग-विशेष से निकलकर सारे योरप और एशिया में फैल गए। वे एशिया में टिड्डी-दल के समान बेशुमार तादाद में उत्पन्न होते रहे। सचमुच, योरप बहुत समय तक एशिया का एक उपनिवेश बना रहा। आधुनिक योरप के बहुत-से निवासी एशिया से गए हुए इन्हीं विजेताओं की संतान हैं।

एशिया भीमकाय दानव के समान नक़्शे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला हुआ है। योरप छोटा है। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि एशिया अपने आकार के कारण बड़ा या योरप उपेक्षा का पात्र है। किसी व्यक्ति या देश की महत्ता की कसौटियों में से आकार की कसौटी बिलकुल ही हेय है। हम सब यह जानते हैं कि योरप, आकार में छोटा होने पर भी, ऐश्वर्य्यशाली हो रहा है। हमें यह भी मालूम है कि उसके बहुत-से मुल्कों ने कई बार शानदार ज़माने देखे हैं। उन्होंने बड़े-बड़े वैज्ञानिक पैदा किये हैं, जिनकी खोजों और आविष्कारों से मानव-सभ्यता बहुत ज्यादा ऊँची उठी और करोड़ों नर-नारियों के जीवन अधिक रमणीक और निरापद हो गए। उनमें बड़े-बड़े लेखक, दार्शनिक, कलाकार, संगीताचार्य और कर्म्मिष्ठ महापुरुष पैदा हुए हैं। योरप के बड़प्पन को न मानना मूर्खता होगी।

लेकिन इसी तरह एशिया के बड़प्पन को भी न स्वीकार करना मूर्खता होगी। योरप की चमक-दमक से एकदम चकाचौंध होकर हम प्राचीन काल को भूल जाते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि, यह वही एशिया है, जिसने सब से अधिक संसार को प्रभावित करनेवाले बड़े-बड़े विचारकों को जन्म दिया है। यहीं मुख्य-मुख्य धर्म्मों के प्रवर्त्तक भी हुए हैं। हिंदू धर्म, जो आज दिन संसार में प्रचलित बड़े धर्मों में सबसे पुराना है, भारतवर्ष ही की उपज है। यही हाल उससे संबंधित धर्म्म—बुद्धधर्म—का भी है, जो आज समस्त चीन, जापान, बर्म्मा, तिब्बत और लंका में फैला हुआ है। यहूदियों का धर्म्म और ईसाई-मत भी एशियाई धर्म्म हैं; क्योंकि उनका उदय एशिया के पश्चिमी तटवाले फ़िलिस्तीन नामक प्रदेश में हुआ था। पारसी-धर्म ने फ़ारस में जन्म लिया। तुम्हें यह भी मालूम है कि इस्लाम के पैग़म्बर, मोहम्मद, अरब के मक्का में पैदा हुए थे। कृष्ण, बुद्ध, जरदस्त, ईसा मसीह, मोहम्मद, कनफ़ूशियस, और लाओजे—जो चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक थे—एशिया के बड़े-बड़े विचारकों के नामों से तुम पन्ने-के-पन्ने भर सकती हो। इसी तरह एशिया के बड़े-बड़े कर्म्मवीरों के नामों से भी पृष्ठ-के-पृष्ठ रँगे जा सकते हैं। बहुत-से दूसरे तरीक़ों से भी मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ कि प्राचीन काल में हमारा यह बूढ़ा महाद्वीप कितना वैभव-पूर्ण और सजीव था।

कैसा समय बदला! लेकिन वह एक बार फिर भी हमारी आँखों के सामने बदल रहा है। इतिहास की प्रवृत्तियों के फलने-फूलने में साधारणतया धीरे-धीरे सदियाँ बीत जाती हैं, यद्यपि कभी-कभी द्रुतगति और क्रांति के भी युग होते हैं। आज दिन एशिया में घटना-चक्र तेज़ी से चल रहा है, और सुदीर्घ निद्रा के बाद यह पुरातन महाद्वीप फिर से जाग उठा है। दुनिया की निगाह उसपर लगी है; क्योंकि सभी जानते हैं कि एशिया भविष्य के विकास में बहुत बड़ा भाग लेने जा रहा है।

---

(५)

पुरानी सभ्यताएँ और हमारी वपौती

जनवरी ८, १९३१

मैंने कल हिंदी के समाचार-पत्र, 'भारत' में, जिससे हफ़्ते में दो वार हमें वाहर की दुनिया के कुछ समाचार मिलते हैं, यह पढ़ा कि (तुम्हारी) मा के साथ मलाका-जेल में अच्छा वर्ताव नहीं किया जाता। यह भी पढ़ा कि वह लखनऊ-जेल को भेजी जानेवाली हैं। मैं कुछ व्यथित और चिंतित हो उठा। 'भारत' में प्रकाशित अफ़वाह में शायद कुछ सचाई न हो। लेकिन उसके संवंध में आशंका तक का होना ठीक नहीं है। असुविधा और कष्ट का सहना आसान है। हरएक के लिए यह हितकर है। अन्यथा, हम वहुत सुकुमार हो जाएँ। लेकिन जिनको हम प्यार करते हैं, उनके कष्टों के संवंध में सोचना, विशेषकर जव हम उनके लिए कुछ नहीं कर सकते, न तो आसान है और न उससे हमारी तसल्ली ही होती है। इसीलिए उस शंका से, जो 'भारत' पढ़ने से मेरे मन में पैदा हो गई थी, मैं (तुम्हारी) मा के विषय में चिंतित हो गया। वह वीर हैं, और सिंहनी का-सा उनका हृदय है। लेकिन वह शरीर से कमज़ोर हैं। मैं नहीं चाहता कि वह और भी अधिक कमज़ोर हो जाएँ। यदि हमारे शरीर हमारा साथ न दें तो हमारे हृदय चाहे जितने वलवान् क्यों न हों, हम कुछ भी नहीं कर सकते। यदि हम किसी काम को अच्छी तरह करना चाहते हैं, तो हमारे लिए स्वस्थ, सवल और सर्वांग सुंदर शरीर की परम आवश्यकता है।

कदाचित् यह समाचार सही है कि (तुम्हारी) मा लखनऊ भेजी जा रही हैं। वहाँ, संभव है, वह अधिक आराम से और प्रसन्नचित्त रहें। लखनऊ-जेल में उनकी कुछ साथवाली भी हों। शायद वह मलाका में अकेली हैं। तो भी यह सोचकर मुझे सुख होता था कि वह वहुत दूर नहीं हैं। हमारे जेल से वह महज़ चार-पाँच मील दूर थीं। लेकिन ऐसा सोचना भी मूर्खता में दाख़िल है। जव दो जेलों की ऊँची-ऊँची दीवारें हमें जुदा करती हैं, तव पाँच मील या एक सौ पचास मील समान हैं।

आज यह जानकर कितनी ख़ुशी हुई कि दादू * प्रयाग लौट आए, और वह अव अच्छे हैं। मुझे यह जानकर और भी अधिक प्रसन्नता हुई कि वह (तुम्हारी) मा को देखने के लिए मलाका-जेल गए थे। यदि भाग्य ने साथ दिया तो कदाचित् तुम सव से कल मिलूँ। कल मेरी मुलाक़ात का दिन है, और जेल में मुलाक़ात का दिन वड़ा दिन माना जाता है। मैंने दादू को लगभग दो महीने से नहीं देखा। मुझे आशा है कि कल मैं उनको देखूँगा। तव मुझे संतोष होगा कि वह सचमुच अच्छे हैं। मैं तुम्हें लंवे, वहुत लंवे, पखवारे के वाद देखूँगा, और तुम मुझे अपने और अपनी मा के समाचार सुनाओगी।

* पं० मोतीलाल नेहरू

खूब रही! लिखने तो बैठा था प्राचीन काल के इतिहास पर, लेकिन ज़िक्र कर रहा हूँ बेवक़ूफ़ी की बातों का। आओ, थोड़ी देर के लिए वर्त्तमान को भूल जाएँ और विगत दो या तीन हज़ार साल पीछे लौट चलें।

मिस्र का और क्रीट के प्राचीन नोसास का थोड़ा-सा हाल मैं तुमको पहले के कुछ पत्रों में लिख चुका हूँ। मैंने तुम्हें बताया था कि प्राचीन सभ्यता ने इन दो देशों में तथा इराक़, चीन, भारत और ग्रीस में पहलेपहल जड़ पकड़ी थी। ग्रीस की गणना, संभवतः, दूसरों के मुक़ाबिले में, बाद में होगी। ऐसी दशा में भारत की सभ्यता, आयु के विस्तार की दृष्टि से, मिस्र, चीन और इराक़ की संबंधित सभ्यताओं के समकक्ष है।

इराक़ और फ़ारस—न जाने कितने साम्राज्य वहाँ पहले तपे और फिर अस्त हो गए। इनमें सबसे पुराने साम्राज्यों ही के नाम यदि लें तो बैबिलोनिया, ऐसीरिया और कैलडिया के साम्राज्य तथा बैबिलान और निनवह के समान बड़े-बड़े नगर थे। बाइबिल का पूर्वार्ध इन लोगों के वृत्तान्तों से भरा पड़ा है। बाद में, प्राचीन इतिहास की इस भूमि में दूसरे साम्राज्य फले-फूले और फिर मुरझा गए। यहीं 'अलिफ़लैला'-नाम की किताब का वह जादू से भरा हुआ नगर—बुग़दाद—था। लेकिन साम्राज्य आते और चले जाते हैं, और बड़े-से-बड़े तथा घमंडी-से-घमंडी राजे और महाराजे संसार की रंगभूमि पर कुछ क्षणों तक नाच-कूदकर अन्तर्द्धान हो जाते हैं। पर सभ्यताएँ चिरस्थायिनी होती हैं। लेकिन इराक़ और फ़ारस में प्राचीन सभ्यताएँ उसी तरह विलुप्त हो गईं, जैसे प्राचीन मिस्र में। प्राचीन ग्रीस तक इन सभ्यताओं की छोटी बहन है। इन प्राचीन सभ्यताओं की क्या दशा हुई? नोसास विलीन हो गया। वास्तव में लगभग तीन हज़ार वर्ष से वह विलीन ही चला आया है। ग्रीस की नौजवान सभ्यता के सपूतों ने उसपर धावा किया और उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। मिस्र की प्राचीन सभ्यता, हज़ारों वर्षों तक समुन्नत दशा में फलने-फूलने के बाद, अंतर्द्धान हो गई, और अपने पीछे, विशाल पिरामिडों, स्फिंक्स*, बड़े-बड़े मंदिरों के भग्नावशेषों तथा मृतकों के शवों के सिवा उसने कुछ भी निशानी न छोड़ी। यह सच है कि मिस्र का देश आज भी वहीं पर मौजूद है, और नाइल नदी आज भी पहले का तरह उसके बीच से बहती है। जैसे और देशों में, वैसे ही वहाँ भी नर-नारी रहते हैं। लेकिन इन आधुनिक निवासियों को अपने देश की प्राचीन सभ्यता से जोड़नेवाली कोई कड़ी नहीं है।

ग्रीस पुराने ज़माने में, सचमुच, बहुत ही समुन्नत था। आज दिन भी लोग उसके वैभव की क़था पढ़कर चकित हो जाते हैं। आज भी उसकी संगमर्मर की मूर्तियों के सौंदर्य को देखकर हम विस्मित और चकित होते हैं। उसके साहित्य के जो अवशिष्ट अंश हमें प्राप्य हैं, उनको हम सादर और साश्चर्य पढ़ते हैं। ग्रीस के आचार-विचारों से योरप इतना अधिक प्रभावित हुआ है कि यह कहा जाता है, और ठीक ही कहा जाता है कि आधुनिक योरप कुछ बातों में प्राचीन ग्रीस की संतान है। लेकिन वह वैभव, जिसका नाम ग्रीस था, आज कहाँ है?

* ग्रीस-किम्वदंतियों में वर्णित एक मूर्त्ति, जिसका सर स्त्री का और धड़ सिंहनी का होता था।

पुरानी सभ्यता को लुप्त हुए युग बीत गए। दूसरी तरह के आचार-विचारों ने उसके स्थान को ले लिया। अब तो ग्रीस दक्षिण-पूर्वीय योरप के एक छोटे-से प्रदेश के रूप में जीवित है।

मिस्र, नोसास, इराक़ और ग्रीस—ये सब विलीन हो गए। इनकी सभ्यताओं का भी वैसे ही जैसे बैबिलान और निनवह का नामोनिशान तक नहीं बाक़ी बचा। तो फिर इन प्राचीन सभ्यताओं की संगिनी शेष दो सभ्यताओं—अर्थात् चीन और भारत की सभ्यताओं—का क्या हुआ? जैसे और देशों में वैसे ही इनमें भी साम्राज्य के बाद साम्राज्य स्थापित हुए। यहाँ भी हमले, विध्वंस और लूट-मार बहुत बड़े परिमाण में बार-बार होती रही।

राज-वंशों ने शताब्दियों तक शासन किया और बाद में उनके स्थान को दूसरों ने ले लिया। भारत और चीन में यह सब वैसे ही हुआ, जैसे दूसरे देशों में हुआ है। लेकिन वास्तव में भारत और चीन को छोड़कर और किसी देश में सभ्यता की अटूट धारा नहीं बही। सारे उथल-पुथलों, संग्रामों और आक्रमणों के होते हुए भी प्राचीन सभ्यता की शृंखला इन दोनों देशों में बराबर प्राचीन काल से अब तक अटूट चली आई है। यह ठीक है कि दोनों ही देश आज दिन अपने पुरातन ऐश्वर्य्य को बहुत कुछ खो बैठे हैं, और उनकी पुरानी संस्कृति कभी-कभी धूल और कूड़ा-करकट के उस ढेर के नीचे दब गई है, जो युगों से जमा होता चला आता है। लेकिन इतने पर भी वह क़ायम है। वह आज दिन भी भारतीय जीवन का आधार बनी हुई है। अब संसार में नई परिस्थितियों का दौर-दौरा है, और जहाज़, रेल तथा पुतलीघरों के आगमन ने संसार की सूरत ही बदल दी है। कदाचित् ऐसा हो, बहुत संभव है कि ऐसा ही होगा कि वे भारत की भी काया पलट देंगी, जैसे वे इससमय उसे पलट रही हैं। लेकिन जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति इतिहास के आदि से अब तक चली आती हैं, उनके युगांतर-व्यापी विस्तार का विचार-मात्र चित्ताकर्षक और विस्मयजनक है। एक अर्थ में, भारत के हम लोग इस सब सहस्रों संवत्सरों के उत्तराधिकारी हैं। जो प्राचीन निवासी उत्तर-पश्चिमी दर्रों को पारकर ब्रह्मावर्त्त, आर्यावर्त्त, भारतवर्ष अथवा हिंदुस्तान के नामों से प्रसिद्ध लहलहाते हुए मैदानों में आए थे, उनके हम ठेठ वंशज हैं। क्या तुम उनको पहाड़ी दर्रों से अज्ञात प्रदेश की ओर बढ़ते हुए कल्पना में देख नहीं पातीं? वीर और साहसपूर्ण वे परिणामों की अवहेलना करते हुए बराबर आगे ही बढ़ते चले आए। यदि मात आई तो उन्होंने उसकी परवा न की। उन्होंने हँसते हुए उसका स्वागत किया। लेकिन उन्हें जीवन से प्रेम था। वे जानते थे कि जीवन के सुख को भोगने का वही अधिकारी है, जो निर्भय है, जिसे हार और विपत्ति की कुछ चिंता नहीं रहती। उन अपने प्राचीन पूर्वजों की बाबत सोचो तो, जो बढ़ते-बढ़ते समुद्र की ओर शान के साथ बहती हुई वैभवशालिनी गंगा के तट पर एकाएक जा पहुँचे। उन्हें इस दृश्य को देखकर कितना हर्ष हुआ होगा! और इसमें किसी को आश्चर्य क्यों हो कि उन्होंने उसे नतमस्तक होकर प्रणाम किया और अपनी समृद्धि-शालिनी तथा संगीतमयी पदावली में उसकी वंदना की?

यह सोचकर वास्तव में विस्मय होता है कि हम इन सब युगों के उत्तराधिकारी हैं। लेकिन हमें गर्व से फूलना न चाहिए। यदि हम युगों के उत्तराधिकारी हैं तो भले और

बुरे दोनों ही के उत्तराधिकारी हैं। और हम भारतीयों की वर्त्तमान बपौती में बहुत अंश बुरा है, बहुत अंश ऐसा है, जिसने संसार में हमें दबा रक्खा, और हमारे सम्मानित देश को अधम दरिद्रता तक पहुँचाकर उसे दूसरों के हाथ का खिलौना बना डाला। लेकिन क्या हम लोगों ने यह संकल्प नहीं कर लिया है कि अब यह सब न रहने पाएगा?

(६)

हैलीनस् या यूनानी

जनवरी १०, १९३१

तुम में से कोई आज हम लोगों से मुलाक़ात करने न आया, और मुलाक़ात का दिन कोरा ही रहा। इससे निराशा हुई। मुलाक़ात के टलने का जो कारण बताया गया, वह तो और भी अधिक चिंताजनक था। मुझसे कहा गया कि दादू की तबियत ठीक नहीं है। इससे अधिक और कुछ हम न जान पाए। ख़ैर, जब मुझे मालूम हुआ कि आज मुलाक़ात न होगी, तब मैंने चरखे को उठाया और कुछ कताई की। मेरा अनुभव है कि चरखे की कताई और निवाड़ की बुनाई में मज़ा भी आता है, और उससे शांति भी मिलती है। अतएव, जब कभी संशय हो, तब कातने लगो!

पिछले पत्र में हमने योरप और एशिया की तुलना की थी। आओ, प्राचीन योरप की उस समय की दशा पर भी एक नज़र डालें बहुत काल तक योरप से सिर्फ़ भूमध्य-सागर के इर्द-गिर्द के देशों ही का बोध होता था। उन दिनों में योरप के उत्तरीय देशों की क्या दशा थी, इसका कुछ भी उल्लेख हमें नहीं मिलता। भूमध्यसागर के निवासियों की राय में जर्मनी, फ़्रांस और इँगलैंड में जंगली और बर्बर जातियाँ रहती थीं। वास्तव में, लोगों का यही धारणा है कि आदिकाल में सभ्यता पूर्वीय भूमध्यसागर ही के आस-पास फैली थी। जैसा तुम्हें मालूम है, मिस्र (जो आफ़्रिका में है, न कि योरप में) और नोसास पहले देश थे, जो आगे बढ़ने लगे। धीरे-धीरे आर्य्यों की धारा एशिया से पश्चिम की ओर बहने लगी। उन्होंने ग्रीस और उसके पड़ोसी प्रदेशों पर अधिकार जमा लिया। ये वे ही ग्रीक आर्य्य हैं, जिनका हमें हाल मालूम है और प्राचीन यूनानी के नाम से जिनकी हम प्रशंसा करते हैं। मैं अनुमान करता हूँ कि आरंभ में वे उन आर्य्यों से भिन्न न थे, जो कदाचित् इससे भी पूर्व भारत में आ पहुँचे थे। लेकिन बाद में परिवर्त्तन हुए होंगे, और धीरे धीरे आर्य्यों का ये दो शाखाएँ अधिकाधिक एक दूसरे से भिन्न होती गईं। भारतीय आर्य्य भारत की और भी अधिक पुरानी सभ्यताओं से द्रविड़ों की सभ्यता से और उस सभ्यता के अवशिष्टों से, जिसके खँडहरों को हम मोहेन-जोदारो में देखते हैं—प्रभावित हुए। आर्य्यों और द्रविड़ों ने एक दूसरे को बहुत कुछ दिया, और एक दूसरे से बहुत कुछ लिया भी। इस तरह से भारत में एक मिश्रित और समान सभ्यता का निर्माण हुआ।

इसी प्रकार ग्रीक आर्य्य भी नोसास की उस प्राचीन सभ्यता से बहुत कुछ प्रभावित हुए होंगे, जिसे उन्होंने यूनान के भूभाग में समुन्नत अवस्था में पाया होगा। वे उससे बहुत अधिक प्रभावित तो अवश्य हुए, लेकिन उन्होंने नोसास को और उसकी सभ्यता के बहुत-से ऊपरी अंगों को मेटकर उसकी चिता पर अपनी सभ्यता रची। हमें याद रखना चाहिए कि उस पूर्व-युग के ग्रीक और भारतीय आर्य्य कठोर और दुर्धर्ष योद्धा थे। वे बलिष्ठ थे।

अपने से अधिक सुकुमार और सुसभ्य जातियों को, जिनसे उनका सामना हुआ, उन्होंने या तो समूल नष्ट कर डाला या अपने में मिला लिया।

इस तरह नोसास ईसा के जन्म से लगभग एक हज़ार साल पहले मिट चुका था। नवागंतुक ग्रीकों ने ग्रीस और उसके आस-पास के टापुओं पर अपना अधिकार जमाया। वे समुद्र द्वारा एशिया-माइनर के पश्चिमी तट पर, दक्षिण इटली और सिसली में, तथा दक्षिण फ़्रांस तक जा पहुँचे। फ़्रांस का मारसाई (नामक नगर) उन्होंने बसाया; लेकिन शायद उनके जाने के पहले ही से वहाँ पर फ़्यूनीसियावालों का एक अड्डा था। तुम्हें स्मरण होगा कि फ़्यूनीसियावाले एशिया-माइनर के प्रसिद्ध समुद्र-यात्री थे, जो व्यापार की खोज में दूर-दूर तक धावा मारा करते थे। वे उस ज़माने में इँगलैंड में भी पहुँच गए थे, जब इँगलैंड एक बर्बर देश था, और जिब्राल्टर के जल-डमरू-मध्य को पारकर सुदीर्घ समुद्र-यात्रा करना बहुत ही संकटाकीर्ण रहा होगा।

ग्रीस के प्रधान प्रांतों में एथेंस, स्पारटा, थीबस और कारिंथ-जैसे प्रसिद्ध नगर बस गए। ग्रीकों या हैलोनों के—जिस नाम से वे प्रसिद्ध थे—उस आदिम युग की गाथा इलियड और आडैसी-नामक दो प्रसिद्ध महाकाव्यों में वर्णित है। तुम्हें इन महाकाव्यों का कुछ-न-कुछ हाल मालूम ही है। वे हमारे दो गाथा-काव्यों—रामायण और महाभारत—के समान काव्य ग्रंथ हैं। कहते हैं, अंधे होमर ने उन्हें लिखा था। इलियड़ में पैसिस द्वारा रूपवती हैलेन को अपहरण कर ट्राय-नामक नगर ले जाने और हैलेन के उद्धार के लिए ग्रीक राजाओं और सरदारों द्वारा ट्राय के घेरे जाने की कथा है। आडैसी में ट्राय के घेरे जाने के बाद आडिसियस या यूलिसियस-नामक ग्रीक राजा की लौटते समय की यात्रा का वर्णन मिलता है। एशिया-माइनर के समुद्री तट के समीप ट्राय का यह छोटा-सा क़स्बा था। आज दिन उसका एक भी चिह्न नहीं मिलता, पिछले हज़ारों सालों से उसके चिह्न तक का पता नहीं; परन्तु एक कवि की प्रतिभा ने उसे अमर बना दिया है।

इधर हैलीन या ग्रीक जल्दी-जल्दी बढ़ते हुए अपने अल्पकालिक, किंतु ज्वलंत यौवन को प्राप्त हो रहा था, उधर एक दूसरी शक्ति का चुपचाप जन्म हो रहा था, जो कालांतर में ग्रीस को पराजित कर अपदस्थ करनेवाली थी। इसी समय रोम की नींव डाली गई। कई सौ वर्ष तक उसको संसार के रंगमंच पर कोई विशेष भाग नहीं लेना था। लेकिन एक ऐसी प्रसिद्ध नगरी की स्थापना अवश्य ही उल्लेखनीय है, जो सदियों तक योरपियन जगत् के ऊपर प्रभुता करने जा रही और आगामी युगों में संसार का स्वामिनी तथा 'अमर नगरी' के नाम से विख्यात होनेवाली हो। रोम—की स्थापना के विषय में विचित्र किंवदंतियाँ हैं। कैसे उसके संस्थापकों, रेमस और रामोलस, को भेड़िए की मादा उठा ले गई, और कैसे उसने उन्हें पाला-पोसा—यह कहानी कदाचित् तुम्हें मालूम है।

जिस समय रोम की स्थापना हुई, या शायद उसके कुछ पूर्व, प्राचीन जगत् के एक दूसरे प्रसिद्ध नगर की भी स्थापना हुई थी। यह कारथेज-नामक नगर, आफ़्रिक़ा के उत्तरी तट पर बसा था। इसे फ़्यूनीसियावालों ने बसाया था। यह बढ़ते-बढ़ते एक बहुत बड़ी सामुद्रिक

शक्ति हो गया। इसमें और रोम में बड़ी गहरी लाग-डाँट थी। दोनों में कई बार लड़ाइयाँ हुईं। अंत में रोम जीत गया, और उसने कारथेज को जड़ से मिटा दिया।

आओ, आज की कथा को समाप्त करने के पहले फ़िलिस्तीन पर एक सरसरी नज़र डाल लें। फ़िलिस्तीन न तो योरप में है, और न उसका कुछ अधिक ऐतिहासिक महत्त्व ही है। लेकिन कुछ लोगों को उसके पुराने इतिहास में अभिरुचि है; क्योंकि उसका उल्लेख बाइबिल के पूर्वार्ध में मिलता है। इस कहानी का संबंध यहूदियों की कुछ जातियों से है, जो इस छोटे-से प्रांत में रहती थीं। बैबिलान, ऐसीरिया और मिस्र के समान शक्तिशाली पड़ोसियों के कारण उन्हें बहुत-सी मुसीबतें झेलनी पड़ीं। यदि यहूदियों और ईसाइयों के धर्म्मों से इस कथा का संबंध न होता तो शायद ही किसी को उसका पता चलता।

जिस समय नोसास विनष्ट हो रहा था, उस समय फ़िलिस्तीन के इज़राइल-नामक प्रदेश पर साल-नामक राजा राज्य करता था। बाद में डेविड हुआ। उसके पश्चात् सुलेमान, जिसके ज्ञान और बुद्धिमत्ता की बड़ी ख्याति है, गद्दी पर बैठा। मैंने इन तीन नामों का जिक्र इसलिए किया है कि तुमने इनके विषय में अवश्य पढ़ा या सुना होगा।

(७)

ग्रीस के नगर-राष्ट्र ।

जनवरी ११, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र में ग्रीक या हैलीनों के संबंध में कुछ लिखा था। आओ, उन पर एक और नज़र डालें और इसका कुछ अंदाज़ा लगाएँ कि वे लोग कैसे थे। जिस चीज़ या जिन लोगों को हमने कभी देखा नहीं उसकी या उनकी बावत यथार्थ और जीती-जागती कल्पना करना हमारे लिए, वास्तव में, बहुत ही कठिन है। हम अपनी मौजूदा परिस्थितियों और अपने रहन-सहन के ढंग के इतने आदी हो गए हैं कि अपने से एकदम भिन्न जगत् की कल्पना करना भी हमारे लिए दुस्साध्य है। तो भी प्राचीन जगत्, चाहे वह भारत हो या चीन अथवा ग्रीस, आजकल की दुनिया से बिलकुल ही निराला था। अधिक-से-अधिक जो हम कर सकते हैं, वह यह कि किताबों, इमारतों और दूसरे भग्नावशेषों की मदद से इस बात का अंदाज़ा लगाएँ कि उन दिनों में कैसे लोग होते और रहते थे।

ग्रीस के संबंध में एक बड़ी मनोरंजक बात है। ऊपरी-तौर से देखने से ऐसा मालूम होता है कि ग्रीक लोग बड़े-बड़े राज्यों या साम्राज्यों को पसंद नहीं करते थे। उन्हें तो छोटे-छोटे नगर-राष्ट्र भाते थे। अथवा उनका प्रत्येक नगर एक स्वतंत्र राष्ट्र होता था। ये छोटे-छोटे प्रजातंत्र थे, जिनके मध्य में तो नगर होता था और उसके चारों ओर कुछ खेत जिनसे नगर का पेट पलता था। जैसा तुम्हें मालूम है, प्रजातंत्र में राजा नहीं होता। इन ग्रीक नगर-राष्ट्रों में भी कोई राजा न होता था। उनका शासन करते थे अमीर नागरिक। जन-साधारण का शासन में कोई भाग न था। बहुत से दास थे, जिनको शासन में कुछ भी अधिकार न था। स्त्रियाँ भी इस तरह के अधिकारों से वंचित थीं। अतएव नगर-राष्ट्रों की आबादी का केवल-मात्र एक अंग-विशेष ही नागरिक था, और इस हैसियत से सार्वजनिक मामलों पर राय देने का उसी को अधिकार था। इन नागरिकों को सम्मति देने में कुछ कठिनाई न होती थी; क्योंकि सब-के-सब एक स्थान पर एकत्र किए जा सकते थे। प्रजातंत्र एक छोटा-सा नगर-राष्ट्र होता था, और सिर्फ़ इसीलिए ऐसा होना संभव था। एक शासन के अंतर्गत कोई विशाल देश तो वह था नहीं। भारत के या बंगाल या आगरे प्रांत ही के सारे वोटरों के एक स्थान पर जमा होने की ज़रा कल्पना तो करो! ऐसा हो ही नहीं सकता। अन्य देशों को भी बाद में इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा है, और इसको हल करने के साधन को प्रतिनिधि-सत्ता-नामक प्रणाली कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस प्रश्न पर सम्मति देने के लिए किसी स्थान-विशेष पर सब वोटर नहीं जमा होते; वे तो केवल अपने प्रतिनिधियों को चुन लेते हैं। ये प्रतिनिधि एकत्रित होकर अपने देश के सार्वजनिक मसलों पर विचार करते और उसके लिए क़ानून बनाते हैं। इस तरह से, यह मान लिया जाता है, साधारण वोटर अपने देश के शासन में गौण रूप से हाथ बँटाता है।

लेकिन इस सब का ग्रीस से कुछ भी संबंध नहीं। ग्रीस ने छोटे-छोटे नगर-राष्ट्रों ही से संतुष्ट रहकर इस जटिल समस्या को उठने भी न दिया। यद्यपि ग्रीक लोग, जैसा मैंने तुम्हें

बताया है, सारे ग्रीस, दक्षिण इटली, सिसली और भूमध्यसागर की अन्य तलहटियों में फैल गए थे; परंतु उन्होंने इन सब स्थानों के लिए एक साम्राज्य या शासन-प्रणाली स्थापित करने का कभी विचार भी नहीं किया। जहाँ कहीं वे गए, वहाँ उन्होंने एक स्वतंत्र नगर-राष्ट्र स्थापित कर लिया।

भारत में भी तुम पाओगी कि पुराने ज़माने में ग्रीक नगर-राष्ट्रों के से छोटे-छोटे प्रजातंत्र या जनपद थे; लेकिन ऊपरी तौर से देखने से मालूम होता है कि शायद वे अधिक दिनों तक न टिक सके, और बड़े-बड़े साम्राज्यों में सम्मिलित कर लिए गए। इसपर भी, बहुत समय तक हमारे गाँवों की पंचायतों के हाथ में बहुत बड़ी ताक़त बनी रही। कदाचित् प्राचीन आर्य्यों की प्रथम प्रवृत्ति उन स्थानों में, जहाँ वे गए, छोटे-छोटे जनपद या नगर-राष्ट्रों को स्थापित करने की ओर थी। लेकिन प्राचीनतर सभ्यताओं के संसर्ग और भौगोलिक परिस्थितियों ने उन आर्य्यों को, जिन देशों में वे जा बसे, उनमें से अधिकतर में, इस धारणा को त्यागने के लिए विवश कर दिया। विशेषकर फ़ारस में हमें बड़े राष्ट्रों और साम्राज्यों का उदय दिखाई देता है। भारत में भी बड़े राज्यों के स्थापन की प्रवृत्ति विद्यमान थी। लेकिन ग्रीस में नगर-राष्ट्र बहुत समय तक बने रहे। तब तक बने रहे, जब तक एक इतिहास-प्रसिद्ध ग्रीक ने संसार को जीतने का पहला प्रयत्न (जिसका हमें ज्ञान है) नहीं किया। यह महान् सिकंदर था। उसके विषय में हमें बाद में कुछ कहना है।

ग्रीक लोगों ने अपने छोटे-छोटे नगर-राष्ट्रों को मिलाकर एक विशाल राष्ट्र, राज्य या प्रजातंत्र स्थापित करने से इनकार किया। न सिर्फ़ वे अलग-अलग और स्वतंत्र बने रहे, बल्कि वे आपस में प्रायः लड़ते-झगड़ते भी रहे। उनमें एक दूसरे से बड़ी लाग-डाँट रहती थी, जिसके कारण युद्ध होता था।

इसपर भी इन नगर-राष्ट्रों को एक में बाँधने के लिए बहुतेरी समान कड़ियाँ थीं। उनकी समान भाषा थी, समान संस्कृति थी, और समान ही धर्म्म भी था। उनके धर्म्म में बहुत-से देवी-देवता थे। प्राचीन हिंदू पौराणिक गाथाओं के ढंग का उनका भी विशाल और सुंदर गाथा-पुराण था। आज दिन भी उनकी बनाई हुई संगमर्मर और पत्थर की पुरानी मूर्तियों में से कुछ हमें उपलब्ध हैं, और वे अपने सौंदर्य से हमें आश्चर्य-चकित कर देती हैं। उनका स्वस्थ और सुंदर शरीर में विश्वास था, और इसके लिए वे खेलों और दौड़ों का संघटन करते थे। ग्रीस के ओलिंपस-नामक शृंग पर समय-समय पर बड़े विस्तार के साथ ये खेल होते थे। समस्त ग्रीस से लोग वहाँ उन्हें देखने के लिए जमा होते थे। तुमने उन ओलिंपिक खेलों का हाल सुना होगा, जो आजकल होते हैं। ओलिंपस शृंग पर होनेवाले प्राचीन ग्रीक खेलों की देखादेखी आजकल के खेलों और विभिन्न देशों के खेलाड़ियों की होड़ का नाम ओलिंपिक रक्खा गया है।

अतएव नगर-राष्ट्र अलग-अलग रहते, खेलों में तथा कुछ अन्य स्थानों पर मिलते-जुलते और आपस में प्रायः लड़ा-भिड़ा करते थे। बाहर से जब उन्हें एक बड़ा ख़तरा आता हुआ दिखाई दिया, तब उसका सामना करने के लिए वे सब एक हो गए। यह ख़तरा फ़ारसवालों का हमला था, जिसके संबंध में आगे चलकर हम कुछ कहेंगे।

(८)

पश्चिमी एशिया के साम्राज्य

जनवरी १३, १९३१

तुम सबसे कल मिलकर मुझे ख़ुशी हुई। लेकिन दादू को देखकर धक्का लगा। वह कितने कमज़ोर और बीमार मालूम होते थे। उनकी अच्छी तरह से देखरेख करना और फिर से उन्हें स्वस्थ और सबल बनाना। मैं तो कल उनसे बातें भी न कर सका। एक छोटी-सी मुलाक़ात में कोई क्या-क्या करे? जो मुलाक़ात और वार्त्तालाप हम नहीं कर पाते, उनकी कमी को पूरा करने की चेष्टा मैं तो इन पत्रों को लिखकर करता हूँ। मन को यह कहकर समझाता हूँ कि इन पत्रों के रूप में मुलाक़ात और वार्त्तालाप कर रहा हूँ। लेकिन उनके स्थान पर ये पत्र निकम्मे जँचते हैं। कपोल-कल्पित अधिक देर तक ठहरता भी नहीं। तो भी कभी-कभी मनमोदक भी निरर्थक नहीं होते।

आओ, प्राचीनों के पास हम लौट चलें। हाल में हम प्राचीन ग्रीस-वासियों के साथ थे। उस ज़माने में दूसरे देशों की क्या दशा थी? योरप के अन्य देशों के संबंध में हमें अधिक कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। उनके विषय में हमें, कम-से-कम मुझे, कुछ अधिक रोचक बातें नहीं मालूम। उस समय उत्तरीय योरप का ऋतु संभवतः बदल रहा होगा, और इस कारण से नई परिस्थिति उत्पन्न हुई होगी। बहुत, बहुत समय बीता, शायद तुम्हें इसका स्मरण हो, समस्त उत्तरीय योरप और उत्तरीय एशिया में बेहद ठंड पड़ती थी। यह युग हिम-युग कहलाता था, और मध्य योरप तक बड़े-बड़े हिमानी* फैले हुए थे। संभवतः उस समय वहाँ कोई मनुष्य न रहता था, और यदि कोई रहता था तो वह मनुष्य से अधिक पशु ही रहा होगा। तुम्हें अचरज होगा कि अब हम यह कैसे कह सकते हैं कि उन दिनों में वहाँ पर हिमाना थे। किताबों में तो उनका ज़िक्र हो नहीं सकता; क्योंकि उन दिनों में न तो किताबें थीं और न किताबों के लिखनेवाले ही। लेकिन, मुझे आशा है, तुम प्रकृति की पोथी को नहीं भूली हो। प्रकृति ने चट्टानों और पत्थरों पर अपने इतिहास के लिखने की एक निराली प्रणाली निकाली है। जो चाहे, वह उसे वहाँ पढ़ सकता है। वह तो एक प्रकार की आत्म-कहानी—अर्थात् अपना निजी इतिहास है। हिमानी अपने अस्तित्व के विचित्र चिह्न एक ख़ास ढंग से छोड़ जाते हैं। यदि एक बार तुम उनको पहचानने लगो तो उनके पहचानने में कभी धोखा नहीं खा सकतीं, और यदि इन चिह्नों का अध्ययन करना चाहती हो, तो तुम्हें हिमालय, आल्पस या दूसरी जगहों के मौजूदा हिमानियों तक सिर्फ़ जाना पड़ेगा। तुम तो आल्पस के मों ब्लां-नामक शृंग के आस-पास के हिमानी देख चुकी हो, लेकिन शायद किसी ने उन विशेष चिह्नों की ओर तुम्हारा ध्यान उस समय आकर्षित नहीं किया था। काश्मीर और हिमालय के दूसरे भागों में अनेक सुंदर हिमानी हैं। हमारे लिए सब से अधिक

* अँगरेज़ी में इन्हें ग्लेसियर कहते हैं। ये बर्फ़ की चट्टानें हैं, जो धीरे-धीरे घुलकर नदी के रूप में बहती हैं।

समीप पिंडारी का हिमानी है, जहाँ अलमोड़े से जाने में लगभग एक सप्ताह लगता है। जब मैं छोटा—जितनी तुम हो, उससे भी छोटा—था तब मैं एक बार वहाँ गया था। आज भी मुझे उसकी अच्छी तरह से याद बनी है।

इतिहास और भूतकाल को छोड़कर, मैं हिमानी और पिंडारी की ओर वह गया। मन-मोदक खाने का यही परिणाम होता है। मैं यथासंभव तुमसे ऐसे ढंग से बातें करना चाहता हूँ, मानो, तुम यहाँ पर मौजूद हो। यदि मैं इस तरह से बातें करूँगा तो निश्चित रूप से हमें कभी-कभी हिमानी और ऐसी दूसरी जगहों की सैर के लिए जाना पड़ेगा।

हिम-युग के प्रसंग से हिमानी की बात उठ खड़ी हुई थी। हम यह कह सकते हैं कि हिमानी मध्य योरप और इँगलैंड तक आ गए थे; क्योंकि उनके विचित्र चिह्न अब तक उन देशों में हमें मिलते हैं। वे पुरानी चट्टानों पर अंकित हैं। इससे यह अनुमान होता है कि उस युग में सारे मध्य और उत्तरीय योरप में बेहद ठंड रही होगी। कालांतर में वे स्थान ज्यादा गर्म हो गए; और हिमानी धीरे-धीरे खिसकने लगे। भूगर्भ-शास्त्र के ज्ञाता, वे लोग जो पृथ्वी के इतिहास का अनुशीलन करते हैं, हमें बताते हैं कि शीत के बाद उष्णता हुई। उस समय, आजकल को देखते हुए, योरप और भी अधिक गर्म था। इसी गर्मी के कारण, योरप में सब जगह घने जंगल हो गए।

आर्य्य लोग घूमते-घामते मध्य-योरप भी जा पहुँचे। इस युग में वहाँ उन्होंने कोई उल्लेखनीय काम नहीं किया। अतएव, कुछ समय के लिए हम उनकी उपेक्षा कर सकते हैं। ग्रीस और भूमध्यसागर के सभ्य निवासियों की दृष्टि में, संभवतः, मध्य और उत्तरीय योरप के लोग बर्बर थे। लेकिन ये बर्बर जातियाँ अपने जंगलों और ग्रामों में स्वस्थ और योद्धाओं का-सा जीवन व्यतीत करती और अपने को उस दिन के लिए अज्ञातरूप से तैयार कर रही थीं, जब वे बाज की तरह दक्षिण के सुसभ्य निवासियों पर टूट कर इनकी शासन-प्रणालियों को उलट देंगी। लेकिन ये बातें बहुत बाद में हुईं। उनके संबंध में पहले से लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं।

यदि हमें उत्तरीय योरप के विषय में कुछ नहीं के बराबर मालूम है तो बड़े-बड़े महाद्वीपों और विस्तृत भू-भागों की बाबत तो हमें बिलकुल ही कुछ ज्ञान नहीं है। कहा जाता है, कोलंबस ने अमेरिका को ढूँढ निकाला, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है—जैसा अब हमें पता लगता जा रहा है—कि वहाँ कोलंबस से पहले लोग रहते ही न थे। लेकिन, कारण कुछ भी हो, हम जिस युग का ज़िक्र कर रहे हैं, उस युग के अमेरिका का हमें कुछ ज्ञान नहीं है। इसी तरह से अफ़्रिका महाद्वीप के सम्बन्ध में भी हमें कुछ नहीं मालूम। हाँ, इस कथन से मिस्र और भूमध्यसागर के तटों को निकाल देना चाहिए। इस ज़माने में शायद मिस्र की वैभव-शालिनी और पुरातन सभ्यता अधोगति को पहुँच चुकी थी। लेकिन फिर भी वह उन दिनों में एक बहुत समुन्नत देश था।

अब हमें देखना है कि एशिया में उन दिनों क्या हो रहा था? यहाँ पर, जैसा तुम जानती हो, प्राचीन सभ्यता के तीन केन्द्र थे—इराक़, भारत और चीन।

इराक़, फ़ारस और एशिया माइनर में उन पुरातन युगों में भी साम्राज्य के बाद साम्राज्य बनता और बिगड़ता रहा। ऐसीरियन, मीडिन, बैबिलोनियन और उसके पश्चात् फ़ारसी साम्राज्यों की स्थापना हुई। हमें विस्तार के साथ इस बात के जानने की आवश्यकता नहीं कि कैसे ये साम्राज्य एक दूसरे के साथ लड़े, या थोड़े-थोड़े समय के लिए उनमें मेल हो गया, या कैसे एक ने दूसरे को विनष्ट कर डाला। तुम ग्रीस के नगर-राष्ट्रों और पश्चिमी एशिया के साम्राज्यों में अन्तर पाओगी। बहुत अतीत काल ही से इन देशों में बड़े राष्ट्र या साम्राज्य के प्रति तीव्र उत्कंठा-सी थी। शायद इसका कारण उनकी प्राचीनतर सभ्यता हो, या क़दाचित् कोई दूसरे ही कारण रहे हों।

इन साम्राज्यों के संबंध में एक नाम का उल्लेख रोचक होगा। वह क्रीसस का नाम है। तुमने यह नाम सुना होगा। अँगरेज़ी में तो एक प्रसिद्ध मसल है—क्रीसस के समान धनी होना। तुमने इस क्रीसस के विषय में कहानियाँ भी पढ़ी होंगी कि वह कितना घमंडी था, और कैसे उसका घमंड चूर हुआ। क्रीसस लीडिया-नामक देश का राजा था। यह देश एशिया के पश्चिमी तट में वहाँ पर बसा था, जहाँ आज एशिया माइनर है। समुद्र-तट पर होने के कारण, संभवतः, वहाँ बहुत वाणिज्य-व्यवसाय होता था। कहा जाता है—क्रीसस बहुत धनवान् था। उसके शासन-काल में फ़ारस का साम्राज्य साइरस के आधिपत्य में बढ़ और शक्ति-सम्पन्न हो रहा था। साइरस और क्रीसस में मुठभेड़ हो गई, और साइरस ने क्रीसस को हरा दिया। कैसे इस हार और मुसीबत में घमंडी क्रीसस को ज्ञान और विवेक हुआ, इसकी कहानी हैराडोटस-नामक एक ग्रीक इतिहास-लेखक ने हमें बताई है।

साइरस का साम्राज्य बहुत बड़ा था, जिसका पूर्व में भारत तक विस्तार था। लेकिन उसके बाद जो सम्राट् हुए, उनमें से एक का नाम डैरियस या दारा था। इसका साम्राज्य साइरस के साम्राज्य से भी बड़ा था। उसमें मिस्र, मध्य एशिया का एक टुकड़ा और सिंधु नदी के पास का भारतीय भूभाग शामिल थे। इस भारतीय प्रांत से बहुत-सा सोना उसके पास करद के रूप में भेजा जाता था। उन दिनों सिंधु नदी के पास सोना मिलता रहा होगा। आजकल तो वहाँ पर सोना मिलता नहीं। वास्तव में, यह प्रदेश तो अब उजाड़खंड है।

जब तुम इतिहास को पढ़ोगी, विगत परिस्थितियों पर सोचोगी और उनकी तुलना वर्त्तमान परिस्थितियों से करोगी, तब तुमको मध्य-एशिया के उथल-पुथल की कथा बहुत ही रोचक मालूम होगी। यह वही प्रदेश है, जहाँ से अगणित नरनारियों के झुंड के झुंड निकलकर दूर-दूर महाद्वीपों में फैल गए। यही वह स्थान है, जहाँ पर पुराने ज़माने में बड़े-बड़े और शक्तिशाली नगर थे। ये नगर समृद्धिशाली थे। इनकी बहुत बड़ी आबादियाँ थीं। इनकी तुलना योरप के आधुनिक नगरों से की जा सकती है। ये आज-कल के कलकत्ते या बंबई से कहीं बड़े थे। उनमें स्थान-स्थान पर बाग़-बगीचे थे। ऋतु सदा सम रहती थी, न बहुत ठंडी और न बहुत गर्म। यह सब वहाँ पर था। परंतु अब विगत कई सौ वर्षों से वही प्रदेश उजाड़खंड, मरुस्थल के समान, हो रहा है। वहाँ प्राचीन महानगरियों में से कुछ नगर आज भी अपने दिन गिन रहे हैं—जैसे, समरक़ंद और बुख़ारा, जिनके

नामों ही से अनंत स्मृतिराशियाँ जाग्रत् हो उठती हैं। लेकिन वे अपने प्राचीन गौरव का छाया-मात्र हैं।

मैं फिर समय से पहले की बात करने लगा। जिस प्राचीन समय का विचार हम कर रहे हैं, उस समय न तो समरक़ंद था और न बोखारा। ये सब बाद का बातें हैं। भविष्य के पट के पीछे वे छिपी हुई हैं; और मध्य-एशिया का गौरव तथा पतन दोनों ही आगे चलकर प्रादुर्भूत होंगे।
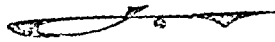
(६)

प्राचीन परंपरा का बोझ

जनवरी १४, १६३१

जेल में मेरी विचित्र आदतें हो गई हैं। उनमें से एक तो बहुत सवेरे, प्रभात से भी पहले, उठने की आदत है। विगत गर्मी के दिनों से मैंने ऐसा करना शुरू किया। प्रभात का आगमन और कैसे वह तारों को मलिन कर विलुप्त कर देता है, इनको देखना मुझे बहुत ही भाता था। प्रभात के पहले की चाँदनी को और उसके धीरे-धीरे दिवस में परिवर्त्तन को क्या कभी तुमने देखा है ? चाँदनी और प्रभात के इस संघर्ष को, जिसमें प्रभात सदा विजयी होता है, बहुधा मैं ध्यान से देखा करता था। विचित्र अर्ध-प्रकाश में कुछ समय तक यह कहना कठिन हो जाता है कि चाँदनी छिटका है, या आगामी दिवस का प्रकाश फैलने लगा। फिर, पलक मारते ही सब संशय मिट जाता, और दिन निकल आता है। हतश्री चन्द्रमा संघर्ष में पराजित होकर अंतर्धान होने लगता है।

अपनी आदत के अनुसार मैं आज भी उठा। तब तारे चमक रहे थे, और प्रभात के आगमन के पूर्व वायु में कुछ ऐसी विचित्रता थी कि उसी के सहारे इसका अनुमान किया जा सकता था कि दिन होनेवाला है। जब मैं पढ़ रहा था, तब दूर से सुनाई देनेवाली ध्वनियों और गड़गड़ाहट से, जो बार बार बुलंद होती जाती थीं, प्रातःकाल की शांत निस्तब्धता एकाएक भंग होने लगी। मुझे याद आया कि आज माघ-मेले का प्रथम दिन, संक्रांति की तिथि, है; और संगम को, जहाँ गंगा जमुना से मिलती हैं और अदृष्ट सरस्वती का मिलना भी बताया जाता है, हज़ारों यात्रियों के झुंड-के-झुंड स्नान के लिए चले जा रहे हैं। चलते-चलते वे कभी गाते और कभी गंगा माई की जय के नारे लगाते थे। उनकी आवाज़ें नैनी-जेल की दीवारों को पार करती हुई मेरे पास तक पहुँचती थीं। ज्यों-ज्यों मैं उन ध्वनियों को सुनता था, त्यों-त्यों मैं उस विश्वास की शक्ति के विषय में सोचता था, जो इस असंख्य समुदाय को नदी की ओर घसीटे लिए जा रही थी, और जिसके कारण वे अपने दुःखों और अपनी यातनाओं को कुछ समय के लिए भूल गए थे। मैं सोचने लगा, कैसे सैकड़ों, हज़ारों वर्षों से, इसी तरह से प्रति वर्ष यात्रीगण त्रिवेणी तट पर जमा होते आये हैं। मनुष्य आएँ या जाएँ; उनपर शासन करनेवाली हुकूमतें और सलतनतें कुछ दिनों तक हुकूमत कर लें और बाद में मिट जाएँ; लेकिन पुरातन परंपरा चिरस्थायिनी है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी उसके सामने घुटने टेकती और सिर झुकाती है। परंपरागत विचारधारा में बहुत कुछ अच्छाई होती है, लेकिन कभी-कभी वह एक बहुत बड़ा बोझ-सी मालूम होने लगती है, जिसकी वजह से हमें एक पग आगे बढ़ाना भी कठिन हो जाता है। जो शृंखला अस्पष्ट और सुविस्तृत अतीत के साथ हमारा संबंध जोड़ती है, उसका विचार रोचक है; उतना ही रोचक है, जितना रोचक आज से सौ वर्ष पहले के लिखे हुए इन मेलों के वृत्तांतों का पढ़ना है—और उस समय भी ये मेले पुरातन

काल से चले आ रहे थे। लेकिन जब तुम आगे की ओर बढ़ना चाहती हो, तब यह ज़ंजीर अपने आप तुम्हारे पैरों में लिपट जाती है और तुम इस परंपरा के चंगुल में फँसकर क़ैद हो जाती हो। हमें अनेक प्रकार के संबंध बनाए रखना होगा, लेकिन साथ-ही-साथ हमें परंपरा के इस बंदी भूतकाल से गृह को—जब और जहाँ वह आगे की ओर बढ़ने में हमें बाधक मालूम होने लगे—तोड़कर बाहर निकल भी आना है।

पिछले तीन पत्रों में मैंने आज से दो या तीन हज़ार वर्ष पूर्व के जगत् की तस्वीर खींचने की चेष्टा की है कि उन दिनों में उसकी कैसी दशा थी। मैंने तिथियाँ नहीं दीं। मुझे तो वे भाती नहीं, और न मैं चाहता हूँ कि तुम उनके झमेले में पड़कर कष्ट उठाओ। पुराने ज़माने की घटनाओं की तारीखें जानना आसान नहीं। घटनाओं को यथाक्रम याद रखने में सहायता देने के विचार से हम आगे चलकर कुछ थोड़ी-सी तिथियों को दे देंगे। इस समय तो हम प्राचीन जगत् की एक रूपरेखा-सी खींचना चाहते हैं। हमें ग्रीस, भूमध्यसागर के प्रांत, मिस्र, एशिया माइनर और फ़ारस की कुछ-कुछ झलक मिल गई है। अब, आओ, हम अपने देश पर भी एक नज़र डालें। भारतवर्ष के पूर्व-इतिहास के अध्ययन में हमें एक बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। प्राचीन आर्य्य—जिन्हें योरपवाले इंडो-आर्य्य कहते हैं—इतिहास की ओर से उदासीन थे। यह तो हम देख ही चुके हैं कि बहुत-सी बातों में वे लोग कितने बढ़े-चढ़े थे। जिन पुस्तकों की—जैसे वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत और अन्य ग्रन्थों की—उन्होंने रचना की है, उनको साधारण कोटि के मनुष्य कदापि नहीं लिख सकते थे। इन किताबों और दूसरी सामग्रियों से हमें प्राचीन काल के इतिहास के अनुशीलन में सहायता मिलती है। उनसे हमें अपने पूर्वजों के रहन-सहन, उनके रस्म-रिवाज और उनकी विचार-शैली का पता चलता है। परन्तु वे तो यथार्थ में इतिहास का काम नहीं देते। संस्कृत में केवल एक ही इतिहास-ग्रंथ है, वह है उत्तर कालीन क़ाश्मीर का इतिहास। इसका नाम है राजतरंगिणी अर्थात् काश्मीर के राजाओं का इतिवृत्त। इसे कल्हण ने लिखा था। तुम्हें यह जानकर ख़ुशी होगी कि इधर तो मैं तुम्हारे लिए ये पत्र लिख रहा हूँ; उधर रणजीत फूफा * संस्कृत से काश्मीर के बृहत् इतिहास का (अँगरेज़ी में) अनुवाद कर रहे हैं। उन्होंने लगभग आधा अनुवाद कर भी डाला है। यह बहुत बड़ी पुस्तक है। जब पूरा अनुवाद तैयार होकर प्रकाशित होगा, तब हम सब उसे अवश्य ही सोत्साह पढ़ेंगे, क्योंकि हममें से अधिकांश इतनी संस्कृत नहीं जानते कि मूल में उसको पढ़ सकें। हम उसे केवल इसीलिए न पढ़ेंगे कि वह एक सुन्दर ग्रंथ है, किन्तु इसलिए भी पढ़ेंगे कि उसमें प्राचीन काल का और विशेषकर उस काश्मीर का हाल है, जो—जैसा तुम्हें ज्ञात है—हम लोगों का आदिम निवास-स्थान है।

जिस समय आर्य्यों ने भारत में प्रवेश किया, उस समय यहाँ काफ़ी सभ्यता फैल चुकी थी। वास्तव में, उत्तर-पश्चिमी भारत के मोहेन-जो दारो के भग्नावशेषों से यह अब निश्चित-सा हो गया है कि आर्य्यों के आने के बहुत पहले से यहाँ पर एक विशाल सभ्यता का

* श्री रणजीत एस्. पंडित।

अस्तित्व था। लेकिन इस सभ्यता के संबंध में अभी हमें अधिक नहीं मालूम। संभव है, कुछ वर्षों में जब पुरातत्व-वेत्ता—वे लोग, जो प्राचीन भग्नावशेषों, आदि, का विशेष अध्ययन करते हैं—वहाँ पर जो कुछ मिल सकता है उसे खोद निकालें, तब हमें उसका अधिक ज्ञान हो जाए।

इसके अतिरिक्त, यह तो स्पष्ट है कि दक्षिण में, और कदाचित् उत्तरीय भारत में भी, द्रविड़ों की समुन्नत सभ्यता फैली हुई थी। उनकी भाषाएँ संस्कृत की पुत्रियाँ नहीं हैं। वे बहुत ही प्राचीन हैं, और उनमें अनेक सुंदर वाङ्मय हैं। इन भाषाओं के नाम हैं तामिल, तैलगू, कनाड़ी और मलयालम। बंबई और मद्रास के अँगरेज़ी सूबों में इन भाषाओं का आज दिन भी चलन है। शायद तुम्हें मालूम है कि राष्ट्रीय कांगरेस ने भारत को भाषाओं के आधार पर विभाजित कर इस मामले में अँगरेज़ी शासन से कहीं अधिक बुद्धिमानी दिखाई है। यह ढंग कहीं अच्छा है, क्योंकि इससे हर सूबे में एक ही तरह के लोग होते हैं, जो एक ही भाषा बोलते हैं, और जिनके रहन-सहन का तरीक़ा एक-सा होता है। दक्षिण भारत में कांगरेसी सूबों के नाम हैं—उत्तरीय मद्रास प्रांत में आंध्र देश जहाँ तैलगू बोली जाती है; तामिल नाड जहाँ की भाषा तामिल है; कनाड़ा जो वर्तमान बंबई प्रांत के दक्षिण में है; और जहाँ कनाड़ी का प्रचार है; और केरल जो मोटे ढंग से वर्तमान मलाबार के बराबर है और जहाँ मलयालम बोली जाती है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि भविष्य में भारत के प्रांतों की सीमा निर्धारित करने में सीमा-विशेष की भाषा का विशेष रूप से ध्यान रक्खा जायगा।

इस स्थान पर मैं भारत की भाषाओं के संबंध में कुछ कह देना चाहता हूँ। योरप तथा दूसरे देशों में कुछ लोगों की यह धारणा है कि भारत में सैकड़ों भाषाएँ बोली जाती हैं। यह सरासर ग़लत है। जो कोई ऐसी बात कहता है, वह केवल अपनी मूर्खता प्रकट करता है। यह सच है कि भारत के-से विशाल देश में अनेक बोलियाँ, अर्थात् एक ही भाषा-विशेष के अनेक स्थानिक भेद, प्रचलित हैं। यह भी सच है कि भारत के पहाड़ी और अन्य भागों में छोटी-मोटी कुछ जातियाँ हैं, जिनकी जुदा-जुदा बोलियाँ हैं। लेकिन यदि तुम सारे भारत को लो तो ये सब नगण्य मालूम होंगी। भारत की असली भाषाएँ, जैसा मेरा ख्याल है कि मैं अपने पिछले पत्रों में कह चुका हूँ, दो श्रेणियों में बाँटी जा सकती हैं—एक द्रविड़, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है; और दूसरी आर्य्य। भारतीय आर्य्यों की प्रधान भाषा का नाम संस्कृत था, और भारत की सब आर्य्य भाषाएँ संस्कृत ही की बेटियाँ हैं। इनके नाम हिंदी, बंगला, गुजराती और मराठी हैं। कुछ और भी भेद हैं। आसाम में आसामी भाषा है, और उड़ीसा या उत्कल में उड़िया का प्रचार है। उर्दू हिंदी का रूपांतर है। हिंदुस्तानी शब्द से हिंदी और उर्दू दोनों ही का बोध होता है। इस तरह से भारत में केवल दस भाषाएँ हैं—हिंदुस्तानी, बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तैलगू, कनाड़ी, मलयालम, उड़िया और आसामी। इनमें से हिंदुस्तानी समस्त उत्तरीय भारत में—पंजाब, युक्तप्रांत, बिहार, मध्यप्रांत, राजपूताना, देहली, मध्य भारत में—बोली जाती है। इस विशाल भूभाग में तेरह करोड़ से अधिक लोग रहते हैं। इस तरह तुम देखोगी कि आज दिन भी १३ करोड़ की भाषा छोटे-मोटे रूपांतर के साथ हिंदुस्तानी है। तुम्हें यह भी अच्छी तरह से मालूम है कि भारत के अनेक भागों में हिंदुस्तानी को लोग समझ लेते हैं। इसीके

भारत की राष्ट्र-भाषा होने की संभावना है। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि भारत की अन्य प्रधान भाषाएँ, जिनका मैंने ऊपर उल्लेख किया, एकदम से लुप्त हो जाएँ। उनका प्रांतिक भाषाओं के रूप में जीवित रहना आवश्यक है, क्योंकि उनमें सुंदर सुंदर वाङ्मय हैं। किसी समुन्नत भाषा को उसके बोलनेवाले से हर लेने की चेष्टा कभी किसी को न करनी चाहिए। किसी जाति के विकास और उसके बच्चों की शिक्षा का एकमात्र साधन उसी जाति की भाषा है। भारत में आज दिन हर एक बात औंधी है; हम आपस में भी अँगरेज़ी ही का अधिकतर प्रयोग करते हैं। तुमको मेरा अँगरेजी में लिखना भी निरानिर हास्यास्पद है—फिर भी मैं यही कर रहा हूँ। इस लत से जल्द ही हमें छुटकारा मिल जायगा, ऐसी मुझे आशा है।
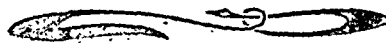
(१०)

प्राचीन भारत के ग्राम-प्रजातंत्र

जनवरी १५, १९३१

बताओ तो सही कि कैसे हम प्राचीन काल के इतिहास के निरीक्षण में आगे बढ़ें? मैं रह-रहकर प्रधान पथ को छोड़ देता और अगल-बगल की गलियों की ओर मुड़ जाता हूँ। पिछले पत्र में मैं विषय-विशेष तक पहुँचा ही था कि मैंने भारत की भाषाओं के मसले को छेड़ दिया और उसीपर लिख मारा।

आओ, प्राचीन भारत की ओर लौट चलें। तुम्हें मालूम है कि जो प्रदेश आज दिन अफ़ग़ानिस्तान कहलाता है, वह तब और उसके बहुत बाद तक भारतवर्ष ही का एक टुकड़ा माना जाता था। भारत का वह उत्तर-पश्चिमी प्रदेश गांधार के नाम से प्रसिद्ध था। चारों ओर उत्तर में, सिंधु और गंगा की तलहटियों में, आर्य्यों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं। संभवतः, आर्य्य आगंतुकों को गृह-निर्माण-कला का अच्छा ज्ञान था। उनमें से बहुतेरे फ़ारस और इराक़ से आए थे, जहाँ उस समय पर भी बड़े-बड़े नगर थे। आर्य्यों की बस्तियों को छोड़कर देश जंगलों से भरा था। उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच में एक बहुत बड़ा जंगल था। यह संभव नहीं मालूम होता कि इस दंडकारण्य को पारकर बहुत-से आर्य्य दक्षिण में जा बसे होंगे। हाँ, अनेक व्यक्ति खोज करते हुए, व्यापार के लिए अथवा आर्य-सभ्यता तथा संस्कृति के प्रसार की कामना से अवश्य दक्षिण में जा पहुँचे होंगे। प्राचीन जनश्रुति से हमें पता लगता है कि अगस्त्य ऋषि दक्षिण में जानेवाले सबसे पहले आर्य्य थे। दक्षिण में उन्होंने आर्य्य-धर्म्म और संस्कृति का संदेश पहुँचाया था।

भारत और विदेश के बीच में इस समय भी बहुत-सा व्यापार होता था। मिर्च, सुवर्ण और मोतियों के लिए विदेशी व्यापारी समुद्र के मार्ग से दक्षिण-भारत में आया-जाया करते थे। शायद चावल भी यहाँ से विदेशों को जाता था। बेबिलान के राजप्रासादों में मलाबार की साखू की लकड़ी पाई गई है।

भारत में आर्य्यों के ग्राम-संघटन का क्रमशः विकास हुआ। इसपर कुछ तो प्राचीन द्रविड़ों और कुछ आर्य्यों के संस्कारों की छाप थी। ये ग्राम एक दूसरे से स्वतंत्र थे, और उनका शासन चुने हुए पंच के हाथ में था। कई ग्रामों या छोटे-छोटे निगमों (क़स्बों) के ऊपर एक राजा होता था। कहीं-कहीं तो जनता राजा को चुनती थी; और कहीं-कहीं यह पद मौरूसी था। सड़कों, विश्राम-गृहों, सींचने के लिए नहरों के बनाने तथा ऐसे ही समाज-हित के अन्य कामों में विभिन्नग्राम-समूह प्रायः एक दूसरे की सहायता करते थे। ऐसा मालूम होता है कि यद्यपि राजा अपने राज्य का प्रधान पुरुष होता था, परंतु वह मनमानी घरजानी नहीं कर सकता था। उसको भी आर्य्य-विधानों और प्रथाओं के अनुकूल ही चलना पड़ता था। प्रजा उसे गद्दी से उतार या दंड दे सकती थी। इस देश में इस सिद्धांत का कि राजा ही राष्ट्र है, कुछ भी समादर न था। इस सिद्धांत के विषय में मैं अपनी प्रथम पत्र-माला में लिख चुका हूँ। इस प्रकार आर्य्य-बस्तियों में एक

प्रकार का प्रजातंत्र था, अर्थात् आर्य्य प्रजा शासन को कुछ अंशों में नियंत्रित कर सकती थी।

इन भारतीय आर्य्यों की ग्रीस के आर्य्यों से तुलना करो। दोनों में बहुत भिन्नता है; लेकिन कई बातों में दोनों में समानता भी है। दोनों ही देशों में किसी न किसी प्रकार का प्रजातंत्र था। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि दोनों देशों में इस प्रजातंत्र में केवल आर्य्यों ही का हाथ था। दासों और छोटी जाति के लोगों के लिए न तो प्रजातंत्र था, और न स्वाधीनता। उस समय वर्णाश्रम-धर्म और उसके अंतर्गत उस तरह के अनंत जाति-भेद न थे, जैसे आज दिन हमें दिखाई देते हैं। कहा जाता है कि उन दिनों में आर्य्यों की चार जातियाँ थीं—ब्राह्मण अर्थात् द्रष्टा और यज्ञ-करानेवाले; क्षत्रिय या शासक वर्ग; वैश्य या व्यापारी और उद्यमी; एवं शूद्र या मजदूर-दल। अतएव, यह जाति-भेद व्यवसाय के सिद्धांत पर अवलंबित था। संभव है, वर्णाश्रम-प्रथा के मूल में किसी अंश तक आर्य्यों की यह धारणा भी रही हो कि दस्यु जाति से वे अपने को अलग रखना चाहते थे। आर्य्य लोग काफ़ी घमंडी और अभिमानी थे। वे दूसरों को तुच्छ समझते थे। वे नहीं चाहते थे कि उनका दूसरों के साथ संबंध हो। संस्कृत भाषा में जाति के लिए जो शब्द है, वह है वर्ण, अर्थात् रंग। इससे यह भी प्रकट होता है कि भारत के आदिम निवासियों के रंग से बाहर से आनेवाले आर्य्यों का रंग अधिक स्वच्छ था।

इस तरह हमें यह याद रखना चाहिए कि एक ओर तो आर्य्यों ने मजदूर जातियों को दबा रक्खा और उन्हें अपने प्रजातंत्र में कुछ भी अधिकार न दिया; दूसरी ओर जहाँ तक उनके (आर्य्यों के) निजी हिताहित का प्रश्न था, वहाँ तक उन्हें बहुत अधिक मात्रा में स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे अपने राजाओं या शासकों को अत्याचार नहीं करने देते थे। यदि किसी शासक ने अत्याचार किया तो वह निकाल दिया जाता था। राजा प्रायः क्षत्रिय होते थे; लेकिन कभी-कभी लड़ाई के समय में या संकट उपस्थित होने पर शूद्र भी, यदि उसमें योग्यता होती थी तो, सिंहासन पर जा विराजता था। बाद में आर्य्यों का अधःपतन हुआ, उनका जाति-भेद दृढ़ एवम् जटिल हो गया। अत्यधिक भेद-भाव ने देश को दुर्बल कर दिया, और इसीसे उसका विनाश हुआ। आर्य्य स्वतंत्रता के प्राचीन भाव को भी भूल बैठे; क्योंकि पुराने ज़माने में यह मसल मशहूर थी कि आर्य्य कभी दास नहीं बनाया जा सकता। उसके लिए आर्य्य नाम को कलंकित करने से मृत्यु कहीं अधिक श्रेयस्कर थी।

आर्य्यों की बस्तियाँ—ग्राम और नगरियाँ—अव्यवस्थित ढंग से नहीं बसी थीं। वे विधि-पूर्वक निर्मित की गई थीं। तुमको यह बात रोचक मालूम होगी कि इन नक़्शों का रेखा-गणित से घनिष्ट संबंध है। वैदिक पूजाओं में गणित के रूपों का बहुत प्रयोग होता था। आज भी बहुत से हिंदू घरों में बहुतेरी पूजाओं में ऐसे ही गणित-विषयक रेखाचित्र खींचे जाते हैं। रेखा-गणित का गृह और नगर के निर्माण से बहुत ही गहरा संबंध है। आदि में प्राचीन आर्य्यों के ग्राम संभवतः सुरक्षित गढ़ की तरह होते थे। उस समय शत्रुओं के हमलों का निरंतर भय रहता था। आज भी, जब शत्रु के आक्रमणों की आशंका नहीं रही, वही पुराना ढर्रा जारी है। ग्राम का विधान या नक़्शा समकोण के समान होता था। उसके चारों ओर दीवारें होती

थीं। उनमें चार बड़े और चार छोटे दरवाज़े होते थे। इन दीवारों की परिधि के भीतरी भाग में पथ और मकान नियम-पूर्वक बनाए जाते थे। ग्राम के मध्य में पंचायत-घर होता था, जिसमें गाँव के बड़े-बूढ़े इकट्ठे होते थे। छोटे ग्रामों में पंचायत-घर की जगह केवल एक बड़ा वृक्ष होता था। प्रतिवर्ष ग्राम के स्वाधीन पुरुष अपने पंचों को चुनने के लिए जमा होते थे।

बहुत-से विद्वान् सरल जीवन बिताने या एकांत में शांतिपूर्वक नित्यकर्म और अध्ययन के लिए ग्रामों और नगरों के पासवाले जंगलों में जाकर रहने लगते थे। शिष्य-मंडली उन्हें घेरे रहती थी। इन गुरु-शिष्यों के नए-नए आश्रम समय-समय पर स्थापित होते गए। हम इन आश्रमों या गुरुकुलों को विश्व-विद्यालयों की उपमा दे सकते हैं। इनमें बहुत सी सुंदर इमारतें तो न थीं; लेकिन जिन्हें ज्ञान की लालसा होती थी, वे दूर-दूर से इन गुरुकुलों में पढ़ने जाते थे।

आनंद-भवन के सामने भरद्वाज-आश्रम है। उसे तुम अच्छी तरह से जानती हो। शायद तुम्हें यह भी मालूम है कि भरद्वाज रामायणी युग के एक बहुत बड़े विद्वान् कहे जाते हैं। कहा जाता है कि वनवास के समय रामचंद्र उनसे मिलने गए थे। यह भी कहा जाता है कि उन के साथ सहस्रों शिष्य और विद्यार्थी रहा करते थे। संभव है, वहाँ पर एक विश्वविद्यालय रहा हो, जिसके कुलपति भरद्वाज थे। उन दिनों यह आश्रम गंगा के तट पर था। यह संभव भी है; क्योंकि गंगा आज दिन भी इस आश्रम से लगभग एक मील दूर है। हमारे बाग़ की मिट्टी रेतीली है; संभव है, तब वहाँ गंगा बहती रही हो।

उन दिनों भारत में आर्य्यों का गौरवपूर्ण युग था। दुर्भाग्य से इस युग का कोई इतिहास हमारे पास नहीं है। उस समय के राज्यों और गणों में दक्षिण-बिहार में मगध था; उत्तरीय बिहार में विदेह था; काशी थी; कोशल था, जिसकी राजधानी अयोध्या में थी; और गंगा-यमुना के बीच में पंचाल था। पंचालों के इस प्रांत में मथुरा और कान्यकुब्ज नाम के दो प्रधान नगर थे। ये दोनों ही नगर उत्तरकालीन इतिहास में भी प्रसिद्ध थे। दोनों आज भी मौजूद हैं। कानपुर के पास कन्नौज के नाम से कान्यकुब्ज है। उज्जैन वर्त्तमान काल में एक छोटा-सा नगर है, जो उस प्राचीन काल में मौजूद था। अब वह ग्वालियर राज्य में है।

पाटलिपुत्र या पटने के पास वैसाली का प्रधान नगर था। प्राचीन भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध लिच्छवि जाति की यहाँ राजधानी थी। यह गण प्रजातंत्र था, जिसका शासन गण-पतियों की समिति द्वारा होता था। इस संघ का सरपंच, जो विधिवत् चुना जाता था, गणराजा कहलाता था।

जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे बड़े-बड़े क़स्बे और नगर बसते गए। व्यापार बढ़ने लगा, और कारीगरों के कला-कौशल में उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। नगर व्यापार के बड़े-बड़े केंद्र हो गए। जंगलों के गुरुकुल भी, जिनमें कुलपति अपने विद्यार्थियों के साथ रहते थे, बड़े-बड़े विश्वविद्यालय-नगरों में परिणत होने लगे। विद्या के इन केंद्रों में प्रत्येक विषय, जिसका उस समय लोगों को ज्ञान था, पढ़ाया जाता था। ब्राह्मण युद्ध-कला तक सिखाते थे। तुम्हें याद होगा कि महाभारत में द्रोणाचार्य नाम के एक ब्राह्मण पांडवों के महाचार्य थे। उन्होंने इन पांडवों को अन्य विषयों के साथ-साथ धनुर्विद्या भी सिखाई थी।

---

(११)

चीन के एक हज़ार वर्ष

जनवरी १६, १६३१

बाहर की दुनिया से एक ऐसा समाचार आया है, जिससे चित्त चंचल और व्यथित हो गया। परन्तु साथ-ही-साथ उसे सुनकर हम आनंद और अभिमान से फूल उठे। शोलापुर-निवासियों की दुर्गति का हाल हमने सुना। जब यह समाचार फैला, तब सारे देश में जो हुआ, उसका भी संक्षिप्त विवरण हमें मिल चुका है। पर जब हमारे नौजवान जान पर खेलते और हज़ारों नर तथा नारियाँ निर्दय लाठियों का सामना करती थीं, तब यहाँ हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना हमारे लिए बहुत कठिन हो गया। लेकिन इससे भी हमें अच्छी शिक्षा मिल रही है। मेरी धारणा है कि हममें से प्रत्येक को जी भरकर अपने को आज़माने के अनेक अवसर मिलेंगे। इस समय तो यही जानकर हृदय को सुख होता है कि हमारे भाई संकट का सामना करने के लिए आगे बढ़ने का कैसा साहस कर रहे हैं, कैसे विरोधी का प्रत्येक नया क़ानून और उसका प्रयोग उनको अधिक बलशाली एवं मुक़ाबिला करने के लिए अधिक दृढ़ बनाता जाता है।

जब दैनिक समाचारों से किसी का मस्तिष्क भरा हो, उस समय उसके लिए दूसरी बातों का विचार करना कठिन है। लेकिन कोरी उधेड़बुन से भी कुछ लाभ नहीं। यदि हमको कुछ ठोस काम करना है तो अपने चित्त को हमें वश में रखना चाहिए। इसलिए, आओ, प्राचीन काल को लौट चलें और कुछ समय के लिए अपनी मौजूदा मुसीबतों से दूर हटकर डेरा डालें।

आओ, प्राचीन इतिहास में भारत के भाई, चीन, के पास चलें। चीन और पूर्वीय एशिया के अन्य देशों में हमें आर्य्य-जातियों से कुछ सरोकार नहीं है। यहाँ पर तो हमें मंगोल जातियाँ मिलती हैं।

लगभग पाँच हज़ार या उससे अधिक वर्ष हुए, जब पश्चिम से एक बार चीन पर चढ़ाई हुई थी। आक्रमण करनेवाली ये जातियाँ भी मध्य एशिया ही से आई थीं। वे काफ़ी सभ्य थीं। वे लोग खेती-बारी का काम जानते थे। गाय-बैलों और भेड़-बकरियों के झुंड-के-झुंड उनके साथ रहते थे। वे अच्छे-अच्छे घर बनाते थे। उनका सामाजिक संघटन भी पूर्ण-रूप से विकसित हो चुका था। हांग-हो नदी के पास, जिसे यलो नदी भी कहते हैं, वे लोग बस गए। यहाँ पर उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। कई सौ वर्षों तक चीन भर में वे फैलते गए, और अपने कला-कौशल की उन्नति करते रहे। चीन-निवासी अधिकांश में किसान थे। उनके सरदार वास्तव में अपने-अपने यूथों के उसी तरह के नायक थे, जैसे नायकों या कुलपतियों का उल्लेख मैं अपने पुराने पत्रों में कर चुका हूँ। छः या सात सौ साल बाद, अर्थात् आजकल से चार हज़ार वर्ष से भी

अधिक पहले, हमें याओ-नामक एक पुरुष का पता चलता है, जो अपने को सम्राट् कहता था। लेकिन इस उपाधि के होते हुए भी उसकी दशा राजा या पितामह से अधिक, और मिस्र या इराक़ के सम्राटों से बहुत कम, मिलती-जुलती थी। चीनी लोग किसानों की तरह रहते थे। वहाँ पर केन्द्रिय शासन नामचार ही को था।

मैंने तुम्हें बताया है कि कैसे राजाओं या नायकों को उनके साथी चुना करते थे, और कैसे आगे चलकर यही प्रथा मौरूसी हो गई। इसका आरंभ हमें चीन में दिखाई देता है। याओ के बाद, उसका बेटा गद्दी पर नहीं बैठा, बल्कि देश के सबसे अधिक योग्य व्यक्ति को उसने अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। थोड़े ही दिनों में यह पद मौरूसी हो गया। कहा जाता है कि चार सौ साल से अधिक समय तक हसिया-नामक राजवंश चीन में राज्य करता रहा। अंतिम हसिया-शासक बहुत ही क्रूर था। इस कारण वहाँ क्रांति हो गई, और उसे सिंहासन छोड़ना पड़ा। इसके बाद दूसरा राजवंश, शांग या इन-नाम का राजवंश, शासन करने लगा। इसका राज्य लगभग ६ सौ पचास साल तक चला।

एक सूक्ष्म पैराग्राफ़ में, दो या तीन वाक्यों में, मैंने चीन के एक हज़ार से अधिक वर्षों के इतिहास को निपटा डाला। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है? इतिहास के इन विस्तीर्ण युगों के संबंध में कोई कर ही क्या सकता है? लेकिन तुम्हें यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि मेरा संक्षिप्त पैराग्राफ़ इन हज़ार या ग्यारह सौ वर्षों के विस्तार को कम नहीं करता। दिनों, महीनों और वर्षों को सीमा के अंतर्गत सोचने-विचारने की आदत-सी हमें पड़ गई है। सौ साल तक की भी विशद कल्पना करना तुम्हारे लिए कठिन है। तुम्हारे तेरह साल ही तुम्हें बहुत लंबे प्रतीत होते होंगे, और हर साल तुम और भी बड़ी होती जाओगी। फिर कैसे तुम इतिहास के हज़ार वर्षों की, अपने मन में, एक साथ कल्पना कर सकती हो? यह बहुत अधिक समयावधि है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी आती और चली जाती है। क़स्बे बढ़कर बड़े-बड़े नगर हो जाते और बिगड़ने लगते हैं। उनके स्थान पर नए नगर बस जाते हैं। इतिहास के पिछले हज़ार वर्षों की याद करो; तब शायद तुम्हें इस विस्तीर्ण अवधि का कुछ-कुछ बोध होने लगे। इन विगत हज़ार वर्षों में कैसे-कैसे आश्चर्यजनक परिवर्तन संसार में हो गए हैं!

चीन का पुराना इतिहास कितना अद्भुत है—उस चीन का, जिसकी परंपरा-संस्कृति बहुत प्राचीन है, और जिसका प्रत्येक राजवंश पाँच-पाँच सौ या आठ सौ या उससे भी अधिक वर्षों तक राज्य करता रहा।

जिन ग्यारह सौ वर्षों का मैंने एक पैराग्राफ़ में निर्देश किया है, उन ग्यारह सौ वर्षों में चीन की मंथर प्रगति और विकास को तो सोचो। धीरे-धीरे कुलपतियों की प्रथा का अंत होता गया, और केंद्रिक शासन-प्रणाली विकसित होती गई। फिर एक सुसंघटित राष्ट्र का आविर्भाव हुआ। उस प्राचीन काल में भी चीन को लेखन-कला का ज्ञान था। लेकिन चीन की लेखन-शैली, जैसा तुम्हें मालूम है, हमारी, फ़्रेंच और अँगरेज़ों की लेखन-शैलियों से भिन्न है। उसमें अक्षरों के स्थान पर संकेत या चित्र होते हैं।

६ सौ चालिस वर्षों तक राज्य करने के बाद, शांग राजवंश एक क्रांति के कारण उखड़ गया; और चौ-नामक एक नया राजवंश राज्य करने लगा ! शांग राजवंश से भी अधिक काल तक उसने शासन किया। इस राजवंश के ज़माने में सुसंघटित राष्ट्र का विकास हुआ। इसी शासन-काल में कनफ़ूसियस और लाओ-ज़े नामक चीन के दो महान् दार्शनिक पैदा हुए। इन दोनों महापुरुषों के विषय में आगे चलकर हम कुछ अधिक कहेंगे।

जब शांग राजवंश का अंत हो रहा था, तब की-ज़े नामक उसके एक उच्च अधिकारी ने चौ-राजवंश की नौकरी से देश छोड़कर चले जाने को ज्यादा अच्छा समझा। वह अपने एक हज़ार साथियों को लेकर चीन से कोरिया चला गया। उसने इस देश को चोसन (अर्थात्, प्रातःकालीन शांति का देश) का नाम दिया। कोरिया या चोसन चीन के पूर्व में है। की-ज़े पूर्व दिशा में उदित सूर्य्य की ओर गया था। शायद उसने समझा हो कि वह पूर्व दिशा के अंतिम देश में पहुँच गया है, और इसीलिए उसने उस देश को यह नाम दिया। ईसा से पूर्व ग्यारह सौ वर्ष हुए इसी की-ज़े के साथ कोरिया के इतिहास का आरंभ होता है। की-ज़े ने इस नए देश के निवासियों को चीनी कला-कौशल, शिल्प, खेती-बारी और रेशम के बनाने की विधि सिखाई। की-ज़े के पीछे और भी अनेक चीनी यात्री यहाँ पहुँचे। उसके वंशजों ने चोसन पर नौ सौ वर्ष से अधिक समय तक राज्य किया।

की-ज़े वास्तव में पूर्वीय दिशा के पूर्वतम देश में नहीं गया था। जहाँ वह गया था, उसके पूर्व में, जैसा हमें मालूम है, जापान है। लेकिन जब की-ज़े चोसन में पहुँचा, उस समय जापान में क्या हो रहा था, इसका हमें कुछ भी ज्ञान नहीं। जापान का इतिहास उतना पुराना नहीं है, जितना चीन का और कोरिया अथवा चोसन का। जापानियों का कहना है कि उनके प्रथम सम्राट् का नाम जिम्मू तन्नो था। वे उसका राज्य-काल ईसा से छः या सात सौ वर्ष पूर्व बताते हैं। उनकी धारणा है कि वह सूर्य्य-देवी से उत्पन्न हुआ था। जापान में सूर्य्य को देवी मानते थे। जापान के वर्त्तमान सम्राट् इसी जिम्मू तन्नू के ठेठ वंशज कहे जाते हैं। इसी कारण अनेक जापानी उन्हें भी सूर्य्य का वंशज मानते हैं।

तुम्हें मालूम है कि हमारे देश में भी राजपूत यही कहते हैं कि वे सूर्य्य या चन्द्र से उत्पन्न हुए हैं। उनके सूर्य्यवंशी और चंद्रवंशी नाम के दो प्रधान राजघराने प्रसिद्ध हैं। उदयपुर के महाराणा सूर्य्यवंशियों के सिरताज हैं। वह अपनी वंशावली को अतीत काल तक ले जाते हैं। अद्भुत और अपूर्व हैं हमारे राजपूत; उनकी वीरता और वीरोचित सुजनता की कहानियों का कोई अंत नहीं।

(१२)
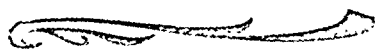
पुरातन की पुकार

जनवरी १९, १९३१

हम प्राचीन कालिक संसार पर, जैसा वह संभवतः आज से दो हज़ार पाँच सौ साल पहले था, एक सरसरी नज़र डाल चुके। हम उसका बहुत ही संक्षिप्त और परिमित निरीक्षण कर पाए हैं। हमने सिर्फ़ उन्हीं देशों का हाल लिखा है, जो थोड़े-बहुत समुन्नत थे या जिनका किसी-न-किसी प्रकार का निश्चित इतिहास मिलता है। मिस्र की उस विशाल सभ्यता का हमने उल्लेख किया है, जिसने पिरैमिड, स्फ़िंक्स की मूर्ति और अन्य अनेक वस्तुओं का निर्माण किया। यहाँ पर हम उसकी कृतियों का वर्णन नहीं कर सकते। उस युग में भी, जिसका इस समय हम विचार कर रहे हैं, यह विशाल सभ्यता अपने गौरव के दिन देख चुकी थी और अवनति की ओर ढुलकने लगी थी। नोसास भी अपनी अंतिम घड़ियाँ गिन रहा था। जिन विस्तृत युग-युगांतरों में चीन बढ़ते-बढ़ते एक विशाल साम्राज्य बन गया, और वहाँ लेखनशैली, रेशम के बनाने की विधि तथा अन्य ललित कलाओं का विकास हुआ, उनकी रूप-रेखा हम खींच चुके हैं। कोरिया और जापान की भी झलक हमें मिल चुकी है। भारत में भी हमने उस पुरानी सभ्यता की ओर संकेत किया, जिसके चिह्न सिंधु की घाटी के मोहेन-जो दारो-वाले भग्नावशेषों में मिलते हैं। हमने द्रविड़ों की सभ्यता की ओर संकेत करते हुए यह भी बताया कि उनका विदेशों के साथ व्यापारिक संबंध था। अंत में हमने भारतीय आर्य्यों का वर्णन किया। वेद, उपनिषद्, रामायण और महाभारत, आदि, जिन ग्रंथों को आर्य्यों ने उन युगों में रचा था, उनका भी नामोल्लेख हम कर चुके हैं। हमने उन्हें उत्तरीय भारत में चारों ओर फैलते और दक्षिण भारत में पहुँचते देखा। हमने उनको द्रविड़ों के संसर्ग से एक नई सभ्यता और संस्कृति की रचना करते हुए भी देखा, जिसका कुछ अंश तो द्रविड़ों से लिया गया था और अधिकांश आर्य्यों की देन था। विशेष रूप से हमने उनके ग्राम-संघों को प्रजातंत्र की प्रणाली पर विकसित और क़स्बों तथा नगरों में परिणत होते देखा। हमने यह भी देखा कि कैसे अरण्यों में स्थापित आश्रम विश्वविद्यालय हो गए। इराक़ और फ़ारस में हमने एक साम्राज्य के बाद दूसरे साम्राज्य की वृद्धि का संक्षिप्त उल्लेख किया। इन साम्राज्यों में, बहुत पीछे, दारा का साम्राज्य था, जो भारत में सिंधु नदी की घाटी तक फैला हुआ था। फ़िलिस्तीन में हमें यहूदियों की एक झलक दिखाई दी। ये लोग यद्यपि संख्या में थोड़े और संसार के एक छोटे-से कोने में पड़े हुए थे, तो भी उन्होंने अपनी ओर संसार का ध्यान बहुत अधिक मात्रा में आकर्षित किया है। जहाँ दूसरे देशों के बड़े-बड़े नरपतियों का नाम तक दुनिया से उठ गया, वहाँ इन यहूदियों के दो राजाओं--डेविड और सुलेमान—के नाम आज भी लिये जाते हैं; क्योंकि उनका वर्णन बाइबिल में आया है। ग्रीस में हमने नोसास की

प्राचीन सभ्यता के खँडहरों पर आर्य्यों की नई सभ्यता को पनपते और फलते-फूलते देखा। नगर-राष्ट्र विकसित हुए, और भूमध्यसागर के तटों पर ग्राक उपनिवेशों की स्थापना हो गई। रोम, जो आगे चलकर नामवर होने को था, और उसका घोर विरोधी, कार्थेज, इतिहास के क्षितिज पर इसी युग में उदय होने लगे थे।

इस सब की हमें एक झलक-सी मिल गई है। उत्तरीय योरप और दक्षिण-पूर्वीय एशिया के देशों का भी कुछ-न-कुछ हाल मैं तुम्हें बता सकता था, यद्यपि उनका जिक्र मैंने नहीं किया। उन सुदूर दिनों में भी भारत के नाविक बंगाल की खाड़ी से मलय प्रायद्वीप और उसके दक्षिणी टापुओं तक जाने का साहस करते थे। लेकिन कहीं-न-कहीं पर हमें लकीर खींचनी ही पड़ेगी, नहीं तो हमारा आगे बढ़ना असंभव हो जायगा।

प्राचीन संसार से हमें प्रायः उन्हीं देशों का बोध होता है, जिनका हमने ऊपर जिक्र किया है, लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि उन दिनों दूर-दूर के देशों में बहुत कम लोग आया-जाया करते थे। व्यापार के लिए या दूसरे अभिप्राय से साहसिक नाविक समुद्र द्वारा और दूसरे लोग भूमार्ग से लंबी-लंबी यात्राएँ किया करते थे। लेकिन ऐसा भी इने-गिने आदमी ही किया करते थे। उस समय लोगों को भूगोल का बहुत थोड़ा ज्ञान था। पृथिवी उन दिनों गोल नहीं, चपटी, मानी जाती थी। ऐसी दशा में लोगों को पड़ोस के देशों को छोड़कर दूसरे मुल्कों का बहुत कम ज्ञान था। उदाहरण के लिए, ग्रीस के निवासी चीनवालों या भारतीयों के विषय में बिलकुल अनभिज्ञ थे; और चीनवालों या भारतीयों को भूमध्यसागर के देशों का प्रायः कुछ भी हाल न मालूम था।

यदि तुम्हें प्राचीन जगत् का नक़्शा मिले तो उसको देखो। प्राचीन लेखकों ने संसार के जो वर्णन लिखे या नक़्शे बनाए थे, उनमें से कुछ तो बड़े ही मनोरंजक हैं। उन नक़्शों में कई देशों की अजीब शक्लें बनी हैं। प्राचीन काल के जो नक़्शे अब तैयार किए जाते हैं, वे प्राचीन लेखकों के बनाए हुए नक़्शों से हमारे पठन-पाठन में कहीं अधिक मदद देते हैं। मुझे आशा है कि जब तुम उन युगों के संबंध में कुछ पढ़ोगी, तब इन नक़्शों को बराबर देखती जाओगी। नक़्शे से बड़ी मदद मिलती है। उसके बिना इतिहास का असली ज्ञान हमें हो ही नहीं सकता। सच बात तो यह है कि इतिहास पढ़ते समय हमारे पास जितने ही अधिक नक़्शे और चित्र हों या जितनी अधिक संख्या में पुराने ज़माने की बची-बचाई इमारतों और खँडहरों की तसवीरें हों, उतना ही अधिक हमको लाभ होगा। इन चित्रों की बदौलत इतिहास का अस्थि - पंजर फिर से रक्त मांस से भर आता है। वह हमारे लिए सजीव हो उठता है। यदि हमें इतिहास से कुछ सीखना है तो जब हम उसे पढ़ने बैठें, तब हमारे मन में विशद चित्रों की एक क्रमबद्ध शृंखला बँध जानी चाहिए, ताकि हम घटनाओं को घटित होते हुए देखने लगें। इतिहास तो एक नाटक है, जो कभी-कभी सुखांत परंतु प्रायः दुखांत, होता है, जिसका रंगमंच यह जगत् है, और जिसके अभिनेता हैं भूतकालीन महापुरुष और वीरांगनाएँ।

इतिहास के इस जुलूस को देखने के लिए, चित्र और नक़्शे हमारी आँखें खोलने में

सहायक होते हैं। प्रत्येक बालक-बालिका को ये चीजें सुलभ होनी चाहिए। लेकिन चित्रों से भी अधिक उपयोगी होता है प्राचीन युगों के खँडहरों और भग्नावशेषों को जाकर देखना। सब खँडहरों और भग्नावशेषों को जाकर देखना दुस्साध्य है; क्योंकि वे संसार भर में फैले हुए हैं। लेकिन यदि हम सतर्क हों तो हम पुराने ज़माने के भग्नावशेषों को आसानी से देख सकते हैं। बड़े-बड़े अजायबघरों में छोटे-छोटे भग्नावशेष संग्रह किए जाते हैं। भारत में प्राचीन काल के बहुत-से भग्नावशेष मिलते हैं; लेकिन बहुत ही प्राचीन समय के भग्नावशेष नहीं के बराबर हैं। मोहेन-जो दारो और हरप्पा ही में शायद ऐसी चीजें मिली हैं। यह बहुत संभव है कि ज़मीन में इस समय भी इसी तरह के बहुत-से भग्नावशेष गड़े पड़े हों। पर उनको खोद निकालने की ज़रूरत है। ज्यों-ज्यों हम उन्हें खोदते जायँगे और प्राचीन काल के भग्नावशेष तथा आलेख हमें मिलते जाएँगे, त्यों-त्यों हमारे देश का प्राचीन इतिहास हमारी आँखों के सामने अपने पृष्ठ धीरे-धीरे खोलता जाएगा, और पुरातन, अत्यंत पुरातन, काल में हमारे पूर्वजों ने जो कुछ किया है, उसकी कथा हम इन पत्थर, ईंट और चूने के पृष्ठों में पढ़ेंगे।

तुम देहली तो गई हो। वर्त्तमान नगर के इर्द-गिर्द जो पुरानी इमारतें और खँडहर हैं, उनमें से कुछ को तुमने देखा भी है। जब तुम उन्हें फिर कभी देखना, तब भूतकाल को याद करना। वे भग्नावशेष तुम्हें उठाकर भूतकाल में ले जाएँगे और किताबों से कहीं अधिक इतिहास बताएँगे। देहली या उसके पास महाभारत के समय से लोग बराबर रहते चले आए हैं। इसके कई नाम हैं—इंद्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, तुग़लक़ाबाद, शाहजहानाबाद। मुझे खुद इसके सब नाम नहीं मालूम। अनुश्रुति से पता चलता है कि यमुना की धारा में फेरफार होने के कारण सात दिल्लियाँ सात भिन्न-भिन्न स्थानों पर बस चुकी हैं। अब रायसीना या नई देहली के नाम से आठवीं देहली भी देश के वर्तमान शासकों की आज्ञा से निर्मित हुई है। देहली में साम्राज्य के बाद साम्राज्य फले-फूले और फिर विनष्ट हो गए।

सब नगरों में प्राचीनतम नगर—काशी—को जाओ, उसकी मर्मध्वनि को सुनो। क्या वह तुम्हें अपने अनादि अतीत की कथा नहीं सुनाती—कैसे वह बनी रही, जब साम्राज्य के बाद साम्राज्य उदय और अस्त होते गए; कैसे बुद्ध वहाँ अपना नया संदेश लेकर पधारे, कैसे लाखों, करोड़ों नर-नारी युगयुगांतरों से शांति और संतृप्ति के लिए वहाँ आते रहे। वृद्धा, श्वेतकेशिनी, जर्जर, धूलिधूसरित, दुर्गंधमयी, परन्तु तो भी सजीव और युगों की शक्ति से शक्तिशालिनी है काशी। लावण्यमयी और चमत्कार-पूर्ण है काशी; क्योंकि भारत के अतीत को तुम उसके नेत्रों में अंकित देख सकती हो, और तुमको उसकी जलधारा की मर्मर ध्वनि में अतीत का संगीत सुनाई देगा।

या, हम अपने ही नगर—प्रयाग या इलाहाबाद—के प्राचीन अशोक-स्तंभ को देखने चलें। अशोक की आज्ञा से उसपर खुदे हुए आलेख को देखो तो तुम्हें दो सहस्र वर्षों के अंतर को भेदती हुई उसकी आवाज सुनाई-सी देगी।

---

(१२)

संपत्ति कहाँ जाती है ?

जनवरी १८, १९३१

जो पत्र मैंने मंसूरी में तुम्हारे पास भेजे थे, उनमें मैंने तुम्हें यह बताने की चेष्टा की थी कि कैसे मनुष्य की उन्नति के साथ-साथ भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ या वर्ग बनते गए। आरंभ में मनुष्य को भोजन तक बड़ी कठिनाई से नसीब होता था। वे दिनभर शिकार खेलते और कंद-मूल जमा करते थे। खाद्य पदार्थों की खोज में उन्हें बहुत दूर तक जाना पड़ता था। धीरे-धीरे जातियाँ बनने लगीं। जो बड़े-बड़े परिवार एक साथ रहते और शिकार करते थे, वे ही वास्तव में भिन्न-भिन्न जातियों के नाम से प्रसिद्ध हो गए; क्योंकि अकेले से एक साथ मिलकर रहने में अधिक सुविधा और जोखिम से बचाव था। इसके बाद एक बड़ा परिवर्त्तन हुआ—खेती की ईजाद। इसके कारण जीवन में बहुत बड़ा अंतर हो गया। निरंतर शिकार करने के स्थान में भूमि को जोतकर अन्न पैदा करना लोगों को कहीं अधिक सुगम मालूम हुआ। जोतने, बोने और फ़सल काटने का परिणाम हुआ किसी स्थान-विशेष पर टिक कर रहना। पहले की तरह, जब शिकार उनका धंधा था, वे अब इधर-उधर घूम-फिर नहीं सकते थे। अब तो उन्हें अपने-अपने खेतों के पास ही रहना पड़ता था। इस तरह से गाँवों और क़स्बों की उत्पत्ति हुई।

खेती के कारण और भी तबदीलियाँ हुईं। भूमि से जो अन्न पैदा होता था, वह सब-का-सब ख़र्च नहीं हो जाता था। जो बच रहता या आवश्यकता से अधिक होता, वह जमा होता जाता था। शिकारी जीवन से अब का जीवन कुछ अधिक पेचीदा हो गया। खेतों या दूसरी जगहों पर काम करनेवालों की एक श्रेणी बन गई। दूसरी श्रेणी में वे लोग थे, जो काम की और काम करनेवालों की देख-रेख करते थे। धीरे-धीरे प्रबंध करनेवाले तथा संचालक शक्तिशाली होने लगे। जो लोग कुलपति, नायक, शासक, राजा या गणपति बन बैठे थे, वे लोग शक्तिशाली होने के कारण फ़सल की बचत का एक बड़ा अंश अपने लिए निकाल लेने लगे। इस तरह वे धनी हो गए; परन्तु खेतों में काम करनेवालों को केवल खाने भर ही को मिलता था। वह समय भी आया, जब प्रबंधकर्त्ता और संचालक इतने आलसी एवं निकम्मे हो गए कि वे देख-रेख के काम को भी ठीक ढंग से नहीं कर सकते थे। वे कुछ करते-धरते तो थे नहीं। लेकिन श्रमिकों की मेहनत से उत्पन्न हुए अनाज के बहुत बड़े भाग को अपनाने का ध्यान उन्हें बराबर बना रहता था। अंत में उनकी यह धारणा बन गई कि बिना हाथ-पैर हिलाए-डुलाए दूसरों के परिश्रम पर चैन से गुलछर्रे उड़ाने का उन्हें पूरा अधिकार है।

इस प्रकार तुम देखोगी, खेती के प्रचार से जीवन में व्यापक अंतर हो गया। साधनों में उन्नति होने के कारण, भोजन-प्राप्ति को सुगम बनाकर खेती ने समाज के संघटन की बुनियाद ही बदल दी। इसकी बदौलत लोगों को काम से अवकाश मिलने लगा। भिन्न-

भिन्न श्रेणियाँ हो गईं। प्रत्येक मनुष्य के लिए भोजन जुटाने की आवश्यकता न रह गई। अतएव लोग दूसरी तरह के कामों में लग गए। अनेक प्रकार की कलाएँ फैल गईं, और नए-नए व्यवसाय होने लगे। इतने पर भी शक्ति मुख्यतया उसी श्रेणी के हाथ में बनी रही, जो संचालन का काम करती थी।

वाद के इतिहास से तुम्हें पता चलेगा कि भोज्य पदार्थ और दूसरी वस्तुएँ उत्पन्न करने के नए साधनों के कारण कितने व्यापक परिवर्त्तन हुए। मनुष्य को अन्न की तरह दूसरी वस्तुओं की आवश्यकता का भी अनुभव होने लगा। इसके कारण उत्पादन की प्रणाली में हेर-फेर होने से समाज में भी बहुत वड़ा रद्दो-बदल हुआ। तुमको इस कथन की सत्यता का एक बड़ा उदाहरण मैं देता हूँ। पुतलीघरों में तथा रेलों और जहाजों को चलाने में जब भाप का प्रयोग होने लगा, तब संपत्ति के उत्पादन और वितरण की प्रणाली वहुत कुछ बदल गई। जितनी देर में कारीगर अपने हाथ या छोटे-छोटे औज़ारों से माल तैयार करते थे, उससे कहीं कम समय में भाप से चलनेवाले पुतलीघर माल तैयार करने लगे। बड़ी मशीन वास्तव में एक बहुत बड़े औज़ार ही का तो नाम है। रेलों और जहाजों की मदद से अनाज और पुतलीघरों में बना हुआ माल दूर देशों तक जल्दी से पहुँचने लगा। तुम खुद सोच सकती हो कि संसार भर में इसके कारण कितना भारी अंतर पड़ गया।

भोज्य तथा अन्य पदार्थों को कम समय में पैदा करने की नई-नई प्रणालियाँ इतिहास में समय-समय पर ईजाद होती रही हैं। तुम तो अवश्य ही यह सोचोगी कि यदि माल को तैयार करने के साधनों में सुधार होता जाय, तो और भी अधिक माल तैयार होने लगेगा; तब दुनिया और भी मालदार हो जायगी, और हर एक को अधिकाधिक संपत्ति मिलने लगेगी। तुम्हारा ऐसा सोचना कुछ अंश में ठीक और कुछ अंश में ग़लत होगा। उत्पादन की प्रणाली में सुधार से संसार तो पूर्व काल को देखते हुए, सचमुच, अब अधिक मालामाल हो गया है। लेकिन संसार की कौन-सी श्रेणी? यह तो स्पष्ट ही है कि न केवल हमारे ही देश में, लेकिन इँगलैंड-जैसे धनी देश में भी, आज दिन भी, वहुत अधिक कंगाली और वेदना फैली हुई है। ऐसा क्यों है? यह सब धन कहाँ चला जाता है? यह एक अचंभे की बात है कि दिन-पर-दिन संपत्ति में अधिक-से-अधिक बढ़ती होने पर भी निर्धन अबतक निर्धन ही बने हुए हैं। कुछ देशों में थोड़ी-बहुत उन्नति हुई है; लेकिन वह नई संपत्ति की उत्पत्ति की तुलना में बहुत कम है। हम सरलता से इस बात को जान सकते हैं कि अधिकांश में यह दौलत कहाँ चली जाती है। यह उन लोगों के पास चली जाती है, जो संचालक या प्रबंधकर्त्ता होने के कारण इस विषय में सदा सजग रहते हैं कि वे ही प्रत्येक अच्छी वस्तु का सबसे अधिक भाग हथिया लें। और भी अधिक अचरज की बात यह है कि मानव-समाज में ऐसी श्रेणियाँ पैदा हो गई हैं, जो काम-धाम तो कुछ करती नहीं, किंतु दूसरों की मेहनत की पैदावार में कसकर अपना हिस्सा लगा लेती हैं। इस पर भी क्या तुम विश्वास करोगी? इन श्रेणियों का आदर-सम्मान किया जाता है। कुछ बेवक़ूफ़ तो यहाँ तक समझ बैठे हैं कि काम करना अपमानजनक है—हमारे संसार की दशा इतनी औंधी और अव्यवस्थित है! क्या यह

आश्चर्य्य की बात नहीं है कि खेत में कमानेवाले किसान और पुतलीघर में काम करनेवाले मज़दूर निर्धन हैं, यद्यपि ये ही संसार के लिए भोजन और संपत्ति पैदा करते हैं ? अपने देश के लिए स्वतंत्रता की बातें तो हम किया करते हैं, लेकिन वह स्वतंत्रता किस काम की, यदि उसने इस अंधेरखाते का अंत न कर दिया, और मेहनत करनेवाले को उसकी मेहनत का फल न दिलाया ? राजनीति एवं शासन-कला पर, संपत्ति-शास्त्र पर और राष्ट्र की संपत्ति के वितरण पर बड़े मोटे-मोटे पोथे लिख डाले गए हैं। विद्वान् आचार्य्य इन विषयों पर व्याख्यान देते हैं। परन्तु इधर तो लोग तर्क-वितर्क करते हैं और उधर काम करनेवाले भूखों मरते हैं। दो सौ साल हुए, वालटेयर-नामक एक प्रसिद्ध फ़्रांसीसी ने राजनीतिज्ञों और इसी तरह के दूसरे लोगों के संबंध में लिखा था कि "इन लोगों ने अपनी सुचारु राजनीति में उन लोगों को भूख से मार डालने की कला ढूँढ निकाली है, जो पृथ्वी को जोत-बोकर दूसरों को जीवित रहने के साधन पहुँचाते हैं।"

इसके होते हुए भी प्राचीनकाल का मनुष्य उन्नति करता गया, और धीरे-धीरे अनियंत्रित प्रकृति पर अपना अधिकार जमाने लगा। उसने जंगल काटे, घर बनाए और ज़मीन जोती। यह कहा जाता है कि मनुष्य ने किसी हद तक प्रकृति के ऊपर विजय पाई है। लोग प्रकृति को जीतने का ज़िक्र करते हैं। यह ऊल-जलूल बात है। ऐसा कथन सर्वांश में ठीक नहीं। यह कहना कहीं अधिक युक्ति-संगत होगा कि मनुष्य प्रकृति को समझने लगा है। जितना अधिक वह उसको समझता जाता है, उतना ही अधिक वह उसके साथ सहयोग करने और अपनी कार्य्य-सिद्धि के लिए उससे काम लेने में सफल हुआ है। प्राचीन काल में लोग प्रकृति और प्राकृतिक घटनाओं से सशंक रहते थे—उनको समझने की चेष्टा के स्थान में उनको पूजने और चढ़ावा चढ़ाकर उन्हें शांत करने की चेष्टा की जाती थी; मानो, प्रकृति कोई जंगली जानवर थी, जिसे फुसलाना और प्रसन्न करना उचित था। इसीलिए मेघगर्जन, विद्युत् और महामारियाँ उन्हें शंकित कर देती थीं। वे समझते थे कि चढ़ावा चढ़ाने ही से वे शांत की जा सकती हैं। बहुत-से भोले-भाले लोग आज दिन भी यही समझते हैं कि सूर्य्य और चंद्र के ग्रहण भयंकर आपत्तियाँ हैं। वे इस बात को समझने की तो चेष्टा करते नहीं कि ये साधारण प्राकृतिक घटनाएँ हैं; उलटा, व्यर्थ में अपने को उत्तेजित करते हैं। वे सूर्य्य और चंद्रमा की रक्षा के उद्देश्य से अनशन-व्रत और स्नानादि करते हैं। सूर्य्य और चंद्रमा अपनी रक्षा करने के लिए स्वयमेव समर्थ हैं। उनके लिए हमें व्यथित न होना चाहिए।

हमने सभ्यता और संस्कृति के उत्थान का उल्लेख किया है। हमने यह भी देखा है कि जब लोग गाँवों और क़स्बों में बसने लगे, तभी से सभ्यता और संस्कृति का आरंभ हुआ। खेती से आवश्यकता से अधिक अन्न की पैदावार के कारण उन्हें अधिक विश्राम मिलने लगा। शिकार और खाने-पीने के अतिरिक्त दूसरे मामलों पर सोचने-विचारने का अवकाश उन्हें प्राप्त हुआ। विचार की वृद्धि के साथ कला-कौशल एवम् जीवन के सभी क्षेत्रों में संस्कृति का विकास हुआ। जैसे-जैसे आबादी बढ़ी, वैसे-ही-वैसे लोग पास-पास रहने लगे। वे एक दूसरे से निरंतर मिलने-जुलने और व्यापार करने लगे। यदि लोगों को एक साथ रहना है तो उन्हें एक-दूसरे की सुविधा

का विचार रखना चाहिए। उन्हें ऐसी कोई बात न करनी चाहिए, जिससे उनके साथियों या पड़ोसियों को चोट पहुँचे। नहीं तो किसी तरह के भी सामाजिक जीवन का होना संभव नहीं है। उदाहरण के लिए एक परिवार को ले लो। परिवार समाज का एक छोटा-सा टुकड़ा है, उसके सदस्य यदि एक दूसरे की सुविधा का ध्यान रक्खें, तो वे सुख से रहेंगे। आमतौर से एक परिवार में ऐसा करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती; क्योंकि उसके सदस्यों में परस्पर प्रीति का बंधन होता है। फिर भी कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि हमें दूसरों का ख़याल नहीं रहता। तब हम यह बात साफ़ तौर से प्रकट कर देते हैं कि अभी तक हम न बहुत सभ्य और न संस्कृत ही हो पाए हैं। यदि परिवार से बड़े समूह को—अपने पड़ोसियों, नगर-निवासियों, देशवासियों या दूसरे देशों में रहनेवालों को—हम लें तो वहाँ पर भी यही बात लागू होगी। अतएव आबादी में बढ़ती के कारण सामाजिक जीवन और पारस्परिक संकोच और सौजन्य की वृद्धि हुई। सभ्यता और संस्कृति की परिभाषाएँ देना कठिन है। लेकिन संस्कृति में जो भाव निहित हैं, उनमें निस्संदेह आत्म-संयम और दूसरों की सुविधा का विचार शामिल है। यदि किसी मनुष्य में आत्म-संयम नहीं है और न उसे दूसरों की सुविधा का विचार है तो उसको हम निश्चय-पूर्वक असंस्कृत कह सकते हैं।

(१४)

ईसा के पूर्व छठी सदी और मत-मतांतर

जनवरी २०, १९३१

आओ, अब इतिहास के सुविस्तृत पथ पर बढ़ चलें। हम अपनी यात्रा में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान पर पहुँच गए हैं—आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व या, इसी बात को यदि दूसरी तरह से कहें तो, ईसा से पूर्व छः सौ वर्ष पहले। यह न समझना कि यह कोई निश्चित तिथि है। मैं तो सरसरी तौर पर युग-विशेष से तुम्हारा परिचय करा रहा हूँ। भारत से लेकर फ़ारस और ग्रीस तक विभिन्न देशों में अनेक महापुरुष, बड़े-बड़े तत्ववेत्ता एवं नए-नए मतों के प्रवर्तक हमें इसी युग में मिलते हैं। वे सब एक ही समय में नहीं हुए। लेकिन तो भी जन्मकाल की दृष्टि से वे एक दूसरे के इतने समीप थे कि ईसा से पूर्व छठी शताब्दि का युग उनके कारण एक बहुत रोचक युग हो गया है। उस समय, ऐसा प्रतीत होता है, सारे संसार में विचार की एक लहर उठी थी—उपस्थित परिस्थितियों से असंतोष और उनसे बढ़कर किसी ध्येय के प्रति आशा और उत्कंठा की लहर तरंगित हो उठी थी। याद रक्खो, धर्म्मों के महाप्रवर्तक सदा उत्तम की खोज, अपने भाइयों के सुधारने की चेष्टा और शोक-संताप के नाश की चिंता में लीन रहते हैं। ऐसे लोग सदा से क्रांतिकारी होते रहे हैं। वर्त्तमान समय की बुराइयों का विरोध करने से वे कभी नहीं हिचकते। जब-जब प्राचीन परंपरा विकृत हो गई या उसके कारण प्रगति रुक गई, तब-तब उन्होंने उसपर आक्रमण किया और निर्भय होकर उसको मिटा डाला। सबसे बढ़कर यह बात थी कि उन्होंने उत्कृष्ट जीवन का उदाहरण उपस्थित किया, जो आदर्श के रूप में असंख्य प्राणियों को अनेक पीढ़ियों तक उत्तेजित करता रहा।

ईसा से पूर्व छठी सदी में, भारत में बुद्ध और महावीर, चीन में कनफ़ूसियस और लाओ-त्जे, फ़ारस में जरदुस्त्र और समाओ-नामक ग्रीक टापू में पिथागोरस, ने जन्म लिया। तुमने शायद इन नामों को, किसी दूसरे ही सिलसिले में, सुना होगा। स्कूल का साधारण विद्यार्थी या विद्यार्थिनी पिथागोरस को एक झक्की आदमी समझती है जिसने रेखागणित के एक दावे—प्रतिज्ञा—को सिद्ध कर दिया था। प्रतिज्ञा का समकोण त्रिभुज की भुजाओं पर वर्गों से संबंध है। युक्लिड के या दूसरे किसी रेखागणित में उसका उल्लेख है। लेकिन रेखागणित-संबंधी आविष्कारों के अतिरिक्त वह एक बड़ा तत्ववेत्ता भी था। हमें उसके विषय में बहुत कम मालूम है। कोई-कोई तो इसमें संदेह करते हैं कि इस नाम का कोई आदमी भी हुआ था!

फ़ारस का जरदुस्त्र पारसी मत का प्रवर्त्तक कहा जाता है। लेकिन मुझे इस कथन की सत्यता में संदेह है। कदाचित् यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि उसने फ़ारस के प्राचीन धर्म्म और विचारों को नई दिशा की ओर झुकाया और उनमें नवीन शक्ति का संचार कर दिया। बहुत अधिक समय से यह धर्म्म फ़ारस से उठ-सा गया है। जो पारसी फ़ारस से भारत में आए, वे इस धर्म्म को भी अपने साथ लेते आए। और तब से बराबर इसी को मानते चले आते हैं।

चीन में, इस युग में, दो महापुरुष—कनफ़ूसियस और लाओ-ज़े—हुए। कनफ़ूसियस का सही नाम कांग-फ़ू-ज़े है। इन दोनों में से किसी ने कोई नया धर्म्म—धर्म्म शब्द के प्रचलित अर्थ को लेते हुए—नहीं चलाया। उन्होंने नीति और सामाजिक व्यवहार के नियमों को निर्धारित किया। उन्होंने इस बात की शिक्षा दी कि हमें क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। उनकी मृत्यु के पश्चात् चीन में उनकी स्मृति में बहुत-से मंदिर बनाए गए। उनकी किताबों का चीनी उतना ही आदर-सम्मान करते हैं, जितना हिंदू वेदों का और ईसाई बाइबिल का। कनफ़ूसियस की शिक्षा का एक यह परिणाम हुआ कि चीन के निवासियों को उसने संसार में सब से अधिक विनयशील, संस्कृत और शिष्टता में सर्वोत्कृष्ट बना दिया।

भारत में महावीर और बुद्ध हुए। जो जैन-धर्म्म आजकल प्रचलित है, उसे महावीर ने चलाया था। उनका असली नाम वर्द्धमान था। महावीर तो उनको विशेषता को सूचित करनेवाली उपाधि-मात्र है। अधिकतर जैन काठियावाड़ और पश्चिमी भारत में रहते हैं। काठियावाड़ में और राजपूताने के आबू पर्वत पर उनके दिव्य मंदिर हैं। जैनियों को गणना अब हिंदुओं में होती है। अहिंसा के सिद्धान्त में उनकी बहुत बड़ी श्रद्धा है। वे कोई ऐसी बात नहीं करते, जिससे किसी प्राणी को चोट पहुँचे। इस संबंध में तुम्हें यह बात रोचक मालूम होगी कि पिथागोरस मांसभक्षण का कट्टर विरोधी था। वह अपने शिष्यों और चेलों को निरामिषभोजी बनने के लिए बाध्य करता था।

अब हम गौतम बुद्ध की चर्चा उठाते हैं। जैसा तुम्हें निस्संदेह मालूम है, वह क्षत्रिय और राजकुमार थे। सिद्धार्थ उनका नाम था। उनकी माता महारानी माया थीं। "वह नवोदित चंद्र के समान सोल्लासपूजनीय पृथिवी के समान दृढ़ और शांत कमल के समान पवित्र थीं"—ऐसा पुराने ग्रंथ में लिखा है। सिद्धार्थ के माता-पिता ने तरह-तरह के भोग-विलास में उनका लालन-पालन किया; यहाँ तक कि दुःख और वेदना के दृश्यों से वह दूर रक्खे जाते थे। लेकिन ऐसा करना असंभव था। जनश्रुति बताती है कि उन्होंने एक कंगाल, एक रोगी और एक मृतक को देखा। इन दृश्यों से वह बहुत प्रभावित हुए। फिर तो राजमहल में उन्हें शांति नहीं मिलती थी। भोग-विलास के समस्त साधन और उनकी रूपवती पत्नी भी, जिसको वह प्यार करते थे, उनके चित्त को क्लेश-क्रांत मानवजाति की ओर से न हटा सकी। उनकी चिन्ता बढ़ती गई, तथा इन बुराइयों को दूर करने के साधन ढूँढ निकालने की इच्छा प्रबल होती गई—चिन्ता यहाँ तक बढ़ी और वह इच्छा इतनी प्रबल हो गई कि अंत में उनके लिए वह असह्य हो गई। रात्रि के सन्नाटे में राजमहल और अपने प्रियजनों को छोड़कर वह अकेले चल पड़े। वह इन समस्याओं के समाधान की खोज करते हुए विस्तृत संसार में विचरने लगे। सिद्धार्थ ने इन समाधानों को ढूँढने में वर्षों तक तरह-तरह के कष्ट झेले। अंत में, कई वर्षों के बाद—ऐसा कहा जाता है—पीपल* के वृक्ष के नीचे बैठे हुए उन्होंने सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया और वह 'बुद्ध' हो गए। जिस पेड़ के नीचे वह उस दिन बैठे थे, वह बोधि-वृक्ष के

*यह पीपल का पेड़ नहीं, किंतु वट-वृक्ष था।—सं०

नाम से प्रसिद्ध हो गया। प्राचीन काशी की छाया में स्थित सारनाथ (तब इसिपतन) के मृग-दाय-नामक उद्यान में बुद्ध ने पहली बार अपने धर्म्म-चक्र का प्रवर्त्तन किया। उन्होंने आर्य्य-अष्टांगिक मार्ग लोगों को दिखाया और देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जीव-हिंसा की घोर निंदा की। उनका कहना था कि पशुओं के स्थान में हमें अपने क्रोध, ईर्ष्या और राग-द्वेष का बलिदान करना चाहिए।

जब बुद्ध का जन्म हुआ था, तब भारतीय वैदिक धर्म्म के अनुयायी थे। लेकिन विकृत हो जाने के कारण वैदिक धर्म्म अपनी उत्कृष्टता को खो चुका था। ब्राह्मण पुरोहितों ने अनेक प्रकार के पूजा-पाठों और ढकोसलों को धर्म्म का अंग बना रक्खा था; क्योंकि जितनी ही अधिक पूजा-पाठ लोग करेंगे, उतनी-ही अधिक पुरोहितों की बढ़ती होगी। वर्णाश्रम और भी जटिल हो गया था, जन-साधारण जादू-टोना एवं मंत्र-तंत्र से भयभीत रहते थे। पुरोहितों ने इन साधनों से जनता पर अपना प्रभुत्व जमाया, और क्षत्रियों से मोर्चा लेने के लिए मैदान में कूद पड़े। इस तरह क्षत्रियों और ब्राह्मणों में संघर्ष चल रहा था। उसी समय बुद्ध एक बड़े लोक-प्रिय सुधारक के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने पुरोहितों की निरंकुशता पर कुठारा-घात किया, और वैदिक धर्म्म में जो बुराइयाँ आ गई थीं, उनको निकाल बाहर करने लगे। उन्होंने पूजा-पाठ पर नहीं, किंतु सात्विक जीवन और उत्तम कर्म्म की महत्ता पर, जोर दिया। उन्होंने बौद्ध-संघ स्थापित किया, जिसमें उनके अनुयायी और भिक्षु-भिक्षुणियाँ रहती थीं।

कुछ दिनों तक, मत के रूप में, बौद्धधर्म का भारत में अधिक प्रचार न हुआ। आगे चलकर हम देखेंगे कि वह कैसे फैला और फिर कैसे भारत में, उसका स्वतंत्र धर्म के रूप में, अंत हो गया। जहाँ लंका से लेकर चीन तक दूर-दूर देशों में वह विजयी हुआ, वहाँ अपनी जन्मभूमि भारत में वह ब्राह्मणधर्म या हिंदूधर्म में समा गया। लेकिन हिंदूधर्म पर उसका बहुत असर पड़ा, और पूजापाठ तथा अंध-विश्वासों में उसके कारण बहुत कुछ कमी हुई।

आज दिन संसार में बौद्धधर्म के सबसे अधिक अनुयायी हैं। ईसाई, इस्लाम और हिंदू-धर्मों को भी, दूसरे मतों की तुलना में, बहुत अधिक लोग मानते हैं। इनके अतिरिक्त, और भी बहुत-से मत-मतांतर हैं, जैसे यहूदी, सिख और पारसीधर्म। मत-मतांतरों और उनके प्रवर्त्तकों ने संसार के इतिहास में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। इतिहास के दिग्दर्शन में उनकी अवहेलना करना असंभव है। लेकिन उनके विषय में लिखना मुझे कुछ कठिन मालूम होता है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि बड़े-बड़े मतों के प्रवर्त्तक संसार में सर्वोच्च महापुरुष हुए हैं। लेकिन उनके शिष्य और अनुयायी न तो सदा महात्मा ही निकले, न साधु-संत ही हुए। इतिहास में प्रायः हमें यह दिखाई देता है कि जिस धर्म्म का उद्देश हमें ऊपर उठाना और सात्विक तथा उत्कृष्ट बनाना था, उसी की प्रेरणा से हम पशुओं के समान आचरण करने लगे। ज्ञान के प्रकाश में ले जाने के स्थान में वह लोगों को अंधकार में भटकाया करता है। उनके चित्तों को वह परिमार्जित तो करता नहीं; उलटा उन्हें प्रायः संकुचित और हठधर्मी बनाता है। धर्म के नाम पर अनेक बड़े-बड़े और उत्तम कार्य्य लोगों ने किए हैं। पर धर्म ही के नाम

पर हजारों-लाखों आदमी मार डाले गए, और तरह-तरह के अनर्थ हुए हैं। बताओ, तो फिर धर्म के विषय में क्या किया जाय? कुछ लोगों की दृष्टि में धर्म का अर्थ है पर-लोक—स्वर्ग, वैकुंठ या चाहे जिस नाम से उसे पुकारो। स्वर्ग जाने की लालसा के कारण वे धर्माचरण या नियम-विशेषों का पालन करते हैं। इससे मुझे उस बालक की याद आ जाती है, जो जलेबी या रसगुल्ला पाने के लोभ से भले आदमियों का-सा आचरण करे। यदि बालक का मन प्रतिपल जलेबी या रसगुल्ले में फँसा रहे तो तुम यह कदापि न कहोगी कि उसका उचित रीति से शिक्षण हुआ है। उन लड़के-लड़कियों के लिए तो तुम्हारे हृदय में और भी कम आदर होगा, जो मिठाई पाने के लिए सब कुछ करते-धरते हैं। फिर बताओ, उन बड़े-बूढ़ों की बाबत हम क्या कहें, जो इसी प्रकार विचारते और कर्म्म करते हैं? क्योंकि मिठाई और स्वर्ग की धारणाओं में, आखिरकार, कोई वास्तविक अंतर तो है नहीं। हम सब कम या अधिक स्वार्थी होते हैं। लेकिन हम अपने बच्चों को इस तरह की शिक्षा देने की चेष्टा करते हैं कि वे यथासंभव निस्स्वार्थ बनें। कुछ भी हो, हमारे आदर्शों को बिलकुल स्वार्थ-रहित होना चाहिए, जिसमें उनके अनुरूप आचरण करने की चेष्टा तो हम करते रहें।

हम सब अपने ध्येय की सिद्धि, अपने कर्मों के फल, को देखने के इच्छुक होते हैं। यह स्वाभाविक है। लेकिन हमारा लक्ष्य क्या है? क्या हमें केवल अपनी ही चिंता है या दूसरों के कल्याण —समाज, देश या मानव-जाति के कल्याण—की चिंता है? इस लोक-संग्रह में हमारा भी हित तो निहित है। मुझे याद है, कुछ दिन पहले, मैंने अपने एक पत्र में संस्कृत का एक श्लोक उद्धृत किया था*; जिसमें कहा है कि एक को कुल के लिए, कुल को ग्राम के लिए और ग्राम को देश के लिए त्यागना चाहिए। अब मैं एक दूसरे संस्कृत श्लोक का अनुवाद दूँगा। वह भागवत से है, और उसका निम्न भावार्थ है*:—

"मुझे न तो आठ सिद्धियों के साथ स्वर्ग की कामना है, और न कामना है आवागमन से मुक्ति की। मुझे तो कामना है कि आर्तजनों के अंतस् में प्रवेश कर मैं उनके दुःखों को अपने ऊपर ले लूँ, जिसमें वे पीड़ा से मुक्त हो जाएँ।"

कोई मतावलंबी एक बात कहता है, कोई दूसरी। और बहुधा प्रत्येक दूसरे को मूर्ख या धूर्त समझता है। कौन सचाई पर है? वे ऐसी बातें कहते हैं, जिनको न तो आँख से हम देख सकते और न सिद्ध कर सकते हैं; इसलिए वाद-विवाद का निपटारा करना असंभव है। दोनों

---

* पत्र (२), पृष्ठ ६।

* इस संबंध में भागवत के निम्न परम प्रसिद्ध श्लोकों की ओर हम पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं :—

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
प्राणिनाम् दुःखतप्तानाम् कामये दुःखनाशनम्॥ —रंतिदेव

× × ×

कोनु स्स्यादुपायोऽत्र येनाहम् दुःखितात्मनाम्।
अन्तःप्रविश्य भूतानाम् भवेयं दुःखभाक् सदा॥
अपहृत्यार्त्तिमार्तानाम् सुखं यदुपजायते।
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कलां नाऽर्हति षोड़शीम्॥ —च्यवन ऋषि

ही की यह धृष्टता है कि वे ऐसे विषयों पर निश्चय-पूर्वक मत प्रकट करते और अपनी सम्मति के लिए दूसरों के सिर फोड़ते हैं। हममें से अधिकांश संकीर्ण-हृदय और अनभिज्ञ हैं। फिर, कैसे हम यह मान लेने की धृष्टता करते हैं कि हम संपूर्ण सत्य को जानते हैं; यही नहीं, अपने पड़ोसी से उसी बात को मनवाने का दुराग्रह भी करते हैं। हो सकता है कि हम सचाई पर हों, और यह भी हो सकता है कि हमारा पड़ोसी सचाई पर हो। यदि तुम किसी पेड़ पर फूल को देखती हो तो तुम उसे पेड़ नहीं कहने लगतीं। यदि दूसरे आदमी ने सिर्फ पत्ती को देखा, और तीसरे ने पेड़ के तने को, तो प्रत्येक ने केवल वृक्षांश ही को देखा। यह कहना कि वृक्ष केवल फूल या पत्ती या तना है, और इसी बात को लेकर आपस में लड़ने लगना उनमें से प्रत्येक के लिए कितनी मूर्खता-पूर्ण बात होगी।

मुझे भय है कि परलोक के प्रति मैं उदासीन हूँ। मेरे मन में तो यही विचार भरा है कि मैं इस संसार में क्या करूँ और यदि मुझे अपना मार्ग साफ-साफ दिखाई दे तो मैं संतुष्ट हूँ। यदि इस लोक में मेरा कर्त्तव्य स्पष्ट है तो मुझे किसी दूसरे लोक की चिंता नहीं। जैसे-जैसे तुम बढ़ती जाओगी, वैसे-वैसे तुमको अनेक प्रकार के आदमी—धार्मिक पुरुष, अधार्मिक पुरुष और वे लोग, जो न धार्मिक और न अधार्मिक हैं—मिलेंगे। बड़े-बड़े गिर्जे और धार्मिक मठ हैं। उनके पास अतुलित धन और अपार शक्ति है, जिसका वे कभी तो सदुपयोग और कभी दुरुपयोग किया करते हैं। तुम्हें उत्तम और श्रेष्ठ पुरुष मिलेंगे, जो धार्मिक हैं; और लुच्चे-लफंगे भी मिलेंगे, जो धर्म्म की आड़ में दूसरों को लूटते और धोखा देते हैं। तुमको इन विषयों पर स्वयम् विचारना और सत्यासत्य का निर्णय करना पड़ेगा। दूसरों से बहुत कुछ सीखा जा सकता है; लेकिन खोज या अनुभूति ही के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को सारतत्त्व प्राप्त होता है!

निर्णय करने में जल्दी न करना। किसी बड़े या महत्त्व-पूर्ण विषय पर सम्मति देने के पहले, तुम्हें अपने को इसके योग्य बनाना चाहिए। यह उचित है कि लोग खुद सोचें और हर प्रश्न का उत्तर दें। लेकिन इसके लिए उनमें योग्यता होनी चाहिए। तुम किसी नवजात शिशु से किसी बात का निर्णय करने को तो न कहोगी! ऐसे बहुत-से लोग हैं, जो वयोवृद्ध होते हुए भी मानसिक विकास में नवजात शिशुओं ही के समान हैं।

मैंने आज और दिनों से अधिक लंबा पत्र लिख डाला। लेकिन इस विषय पर मैं एक-दो शब्द कहना ही चाहता था। यदि इस समय तुम्हारी समझ में कोई बात नहीं आई तो कुछ चिंता नहीं। बहुत जल्द तुम समझने लगोगी।

(१५)

फ़ारस और ग्रीस

जनवरी २१, १९३१

तुम्हारा पत्र आज मिला, और उससे यह जानकर ख़ुशी हुई कि तुम्हारी और तुम्हारी मा की हालत सुधर रही है। मैं मनाता हूँ कि दादू का बुख़ार उतर जाय और उनकी तकलीफ़ें दूर हो जाएँ। सारी ज़िंदगी वह डटकर काम करते रहे, और अब भी उन्हें न शांति मिलेगी और न विश्राम।

ख़ूब! तुमने पुस्तकालय से लेकर कई किताबें पढ़ डालीं। लेकिन मुझे यह नहीं बताया कि तुमने क्या-क्या पढ़ा। किताबों के पढ़ने की आदत अच्छी होती है; लेकिन मुझे उन लोगों की ओर से संदेह बना रहता है, जो जल्द-जल्द बहुत-सी पुस्तकें पढ़ डालते हैं। मुझे संदेह होता है कि वे उनको ध्यानपूर्वक नहीं पढ़ते, महज़ पन्ने उलट डालते और आज के पढ़े को दूसरे दिन भूल जाते हैं। यदि कोई किताब पढ़ने योग्य है तो वह ध्यान से पढ़ने और मनन करने के भी योग्य है। लेकिन ऐसी ढेरों किताबें हैं, जो एकदम निकम्मी हैं। अच्छी किताबों को चुनना हँसी-खेल नहीं। तुम कह सकती हो कि तुमने जब अपने पुस्तकालय से किताबें चुनीं तो वे अवश्य ही अच्छी होंगी, नहीं तो हम उन्हें मँगाते ही क्यों! ख़ैर, पढ़ती रहो। मैं तुम्हें नैनी-जेल से जो कुछ सहायता दे सकता हूँ, देता रहूँगा। बहुधा मैं सोचा करता हूँ कि कितनी तेज़ी से तुम मानसिक और शारीरिक बाढ़ छोड़ रही हो! कितना तुम्हारे साथ रहने को जी चाहता है! जिस समय ये पत्र तुम्हारे पास पहुँचेंगे, उस समय तक शायद तुम इनसे भी आगे बढ़ जाओगी। मैं सोचता हूँ कि चंद* तब इतनी बड़ी हो जायगी कि वह इन्हें पढ़ सके। इसलिए हर दशा में इनका रसास्वादन करनेवाला कोई-न-कोई निकल ही आएगा।

आओ, प्राचीन ग्रीस और फ़ारस को लौट चलें, और थोड़ी देर के लिए उनकी आपस की लड़ाइयों का विचार करें। अपने एक पत्र में हमने ग्रीस के नगर-राष्ट्रों और फ़ारस के विशाल साम्राज्य का जिक्र किया था। उस समय वहाँ पर जो सम्राट् राज्य करता था, उसे ग्रीक लोग डैरियस (दारा) के नाम से संबोधित करते हैं। डैरियस का यह साम्राज्य, न केवल विस्तार में किंतु संघटन की भी दृष्टि से, विशाल था। वह एशिया-माइनर से सिंधु नदी तक फैला था, और मिस्र उसका एक अंग था। इस तरह एशिया-माइनर के कुछ नगर-राष्ट्र भी उसके अधीन थे। इस बड़े भारी साम्राज्य में एक ओर से दूसरी ओर तक अच्छी-अच्छी सड़कें थीं, जिन पर सरकारी डाक आती-जाती थी। किसी-न-किसी कारण से प्रेरित होकर डैरियस ने ग्रीस के नगर-राष्ट्रों को जीतने की ठान ली। इन्हीं संग्रामों में कई इतिहास-प्रसिद्ध लड़ाइयाँ हुईं।

इन लड़ाइयों के जो वृत्तांत हमें उपलब्ध हैं, उन्हें हेराडोटस-नामक एक ग्रीक इतिहास-

* इंदिरा की फुफेरी बहन—चंद्रलेखा पंडित।

लेखक ने लिखा था। उसने जिन घटनाओं का उल्लेख किया है, वे घटनाएँ होने के थोड़े दिन बाद उसका जन्म हुआ था। निस्संदेह उसने ग्रीकों के साथ पक्षपात किया है, लेकिन उसकी वर्णन-शैली बड़ी रोचक है। दूसरे पत्रों में उसके इतिहास से मैं तुम्हारे लिए कई उद्धरण दूँगा।

फ़ारसवालों का ग्रीस पर पहला हमला असफल रहा; क्योंकि फ़ारस से ग्रीस तक जाने में फ़ारसवालों की फ़ौज को बीमारी और भोज्य-पदार्थों की कमी के कारण बहुत कष्ट झेलने पड़े। सेना ग्रीस तक पहुँच भी न पाई; उसे बीच ही से वापस लौट आना पड़ा। ४९० ई० पू० में फ़ारसवालों ने दूसरी बार चढ़ाई की। इस दफ़ा उन्होंने स्थल-मार्ग को छोड़ दिया। वे समुद्र-मार्ग से रवाना हुए और एथेंस के पास मैरेथान-नामक स्थान पर उतरे। एथेंस के निवासी अत्यंत भयातुर हो गए; क्योंकि फ़ारस के साम्राज्य का बहुत नाम था। भयाकुल एथेंसवालों ने अपने पुराने शत्रु स्पारटा-नामक नगर के निवासियों से मेल करने की कोशिश की, और दोनों ही के समान शत्रु फ़ारसवालों के विरुद्ध सहायता करने का उनसे अनुरोध किया। लेकिन स्पारटा-वालों के पहुँचने के पहले ही एथेंसवालों ने सफलतापूर्वक फ़ारस की फ़ौज को मार भगाया। यही मैरेथान की प्रसिद्ध लड़ाई है, जो ४९० ई० पू० में हुई थी।

यह अजीब बात मालूम होती है कि छोटे-छोटे ग्रीक नगर-राष्ट्र एक बड़े साम्राज्य की सेना को परास्त कर दें। लेकिन यह घटना उतनी आश्चर्यजनक नहीं है, जितना वह मालूम होती है। ग्रीक स्वदेश में और अपने घरों की रक्षा के लिए लड़ रहे थे; पर फ़ारस की सेना अपने घरों से बहुत दूर विदेश में लड़ रही थी। फिर सेना में फ़ारसी साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों के सिपाहियों की खिचड़ी थी। उन्हें वेतन मिलता था, इसलिए वे लड़ते थे। उन्हें ग्रीस के पराजय में कोई ख़ास दिलचस्पी न थी। दूसरी ओर एथेंसवाले स्वाधीनता के लिए लड़ रहे थे। उन्हें अपनी आज़ादी खोने से मर जाना कहीं ज़्यादा पसंद था। जो मनुष्य किसी ध्येय के लिए मरने को तैयार रहते हैं, उनकी विरले ही कभी हार होती है। इसलिए डेरियस मैरेथान में हार गया। इसके बाद फ़ारस में उसकी मृत्यु हुई, और उसकी राजगद्दी पर जैरक्सैस बैठा। उसे भी ग्रीस को जीतने की आकांक्षा थी। इसके लिए उसने एक फ़ौजी बेड़ा भी तैयार कराया। यहाँ मैं तुम्हें हैराडोटस के शब्दों में इसकी चित्ताकर्षक कहानी सुनाऊँगा। अरटबनस जैरक्सैस का चाचा था। उसकी सम्मति थी कि फ़ारस की सेना का ग्रीस जाना अनर्थकारी होगा। उसने जैरक्सैस को ग्रीस पर चढ़ाई करने से रोकने की भरपूर चेष्टा की। हैराडोटस का कहना है कि जैरक्सैस ने उसको निम्न-लिखित शब्दों में उत्तर दिया—

"जो तुम कहते हो, वह युक्ति पूर्ण है, लेकिन तुम्हें हर जगह ख़तरे की आशंका न करनी चाहिए, और न हर एक जोखिम का विचार करना ही उचित है। यदि तुम सब बातों को एक ही तराज़ू में तौलोगे तो कभी कुछ न कर पाओगे। सदा निराशावादी बने रहने और कभी किसी संकट का सामना न करने की अपेक्षा सदा आदर्शवादी रहना और आधी विपदाओं को झेल डालना कहीं अच्छा है। यदि तुम प्रत्येक प्रस्ताव का विरोध तो करोगे, परंतु यह न बताओगे कि कौन-से मार्ग का अनुसरण करना उचित है तो तुम भी उसी तरह से मुसीबत में फँसोगे, जैसे वे लोग फँसेंगे, जिनका तुम विरोध करते हो। तराज़ू के पल्ले बराबर हैं। कैसे कोई आदमी यह जान सकता है कि कौनसा पल्ला झुकेगा? यह कोई नहीं जान सकता। लेकिन जो कर गुज़रते हैं,

उन्हीं को आम तौर से सफलता मिलती है। वह उनकी अनुगामिनी नहीं हैं, जो कायर हैं और फूँक-फूँककर क़दम बढ़ाते हैं। तुम उस विशाल शक्ति को तो देखो, जो फ़ारस ने प्राप्त की है। यदि इस सिंहासन पर आसीन मेरे पूर्वजों के वैसे ही विचार होते जैसे तुम्हारे हैं, और यदि उनके वैसे विचार न होते परन्तु उनके सलाहकार तुम्हारे समान होते, तो तुम हमारे साम्राज्य को इतना वैभवशाली कभी न देखते। जोखिम मुड़ियाने से ही उन्होंने हमें वह बना दिया, जो आज दिन हम हैं। बड़े संकटों का सामना करने ही से बड़े ध्येय सिद्ध होते हैं।"

मैंने यह लंबा अवतरण इसलिए दिया है कि उपर्युक्त शब्दों से जितनी अच्छी तरह हम फ़ारस के सम्राट् को पहचान सकते हैं, उतनी अच्छी तरह किसी दूसरे वर्णन से नहीं जान सकते। जैसी घटना घटी, उसके अनुसार अरटबनस की सलाह ठीक निकली और फ़ारस की सेना ग्रीस में हार गई। ज़ैरक्सैस हारा; लेकिन उसके शब्दों से इस समय तक सचाई टपकती और हम सबको शिक्षा मिलती है। आज जब हम बड़े-बड़े काम करने की चेष्टा कर रहे हैं, तब याद रखना चाहिए कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने के पहले हमें बड़े-बड़े संकटों को पार करना होगा।

राजाधिराज ज़ैरक्सैस अपनी विशाल सेना को एशिया माइनर के तट तक लाया और डारडनैल्स (या हैलेसपांड, जैसा वह तब कहलाता था) के जल-डमरूमध्य को पार कर योरप में पहुँच गया। कहा जाता है, मार्ग में ज़ैरक्सैस उस ट्राय नगर के भग्नावशेषों को देखने गया था, जहाँ प्राचीन ग्रीस के योद्धागण हैलेन के लिए लड़े थे। हैलैसपांड पर एक बड़ा पुल बाँधा गया, जिससे सेना ने समुद्र पार किया। फ़ारस की सेना जब पुल-पार उतरने लगी, तब पास की एक पहाड़ी पर स्थित संगमर्मर के सिंहासन पर बैठा हुआ ज़ैरक्सैस उसे देख रहा था। हैराडोटस हमें बताता है—"सारे हैलैसपांड को जहाज़ों और अबीडास के तटों और मैदानों को आदमियों से भरा देखकर ज़ैरक्सैस ने अपने को सुखी माना और फिर वह रो पड़ा। उसके चाचा अरटबनस ने, उसी अरटबनस ने, जिसने पहले ही ज़ैरक्सैस को ग्रीस पर चढ़ाई करने के विरुद्ध साहस के साथ अपनी सम्मति दी थी, यह देखकर कि ज़ैरक्सैस रो रहा है, पूछा—'राजन्, जिन बातों को आप अब कर रहे हैं और जिनको आपने कुछ ही पहले किया था, उनमें एक दूसरे से कितना अंतर है। कारण, पहले तो आपने अपने को सुखी कहा और अब आप आँसू बहा रहे हैं।' उसने उत्तर दिया 'हाँ,—क्योंकि जब मैं गिनती गिन चुका, तब मैंने यह देखा कि इस असंख्य जन-समुदाय में से एक भी आदमी सौ वर्ष बीत जाने पर जीवित न रहेगा। मेरे मन में इस विचार से दया हो आई कि देखो, मनुष्य का जीवन कितना क्षणिक है'।"

इधर यह विशाल सेना स्थल-मार्ग से आगे बढ़ने लगी, उधर उसके साथ-साथ समुद्र में जहाज़ भी बढ़ चले। लेकिन सागर ने ग्रीसवालों का साथ दिया, और एक बड़े तूफ़ान ने अधिकांश जहाज़ों को नष्ट कर डाला। ग्रीसवाले इस विशाल जंगी बेड़े को देखकर भयभीत हो गए। आपस की लड़ाइयों को भुलाकर वे सब लोग अपने समान शत्रु का सामना करने के लिए एक हो गए। फ़ारस की सेना को देखकर वे पीछे लौट पड़े, और थरमापली-नामक

स्थान पर उन्होंने शत्रु-दल की गति रोकने की चेष्टा की। यह एक बहुत तंग रास्ता था, जिसके एक ओर पहाड़ और दूसरी ओर समुद्र था। इसलिए थोड़े-से भी आदमी एक बड़ी सेना के विरुद्ध इस पथ की रक्षा कर सकते थे। यहाँ पर ३०० स्पारटावालों के साथ लिओनिडस की तैनाती की गई, और उसे आज्ञा दी गई कि वह मरते दम तक इस दर्रे की रक्षा करे। ११०० अन्य ग्रीक योद्धा भी उसकी सहायता के लिए मौजूद थे। उस भाग्य-गर्भित घड़ी में—मैरेथान की लड़ाई से ठीक दस वर्ष बाद—इन वीरों ने अपने देश की खूब ही सेवा की। उन्होंने फ़ारसी सेना की गति को रोक रक्खा, ताकि ग्रीक सेना पीछे की ओर निकल जाय। उस तंग दर्रे में एक के बाद दूसरा ग्रीक काम आने लगा। लेकिन एक गिरा नहीं कि दूसरा बढ़कर उसकी जगह पर आ डटता था। फ़ारसी सेना आगे न बढ़ सकी। जब थरमापली के क्षेत्र में लिओनिडस और उसके १४०० साथियों में से एक भी जीता न बचा, तभी फ़ारसवाले आगे बढ़ पाए। ४८० ई० पू० में—अर्थात् २ हज़ार ४ सौ दस वर्ष पहले—यह घटना हुई। लेकिन आज दिन भी इस दुर्जय साहस के स्मरण-मात्र से रोमांच हो आता है। आज भी थरमापली में यात्री पत्थर पर खुदे हुए लियोनिडस और उसके साथियों के इस संदेश को अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखते हैं—

"ओ राहगीर, स्पारटा को जाकर बताओ कि यहाँ पर उसकी आज्ञा का पालन करनेवाले हम लोग पड़े हैं।"

आश्चर्यमय है वह साहस, जो मृत्यु को भी पराजित कर देता है। लिओनिडस और थरमापली हमेशा के लिए अमर हैं, और सुदूर भारत में हम लोग भी उनकी याद से पुलकित हो उठते हैं। तो फिर भला बताओ, हम अपने ही आदमियों, अपने ही पूर्वजों, भारतवर्ष के उन नर-नारियों के संबंध में—जिन्होंने हमारे लंबे इतिहास के गति-क्रम में बारंबार यमदूतों की हँसी उड़ाई, जिन्होंने अपकीर्ति और दासता से मृत्यु को श्रेयस्कर माना, जिन्होंने अत्याचार के सामने सिर झुकाने की अपेक्षा उसे उखाड़ फेंकने ही को सदा पसंद किया—हम क्या कहें या सोचें? चित्तौर और उसकी अनुपम कथा की, राजपूत वीरों और वीरांगनाओं की, याद तो करो। आजकल जो हमारे देश में हो रहा है, उसका भी विचार करो, हमारे साथियों का विचार करो, जिनकी नसों में हमारा ही-सा गर्म खून बहता है और जो भारतवर्ष की आज़ादी के लिए मौत तक से नहीं हिचके।

थरमापली ने फ़ारस की सेना को कुछ समय के लिए रोक रक्खा। पर अधिक काल तक वह रोके न रुकी। उसके सामने से ग्रीक सैनिक बराबर पीछे हटते गए। कुछ ग्रीक नगरों ने आत्म-समर्पण तक किया। लेकिन स्वाभिमानी एथेंस-निवासी अपने प्यारे नगर को शत्रु के हाथ सौंपने के लिए तैयार न हुए। उसको नष्ट-भ्रष्ट कर डालना ही उन्हें रुचिकर था। सब नगर-निवासी जहाज़ों पर एथेंस छोड़कर चले गए। फ़ारसवाले उजाड़ शहर में दाखिल हुए, और उन्होंने उसमें आग लगा दी। लेकिन इस समय तक ग्रीक नौ-बेड़ा अपराजित था। ग्रीक और फ़ारसी जंगी जहाज़ों में सलैमिस के पास घोर संग्राम हुआ। फ़ारस के जहाज़ काम आए; और जैरक्सैस, इस दुर्घटना से पूरी तौर से हताश होकर, फ़ारस को लौट गया।

इसके बाद भी कुछ समय तक फ़ारस एक बड़ा साम्राज्य बना रहा। लेकिन मैरेथान और सलैमिस ने उसके विनाश का रास्ता दिखा दिया। आगे चलकर हम देखेंगे कि वह कैसे विनष्ट हुआ। जो लोग उन दिनों जीवित थे, उन्हें इस विशाल साम्राज्य को लड़खड़ाकर गिरते देखकर अचरज होता होगा। हैरोडोटस ने इस पर मनन किया और उससे नीति की एक बात निकाली। उसका कहना है कि—"प्रत्येक राष्ट्रीय इतिहास के तीन भाग होते हैं; सफलता; बाद में सफलता के फल-स्वरूप अहंकार और अन्याय; फिर इनके परिणाम-स्वरूप अधःपतन।"

(१६)

वैभवमूर्त्ति हैलास*

जनवरी २३, १६३१

हैलीनों या ग्रीकों की फ़ारसवालों पर विजय के दो परिणाम हुए। फ़ारस का साम्राज्य धीरे-धीरे अवनत होने लगा, और अधिकाधिक निर्बल ही होता गया। ग्रीस-वासियों ने अपने इतिहास के सुवर्ण-युग में प्रवेश किया। सब मिलाकर उस युग की अवधि कुछ कम दो सौ वर्ष की थी। ग्रीस के वैभव में फ़ारस के साम्राज्य अथवा उससे पूर्ववर्ती साम्राज्यों की-सी विशालता न थी। बाद में महान् सिकंदर पैदा हुआ, और कुछ दिनों के लिए अपनी विजयों से संसार को चकित कर गया। लेकिन यहाँ पर हम उसका जिक्र नहीं कर रहे हैं। हम तो फ़ारस और सिकंदर के अभ्युदय के मध्यवर्त्ती युग का उल्लेख कर रहे हैं—उस युग का, जो थरमापली और सलैमिस के पश्चात् एक सौ पचास साल तक जारी रहा। फ़ारस के कारण जो खतरा था, उससे सब ग्रीक-निवासियों में मेल बढ़ गया। लेकिन जब यह संकट टल गया, तब उनमें फिर फूट पैदा हो गई, और थोड़े ही समय बाद आपस में लड़ाई-झगड़े होने लगे। विशेषकर एथेंस और स्पारटा में घोर लाग-डाँट थी। लेकिन हमें उनकी लड़ाइयों से कुछ सरोकार नहीं। उनका कुछ भी महत्त्व नहीं। उनकी याद हमें सिर्फ़ इसलिए आती है कि उन दिनों ग्रीस अन्य बातों में वैभव के शिखर पर था।

ग्रीस के इस युग से संबंध रखनेवाली केवल थोड़ी-सी किताबें, मूर्तियाँ और खँडहर आजकल मिलते हैं। वे संख्या में थोड़े ज़रूर हैं, लेकिन उन्हें देखकर हमारे हृदयों में श्रद्धा उत्पन्न होता है। अनेक क्षेत्रों में हैलास के निवासियों के वैभव को प्रदर्शित कर वे हमें चकित करते हैं। इतनी सुंदर और सुभग मूर्त्तियों और प्रासादों का निर्माण करने के लिए उनके मस्तिष्क कितने समुन्नत और हाथ कितने कुशल रहे होंगे! उन दिनों फ़ीडियस नाम का एक प्रसिद्ध मूर्त्ति-निर्माता था। लेकिन और भी दूसरे प्रसिद्ध पुरुष वहाँ पर विद्यमान थे। उनके नाटक दुःखांत और सुखांत—अपने ढंग के श्रेष्ठतम नाटकों में आज भी गिने जाते हैं। साफ़ोक्लीज़, ऐस्किलस, यूरीपिडीज़, अरिष्टाफ़नीज़, पिंडार, मेनेंडर, सैफ़ो और दूसरे लोग इस समय तो तुम्हारे लिए केवल नाम-मात्र हैं। लेकिन जब तुम बड़ी होओगी तब, मुझे आशा है, तुम उन्हें पढ़ोगी और उस वैभव का—जिसकी मूर्त्ति ग्रीस था—अनुमान लगा सकोगी।

ग्रीक इतिहास के इस युग से हमें इस बात की चेतावनी मिलती है कि किसी देश के इतिहास को हमें कैसे पढ़ना चाहिए। यदि ग्रीक राष्ट्रों में प्रचलित शत्रुता और उनके तुच्छ लड़ाई-झगड़ों ही पर हम अपना सारा ध्यान लगा देते, तो हमें उनके संबंध में क्या मालूम होता? यदि हम उनको समझना चाहते हैं, तो हमें उनके विचारों की तह तक पहुँचना चाहिए। हमें

* ग्रीस का प्राचीन नाम हैलास है। प्राचीन काल में इस नाम से उनके निवासी इसे पुकारते थे। हैलास के रहनेवाले हैलीन कहलाते थे।

यह समझने की चेष्टा करनी चाहिए कि वे क्या सोचा-विचारा करते थे? कौन-कौन-से काम उन्होंने किए? मानसिक विकास ही के इतिहास का वास्तव में मूल्य है। यही वह वस्तु है, जिसने आधुनिक योरप को बहुत-सी बातों में प्राचीन ग्रीक-संस्कृति की संतान बना दिया है। यह बात विचित्र और आकर्षक मालूम होती है कि जातियों के जीवन में कैसे गौरव-पूर्ण युग आते और चले जाते हैं। कुछ काल के लिए वे सब वस्तुओं को आलोकित और उस देश के समकालीन नर-नारियों में रुचिर पदार्थों को रचने की शक्ति उत्पन्न कर देते हैं। सारी जाति में स्फूर्ति-सी दौड़ जाती है। हमारे देश ने भी ऐसे युग देखे हैं। हमारे इतिहास का सबसे पुराना युग, जिसका हमें ज्ञान है, वह था, जिसमें वेदों, उपनिषदों और दूसरे महाग्रन्थों ने जन्म लिया। दुर्भाग्य से उन प्राचीन दिनों का हमारे पास कोई लिखित वर्णन नहीं है; और संभव है कि उस युग की अनेक सुंदर और महत्त्वपूर्ण कृतियाँ विनष्ट हो गई या लुप्त पड़ी हों। लेकिन हमारे पास जो कुछ है, वह इस बात को स्पष्ट रूप से प्रकट कर देने के लिए काफ़ी है कि प्राचीन काल के भारतीय बुद्धि और विचार-शक्ति में कितने बड़े थे। भारतीय इतिहास के उत्तरकाल में भी ऐसे ही समृद्धिशाली युग हुए हैं। युग-युगांतरों के विचरण में शायद हमारी भी उन सुवर्ण-युगों से फिर एक बार भेंट हो जाए।

एथेंस विशेष रूप से इस युग में प्रसिद्ध हो गया। एक बड़ा राजनीतिज्ञ उसका नेता था। उसका नाम पैरीक्लीज़ था, और तीस साल तक एथेंस में उसकी तूती बोलती रही। इस अरसे में एथेंस एक वैभवशाली महानगर हो गया, जो मनोरम प्रासादों से परिपूर्ण था और जहाँ बड़े-बड़े कलाकार और दार्शनिक निवास करते थे। आज दिन तक वह पैरीक्लीज़ के एथेंस के नाम से संबोधित होता है, और पैरीक्लीज़ के युग का हम ज़िक्र किया करते हैं।

हमारे मित्र, इतिहास-लेखक हैराडोटस ने, जो इसी युग के कुछ आगे-पीछे एथेंस में रहता था, एथेंस के इस उत्कर्ष के विषय में बहुत कुछ सोचा-विचारा, और उससे उसने एक नैतिक परिणाम निकाला। नैतिक परिणाम निकालना उसे बहुत भाता था। अपने इतिहास में वह कहता है—

> "एथेंस की शक्ति बढ़ी; और इस बात का प्रमाण है—इसके प्रमाण सब जगह मिलते हैं—कि स्वाधीनता एक अच्छी चीज़ है। जब तक एथेंस में निरंकुश शासन था, वहाँ के निवासी अपने पड़ोसियों से किसी भी बात में न बढ़े थे। लेकिन जब से उन्होंने निरंकुश शासन को निकाल बाहर किया, तब से वे दूसरों से बहुत आगे बढ़ गए। इससे यह प्रकट होता है कि पराधीनता में वे भरपूर उद्योग नहीं करते थे, बल्कि एक स्वामी के स्वार्थ के लिए मज़दूरी करते थे। लेकिन जब से वे स्वतंत्र हो गए, तब से उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपने लाभ के लिए अधिक से अधिक उत्तम ढंग से काम करने लगा।"

मैंने ऊपर उन दिनों के कुछ महापुरुषों के नामों का उल्लेख किया है। उस युग में या किसी युग में जो सब से बड़ा आदमी हुआ, उसका नाम मैंने अभी तक नहीं लिया। उसका नाम सुकरात था। उसकी दृष्टि में सच्चा ज्ञान ही सबसे अधिक वांछनीय था। वह बहुधा अपने मित्रों और परिचितों के साथ कठिन समस्याओं पर विचार किया करता था, जिसमें तर्क से सत्य का ज्ञान प्राप्त हो। उसके बहुत-से शिष्य और चेले थे। इनमें सबसे बड़ा प्लेटो था। प्लेटो ने

अनेक पुस्तकें लिखीं, जो हमें उपलब्ध हैं। इन्हीं ग्रन्थों से उसके गुरु सुकरात के विषय में हमें बहुत-सी बातें मालूम होती हैं। यह तो स्पष्ट है कि शासक-वर्ग ऐसे आदमियों को पसंद नहीं करता, जो नई नई बातों को खोज निकालने की निरंतर चेष्टा करते हैं। एथेंस की सरकार को—यह घटना पैरीक्लीज़ के समय के कुछ ही बाद हुई थी—सुकरात का ढंग पसंद न आया। उसपर मुक़द्दमा चला, और उसे मौत की सज़ा मिली। उससे उन लोगों ने कहा कि यदि तुम दूसरों के साथ बहस न करने का वचन दे दो और अपने ढंग को बदल दो तो तुम्हें हम छोड़ दें। लेकिन उसने ऐसा करने से इनकार कर दिया। जिसे वह अपना कर्त्तव्य समझता था, उससे च्युत होने की अपेक्षा उसने विष के प्याले को पीना अधिक श्रेयस्कर माना। विष को पीने से उसकी मृत्यु हुई। मरते समय उसने अपने ऊपर दोषारोपण करनेवालों और न्यायाधीशों—एथेंस-निवासियों—को संबोधित करते हुए कहा—

"यदि आप लोग मुझे इस शर्त पर छोड़ना चाहते हों कि मैं सत्य की खोज से विमुख हो जाऊँ, तो मैं कहूँगा कि मैं आप लोगों को, एथेंस-निवासियो, धन्यवाद देता हूँ। लेकिन मैं ईश्वर की आज्ञा का पालन करूँगा, जिसने मुझे इस काम पर लगाया है, न कि तुम्हारी आज्ञा का। जब तक मेरे शरीर में श्वास और बल है, तब तक मैं आत्म-ज्ञान प्राप्त करने से कदापि विरत न होऊँगा। मैं अपने इस नियम को जारी रक्खूँगा कि जो कोई मुझे मिले, उससे, अभिवादन के बाद, मैं यह पूछूँ—'क्या आपको धन और सम्मान पर अपनी आसक्ति के कारण लज्जा नहीं आती, या इससे लज्जा नहीं आती कि आपको न ज्ञान की, न सत्य की और न आत्मोन्नति की कुछ भी चिंता है ?' मुझे नहीं मालूम कि मृत्यु क्या है ? संभव है, वह अच्छी हो; और मुझे उससे भय नहीं लगता। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि कर्त्तव्य से विमुख होना बुरा है। जिस वस्तु को मैं बुरी समझता हूँ, उससे उस चीज़ को—जो, संभव है, अच्छी हो—मैं अधिक पसंद करता हूँ।"

अपने जीवन में सुकरात ने सत्य और ज्ञान की अच्छी सेवा की; लेकिन इससे भी अधिक उनकी सेवा उसने अपनी मृत्यु से की।

आजकल तुम बहुधा समाजवाद, साम्यवाद और बहुत-से अन्य विषयों पर वाद-विवादों को सुना या पढ़ा करती हो। संसार में बहुत-सा कष्ट और अन्याय है। बहुत-से लोग इनसे बिलकुल ही असंतुष्ट हैं, और इसे बदलने की कोशिश भी कर रहे हैं। प्लेटो ने भी शासन-संबंधी समस्याओं पर सोचा-विचारा, और इस विषय पर लिखा है। इस तरह उस समय भी लोग सबको सुखी बनाने के उद्देश से समाज और देश के शासन में सुधार की विधि के संबंध में विचार किया करते थे।

जब प्लेटो वृद्धावस्था को प्राप्त हो रहा था, उस समय एक दूसरा ग्रीक, जो बहुत प्रसिद्ध हुआ है, ख्याति के क्षेत्र में आगे बढ़ रहा था। उसका नाम अरस्तू है। महान सिकंदर का वह शिक्षक रह चुका था। सिकंदर ने उसको उसके काम में बहुत मदद पहुँचाई। अरस्तू ने सुकरात और प्लेटो के समान अध्यात्म की समस्याओं के फेर में पड़कर माथा-पच्ची नहीं की। प्राकृतिक पदार्थों और नियमों का निरीक्षण उसे अधिक प्रिय था। इन विषयों को प्रकृति-संबंधी दर्शन या, अब बहुधा, विज्ञान कहते हैं। अतएव, अरस्तू प्राचीन काल के वैज्ञानिकों में से एक था।

अब हमें अरस्तू के शिष्य महान् सिकंदर के पास बढ़ चलना और उसके द्रुत लीला-क्रम को देखना चाहिए। लेकिन यह कल होगा। आज के लिए मैं काफ़ी लिख चुका हूँ।

आज वसंत-पंचमी है, वसंत का आगमन है। अत्यल्प शिशिर बीत गया, अब वायु की तीक्ष्णता चली गई। अब चिड़ियाँ अधिकाधिक संख्या में हमारे पास आने लगी हैं, और सारा दिन उनके कलरव से गुंजरित रहता है। पंद्रह साल हुए, आज ही के दिन, देहली में तुम्हारी मा के साथ मेरा व्याह हुआ था।
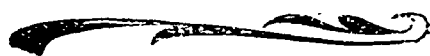
(१७)

एक प्रसिद्ध विजेता, पर घमंडी नवयुवक

जनवरी २४, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र में, और उसके भी पहले, महान् ऐलैकज़ेंडर या सिकंदर का ज़िक्र किया था। मेरा ख़याल है कि मैंने उसे ग्रीक कहा है। ऐसा कहना सर्वांश में सत्य नहीं। वह वास्तव में मैसिडोनिया-निवासी था, अर्थात् ग्रीस के ठीक उत्तर में स्थित मैसिडोनिया देश का वह रहनेवाला था। मैसिडोनिया के रहनेवाले बहुत-सी बातों में ग्रीकों से मिलते-जुलते थे। तुम उन्हें इनके चचेरे भाई कह सकती हो। सिकंदर का बाप, फ़िलिप, मैसिडोनिया का राजा था। वह बड़ा योग्य शासक था। उसने अपने छोटे-से राज्य को सबल बनाया, और एक सुसंघटित सेना तैयार की। सिकंदर 'महान्' कहलाता है, और इतिहास में उसका बड़ा नाम है। लेकिन उसने जो कर दिखाया, उसका बहुत अंश में श्रेय उसके पिता फ़िलिप को मिलना चाहिए, जिसने सिकंदर के पहले ही बहुत विचार-पूर्वक सब तैयारी कर ली थी। यह संदिग्ध मसला है कि सिकंदर वास्तव में बड़ा आदमी था या नहीं। कम-से-कम वह मेरे लिए तो अनुसरणीय वीर नहीं है। लेकिन छोटी-सी जीवनावधि में उसने दो महाद्वीपों पर अपने नाम की छाप लगाने में सफलता पाई। इतिहास में वह पहला विश्व-विजयी कहा-जाता-है। मध्य एशिया के सुदूरस्थ अंतस्तल में आजदिन भी सिकंदर के नाम से लोग उसकी याद करते हैं। जीवन में वह कुछ भी रहा हो, लेकिन इतिहास ने आभा से उसके नाम को अच्छी तरह से मंडित कर दिया। बीसियों नगर उसके नाम पर बसे। उनमें से कई आज तक मौजूद हैं। इनमें सबसे बड़ा शहर मिस्र का ऐलैकज़ेंड्रिया * है।

गद्दी पर बैठने के समय वह सिर्फ़ बीस साल का था। महत्ता की आकांक्षा से उत्तेजित होकर, वह अपने पिता फ़िलिप द्वारा सुसंघटित सेना के साथ अपने देश के पुराने शत्रु फ़ारस पर चढ़ाई करने के लिए लालायित हो रहा था। ग्रीकों के हृदयों में न तो फ़िलिप और न ऐलैकज़ेंडर या सिकंदर ही के प्रति कोई विशेष अनुराग था। लेकिन उनकी शक्ति को देखकर वे बहुत कुछ सहम गए थे। इसीलिए एक-एक करके सबने उनको फ़ारस पर हमला करनेवाली ग्रीक सेनाओं का प्रधान सेनापति बनाना स्वीकार कर लिया। इस तरह नवोदित शक्ति के सामने उन्होंने सिर झुका दिया। जब थीब्स-नामक एक ग्रीक नगर-राष्ट्र ने उसके विरुद्ध बग़ावत की, तब उसने उसको बड़ी क्रूरता और निर्दयता से कुचल डाला। उसने इस प्रसिद्ध नगर और उसकी इमारतों को नष्ट-भ्रष्ट किया, बहुत से नगर-निवासियों को मौत के घाट उतारा, कई हज़ार नर-नारियों को दास बनाकर बेच दिया। इस

* ऐलैकज़ेंडर ही को सिकंदर कहते हैं।

वर्बर व्यवहार से ग्रीस काँप उठा। उसके जीवन का यह, और ऐसे ही दूसरे उदाहरण उसे हमारी दृष्टि में आदरणीय नहीं बनाते। वे घृणा और ग्लानि पैदा करते हैं।

मिस्र को, जो उस समय फ़ारस के राजा के अधीन था, ऐलैक्ज़ेंडर ने आसानी से जीत लिया। इसके पहले ही वह ज़ैरक्सैस के उत्तराधिकारी, डैरियस तृतीय, को हरा चुका था। दूसरी बार उसने फ़ारस पर फिर धावा किया; और डैरियस को फिर हराया। सिकंदर या ऐलैक्ज़ेंडर ने, ज़ैरक्सैस द्वारा एथेंस के जलाए जाने का—उसके कथनानुसार—बदला लेने की नीयत से, शाहनशाह डैरियस के विशाल राजमहल को जलाकर भस्म कर दिया।

फ़ारसी भाषा में एक पुरानी किताब है, जिसे आज से एक हज़ार साल पहले फ़िरदौसी नामक एक कवि ने लिखा था। उसका नाम है शाहनामा। उसमें फ़ारस के महाराजाओं का इतिवृत्त है। उसमें सिकंदर और डैरियस की लड़ाइयों का भी बहुत ही काल्पनिक वर्णन किया गया है। लिखा है कि पराजित होने पर डैरियस ने भारत से सहायता माँगी। "वायु-गति से चलनेवाले ऊँट को" उसने फ़ूर या पुरु के पास भेजा, जो भारत के उत्तर-पश्चिम में राज्य करता था। लेकिन राजा पुरु उसकी कुछ भी सहायता न कर सका। थोड़े दिनों बाद उसे स्वयमेव सिकंदर से मोर्चा लेना पड़ा। इस पुस्तक—फ़िरदौसी के शाहनामे—में इस बात का कई बार उल्लेख मिलता है कि अनेक फ़ारसी बादशाह और सरदार भारतीय तलवारों और कटारों का इस्तेमाल करते थे।

यह उल्लेख मनोरंजक है। इससे पता चलता है कि सिकंदर के ज़माने में भी भारत में फ़ौलाद की अच्छी तलवारें बनती थीं, जिनका विदेशों में स्वागत होता था।

फ़ारस से सिकंदर आगे बढ़ गया। उस देश को, जहाँ अब हिरात, क़ाबुल और समरकंद हैं, पार करता हुआ वह सिंधु नदी की ऊपरी घाटियों पर जा पहुँचा। वहाँ उसकी उस भारतीय राजा से मुठभेड़ हुई, जिसने सबसे पहले उसका विरोध किया। ग्रीक इतिहास-लेखक उसे, ग्रीक प्रथा के अनुसार, पोरस कहते हैं। उसका असली नाम (पुरु ?) इसीसे मिलता-जुलता-सा रहा होगा; लेकिन हमें नहीं मालूम कि वह क्या था। यह कहा जाता है कि पोरस या पुरु वीरता के साथ लड़ा; और उसे हराना सिकंदर के लिए भी कोई खेल न था। ऐसा कहा जाता है कि पोरस या पुरु बहुत लंबे क़द का और वीरोचित गुणों से अलंकृत था। सिकंदर उसके साहस और गुणों पर इतना मुग्ध हुआ कि पराजित करने के बाद भी उसने पोरस या पुरु को उसका राज्य लौटा दिया। लेकिन पोरस या पुरु अब राजा से ग्रीकों का सत्रप या गवर्नर हो गया।

सिकंदर ने उत्तर-पश्चिम में खैबर दर्रे को पार किया; और रावलपिंडी से कुछ दूर उत्तर में तक्षशिला होता हुआ, वह भारत में आया। आज भी इस प्राचीन नगर के भग्नावशेषों को तुम देख सकती हो। पोरस को हराने के बाद, सिकंदर ने गंगा की ओर दक्षिण दिशा में जाने का शायद इरादा किया था। लेकिन उसने ऐसा न किया, और वह सिंधु नदी की घाटी के मार्ग से लौट गया। यह एक रोचक समस्या है कि यदि सिकंदर मध्य भारत की ओर बढ़ आता तो क्या होता। क्या वह बराबर जीतता ही जाता? या भारतीय सेनाएँ उसे हरा

देतीं ? पोरस के-से एक सरहदी राजा ने उसे काफ़ी सताया, और यह बहुत संभव है कि मध्य भारत की बड़ी-बड़ी रियासतें सिकंदर की गति को रोकने में समर्थ होतीं। लेकिन सिकंदर ने चाहे जो करने या न करने की बात सोची हो, उसकी सेना ने सारे मामले का निपटारा कर दिया। वे बरसों से चलते-चलते थक गए और ऊब उठे थे। संभवतः भारतीय सैनिकों के रण-कौशल से भी वे प्रभावित हुए हों और इसीलिए पराजय की जोखिम उठाने को तैयार न थे। लौटती बार यात्रा बड़ी घातक सिद्ध हुई, और फ़ौज को दाना-पानी के अभाव से कष्ट भोगना पड़ा। इसके कुछ समय बाद, ३२३ ई० पू० में, सिकंदर बैबिलान में मर गया। फ़ारस पर चढ़ाई के समय प्रस्थान करने के बाद, उसने फिर कभी अपने स्वदेश, मैसिडोनिया, को न देखा।

इस तरह सिकंदर ३३ वर्ष की आयु में मरा। इस 'महान' पुरुष ने अपनी संक्षिप्त जीवनावधि में क्या किया ? कई मार्के की लड़ाइयों में उसने विजय पाई। निस्संदेह वह एक बड़ा सेनापति था। लेकिन वह घमंडी और अभिमानी था। कभी-कभी वह बहुत क्रूर और उद्दंड हो जाता था। वह अपने को देव-तुल्य समझता था। क्रोध के आवेश या क्षणिक उन्माद में उसने अपने कई प्रियतम मित्रों को मार डाला, और बड़े-बड़े नगरों तथा उनके निवासियों को मटियामेट करा दिया। जिस साम्राज्य का उसने निर्माण किया, उसमें अपनी मृत्यु के बाद वह कोई ठोस और चिरस्थायी काम—अच्छी सड़कें तक—न छोड़ गया। आकाश के पुच्छल तारे के समान वह आया और चला गया। अपने पीछे उसने, अपनी स्मृति के अतिरिक्त, और कुछ न छोड़ा। उसकी मृत्यु के बाद उसके घरवाले आपस ही में लड़ मरे और नष्ट हो गए। उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। वह विश्व-विजेता कहलाता है, और यह किंवदंती है कि एक बार वह बैठा-बैठा इसलिए रो उठा था कि अब जीतने को कुछ भी नहीं बचा। लेकिन सच तो यह है कि उत्तर-पश्चिम में एक छोटे-से हिस्से को छोड़कर भारतवर्ष ही को वह पराजित न कर पाया। चीन उन दिनों में भी एक महाराष्ट्र था, और सिकंदर चीन के पास तक न फटका था।

उसकी मृत्यु के बाद, उसके सेनापतियों ने उसके साम्राज्य का आपस में बटवारा कर लिया। मिस्र टालैमी के हिस्से में पड़ा। उसने वहाँ पर एक सुदृढ़ शासन स्थापित किया, और एक राजवंश चलाया। इस राजवंश के शासन-काल में मिस्र, जिसकी राजधानी एलैकज़ैंड्रिया में थी, शक्तिशाली राष्ट्र था। एलैकज़ैंड्रिया एक महानगर हो गया, जो विज्ञान, दर्शन और विद्या के लिए चारों ओर प्रसिद्ध था।

फ़ारस, इराक़ और एशिया माइनर का अंश सैल्यूकस-नामक दूसरे सेनापति के हिस्से में पड़ा। भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग भी, जिसे सिकंदर ने जीता था, इसी सैल्यूकस को मिला। लेकिन भारत के किसी भाग पर अधिकार जमाने में वह सफल न हुआ, और ग्रीक सेना सिकंदर की मृत्यु के बाद देश से निकाल भगाई गई।

सिकंदर ३२६ ई० पू० में भारत आया था। उसका आगमन केवलमात्र धावा था। भारत पर उसका प्रभाव नगण्य रहा। कुछ लोगों की धारणा है कि इस धावे ने भारतीयों

और ग्रीस-निवासियों में पारस्परिक संपर्क का आरंभ हुआ। लेकिन, वास्तव में, सिकंदर के पहले भी पूर्व और पश्चिम के देशों का परस्पर व्यापार होता था। फ़ारस से और ग्रीस तक से, भारत का निरंतर संसर्ग प्राचीन काल से चला आता था। यह संसर्ग सिकंदर के आगमन से निश्चय ही बहुत कुछ बढ़ गया, और दोनों—भारतीय और ग्रीक—संस्कृतियों का अधिक परिमाण में संमिश्रण हुआ होगा। 'इंडिया' शब्द ही ग्रीक 'इंडास' से बना है, और 'इंडास' की उत्पत्ति इंडस (सिंधु नदी का नाम) से हुई।

सिकंदर के धावे और उसकी मृत्यु से भारत में एक विशाल साम्राज्य—मौर्य्य-साम्राज्य—की संस्थापना का सूत्रपात हुआ। यह साम्राज्य-काल भारतीय इतिहास के सुवर्ण-युगों में एक है। हमको इसके वर्णन में कुछ समय लगाना चाहिए।

(१८)

चन्द्रगुप्त मौर्य्य और अर्थशास्त्र

जनवरी २५, १९३१

मैंने अपने किसी पत्र में मगध का उल्लेख किया है। यह एक प्राचीन राज्य उसी भूभाग में था, जहाँ आजकल विहार का प्रांत है। इस राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र—आधुनिक पटना—में थी। जिस समय का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उस समय नंदवंश के राजा मगध पर राज्य करते थे। जब सिकंदर ने उत्तर-पश्चिमी भारत पर धावा किया, तब पाटलिपुत्र की गद्दी पर एक नंदवंशीय राजा था। उस समय पाटलिपुत्र में एक नवयुवक, जो संभवतः इसी राजा का संबंधी था, रहता था। उसका नाम चंद्रगुप्त था। ऐसा अनुमान होता है कि चंद्रगुप्त बहुत ही चतुर, प्रयत्नशील और महत्त्वाकांक्षी था। नंद राजा ने, यह समझकर कि वह बड़ा चतुर है, अथवा उसके किसी काम से अप्रसन्न होकर, उसे मगध से निकाल दिया। संभवतः सिकंदर और ग्रीकों की कथाओं से आकर्षित होकर चंद्रगुप्त उत्तर की ओर तक्षशिला को चला गया। उसके साथ विष्णुगुप्त - नामक एक बहुत योग्य ब्राह्मण था। इसे चाणक्य भी कहते हैं। चंद्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही ऐसे मृदुल और विनम्र स्वभाव के न थे कि वे भाग्य या भवितव्यता के सामने सिर झुका देते। उनके मस्तिष्क तो बड़ी-बड़ी योजनाओं से भरे थे। वे आगे बढ़कर हाथ मारना और सफलता प्राप्त करना चाहते थे। शायद सिकंदर की कीर्ति से चन्द्रगुप्त प्रभावित हो गया, और उसके उदाहरण का अनुसरण करने के लिए उत्सुक हो उठा। इस उद्देश की सिद्धि के लिए, उसने चाणक्य के रूप में एक आदर्श मित्र और मंत्री पाया। दोनों ही सजग रहते और तक्षशिला में जो कुछ होता, उसे सतर्क भाव से देखा करते थे। वे अनुकूल समय की बाट जोह रहे थे।

शीघ्र ही उनके दिन बहुरे। ज्यों ही तक्षशिला में सिकंदर की मृत्यु का समाचार पहुँचा, त्यों ही चंद्रगुप्त ने समझ लिया कि काम करने का समय आ गया। आस-पास के लोगों को उसने भड़काया, और उनका सहायता से ग्रीक सेना को, जिसे सिकंदर इस देश में छोड़ गया था, देश से मार भगाया। तक्षशिला पर अधिकार जमाने के बाद, चंद्रगुप्त और उसके सहायक दक्षिण दिशा में पाटलिपुत्र की ओर रवाना हुए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने नंद-राजा को परास्त किया। यह घटना ३२१ ई० पू० की है। इसी समय से मौर्य्य-वंशियों के शासन का प्रारंभ माना जाता है। इस बात का स्पष्ट कारण नहीं मालूम कि चंद्रगुप्त क्यों मौर्य्य कहलाता था। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी माता का नाम मुरा था, इसलिए वह मौर्य्य कहलाया। दूसरों की सम्मति में उसकी माता का पिता राजा के मोरों (मयूरों) की सेवा करता था, और मोर को संस्कृत में मयूर कहते हैं। मौर्य्य शब्द की चाहे जो व्युत्पत्ति हो, वह चंद्रगुप्त मौर्य्य के नाम

से विख्यात है, ताकि उसके नाम से दूसरे महान् चंद्रगुप्त का धोखा न हो जाय, जो उसके कई सौ वर्ष बाद भारत का एक महासम्राट् हुआ।

महाभारत और दूसरे प्राचीन ग्रन्थ और पुराण उन महाराजाओं—चक्रवर्त्ती नृपतियों—का वर्णन करते हैं, जो समस्त भारत पर राज्य करते थे। उन दिनों का हमें कुछ भी विशद ज्ञान नहीं। हम इतना भी नहीं कह सकते कि उन दिनों में भारत या भारतवर्ष का कितना विस्तार था। संभव है, इन पुरानी कहानियों में प्राचीन नरपतियों के गौरव का वर्णन अतिरंजित हो। लेकिन बात कुछ भी रही हो, भारतवर्ष में सबल और विस्तृत साम्राज्य का जो प्रथम उदाहरण इतिहास में हमें मिलता है, वह है चंद्रगुप्त मौर्य्य के साम्राज्य का। जैसा हम आगे देखेंगे, यह एक बहुत समुन्नत और शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र था। यह स्पष्ट है कि ऐसे शासन और राष्ट्र अकस्मात् प्रादुर्भूत नहीं हो जाते। इन बातों के होने के बहुत पहले ही से अनेक प्रवृत्तियाँ—छोटे-छोटे राज्यों का एक राष्ट्र में संमिलन और शासन-कला में उन्नति की प्रवृत्ति—काम करती रही होंगी।

चंद्रगुप्त के शासन-काल में सैल्यूकस-नामक सिकंदर के सेनापति ने, जिसके हिस्से में एशिया माइनर से भारत तक के देशों का राज्य पड़ा था, फ़ौज के साथ सिंधु नदी को पार कर भारत पर आक्रमण किया। बहुत जल्द उसे अपनी अदूरदर्शिता के लिए पश्चात्ताप करना पड़ा। चंद्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हराया; और जिस मार्ग से सैल्यूकस आया था, उसी मार्ग से उसे लौटना पड़ा। इस हमले से कुछ लाभ तो हुआ नहीं, उलटा उसे काबुल और हिरात तक विस्तृत गांधार या अफ़ग़ानिस्तान के एक बड़े प्रांत को चंद्रगुप्त के हवाले करना पड़ा। चंद्रगुप्त का उसकी पुत्री से विवाह भी हुआ। अब तो चंद्रगुप्त का साम्राज्य सारे उत्तरीय भारत और अफ़ग़ास्तिान के एक भाग में—काबुल से बंगाल तक और अरब-सागर से बंगाल की खाड़ी तक—फैल गया। सिर्फ़ दक्षिणी भारत उसके अधीन न था। इस विशाल साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में थी।

सैल्यूकस ने मैगैस्थनीज़ नाम के एक राजदूत को, अपना प्रतिनिधि बनाकर, चंद्रगुप्त के दरबार में भेजा। जितने दिनों तक मैगैस्थनीज़ पाटलिपुत्र में रहा, उनका बड़ा ही रोचक वृत्तांत उसने लिखा है। लेकिन उससे भी अधिक रोचक एक दूसरा वृत्तांत हमें उपलब्ध है, जिसमें चंद्रगुप्त की शासन-प्रणाली का पूरा ब्योरा मिलता है। यह कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। कौटिल्य हमारे पूर्व-परिचित्त मित्र चाणक्य या विष्णुगुप्त के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति नहीं है। अर्थ-शास्त्र का अर्थ है संपत्ति का शास्त्र या विज्ञान।

इस अर्थशास्त्र में इतने अधिक विषयों का वर्णन है, इतने विभिन्न तत्त्वों का विवेचन किया गया है, कि तुमको उसके विषय में विस्तार के साथ लिखना संभव नहीं। राजाओं, मंत्रियों और सलाहकारों के कर्त्तव्यों का, राज-सभा का, शासन-विभाग का, व्यापार और व्यवसाय का, ग्राम और नगरों की शासन-प्रणाली का, क़ानून और अदालतों का, सामाजिक रीति-नीति का, स्त्रियों के अधिकारों का, विवाह और विवाह-विच्छेद का, करों का, सेना और नौ-सेना का, युद्ध और संधि का, कूटनीति का, कृषि का, बुनाई और कताई का, कलाकारों का,

और जेल तक का उसमें उल्लेख है। इस सूची को मैं और बढ़ा सकता हूँ, लेकिन कौटिल्य के अध्याय-शीर्षकों से इस पत्र को भरना नहीं चाहता।

जब राज्याभिषेक के समय राजा को प्रजा से राज्याधिकार मिलता था, तब वह प्रजा की सेवा में दत्तचित्त रहने की शपथ लेता था। उसे प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी—"मैं स्वर्ग न पाऊँ, मेरा जीवन नष्ट हो जाय, मैं निस्संतान रहूँ, यदि मैं तुम्हें सताऊँ।" राजा की दिनचर्य्या दी गई है। आवश्यक काम के लिए उसे हर समय तैयार रहना चाहिए; क्योंकि सार्वजनिक कार्य्य न तो रुक सकता और न राजा की सुविधा की प्रतीक्षा कर सकता है। यदि राजा सचेष्ट है तो उसकी प्रजा भी सचेष्ट होगी। "प्रजा के सुख में वह अपने को सुखी मानता; उसके कल्याण को अपना कल्याण समझता। उसे जो कुछ पसंद हो, उसीको उसे वांछनीय न समझना चाहिए; बल्कि जो कुछ उसकी प्रजा को रुचे, उसी को वह वांछनीय समझे।" राजे-महाराजे हमारे संसार से उठते जा रहे हैं। कुछ इने-गिने बच रहे हैं, और वे भी जल्द ही चल देंगे। लेकिन यह एक रोचक बात है कि प्राचीन भारत में राजा का धर्म्म प्रजा की सेवा करना माना जाता था। तब न तो राजाओं के ईश्वरीय अधिकार थे, न अनियंत्रित सत्ता थी। यदि राजा दुराचारी होता था तो उसकी प्रजा उसे हटाकर दूसरे को गद्दी पर बैठाती थी। उन दिनों यही भाव था, यही सिद्धांत था। निस्संदेह, बहुत-से ऐसे राजा हुए हैं, जिन्होंने इस आदर्श का पालन नहीं किया और अपनी मूर्खता से अपने देश और अपनी प्रजा को संकट में फँसाया।

अर्थशास्त्र इस प्राचीन सिद्धांत का सबल प्रतिपादन करता है कि "आर्य्य कभी दास न बनाया जायगा *।" इससे यह स्पष्ट है कि विदेशों से लाए गए या देश ही में रहनेवाले कुछ लोग दासवृत्ति करते थे †। लेकिन जहाँ तक आर्य्यों का संबंध था, इस बात का ध्यान रक्खा जाता था कि वे किसी भी दशा में दास न बनाए जाएँ।

मौर्य्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में थी। यह समृद्धिशाली नगर गंगा के तट पर नौ मील तक फैला था। उसमें ६४ मुख्य फाटक और सैकड़ों दरवाजे थे। मकान मुख्यतया लकड़ी के थे। आग लगने की आशंका से रक्षा का पूरा-पूरा प्रबंध था। प्रधान-प्रधान मार्गों पर पानी से भरे हजारों घड़े सदा रक्खे रहते थे। प्रत्येक गृहस्थ को भी अपने-अपने मकान में आग बुझाने के लिए पानी से भरे घड़े, सीढ़ियाँ, रस्से, कड़े और आवश्यक सामग्री रखनी पड़ती थी।

कौटिल्य ने नगरों के लिए एक ऐसे नियम का उल्लेख किया है, जो तुमको रोचक मालूम होगा। जो आदमी सड़कों पर कूड़ा फेंकता था, उसपर जुर्माना होता था। यदि कोई आदमी सड़क पर कीचड़ या पानी जमा होने देता था तो उसको भी जुर्माना देना पड़ता था। यदि इन नियमों का पालन किया जाता रहा होगा, तो पाटलिपुत्र तथा दूसरे नगर बहुत साफ-सुथरे और मनोरम रहे होंगे। मैं चाहता हूँ कि हमारी म्यूनिसिपैलिटियों में भी इसी तरह के नियम जारी किए जाएँ।

---

* 'न त्वेवाऽऽर्य्यस्य दासभावः'—कौटिल्य

† 'म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा'—कौटिल्य

पाटलिपुत्र में प्रबंध करने के लिए एक म्यूनिसिपल कमेटी थी। इसे जनता चुनती थी। इसमें तीस सदस्य होते थे। पाँच-पाँच सदस्यों के ६ वर्ग थे। इन वर्गों को व्यापार और कलाकौशल की, यात्रियों और मुसाफ़िरों के लिए प्रबंध की, कर लगाने में सुविधा के उद्देश से जन्म और मृत्यु के लेखे की, पक्के माल की तैयारी की तथा अन्य विषयों की देख-रेख करनी पड़ती थी। पुरी-समिति सफ़ाई, आय-व्यय, बाग़-बगीचे और सार्वजनिक इमारतों के लिए उत्तरदायी थी।

न्याय करने के लिए पंचायतें थीं, और अपील सुनने के लिए न्यायालय। दुर्भिक्ष में पीड़ितों को सहायता पहुँचाने का विशेष प्रबंध किया जाता था। राज्य के भांडारों में संगृहीत अन्न का आधा भाग अकाल के समय के लिए सदा सुरक्षित रहता था।

ऐसा था वह मौर्य्य साम्राज्य, जिसे २२ सौ वर्ष पहले चंद्रगुप्त और चाणक्य ने संघटित किया था। कौटिल्य और मैगैस्थनीज़ ने जिन बातों का वर्णन किया है, उनमें से कुछ का उल्लेख मैंने अभी किया है। इनसे भी तुम्हें उन दिनों के उत्तरीय भारत का स्थूल रूप से पता लग जायगा। राजधानी पाटलिपुत्र से लेकर साम्राज्य के अनेक महानगरों और हज़ारों क़स्बों एवं गाँवों तक सारा देश जीवन से गुंजरित रहता होगा। प्रमुख राजपथ—राजा का मार्ग—पाटलिपुत्र होता हुआ उत्तर-पश्चिमी सीमा तक चला गया था। बहुत-सी नहरें थीं, और उनकी निगरानी के लिए एक विशेष सिंचाई का विभाग था। एक सामुद्रिक विभाग भी था, जो बंदरगाहों, घाटों, पुलों, नौकाओं और जहाज़ों की देख-रेख करता था। नावें और जहाज़ एक स्थान से दूसरे स्थान को आया-जाया करते थे। जहाज़ जल-मार्ग से बर्मा और चीन को भी जाते थे।

इस साम्राज्य के ऊपर चंद्रगुप्त ने २४ वर्ष तक राज्य किया। वह २९६ ई० पू० में मरा। अपने अगले पत्र में हम मौर्य्य-साम्राज्य की शेष कहानी कहेंगे।

(१९)

तीन महीने

कैकोविया जहाज़ से,

अप्रैल २१, १९३१

तुमको पत्र लिखे बहुत दिन हुए। तब से लगभग तीन महीने बीत गए—कष्ट और कठिनाई एवं झंझटों के तीन महीने। भारत में, और सबसे बढ़कर हमारे कुटुंब में, परिवर्त्तन के ये तीन महीने! भारत ने कुछ दिनों के लिए सत्याग्रह या शांतिमय अवज्ञा की लड़ाई को स्थगित कर दिया है, लेकिन जिन समस्याओं का हमें सामना करना है, उनका समाधान कुछ अधिक सुलभ नहीं प्रतीत होता। हमारे कुटुंब का वह कुलपति उठ गया, जिसने हमें बल और स्फूर्ति दी, जिसकी आश्रयदायिनी देख-रेख में हम बढ़े और हमने अपनी जननी भारत-भूमि की स्वल्प सेवा करना सीखा।

मुझे कितनी अच्छी तरह से नैनी-जेल का वह दिन याद है। वह जनवरी २६ का दिन था; और अपने साधारण नियम के अनुसार मैं भूत काल के संबंध में लिखने जा रहा था। उसके एक ही दिन पूर्व चंद्रगुप्त और उसके स्थापित मौर्य्य-साम्राज्य के विषय में मैंने तुमको लिखा था। मैंने यह वादा किया था कि मैं कथा को जारी रक्खूँगा, और तुम्हें उन राजाओं का हाल सुनाऊँगा, जो चंद्रगुप्त मौर्य्य के अनुवर्त्ती थे; विशेषकर, महान् अशोक का, जो देवताओं का स्नेहपात्र था, और जो भारतीय गगन में उज्ज्वल तारे के समान चमका एवं अक्षय कीर्ति को छोड़कर दिवंगत हुआ। जैसे मैं अशोक के संबंध में सोचने लगा, वैसे ही मेरा मन उचटा और वर्त्तमान की ओर लौट पड़ा—जनवरी २६ के दिन की ओर—जिस दिन कागज़-क़लम लेकर मैं तुम्हें लिखने को बैठा था, उस दिन की ओर—पलट आया। वह दिन हम सबके लिए एक महातिथि है; क्योंकि एक साल पहले, ठीक उसी दिन हम लोगों ने सारे भारतवर्ष में—नगरों और गाँवों में—स्वतंत्रता-दिवस, पूर्ण स्वराज्य का दिन, मनाया था। हम सब ने करोड़ों की संख्या में स्वतंत्रता का प्रण किया था। तब से एक साल बीत गया—लड़ाई, कष्ट और विजय का एक साल—और एक बार फिर भारत वही महा-दिवस मनाने को जा रहा था। जब मैं नैनी-जेल की बैरक नंबर ६ में बैठा था, तब मुझे जो सभाएँ, जुलूस और लाठी के प्रहार उस दिन देश भर में होनेवाले थे, उनका सुध हो आई। गर्व, हर्ष और वेदना के साथ मैं उनके विषय में सोच ही रहा था कि बाहरी दुनिया से मेरे पास यह समाचार पहुँचा कि दादू सख्त बीमार हैं; और यह भी संदेश मिला कि उनके पास जाने के लिए मैं जल्द छोड़ दिया जाऊँगा। चिंता से आकुल होकर, मैं सब सोचना-विचारना भूल गया; और नैनी-जेल से आनंद-भवन को चल दिया।

दस दिन तक मैं दादू के पास रहा। उसके बाद, वह हमें छोड़कर चल बसे। दस दिन और दस रातें हम उनकी पीड़ा और वेदना को देखते रहे। मैंने उनका यमदूतों के साथ बहादुरी से लड़ना भी

देखा। उन्होंने अपने जीवन में बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं, और अनेक बार वह विजयी हुए। वह हार मानना तो जानते ही न थे। जिस समय यमदूत उनके सामने आकर खड़ा हो गया, उस समय भी वह हार मानने को तैयार न हुए। जब मैं उनका यह अंतिम संघर्ष देख रहा था, और जिन्हें मैं इतना अधिक प्यार करता था, उनकी सहायता करने में असमर्थता के कारण व्याकुल हो रहा था, तब मुझे कुछ पंक्तियाँ, जिन्हें मैंने बहुत दिन पहले एडगर एलेन पो की एक कहानी में पढ़ा था, याद आ गईं—"मनुष्य देवदूतों के सामने हार नहीं मानता, और न पूर्ण रूप से मृत्यु ही के सामने; जब वह हार मानता है, तब अपनी क्षीण इच्छा-शक्ति की दुर्बलता के कारण।"

फ़रवरी की छठीं तारीख़ के दिन, बड़े सवेरे, वह हमें छोड़ गए। जो झंडा उन्हें इतना प्यारा था, उसी में लपेटकर उनके शरीर को हम लखनऊ से आनंद-भवन लाए। कुछ ही घंटों के अंदर वह एक मुट्ठी भर राख हो गया, और गंगा इस अनमोल विभूति को सागर तक बहा ले गई।

लाखों, करोड़ों उनके नाम पर रोए; लेकिन हम सब पर, उनके बच्चों पर, जो उनके मांस के मांस और उनकी हड्डियों की हड्डियाँ हैं, क्या बीती? नए आनंद-भवन का भी क्या पूछना? वह उन्हीं का एक बच्चा है, जिसे उन्होंने इतने प्यार से, इतना जी लगाकर सजाया-सँवारा था। वह सूना—उजाड़—हो गया; उसके प्राण मानो निकल गए; और हम उसके अलिंदों (बरामदों) में, जिन्होंने उसे बनाया था, उन्हीं की निरंतर याद करते हुए सशंक भाव से पैर दबा-दबाकर चलते हैं कि कहीं हम शांति को भंग न कर दें।

उनके लिए हम रोते हैं, पग-पग पर उनका अभाव हमें खटकता है। लेकिन जैसे-जैसे दिन बीत रहे हैं, वैसे-वैसे न तो दुःख घटता हुआ और न उनका विछोह अधिक सह्य होता दिखाई देता है। मैं यह भी सोचता हूँ कि हमें इस दशा में देखना उन्हें न भाएगा। उन्हें यह न पसंद होगा कि हम दुःख से दब जाएँ। वह तो चाहेंगे कि जैसे उन्होंने अपने कष्टों का सामना किया, वैसे ही हम भी अपने शोक का सामना करें और उसे पछाड़ दें। वह चाहेंगे कि जिस काम को वह अधूरा छोड़ गए हैं, उसको हम करते जाएँ। जब कार्य्य हमें पुकार रहा है और भारत की स्वाधीनता को हमारी सेवाओं की आवश्यकता है, तब हमें कैसे चैन मिल सकती है या कैसे हम निरर्थक शोक के सामने मत्था टेक सकते हैं? इसी के लिए वह मरे। इसी के लिए हम जिएँगे, प्रयत्न करेंगे, और यदि आवश्यकता हुई तो मरेंगे। कम-से-कम हम उन्हीं के तो आत्मज हैं; उन्हीं के तेज, बल तथा दृढ़-संकल्प का कुछ-न-कुछ अंश तो हम लोगों में भी है।

इस समय, जब मैं तुम्हें ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, अथाह नीलवर्ण अरब-सागर मेरे सामने दूर तक फैला हुआ है। दूसरी ओर, सुदूर में, भारत का समुद्रतट, जिसके बराबर हम चल रहे हैं, घटता जा रहा है। मैं समुद्र के इस विशाल और प्रायः अपार प्रसार का विचार करने, एवं नैनी-जेल का, ऊँची दीवारों से वेष्टित जिस छोटी बैरक से मैंने तुमको अपने पिछले पत्र लिखे थे, उसकी सागर के अनंत विस्तार के साथ तुलना करने लगता हूँ। जहाँ समुद्र आसमान से मिलता-सा मालूम होता है, वहाँ क्षितिज की पैनी रेखा मुझे सुस्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। लेकिन जेल में तो जिन दीवारों के अंदर क़ैदी बंद रहता है, उनकी चोटी ही उसके लिए

क्षितिज है। हममें से, जो जेलों में थे, अनेक आज बाहर की खुली हवा में विचर सकते हैं। लेकिन हमारे बहुत-से साथी अब भी अपनी तंग कोठरियों में बंद हैं। वहाँ से वे न तो जल, न थल और न क्षितिज को ही देख पाते हैं। स्वयमेव भारत अभी तक बंदी है। वह अभी स्वाधीन होने को है। हमारी स्वतंत्रता किस काम की, यदि भारत स्वतंत्र न हुआ?

(२०)
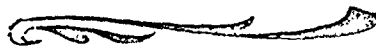
अरब-सागर

क्रैकोविया जहाज़ पर,

अप्रैल २२, १९३१

ताज्जुब है कि हम इस क्रैकोविया जहाज़ पर बंबई से लंका जा रहे हैं! मुझे अच्छी तरह से याद है कि लगभग चार साल पहले मैंने कैसे वैनिस में इसके आने का प्रतीक्षा की थी। दादू इसी जहाज़ पर थे, और स्विटज़रलैंड के वैक्स में मैं तुम्हें स्कूल ही में छोड़कर उनसे मिलने गया था। फिर, कुछ महीने बाद जब दादू इसी क्रैकोविया जहाज़ से स्वदेश लौटे, तब मैं उनसे बंबई में मिला था। उस यात्रा के उनके कई साथी इसी जहाज़ पर आज हमारे साथ हैं। वे उनकी बहुत-सी बातें बताते हैं।

मैंने कल तुमको परिवर्त्तन के विगत तीन महीनों के विषय में लिखा था। मैं चाहता हूँ कि जो एक घटना पिछले सप्ताहों में हुई है, उसे तुम याद रक्खो। कुछ कम एक महीना हुआ, कानपुर में भारत का एक बाँकुड़ा वीर, गणेश शंकर विद्यार्थी, चल बसा—वह उस समय मारे गए, जब वह दूसरों को बचाने में लगे थे। गणेशजी मेरे प्रिय मित्रों में से थे—वह मेरे एक गुणवान् और निस्स्वार्थ सखा थे, जिनके साथ काम करना गौरव की बात थी। जब कानपुर में पिछले महीने पागलपन की धूम थी और हिंदोस्तानी एक दूसरे को मार-काट रहे थे, तब गणेशजी भाइयों से लड़ने के लिए नहीं, बलिक उन्हें बचाने के लिए, आग में कूदे। उन्होंने सैकड़ों जानें बचाईं; वह अपने को न बचा सके और न उन्होंने अपने को बचाने ही की परवा की। उन्हीं लोगों के हाथ से उनकी मौत हुई, जिनको बचाने की वह चेष्टा कर रहे थे। कानपुर और हमारे सूबे का एक हीरा लुट गया, हममें से अनेक का एक प्रिय और बुद्धिमान् मित्र न रहा। लेकिन कितनी शानदार थी उनकी मौत! उन्होंने शांत गंभीर भाव से, निर्भीकता के साथ, गुंडों के पागलपन का सामना किया। जब चारों ओर, जिधर देखो उधर ही, जोखिम और मौत नाच रही थी, उस समय उन्हें चिंता थी सिर्फ़ दूसरों की, और दूसरों को बचाने की।

परिवर्त्तन के तीन मास! काल के सागर में एक बूँद, जाति के जीवन में एक पल! केवल तीन सप्ताह हुए, सिंध की सिंधु नदी की घाटी में मैं मोहेन-जो दारो देखने गया था। वहाँ तुम मेरे साथ न गई थीं। मैंने पृथिवी के गर्भ से निकले हुए एक महानगर को देखा—ऐसा नगर, जिसमें मज़बूत ईंटों के मकान और चौड़ी-चौड़ी सड़कें थीं, और जिसे बने हुए, लोगों का कहना है, पाँच हजार साल हो गए। मैंने सुन्दर-सुन्दर आभूषण और घड़े देखे, जो इस प्राचीन नगर में मिले हैं। इन सब धातुओं को देखते-देखते मुझे ऐसा भासित होने लगा, मानों, चटकीले-भड़कीले कपड़े पहने हुए नर और नारी सड़कों एवं गली-कूचों में चल-फिर रहे हैं;

बच्चे भी वैसे ही खेल रहे हैं, जैसे वे सदा खेला करते हैं; बाजार खचा-खच माल से भरा है; और आदमी माल बेंच या खरीद रहे हैं।

इन पाँच हजार वर्षों से भारत अपने जीवन-विशेष के दिन काटता और अनेक उथल-पुथल देखता चला आ रहा है। मुझे कभी-कभी अचरज होता है कि क्या हमारी यह वयोवृद्ध जननी, जो इतनी वृद्धा होते हुए भी इतनी नवयौवना और रूपवती है, अपने बच्चों के उतावलेपन को, उनकी क्षुद्र चिंताओं को और उनके उन हर्ष-विषादों को, जो दिन भर रहते और फिर विलीन हो जाते हैं, देखकर हँसा नहीं करती है?

(२१)

अवकाश* और स्वप्न-यात्रा

मार्च २६, १९३२

चौदह महीने हुए, जब मैंने तुमको नैनी-जेल से भूतकालिक इतिहास के विषय में अंतिम पत्र लिखा था। पत्र लिखने के तीन महीने बाद, मैंने उसी पत्र-माला में जोड़ने की नीयत से अरब-सागर से छोटे-छोटे दो और पत्र लिखे थे। इनको लिखते समय मैं 'कैकोविया' जहाज़ से लंका की ओर तेज़ी से जा रहा था। जैसा मैंने उस अवसर पर लिखा था, विशाल महासागर मेरे सामने दूर तक फैला हुआ था। मेरी आँखें उसे अपलक निहारा करतीं; पर निहारने से उनका कभी जी न भरता था। उसके पश्चात् हम लंका पहुँचे। एक महीने तक हमने शानदार छुट्टी मनाई, और अपनी चिंताओं तथा मुसीबतों को भी भूल जाने की चेष्टा की। उस परम रमणीक टापू में हम, उसकी अतुलनीय सुंदरता और वहाँ पर प्रकृति की इफ़रात को देख-देख आश्चर्य-चकित होते हुए, इधर-उधर घूमे-घामे। कैंडी, नुवारा एलिया तथा प्राचीन वैभव के भग्नावशेषों और स्मारक पदार्थों से परिपूर्ण अनुरुद्धपुर आदि जिन अनेक स्थानों में हम गए, उनके स्मरण से कितना आनंद होता है! लेकिन मुझे तो सबसे अधिक सुख होता है उन शीतल जंगलों की स्मृति से, जो जीव-जंतुओं से भरे पड़े हैं और सहस्र-सहस्र नेत्रों से तुम्हें देखा करते हैं; अथवा सुभग, पतले, दंडवत् सीधे ताड़-वृक्षों की याद से, या अगणित नारियल के पेड़ों की सुध से, अथवा ताड़-तरुओं से वेष्टित समुद्र-तट के ध्यान से, जहाँ द्वीप की पन्नग-सदृश हरियाली से समुद्र और आकाश की नीलिमा का मेल होता है, जहाँ सागर-जल तट पर दमकता और क्रीड़ा करता है, और जहाँ हवा तमाल-पत्रों को विकंपित करती हुई मर्मर-ध्वनि के साथ चला करती है।

भूमध्य-रेखा के पासवाले किसी गर्म देश में जाने का तुम्हारे लिए यह पहला ही अवसर था। मेरे लिए भी वह नवीन-सा अनुभव था, यद्यपि थोड़े समय के लिए, बहुत दिन हुए, मैं ऐसे प्रदेश में जा चुका हूँ। लेकिन उसकी याद धुँधलाते-धुँधलाते प्रायः मिट गई है। मुझे गर्मी का भय था। मेरा तो खिंचाव सागर, पर्वत, और उनसे भी अधिक हिमाच्छादित ऊँचे शिखरों तथा बर्फ़ीली नदियों के प्रति था। लेकिन इस बार थोड़े दिन के लंका-निवास से मुझे उष्ण प्रदेशों की छवि और सम्मोहन का कुछ-कुछ अनुभव हुआ। मैं वापस लौटा—कुछ अतृप्ति के साथ और इस आशा में कि मेरा फिर कभी उन प्रदेशों से मिलना-जुलना होगा। हमारी छुट्टी का एक महीना लंका में देखते-देखते बीत गया। हम संकीर्ण समुद्र-पथ को पार कर भारत के दक्षिणी अंतरीप पर आ उतरे। क्या तुम्हें कन्याकुमारी जाने की बात याद है, जहाँ, कहा जाता है, देवी कुमारी वसती और हमारे देश की रक्षा करती हैं? (इस स्थान को पश्चिम-निवासी, हमारे भारतीय नामों को तोड़-मोड़कर भ्रष्ट करनेवाली अपनी चतुराई में, केप

* अँगरेज़ी का शब्द 'Holiday' 'छुट्टी' और 'छुट्टी का दिन' के अर्थों में प्रयुक्त होता है। मैंने 'छुट्टी' की जगह 'अवकाश' शब्द को शीर्षक के लिए अधिक उपयुक्त समझा।

कामोरिन कहते हैं) जब हम कन्या-कुमारी में थे, तब सचमुच ही भारतमाता के श्रीचरणों में बैठे थे। हमने अरब-सागर को बंगाल की खाड़ी की जल-राशि से मिलते देखा। उस समय हमें इस बात की कल्पना करने में कितना सुख हो रहा था कि वे दोनों भारत के पादपद्मों की पूजा कर रहे हैं। वहाँ पर अद्भुत शांति थी। मेरा मन हज़ारों मील की यात्रा कर भारत के दूसरे कोने पर जा पहुँचा, जहाँ अक्षय हिम हिमालय को मंडित करता है और जहाँ शांति का भी वास है। किंतु इन दोनों के मध्य में काफ़ी संघर्ष और दुःख-दैन्य है!

हम कुमारी अंतरीप से विदा हुए और उत्तर की ओर चल पड़े।

हमने ट्रावनकोर और कोचीन की सैर की। मलाबार के खारों (Backwaters) को देखा। वे कितने सुंदर थे। हमारी नाव वृक्षों से आच्छादित दोनों तटों के बीच से चाँदनी रात में कैसी निस्पंद गति से चली जा रही थी, मानों, यह सब एक तरह का स्वप्न था। इसके बाद हम मैसूर, हैदराबाद और बंबई गए, और अंत में इलाहाबाद पहुँचे। यह जून, १९३१ की बात है, जिसे आज नौ महीने हो गए।

लेकिन भारत में आजकल तो सारे पथ, कुछ आगे या कुछ पीछे, हमें एक ही स्थान पर पहुँचा देते हैं। स्वप्न की हों या वास्तविक, सभी यात्राएँ कारागृह ही में समाप्त होती हैं। जेल की चिर-परिचित चहारदीवारी के अंदर मैं फिर लौट आया हूँ। चिंतन के लिए और तुम्हें पत्र लिखने के लिए—चाहे वे तुम्हारे पास तक पहुँच भी न पाएँ—मेरे पास अब बहुत-सा समय है। युद्ध फिर छिड़ गया है; और हमारे राष्ट्र के स्त्री-पुरुष, युवक-युवतियाँ स्वाधीनता के लिए, स्वदेश को निर्धनता के शाप से मुक्त करने के लिए, लड़ाई में भाग ले रही हैं। लेकिन स्वतंत्रता ऐसी देवी है, जिसे प्रसन्न करना कठिन है। जैसे प्राचीन समय में वैसे ही आज भी, यह देवी अपने पुजारियों से नर-बलि माँगती है—दूसरों की बलि नहीं, अपने ही पुजारियों की बलि।

जेल में मेरे तीन महीने आज पूरे हो गए। तीन महीने पहले आज ही के दिन—२६ दिसम्बर को—मैं छठी बार गिरफ़्तार हुआ था—इन पत्रों का फिर से श्रीगणेश मैं बहुत दिनों बाद कर रहा हूँ। लेकिन तुम जानती हो कि इस समय सुदूर पुरातन के विषय में सोचना कितना कठिन है, जब कि वर्तमान की चिंताएँ हमें घेरे रहती हैं। जेल में सब ठीक-ठाक होने और बाहर होने-वाली घटनाओं और उनकी चिंताओं से अपने को मुक्त करने में भी तो समय लगता है। तुम्हें नियमित रूप से पत्र लिखने का मैं प्रयत्न करूँगा। लेकिन अब मैं एक दूसरी जेल में हूँ। जेलों का यह अदला-बदल मुझे पसंद नहीं। इससे मेरे काम में बाधा पड़ती है। यहाँ मेरा क्षितिज दूसरे स्थानों से ऊँचा है *। मेरे सामनेवाली दीवार, कम-से-कम ऊँचाई के हिसाब से, 'चीन की दीवार' से मिलती-जुलती है। यह दीवार लगभग पचीस फ़ीट ऊँची है। इस दीवार पर चढ़कर हम तक पहुँचने में सूरज को नित्य डेढ़ घंटा लगता है।

हमारा क्षितिज थोड़े दिन के लिए परिमित ही सही, लेकिन उस महान् नीले समुद्र के बारे में, पर्वत-श्रेणियों और रेगिस्तानों के विषय में, और उस स्वप्न-यात्रा की बाबत (जो अब शायद ही सत्य लगती है)—जिसमें तुम्हारे साथ मैं और तुम्हारी मा भी गई थीं—सोचना बहुत प्रिय मालूम होता है।

* अर्थात्, जिस जेल में, इस समय, नेहरूजी रहते थे, उसकी दीवारें उनके दूसरे जेलों की दीवारों से [illegible]

(२२)

जीविका के लिए मनुष्य का संघर्ष

मार्च १८, १९३२

आओ, फिर एकबार हम विश्व-इतिहास के डोरों को हाथ में ले लें और भूतकाल की कुछ झलक पाने की चेष्टा करें। भूतकालिक इतिहास एक उलझा हुआ जाला है, जिसे सुलझाना कठिन है, और कठिन है उसके सम्पूर्ण भागों को एक साथ देख और समझ लेना। उसके किसी अंश-विशेष ही में हम लटके रह जाते और उसे उचित से अधिक महत्त्व देने लगते हैं। हम में से प्रायः सभी की यह धारणा हो जाती है कि जिसका जो स्वदेश है, उसी का इतिहास, दूसरे देशों के इतिहास की अपेक्षा, अधिक वैभवशाली और अध्ययन के लिए अधिक उपयुक्त है। मैं तुमको इस प्रवृत्ति के विरुद्ध एक बार चेतावनी दे चुका हूँ, और फिर सचेत करता हूँ। इस फंदे में फँस जाना बहुत ही आसान है। इसी से बचाने की नीयत से मैंने तुमको इन पत्रों का लिखना आरंभ किया था। लेकिन कभी-कभी मुझे मालूम होता है कि मैं स्वयमेव वैसी ही भूल करता हूँ। मैं क्या करूँ, मुझे दूषित शिक्षा मिली और जो इतिहास मुझे पढ़ाया गया, वह ऊट-पटाँग था? मैंने जेल के एकांत-वास में अनुशीलन द्वारा अपनी इस कमी को पूरा करने की चेष्टा की है; लेकिन अपने मन की चित्रशाला में व्यक्ति-विशेषों और घटनाओं के जिन चित्रों को मैंने अपने बचपन और जवानी में टाँगा था, उन्हें वहाँ से निकाल फेंकने की अब मुझ में शक्ति नहीं है। और, ये चित्र मेरे इतिहास-संबंधी दृष्टि-कोण को, जो अपूर्ण ज्ञान के कारण यों ही परिमित है, और भी राग-रंजित कर देते हैं। अत-एव, जो कुछ मैं लिखूँगा उसमें अशुद्धियाँ होंगी। बहुत-सी महत्त्वहीन बातों का तो मैं उल्लेख कर जाऊँगा; पर बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन करना तक भूल जाऊँगा। लेकिन इन पत्रों का तो यह उद्देश भी नहीं है कि वे इतिहास की पुस्तकों का स्थान ले लें। वे (या कम-से-कम मैं उन्हें ऐसा ही मानकर प्रसन्न होता हूँ) तो उन छोटे-छोटे वार्तालापों के स्थान को लेते हैं, जो हम दोनों में होते, यदि एक हज़ार माल और अनेक ठोस दीवारें हम दोनों को एक दूसरे से जुदा न करती होतीं।

मुझे उन बहुत-से प्रसिद्ध पुरुषों के संबंध में तुमको विवश होकर लिखना ही पड़ेगा, जिनके नामों से इतिहास के ग्रंथ भरे पड़े हैं। वे स्वतः, अपने-अपने ढंग में, प्रायः रोचक हैं, और जिस युग में वे हुए, उसको समझने में हमें सहायता भी देते हैं। लेकिन इतिहास न तो बड़े आदमियों के, न राजा-महाराजाओं और न उन्हीं के समान दूसरे व्यक्तियों के कार्य्य-कलापों—कारनामों—का केवल विवरण-मात्र है। यदि ऐसा नहीं है, तो इतिहास को अब विदा कर देना चाहिए; क्योंकि राजाओं और महाराजाओं ने संसार के रंग-मंच पर अकड़कर उछल-कूद मचाना प्रायः बंद कर दिया है। लेकिन जो नर-नारी वास्तव में बड़े हैं, उन्हें अपनी विशेषता

को प्रकट करने के लिए न तो सिंहासनों, न राजमुकुटों, न जवाहिरातों और न उपाधियों की आवश्यकता पड़ती है। राजा या राव ऐसे होते हैं, जिनमें राजपन और रावपने को छोड़कर कोई और गुण नहीं होता, जिनको अपनी असली नग्नता को ढँकने के लिए राज-परिधानों और वर्दियों के पहनने की जरूरत होती है। दुर्भाग्यवश हममें से अनेक इस ऊपरी तड़क-फड़क से धोखा खा जाते और—'केवल मुकुटधारी नाम-मात्र के राजा को राजा कहने की भूल कर बैठते हैं।'

असली इतिहास को यहाँ-वहाँ के कुछ इने-गिने व्यक्तियों से सरोकार नहीं। उसे सरोकार है उन व्यक्तियों से, जिनके संयोग से राष्ट्र बनता है, जो मेहनत करने और अपनी मेहनत से जीवन की आवश्यकताओं और आमोद-प्रमोद की सामग्रियों को उत्पन्न करते हैं, जो सहस्र प्रकार से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। मनुष्य का ऐसा इतिहास वास्तव में एक मनोमोहक कथानक होगा। उसमें कथा होगी प्रकृति और उसकी शक्तियों के विरुद्ध मनुष्य के युग-युगांतर-व्यापी संघर्ष की, सघन वनों और वनैले जीव-जंतुओं के विरुद्ध संघर्ष की, और सबसे कठोर उस अंतिम संघर्ष की, जो अपनी ही जाति के कुछ ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध उसे करना पड़े, जो अपने स्वार्थ के लिए उसे पददलित करने और लूटने-खसोटने की चेष्टा करते आए हैं। इतिहास तो जीविका के लिए मानव-संघर्ष की कहानी है। भोजन, आश्रय और सर्द देशों में वस्त्र आदि पदार्थों की जीवन में आवश्यकता होती है। इसीलिए, जिन लोगों का इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों पर अधिकार था, उन्होंने मनुष्य के ऊपर अपना शासन जमा लिया। शासक और स्वामी के हाथ में प्रभुता रही है; क्योंकि जीविका के कुछ आवश्यक साधनों पर उनका अधिकार था, या वे इन साधनों का नियंत्रण करते थे। इस नियंत्रण ने उन्हें जनता को भूखों मारकर अपने वश में करने की शक्ति दी, और इसीलिए हम लोगों को यह विचित्र दृश्य देखने को मिलता है कि थोड़े-से आदमी बहुत बड़े जन-समुदाय को अपने स्वार्थ के लिए खूब चूसा करते हैं, अनेक व्यक्ति कुछ काम-धाम किए बिना ही रुपया कमाते हैं, और मनुष्यों के झुंड-के-झुंड काम तो करते हैं परन्तु कमाते हैं नामचार ही को।

अकेले शिकार करनेवाला जंगली आदमी धीरे-धीरे एक कुटुंब जुटा लेता है तथा सब परिवार मिलकर और एक दूसरे के लाभ के लिए काम करते हैं। बहुत-से परिवारों के सब लोगों के सहयोग से गाँव बन जाता है। बाद में भिन्न-भिन्न गाँवों के व्यापारी, मजदूर और कारीगर मिलकर कारीगरों के संघ की स्थापना करते हैं। धीरे-धीरे तुम सामाजिक एकाई (यूनिट*) को बढ़ते हुए देखती हो। आदि में, व्यक्ति, वही जंगली आदमी, था। उस समय किसी प्रकार का कोई समाज न था। उसके बाद परिवार के रूप में सामाजिक सोपान का प्रथम चरण दिखाई दिया। उसके बाद ग्राम की उत्पत्ति हुई, और फिर ग्रामों का संघ बना। इस सामाजिक संघ की क्यों वृद्धि हुई? इसका कारण था जीविका के लिए संघर्ष, जिसने सामाजिक वृद्धि और आपस में

---

* यूनिट (एकाई या एकाक) का अर्थ है लघुतम, किंतु पूर्ण एक [illegible] । [illegible] छोटी संख्या है। इसे एकाई कहते हैं। [illegible] एकाई है। [illegible] एकाई है।

सहयोग को अनिवार्य्य कर दिया। यह स्पष्ट था कि एकाकी हमले या बचाव की अपेक्षा समान शत्रु से रक्षा और आक्रमण करने में सहयोग कहीं बढ़कर है। इससे अधिक लाभदायक था, काम में सहयोग। अकेले काम करने की तुलना में मिलकर काम करने से कहीं अधिक भोज्य और अन्य आवश्यक सामग्रियाँ पैदा की जा सकती हैं। काम में सहयोग का यह परिणाम हुआ कि अकेले शिकार खेलनेवाले जंगली मनुष्य से बढ़ते-बढ़ते बड़े समूह के रूप में सांपत्तिक संघ का भी विकास होने लगा। सचमुच, यह अधिक संभव मालूम होता है कि जिस सांपत्तिक संघ का विकास जीविका के लिए मानव-संघर्ष के कारण निरंतर आगे की ओर बढ़ता जाता था, उसीसे फलतः समाज और सामाजिक संघ की वृद्धि हुई। निरंतर लड़ाई-झगड़ों, दुःख-दैन्य और कभी-कभी अधःपतन के बीच में यह वृद्धि हमें इतिहास के सुदीर्घ विस्तार के आरपार फलती-फूलती दिखाई देती है। लेकिन कहीं यह न सोचने लगना कि इस वृद्धि का यह अनिवार्य्य परिणाम हुआ कि संसार बहुत आगे बढ़ गया, अथवा पहले की अपेक्षा वह अब जीवन-निर्वाह के लिए अधिक उपयोगी बन गया है। संभवतः, पहले से अब वह ज़्यादा अच्छा है; लेकिन पराकाष्ठा से वह अभी कोसों दूर है, और चारों ओर काफ़ी मुसीबत फैली हुई है।

ज्यों-ज्यों सांपत्तिक और सामाजिक संघों की वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों जीवन अधिकाधिक जटिल और पेचीदा होता जाता है। वाणिज्य-व्यवसाय बढ़ने लगते हैं। दान का स्थान माल की अदला-बदली ले लेती है। इसके बाद रुपये का आगमन होता है, और उसके कारण सब तरह के व्यवहार में व्यापक अंतर पड़ने लगता है। तुरंत ही व्यापार बढ़ जाता है; क्योंकि सोने या चाँदी में भुगतान होने से विनिमय में सुविधा होती है। बाद में तो सिक्के से भी हर समय काम नहीं लिया जाता। लोग धन-सूचक प्रतीकों का प्रयोग करने लगते हैं। एक काग़ज़ का टुकड़ा, जिसपर रुपया देने का वादा लिखा रहता है, रुपए के स्थान में चालू हो जाता है। इस तरह बैंकों के नोट और चेकों का चलन फैलता है। साख के आधार पर काम-काज होने से वाणिज्य-व्यवसाय के फैलाव में बड़ी सहायता मिलती है। जैसा तुम्हें मालूम है, आजकल बैंक के नोटों और चेकों का बहुत अधिक व्यवहार होने लगा है। समझदार आदमी अब सोने-चाँदी की थैलियाँ बाँधकर घर से नहीं निकला करते।

इस तरह हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों इतिहास धुँधले अतीत से निकलकर प्रगति की ओर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों लोग अधिकाधिक पैदा करने लगते हैं, और भिन्न-भिन्न व्यवसायों में भिन्न-भिन्न आदमी विशेष कौशल प्राप्त करते हैं। हम उन्हें आपस में माल की अदला-बदली करते देखते हैं, और इस तरह व्यापार बढ़ता है। हम आने-जाने के नए-नए और अधिकाधिक उन्नत साधनों की वृद्धि को भी देखते हैं, जिनमें पिछले सौ वर्षों में, जब से भाप के इंजन का प्रयोग चला, विशेष-रूप से उन्नति हुई है। ज्यों-ज्यों पैदावार और माल की तैयारी में बढ़ती होती जाती है, त्यों-त्यों संसार की संपत्ति में भी वृद्धि होती जाती है; और कुछ लोगों को काम से छुट्टी भी अधिक रहती है। इस तरह, जिसे हम सभ्यता कहते हैं, उसका विकास होता है।

यह सब कुछ तो हुआ। लोग अपने समुज्ज्वल और उन्नतिशील युग तथा अपनी

आधुनिक सभ्यता, संस्कृति और विज्ञान के चमत्कारों का घमंड भी करते हैं। लेकिन गरीब दीन और दुःखित ही बने हुए हैं, बड़ी-बड़ी जातियाँ आपस में लड़ती और लाखों की हत्या करती हैं; और हमारे-से बड़े-बड़े देशों पर विदेशियों का आधिपत्य है। ऐसी सभ्यता से हमें क्या लाभ, यदि हमें अपने घर में भी आजादी नहीं नसीब है। लेकिन हम सजग और सचेष्ट हैं।

ऐसे उत्तेजक युग में जन्म पाकर हम बड़े ही सौभाग्यशाली हैं। इस समय हममें से प्रत्येक महासाहस-पूर्ण काम में हाथ बटाकर न केवल भारत को, किन्तु सारे संसार को, बदलते हुए देख सकता है। तुम भाग्यवती लड़की हो। उस महीने और उस वर्ष में, जब रूस में एक नए युग का आरंभ हुआ, तुमने जन्म लिया; और अब तुम अपने ही देश में क्रांति देख रही हो। संभव है, उसमें तुम जल्द भाग लेने लगो। सारे संसार में मुसीबत फैली हुई है, और उथल-पुथल हो रही है। अति पूर्व में जापान चीन का गला घोंट रहा है; पश्चिम में—वहीं क्यों? सारे संसार में—प्राचीन प्रणाली लड़खड़ा रही और धड़ाम से गिरनेवाली ही है। संसार के राष्ट्र बातें तो बनाते हैं निरस्त्रीकरण की, परन्तु एक दूसरे को शंकाभरी दृष्टि से देखते और चोटी तक हथियार बाँधे दिखाई देते हैं। जिस पूँजीवाद ने इतनी लंबी अवधि तक संसार को नाच नचाया है, उसकी संध्या की अंतिम वेला अब आ गई है। जब वह चली जायगी—कारण जाना तो उसे पड़ेगा ही,—तब वह अपने साथ बहुत-सी बुराइयों को भी लेती जायगी।

(२२)
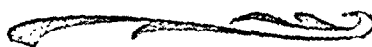
सिंहावलोकन

मार्च २९, १९३२

युगों की यात्रा करते हुए हम लोग कहाँ तक पहुँचे हैं? हमने मिस्र, भारत, चीन और नोसास के पुराने दिनों के संबंध में अभी तक कुछ बातें बताई हैं। मिस्र की जिस पुरातन और विस्मय-जनक सभ्यता ने पिरामिड बनाए, उसे हमने धीरे-धीरे दुर्बल और जर्जर होते देखा, और यह भी देखा कि बाद में वह केवल छाया-मात्र, केवल विधि-विधानों और प्रतीकों की निर्जीव प्रतिमा-मात्र रह गई। हम ग्रीस के प्रधान भूप्रदेश का एक सगोत्री जाति द्वारा नोसास के विनाश को देख चुके हैं। हम भारत और चीन के धुँधले और अतीत आदि-काल पर एक दृष्टि डाल चुके हैं; यद्यपि उपयुक्त सामग्री के अभाव से हमें इस विषय का कुछ अधिक बोध न हो पाया, तो भी इस बात का हमें अनुभव हुआ कि उन युगों में भी उनकी सभ्यताएँ समृद्धिशालिनी थीं, और हमने साश्चर्य उन अटूट लड़ियों को भी देखा, जो इन दोनों देशों को, जहाँ तक संस्कृति का संबंध है, क्रमशः हजारों वर्ष पुराने अतीत से जोड़ती हैं। इराक़ में हमें उन साम्राज्यों की झलक मिली, जो एक के बाद एक स्वल्प काल के लिए फले-फूले और फिर वही रास्ता पकड़ते गए, जिसपर चलकर सारे साम्राज्य विनाश को प्राप्त हो जाते हैं।

छठी शताब्दि ई० पू० में जो विभिन्न देशों में बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी पैदा हुए, उनके विषय में भी हम कुछ कह चुके हैं। भारत में बुद्ध और महावीर, चीन में कनफ़ूसियस और लाओ-जे, फ़ारस में जरदुस्त्र, और ग्रीस में पिथागोरस। हमने देखा कि बुद्ध ने पुरोहितों और तत्कालीन भारत में प्रचलित वैदिक धर्म्म के विधानों का विरोध किया था; क्योंकि उन्हें इसका पता लग गया था कि जन-साधारण अनेक प्रकार के ढकोसलों और पूजाओं के द्वारा छले-मूड़े जा रहे हैं। उन्होंने जाति-पाँति * के विरुद्ध आवाज़ उठाई और समानता का उपदेश दिया।

इसके बाद हम पश्चिम की ओर मुड़ गए, जहाँ एशिया और योरप का मेल होता है, और फ़ारस एवं ग्रीस का हार-जीत को देखा कि कैसे फ़ारस में विशाल साम्राज्य का अभ्युदय हुआ और शाहनशाह डैरियस ने भारत का सिंधु नदी तक उसका विस्तार किया; कैसे इस साम्राज्य ने नन्हे से ग्रीस को निगल जाने का चेष्टा की, लेकिन वह यह देखकर विस्मित हो गया कि एक नन्हा सा बच्चा भी लातें मार और डटकर अपनी रक्षा कर सकता है। इसके पश्चात् ग्रीक इतिहास का वह अल्पकालिक, किंतु वैभवशाली युग आया, जिसके संबंध में मैं तुम्हें कुछ बता

* इस कथन में आंशिक सत्य है। बुद्ध के संघ में जाति-पाँति का विचार न था, हर जाति के लोग भिक्षु हो सकते थे; परंतु लौकिक व्यवहार में जाति-पाँति का विरोध बुद्ध ने नहीं किया।—संपादक

चुका हूँ। उस युग में वहाँ बहुत-से प्रतिभाशाली महापुरुष हुए, जिन्होंने साहित्य और कला की परम-सौंदर्य-मयी कृतियाँ रचीं।

ग्रीस का सुवर्णयुग बहुत दिनों तक न टिक सका। मेसिडोनिया के ऐलेकजेंडर या सिकंदर ने अपनी विजयों से ग्रीस की ख्याति दूर-दूर देशों तक फैलाई, लेकिन उसके उदय के साथ-साथ ग्रीस की उत्कृष्ट संस्कृति का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा। ऐलेकजेंडर ने फ़ारसी साम्राज्य को नष्ट कर दिया, और विजेता के रूप में उसने भारत की सरहद को भी पार किया। वह निस्संदेह एक महासेनापति था; लेकिन जनश्रुति ने उसके नाम के साथ बहुत-सी किंवदंतियाँ जोड़ दी हैं। उसने वह कीर्ति पाई, जिसका वह शायद ही अधिकारी हो। केवल कुछ ही पढ़े-लिखों को सुकरात, प्लेटो, फ़ीडियस, साफ़ोक्लीज़ या ग्रीस के अन्य महापुरुषों के विषय में कुछ ज्ञान है। लेकिन सिकंदर का नाम किसने नहीं सुना? मध्य एशिया के सुदूरतम कोने में भी उसका नाम सिकंदर के रूप में जीवित है। बहुत-से शहर उसके नाम से प्रसिद्ध हैं।

सिकंदर ने जो किया, वह तुलना की दृष्टि से थोड़ा ही है। फ़ारसी साम्राज्य वयोवृद्ध और जर्जर था। अधिक दिनों तक उसके चलने की संभावना न थी। भारत में ऐलेकजेंडर की यात्रा एक धावे के रूप में थी, जिसका महत्त्व नगण्य था। यदि ऐलेकजेंडर अधिक दिनों तक जीवित रहता तो संभव है, कुछ ठोस काम कर जाता। लेकिन वह जवानी में ही मर गया, और तुरंत ही उसके साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए। उसका साम्राज्य तो न रहा, लेकिन उसका नाम अब तक चला जाता है।

ऐलेकजेंडर के आक्रमणों का एक बड़ा परिणाम यह हुआ कि पूर्व और पश्चिम में अभिनव संसर्ग स्थापित हो गया। बहुत बड़ी संख्या में ग्रीक पुराने नगरों या स्वस्थापित उपनिवेशों में जाकर बस गए। ऐलेकजेंडर के पहले भी पूर्व और पश्चिम में परस्पर संपर्क था। लेकिन उसके बाद इसमें बहुत अधिक वृद्धि हुई।

संभवतः ऐलेकजेंडर के हमलों का एक दूसरा परिणाम, यदि वह ठीक हो तो, ग्रीकों के लिए बहुत बुरा हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि उसके सैनिक अपने साथ मलेरिया के मच्छड़ इराक़ के दलदलों से ग्रीस के निचले प्रान्तों में ले गए। इससे मलेरिया फैला और उसने ग्रीक जाति को दुर्बल और शक्तिहीन बना दिया। ग्रीकों के ह्रास का एक यह कारण बतलाया जाता है। लेकिन यह केवल एक अनुमान है, और किसी को नहीं मालूम कि इसमें सत्य का कितना अंश है?

ऐलेकजेंडर का अल्पकालिक साम्राज्य समाप्त हो गया। लेकिन उसके स्थान में नए साम्राज्य उठ खड़े हुए। इनमें से टालेमी के अधीन मिस्र और सेल्यूकस के अधीन पश्चिमी एशिया के साम्राज्य थे। सैल्यूकस ने भारत पर अपना आधिपत्य जमाना चाहा। लेकिन उसे यह जानकर हैरत हुई कि भारत भी मुक्के का करारा जवाब जोर से मुक्का मारकर दे सकता है। चंद्रगुप्त ने उत्तरी और पश्चिमी भारत पर एक सबल राष्ट्र की स्थापना की। चंद्रगुप्त, उसके चाणक्य-नामक प्रसिद्ध ब्राह्मण मंत्री और उसके अर्थशास्त्र—इन सब के विषय में, मैं अपने पिछले पत्रों

में तुमको कुछ-न-कुछ लिख चुका हूँ। हमारे सौभाग्य से आज से बाईस सौ वर्ष पहले के भारत का हाल इस पुस्तक से हमें मालूम हो जाता है।

विगतकाल का सिंहावलोकन हम कर चुके, और अगले पत्र में मौर्य्य-साम्राज्य और अशोक का हाल लिखते हुए आगे बढ़ चलेंगे।

यह ठीक है कि १४ महीने से अधिक हुए, जनवरी २५, १६३१ के दिन मैंने नैनी-जेल से यही करने का वादा किया था। उस वादे को मुझे अभी पूरा करना है।

(२४)

देवताओं का स्नेहभाजन अशोक

मार्च ३०, १९३२

मुझे आशंका है कि राजा-महाराजाओं की निंदा करना मुझे आवश्यकता से कुछ अधिक भाता है। उनमें बहुत कम ऐसे गुण मुझे दिखाई देते हैं, जिनके कारण मैं उनकी प्रशंसा करूँ या उनके प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा हो। लेकिन अब मैं एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख करने जा रहा हूँ, जो राजाधिराज होते हुए भी महागुणशाली और श्रद्धास्पद था। वह चंद्रगुप्त मौर्य्य का पौत्र, अशोक, था। अपनी 'इतिहास की रूप-रेखा'-नामक पुस्तक में उसके संबंध में लिखते हुए, एच्. जी. वेल्स ने (जिसके कुछ उपन्यास तुमने पढ़े होंगे) कहा है—

"संसार के रंग-मंच को खचा-खच भरनेवाले हजारों, लाखों नरपतियों, राज-राजाओं, अमीर-उमराओं और सरदार-नवाबों की नामावलियों के जमघट में केवल अशोक ही का नाम चमकता है, और चमकता है प्रायः एकाकी; मानो, कोई नक्षत्र चमकता हो। वोल्गा के तट से जापान तक लोग उसके नाम का आज भी आदर करते हैं। चीन, तिब्बत और भारत से यद्यपि उसके सिद्धांत उठ गए, परंतु उन देशों ने उसकी महत्ता की अनुश्रुति को सुरक्षित रक्खा है। कानस्टैंटाइन और शार्लमेन की अपेक्षा उसके नाम को कहीं अधिक प्राणी संमान के साथ आज दिन भी लेते हैं।"

यह वास्तव में उच्च कोटि की प्रशंसा है। लेकिन अशोक इसका अधिकारी है। भारतीय इतिहास के इस युग का ध्यान एक भारतीय के लिए विशेष रूप से सुखदायी है।

ईसवी संवत् के आरंभ से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व चंद्रगुप्त की मृत्यु हुई। इसके बाद उसका लड़का, बिंदुसार, गद्दी पर बैठा। उसने २५ साल तक शांतिमय शासन किया और ग्रीक जगत् से संपर्क स्थापित रक्खा। उसकी राजसभा में मिस्र के टालेमी और पश्चिमी एशिया के सैल्यूकस के पुत्र, ऐंटिओकस, के राजदूत रहते थे। विदेशों के साथ व्यापार होता था, और ऐसा कहा जाता है कि मिस्रवाले भारत के नील से अपना कपड़ा रँगा करते थे। यह भी कहा जाता है कि वे अपने मृतकों के शवों को भारतीय मलमल में लपेटते थे। बिहार में कुछ ऐसे भग्नावशेष मिले हैं, जिनसे यह अनुमान होता है कि मौर्य्य-युग से भी पहले वहाँ पर एक प्रकार का शीशा बनाया जाता था। तुम्हें यह बात रोचक मालूम होगी कि मैगेस्थनीज ने, जो चंद्रगुप्त के दरबार में एलची होकर आया था, लिखा है कि भारतीयों को सुंदर वस्तुओं और उत्तम परिधानों से बड़ा प्रेम था। उसने इस बात का विशेष रूप से वर्णन किया है कि अपनी लंबाई को बढ़ाने के लिए लोग जूते पहना करते थे! इससे तो यही सिद्ध होता है कि ऊँची एड़ी के जूतों का चलन एकदम आधुनिक नहीं है।

बिंदुसार की मृत्यु होने पर अशोक २६८ ई० पू० में उस विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जिसके अंतर्गत उत्तरीय और मध्य-भारत था और जो मध्य-एशिया तक फैला हुआ

था। भारत के दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी भागों को अपने राज्य में मिलाने की नीयत से, उसने अपने शासन-काल के नवें वर्ष में कलिंग को जीतने के लिए चढ़ाई का। महानदी, गोदावरी तथा कृष्णा नदियों से घिरा हुआ कलिंग का राज्य भारत के पूर्वीय तट पर स्थित था। कलिंग-वाले बड़ी वीरता से लड़े; लेकिन भयानक मार-काट के बाद उन्हें हार माननी पड़ी। इस युद्ध और इस नर-हत्या का अशोक पर बहुत असर पड़ा। लड़ाई और उसके कृत्यों से उसको घृणा हो गई। इसके बाद से उसने युद्ध से दूर ही रहने का संकल्प कर लिया। दक्षिण के एक छोटे-से टुकड़े को छोड़कर शेष सब भारत उसके अधीन था। उसके लिए इस छोटे-से टुकड़े को जीत लेना सरल था। तो भी उसने अपना हाथ रोक लिया। एच्. जी. वैल्स के कथनानुसार, अशोक ही एक ऐसा युद्धप्रवृत्त—जंगी—सम्राट् हुआ है, जिसने विजय के बाद भी युद्ध का परित्याग किया हो। हमारे लिए यह सौभाग्य की बात है कि हमें अशोक ही की शब्दावली उपलब्ध है, जिसमें उसने अपने भावों और कृत्यों का उल्लेख किया है। हमें बहुत-से अभिलेखों * में, जो चट्टानों या ताम्र-पत्र पर खोदे गए थे, प्रजा या भावी जगत् के लिए उसके संदेश मिलते हैं। तुम्हें मालूम है कि प्रयाग के क़िले में एक ऐसा ही अशोक का स्तंभ है। हमारे सूबे में ऐसे और भी अनेक अभिलेख मिलते हैं।

इन राजविज्ञप्तियों में अशोक ने हमें युद्ध और विजय के कारण होनेवाली हत्या के प्रति अपने शोक-संताप को बताया है। उसका कहना है कि धर्म्म से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजयी होना ही असली धर्म्म है। लेकिन मैं तुम्हारे लिए इन राजविज्ञप्तियों से कुछ अवतरण दूँगा। उन्हें पढ़ते-पढ़ते हम मुग्ध हो जाते हैं, और उनकी बदौलत अशोक तुम्हारे बहुत ही समीप आ जाएँगे।

एक अभिलेख में लिखा है, "कलिंग को देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने अपने अभिषेक के आठवें वर्ष के बाद जीता। एक लाख और पचास हजार मनुष्य बंदी बनाकर वहाँ से लाए गए, एक लाख मारे गए, और इनसे कई गुनी अधिक संख्या में आदमी मरे।"

"कलिंग को साम्राज्य में मिलाने के बाद ही से देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा धर्म्माचरण के प्रक्रम, धर्म्म में निष्ठा और धर्म्म के प्रचार में प्रवृत्त हुआ। इस प्रकार कलिंगों को जीतने का अनुशोचन देवताओं के प्यारे राजा को हुआ; क्योंकि अपराजित देश के पराजय में लोगों का वध, मरण और देश-निर्वासन निहित हैं। इसके कारण देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी को दुःख और अनुताप होता है।"†

आगे चलकर राजविज्ञप्ति में यह कहा है कि कलिंग में जितने आदमी मारे या बंदी बनाए गए, उनके शतांश या सहस्रांश भी यदि अब मारे या बंदी बनाए जाएँ तो अशोक को असह्य दुःख होगा।

"यदि कोई अपकार करता है, तो देवताओं का प्यारा उसे भी क्षमा कर देगा, जहाँ तक उसे क्षमा करना संभव होगा। जो अटवियाँ (जंगली जातियाँ) देवताओं के प्यारे के विजित (साम्राज्य) में हैं, उनको भी देवताओं का प्यारा

* इन अभिलेखों को अशोक ने 'धम्मलिपि' कहा है।

† अशोक का प्रधान शिलालेख नं० ६।

कृपा-दृष्टि से देखता है, उनसे भी अनुनय करता है कि वे धर्म्माचरण करें; क्योंकि यदि वह ऐसा न करें तो देवताओं के प्रियपात्र को अनुताप होगा। देवताओं का प्यारा सब जीवों की अक्षति, संयम, समचर्य्या और प्रसन्नता चाहता है।"*

अशोक ने अपने उद्देश की व्याख्या करते हुए कहा है कि धर्म्म से मनुष्य-हृदयों के ऊपर विजय पाना ही सच्ची विजय है; और उसने हमें बताया है कि उसे इस प्रकार की सच्ची विजय न सिर्फ़ अपने ही साम्राज्य में, किंतु दूर-दूर के राज्यों में भी, प्राप्त हुई।

जिस धर्म्म का इन राजविज्ञप्तियों में बारंबार उल्लेख मिलता है, वह बुद्ध का धर्म्म था। अशोक बौद्ध धर्म्म का उत्साही अनुयायी हो गया था। उसने इस धर्म्म को फैलाने की भरसक चेष्टा की। लेकिन इस चेष्टा में बल या दबाव का नामोनिशान भी न था। लोगों के हृदयों को जीतकर वह उन्हें अपने मत का अनुयायी बनाना चाहता था। कम, बहुत ही कम, धार्मिक पुरुष अशोक के समान उदारचेता और क्षमाशील हुए हैं। लोगों को अपना अनुयायी बनाने के लिए ऐसे धार्मिक पुरुष बल, आतंक और कपट के प्रयोग से बहुत ही कम हिचके हैं। सारा इतिहास धार्मिक युद्धों और धार्मिक अत्याचारों के उदाहरणों से भरा पड़ा है। किसी दूसरी बात की अपेक्षा, धर्म्म और ईश्वर के नाम पर कहीं अधिक रक्त बहाया गया है। अतएव इस बात को याद रखना हितकर होगा कि भारत के एक सपूत ने, जो बड़ा धार्मिक पुरुष और शक्तिशाली साम्राज्य का अधिपति था, लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए किन साधनों का प्रयोग किया। यह एक विचित्र बात मालूम होती है कि कुछ ऐसे लोग हैं, जो यह सोचने-समझने की मूर्खता करते हैं कि धर्म्म और विश्वास तलवार या किरच की नोक से लोगों के गले के नीचे उतारे जा सकते हैं।

अतएव, देवताओं के प्यारे या, राजविज्ञप्तियों के अनुसार, 'देवानाम् प्रिय' अशोक ने पश्चिमी एशिया, अफ़्रीका और योरप के राज्यों में अपने राजदूत भेजे। तुम्हें याद होगा कि उसने अपने भाई महेंद्र और अपनी बहन संघमित्रा को लंका भेजा था। यह कहा जाता है कि ये दोनों गया के बोधिवृक्ष की एक शाखा अपने साथ लंका ले गए थे। अनुरुद्धपुर के मंदिर में—क्या तुम्हें याद है—हम लोगों ने बोधिवृक्ष देखा था? हमें वहाँ के लोगों ने यह बताया था कि यही उस प्राचीन शाखा से उत्पन्न पेड़ है।

भारत में बौद्धमत जोरों से फैल गया। लेकिन अशोक की दृष्टि में कोरे मंत्र-जप और पूजा-पाठ का नाम धर्म्म न था, बल्कि उसके लिए धर्म्म का अर्थ था लोक-सेवा और उत्तम कर्म्मों का करना। इसलिए देश भर में उद्यान, औषधालय, कूप-तड़ाग और राज-पथों का निर्माण होने लगा। स्त्रियों की शिक्षा का विशेष प्रबंध था। चार नगरों में विशाल विश्वविद्यालय थे—सुदूर उत्तर में पेशावर के पास तक्षशिला; मथुरा, जिसे अँगरेज़ भद्दे ढंग से अब मटरा लिखते हैं; मध्य-भारत में उज्जैन; और बिहार में पटने के समीप नालंद। यहाँ न केवल भारत से किंतु चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के दूर-दूर देशों से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे।

---

* अशोक का प्रधान शिलाभिलेख नं० १३।

ये ही विद्यार्थी लौटकर अपने-अपने घरों में बुद्ध के उपदेशों का संदेश पहुँचाते थे। देश में चारों ओर बड़े-बड़े मठ स्थापित हो गए। वे विहार कहलाते थे। पाटलिपुत्र या पटने के आस-पास इतने अधिक विहार थे कि प्रांत-का-प्रांत ही विहार या—आजकल की बोली में—बिहार के नाम से प्रसिद्ध हो गया। लेकिन, जैसा प्राय: होता आया है, इन विहारों से शिक्षण और तत्त्वज्ञान की स्फूर्ति थोड़े ही दिनों में विलुप्त हो गई। वे तो केवल ऐसे स्थान बन गए, जहाँ लोग पूजा-पाठ और चर्या-विशेष की लकीर पीटा करते थे।

जीव-रक्षा की अशोक को इतनी तीव्र उत्कंठा थी कि वह जानवरों की भी पीड़ा को देखकर द्रवित हो जाता था। जानवरों के लिए विशेष रूप से चिकित्सालय खोले गए थे। जानवरों के बलिदान का निषेध था। इन दोनों ही बातों में वह हमारे समय से भी थोड़ा-बहुत आगे बढ़ गया था। आज दिन भी, दुर्भाग्य से, पशु-बलि किसी-न-किसी मात्रा में होती और धर्म्म का प्रमुख अंश मानी जाती है; और जानवरों की चिकित्सा का भी बहुत ही थोड़ा प्रबंध है।

अशोक के उदाहरण और बौद्धमत के प्रचार ने निरामिष भोजन को लोक-प्रिय बना दिया। उसके पहले ब्राह्मण और क्षत्रिय साधारणतया मांस खाते और शराब पीते थे। मांसाहार और मद्यपान दोनों ही अशोक के समय में बहुत घट गए।

इस तरह अशोक ने ३८ वर्ष तक शासन किया। शांतिमय उपायों से लोक-संग्रह की चेष्टा में वह निरंतर लगा रहा। सार्वजनिक कार्य्यों को करने के लिए वह सदा तैयार रहता था। "हर समय और प्रत्येक स्थान पर, चाहे मैं भोजन करता होऊँ या रनिवास में होऊँ, गर्भागार (शयनागार) में रहूँ या मंत्रिगृह में होऊँ, सवारी पर जाता होऊँ या उद्यान में मिलूँ, राजकीय प्रतिवेदकों को चाहिए कि वे निरंतर मुझे प्रजा का कार्य्य बताते रहें।" यदि कहीं पर कोई कठिनाई उठ खड़ी हो तो उसकी सूचना उसे तुरंत मिलनी चाहिए, "चाहे जो समय या स्थान हो"; क्योंकि, जैसा वह कहता है, "सबका हित करना ही मैंने अपना कर्त्तव्य माना है।" *

अशोक का देहावसान २२६ ई० पू० में हुआ। मृत्यु के कुछ पहले वह राजपाट छोड़कर बौद्ध संघ का एक भिक्षु हो गया था।

मौर्य्यकालीन युग के बहुत थोड़े-से भग्नावशेष हमें मिलते हैं। लेकिन जो कुछ मिलते हैं, वे ही भारत में आर्य्य-सभ्यता के प्राचीनतम अवशेष हैं, जो अभी तक खोज में मिले हैं (इस समय हम मोहेन-जो दारो के भग्नावशेषों का उल्लेख नहीं करते)। काशी के पास सारनाथ में तुम मनोहर अशोक-स्तंभ को देख सकती हो, जिसके शिखर पर सिंह बैठे हैं।

अशोक की राजधानी, पाटलिपुत्र, की महानगरी का एक टुकड़ा भी अब नहीं बचा। आज से पंद्रह सौ वर्ष पहले, अथवा अशोक के छ: सौ वर्ष बाद, फ़ाहियान-नामक एक चीनी यात्री इस स्थान को देखने गया था। उस समय वह नगर समुन्नत और समृद्धिशाली अवस्था में था। लेकिन उसके समय में भी अशोक का पत्थरवाला राजमहल नष्ट-भ्रष्ट हो गया

* अशोक का प्रधान शिलालेख नं० ६।

था। सिर्फ उसके भग्नावशेषों ही को देखकर फाहियान बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है कि उसके निर्माता मनुष्य न रहे होंगे।

जो राजप्रासाद बड़े-बड़े पत्थरों से रचा गया था, वह नष्ट हो गया, और आज दिन उसका चिह्न तक नहीं मिलता। लेकिन अशोक की स्मृति एशिया के समस्त महाद्वीप में आज भी जीती-जागती है, और उसके अभिलेख आज भी हमें इस ढंग से अपना संदेश सुनाते हैं कि हम उनको समझ लेते और उनका आदर करते हैं। उन संदेशों से आज भी हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। यह पत्र बहुत बढ़ गया है। इसे पढ़ते-पढ़ते कहीं तुम ऊब न जाओ। इसलिए, अशोक की एक राजविज्ञप्ति से एक उद्धरण देकर मैं अब इसे समाप्त करूँगा—

"इस प्रकरण (कारण) से या उस प्रकरण से सभी पंथ आदरणीय हैं। ऐसा करनेवाला अपने पंथ को ऊँचा उठाता है, साथ ही दूसरे पंथों का भी उपकार करता है।" *

* अशोक का प्रधान शिलाभिलेख नं० १२।
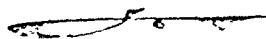
परिशिष्ट (अ)

देहरादून-जेल से अंतिम पत्र

हम समाप्त कर चुके, प्यारी बेटी ! लंबी कहानी का अंत हो गया । मुझे अधिक लिखने की जरूरत नहीं है; लेकिन शान के साथ —धूम-धड़ाके के साथ—समाप्त करने की अभिलाषा मुझे एक और पत्र—यही अंतिम पत्र—लिखने के लिए प्रोत्साहित करती है ।

समय आ गया था कि मैं लिखने को समाप्त कर देता; क्योंकि दो साल की मेरी अवधि का अंत भी बहुत समीप आ गया है । आज से तीन और तीस दिन बाद मुझे रिहा हो जाना चाहिए, यदि इसके पहले ही, जैसा जेलर समय-समय पर धमकाया करते हैं, मैं रिहा न कर दिया गया । पूरे दो साल अभी बिलकुल समाप्त नहीं हुए; लेकिन मुझे साढ़े तीन महीने की छूट मिली है, जैसे सभी नेकचलन क़ैदियों को मिला करती है । मैं भी एक नेकचलन क़ैदी समझा जाता हूँ, यद्यपि इस नेकनामी को कमाने की मैंने कुछ भी कोशिश नहीं की । इस तरह मेरी छठी सजा का खातमा है, और मैं निकलकर एक बार फिर सुविस्तृत संसार में विचरूँगा । लेकिन किस अभिप्राय से ? इससे क्या लाभ, जब बहुत-से मेरे दोस्त क़ैदखानों में सड़ रहे हैं, और सारा देश एक बहुत बड़ा जेलखाना-सा मालूम होता है ?

मैंने जो पत्र लिखे हैं, उनका एक खासा पहाड़-सा बन गया है । मैंने स्वदेशी काग़ज़ पर न जाने कितनी अधिक मात्रा में सुंदर स्वदेशा स्याही रँगी है । मैं कभी-कभी विस्मय के साथ सोचता हूँ कि क्या यह सब करना लाभदायक था ? क्या यह सब काग़ज़ और स्याही तुम तक कोई ऐसा संदेश पहुँचाएगी, जिससे तुम्हें कुछ दिलचस्पी हो ? निस्संदेह तुम कहोगी, हाँ; क्योंकि तुम सोचोगी कि और किसी जवाब से मुझे चोट लगेगी, और तुम मुझे इतना अधिक प्यार करती हो कि तुमको इस तरह की जोखिम उठाना न रुचेगा । तुम इन पत्रों की परवा करो या न करो, लेकिन इनके लिखने में मुझे जो आनंद मिला है, उससे वंचित करने की इच्छा तुम्हें कदापि नहीं हो सकती । पिछले दो लंबे-लंबे सालों में मैं इन पत्रों को प्रतिदिन तुम्हारे लिए लिखता रहा । तब जाड़ा था, जब मैं यहाँ आया था । जाड़े का स्थान हमारे अल्पकालिक वसन्त ने लिया; लेकिन गर्मी की उष्णता ने जल्द ही उसका संहार कर डाला; और जब पृथ्वी सूखकर कड़कने लगी और आदमी तथा मवेशी हवा के लिए छटपटा रहे थे, तब बरसात आ पहुँची और मेह का ताज़ा और शीतल जल चारों ओर अच्छी तरह फैल गया । वर्षा-ऋतु के बाद शरद्-ऋतु आई; आकाश अद्भुत रूप से स्वच्छ और नीलिमा-रञ्जित हो गया; और दोपहर के बाद का समय बहुत ही सुहावना मालूम होने लगा । एक संवत्सर का क्रम समाप्त हुआ, और फिर वही क्रम चल पड़ा—जाड़ा, गरमी, बरसात और वसन्त । यहाँ बैठा-बैठा मैं तुम्हें लिखा, तुम्हारी बाबत सोचा, ऋतुओं की गति को देखा, और अपनी बैरक की छत पर वर्षा के पटपट की ध्वनि को सुना करता हूँ—

"सुमधुर ! वर्षा-संगीत मधुर !
बरसीं बूँदें कर मधुमय स्वर
झर अम्बर से छर-छर, झर-झर
गिर भूतल पर, गिर भवनों पर !
खिल उठा श्रमित चिर-चिन्तित उर !
सुमधुर ! वर्षा-संगीत मधुर !!"*

बैनजमिन डिज़रैली ने, जो उन्नीसवीं सदी का एक बड़ा अँगरेज़ राजनीतिज्ञ था, लिखा है कि "दूसरे आदमी निर्वासन और कारागार से दण्डित होने पर, यदि वे बच गए, हताश हो जाते हैं। साहित्यसेवी उन दिनों को अपने जीवन की सबसे मधुर तिथियों में गिनेगा।" उसने ह्यूगो ग्रोटियस के संबंध में यह बात लिखी है,जो सत्रहवीं शताब्दि में हालैंड का एक प्रसिद्ध दार्शनिक और विधान-शास्त्र का वेत्ता था। उसे आजन्म कारावास की सज़ा हुई थी; लेकिन दो साल की सज़ा काटने के बाद वह क़ैद से निकल भागा। उसने क़ैद के दो साल दार्शनिक और साहित्यिक काम में लगाए थे। बहुत-से प्रसिद्ध साहित्यकार क़ैदखानों में रह चुके हैं, जिनमें से सबसे अधिक ख्यातनामा दो हैं—एक तो स्पेन का सरवेंटीज़, जिसने "डान क्वीज़ो" लिखा है; और दूसरा एक अँगरेज़, जान बैनियन, जो "पिलग्रिम्स प्रोग्रेस" का रचयिता है।

मैं कोई साहित्यकार नहीं; और न मैं यही कहने के लिए तैयार हूँ कि वे कई वर्ष, जो मैंने जेल में बिताए, मेरे जीवन में सबसे अधिक मधुर थे। लेकिन यह मैं निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि पढ़ने-लिखने ने उनको काटने में मुझे अत्यधिक सहायता पहुँचाई। मैं साहित्यकार नहीं, और न इतिहासकार ही हूँ। फिर वास्तव में हूँ क्या ? इस प्रश्न का उत्तर देना मुझे कठिन मालूम होता है। मैंने बहुत-से कामों में टाँग अड़ाई है। मैंने कालेज में विज्ञान से आरंभ कर क़ानून को अपनाया, और जीवन की बहुतेरी बातों में दिलचस्पी लेने के बाद, अंत में, जेल जाने के पेशे को अख़्तियार किया, जो आजकल हिंदोस्तान में लोकप्रिय हो रहा है और जिसे बहुत-से लोग अपनाते हैं !

मैंने इन पत्रों में जो कुछ लिखा है, उसे किसी भी विषय के संबंध में तुम्हें अंतिम प्रमाण न मान लेना चाहिए। राजनीतिज्ञ प्रत्येक विषय पर रायज़नी करना चाहता है,और उसे जितना ज्ञान होता है, उससे अधिक ज्ञान का वह सदा ढोंग भी रचा करता है। बहुत होशियारी के साथ उस पर नज़र रखना चाहिए। मेरे ये पत्र महज़ छिछले चित्रण हैं, जो बहुत ही पतले धागे से एक में बँधे हैं। मैं विचरता-विचरता आगे बढ़ता गया। सदियों को एक-एक छलाँग में पार करता और बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाओं को छोड़ता हुआ मैं बढ़ गया हूँ। जिस घटना ने मुझे आकृष्ट किया; उसके समीप, अपना तंबू गाड़, मैं कभी-कभी काफ़ी देर तक रम भी गया हूँ। जैसा तुम देखोगी, मेरे राग-द्वेष काफ़ी स्पष्ट हैं, और इसी तरह जेल की मेरी मानसिक तरंगें भी साफ़ तौर से

* मूल में फ्रेंच पद हैं, जिनका ऊपर भावानुवाद किया गया है। इस लेख के उद्धृत पदों का अनुवाद श्री 'नरेन्द्र' जी ने किया है—संपादक

दिखाई देती हैं। मैं यह नहीं चाहता कि तुम इन सबको जैसे का तैसा ही मान लो। मुझमें बहुत-से दोष भी निकलेंगे। एक जेल—जहाँ न तो पुस्तकालय है और न विश्वकोष के समान ग्रन्थ प्राप्य हैं—ऐतिहासिक विषयों पर लिखने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त स्थान नहीं हो सकता। मैंने बहुत कुछ सहारा उन बहुत-सी नोटबुकों का लिया है, जिनको मैंने उस समय से जमा करना शुरू किया, जब १२ वर्ष हुए मेरी जेलयात्रा का श्रीगणेश हुआ। यहाँ पर मेरे पास बहुत-सी किताबें भी आईं। वे आईं और चली गईं; क्योंकि मैं यहाँ पर एक पुस्तकालय का संग्रह तो कर नहीं सकता था। मैंने निर्लज्जता के साथ उन किताबों से भाव और घटनाएँ हड़प ली हैं। मैंने जो कुछ लिखा है, उसमें कोई नवीन बात नहीं है। शायद, तुम्हें मेरे पत्रों को समझने में कभी-कभी कठिनाई हो। उन हिस्सों को छोड़ जाना। उनकी परवा न करना। मेरे व्यक्तित्व के उस अंश ने, जो सिनरसीदा है, कभी-कभी मुझे अपने वश में कर लिया, और मैं इस तरह लिख गया, जिस तरह मुझे न लिखना था।

मैंने तुम्हें महज़ खाका दिया है। यह इतिहास नहीं है। जो कुछ है, वह है हमारे सुदीर्घ भूत-काल की केवल एक क्षणिक झलक। यदि इतिहास में तुम्हारी अभिरुचि है, यदि तुम इतिहास की मोहकता का कुछ अंश में भी अनुभव करती हो, तो तुम्हें आसानी से उन किताबों तक पहुँचने का मार्ग मिल जायगा, जिनसे भूतकालिक युगों के उलझे हुए सूत्रों के सुलझाने में तुम्हें बहुत कुछ सहायता मिलेगी। लेकिन महज़ किताबों के पढ़ने ही से मदद नहीं मिलेगी। यदि तुम भूत-काल को जानना चाहती हो तो सहानुभूति के साथ और विचार-पूर्वक तुम्हें उसका मनन करना चाहिए। जो आदमी बहुत पहले जीवित था, उसको समझने के लिए तुम्हें उसके वातावरण को समझना होगा। जिन परिस्थितियों के भीतर उसने अपना जीवन बिताया, और जिन विचारों से उसका मस्तिष्क भरा था, उनको भी समझना तुम्हारा धर्म्म है। यह सरासर भूल होगी यदि हम भूतकाल के मनुष्यों के विषय में अपनी संमति यह समझकर क़ायम करें कि मानो, वे आज दिन जीवित और हमारी ही तरह सोचते-विचारते हैं। आज दास-प्रथा का समर्थन करनेवाला एक भी आदमी न मिलेगा। लेकिन इस पर भी श्रद्धास्पद प्लेटो की यह संमति थी कि दासता आवश्यक है। थोड़े दिन हुए, लाखों आदमियों ने इसलिए जानें दे दी थीं कि संयुक्तराज्य (अमरीका) में गुलामी जारी रहे। हम वर्तमान की कसौटी पर भूतकाल को नहीं कस सकते। इस बात को तो सब लोग सहर्ष स्वीकार कर लेंगे। लेकिन सब लोग इस दूसरी बात को उसी तरह मानने को न तैयार होंगे कि वर्तमान को भी भूतकाल की कसौटी पर कसना ठीक नहीं है। बहुत-से मत-मतान्तरों ने ऐसे परंपरागत विश्वासों और रीति-नीतियों को सड़ने-गलने से बचाने में विशेष सहायता पहुँचाई है, जो अपने जन्म के युग और देश में सम्भवतः कुछ उपयोगी रही हों, लेकिन आज-कल के जमाने के लिए नितांत ही अनुपयुक्त हैं।

तो फिर यदि तुम भूतकालिक इतिहास को सहानुभूति की दृष्टि से देखोगी तो रूखी-सूखी हड्डियाँ मांस और रक्त से भर आएँगी; और जीते-जागते, हमसे भिन्न, और बहुत कुछ हमारे ही समान मानव गुण-दोषों से युक्त, नर-नारी और बच्चों का एक बड़ा भारी जलूस, प्रत्येक युग और देश-देशान्तर से, आता हुआ तुम्हें दिखाई देगा। इतिहास जादू का खेल

नहीं है; लेकिन देखने को जिनके आँखें हैं उनके लिए उसमें भरपूर मात्रा में जादू मौजूद है।

इतिहास की चित्रशाला से असंख्य चित्रपटों का हमारे मन में जमघट लग जाता है—मिस्र, वैबिलोनिया, निनेवा और प्राचीन भारत की सभ्यताएँ; हिंदोस्तान में आर्यों का आगमन; योरप और एशिया में उनका प्रसार; चीनी संस्कृति का आश्चर्यजनक विवरण; नोसास और ग्रीस; साम्राज्यवादी रोम और बिज़ैंटियम; दो महाद्वीपों के एक कोने से दूसरे कोने तक अरबों का विजयकारी पद-विक्षेप; भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान और उसका ह्रास; मंगोलों की विस्तृत विजय; योरप में मध्यकालीन युग और उसके चमत्कारी गाथिक गिरजे; भारत में इस्लाम का पदार्पण और मुग़ल-साम्राज्य; पश्चिमी योरप में विद्या और कला का पुनः प्रसार; अमरीका और पूर्व के समुद्री मार्गों का अन्वेषण; बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रचलन और पूँजी-पंथ का विकास; व्यवसायवाद और योरप के आधिपत्य तथा साम्राज्यवाद का विस्तार; और आधुनिक संसार में विज्ञान के चमत्कार।

बड़े-बड़े साम्राज्य उठे और गिरे; पर मनुष्य को उनकी सुध हज़ारों साल से लेकर उस समय तक फिर न आई, जब तक सहिष्णु खोजियों ने बालू के नीचे से उनके खँडहरों को खोद न निकाला। लेकिन बहुत-से भाव, बहुत-सी कल्पनाएँ इस पर भी जीती-जागती बनी रहीं। वे साम्राज्यों की अपेक्षा अधिक बलशालिनी और चिरस्थायिनी सिद्ध हुईं।

अब कहाँ मिस्र के शक्ति-साज ?

चिन्तन के गहरे गर्त्तों में हैं लीन सकल ऐश्वर्य आज ?
हैं कहाँ आज अवनीतल पर यूनान और वह ट्राय-नगर ?
वेनिस का गर्व कहाँ भू पर ? है कहाँ रोम का ताज आज ?
उनके शिशुओं के स्वर्ण-स्वप्न—जीवित हैं, बस, वे स्वप्न आज !
थे वृथा, थिरकते-से सपने धुँधले, छायामय, छाया-से
चल वात-सदृश चलते-फिरते, पर जीवित हैं वे स्वप्न आज !
चिन्तन के गहरे गर्त्तों में जब लीन सकल ऐश्वर्य साज !

इस प्रकार मेरी कालरिज ने गाया है।

भूतकाल हमारे लिए बहुत-से उपहार लाता है। संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान या सत्य के कुछ पहलुओं का जो कुछ भी ज्ञान आज दिन हमें प्राप्त है, वह सब वास्तव में हमें अतीत या निकट भूतकाल की देन है। यह ठीक है कि हमें भूतकाल के प्रति अपनी कृतज्ञता स्वीकार करनी चाहिए। लेकिन भूतकाल ही तक हमारे कर्तव्य या हमारी कृतज्ञता का अंत नहीं हो जाता। भविष्य के प्रति भी हमारा कर्तव्य है; और यह कर्तव्य भूतकाल के प्रति हमारे कर्तव्य से कहीं बढ़-चढ़कर है। कारण, जो होना था वह हो चुका, और उसका खातमा हो गया। हम उसे बदल नहीं सकते। भविष्य को तो अभी आना है, और हम कदाचित् उसको किसी अंश तक सुधार-संवार सकें। यदि भूतकाल ने हमें सत्य का कुछ अंश दिया है, तो भविष्य ने भी सत्य का बहुत बड़ा अंश छिपा रक्खा है, और उस अंश को खोज निकालने के लिए वह हमें आमंत्रित करता है। लेकिन

भूत भविष्य से प्रायः ईर्ष्या करता और अपने भीषण चंगुल में पकड़कर हमें क़ैद किए रहता है। हमें उसके साथ लड़ना पड़ता है, ताकि मुक्त होकर हम भविष्य की ओर बढ़ते चले चलें।

कहा जाता है कि हमको पढ़ाने के लिए, इतिहास के पास बहुत-से पाठ हैं। एक दूसरी भी कहावत है कि इतिहास अपने को कभी दोहराता नहीं। दोनों ही ठीक हैं; क्योंकि आँख बन्दकर उसकी नक़ल करने से, या यह आशा करने से कि वह अपने को दोहराए या उसका प्रवाह बन्द हो जाय, हम कुछ नहीं सीख सकते। लेकिन यदि हम उसके पीछे झाँककर देखें और उसको सञ्चालित करनेवाली शक्तियों को खोजने की चेष्टा करें तो उससे हम कुछ-न-कुछ अवश्य सीख सकते हैं। इतना करने पर भी हमें शायद ही कभी सीधा-सादा उत्तर मिलता है। कार्ल मार्क्स कहता है कि "इतिहास पुराने सवालों का इस उत्तर के अतिरिक्त और कोई उत्तर नहीं देता कि वह नए सवाल उपस्थित करे। पुराना ज़माना श्रद्धा—अन्धी, निश्शंक श्रद्धा—का ज़माना था। गत सदियों के विस्मयकारी मन्दिर, मस्जिदें और गिरजे कदापि न बनते, यदि उनके शिल्पियों, बनानेवालों और जन-साधारण में दुर्जेय श्रद्धा न होती। जिन पत्थरों को उन्होंने श्रद्धा के साथ एक के ऊपर एक को रक्खा, या जिनपर उन्होंने सुन्दर-सुन्दर चित्रकारी अङ्कित की, उन्हीं पत्थरों से हमें उनके निर्माताओं की इस अजेय भक्ति का पता चलता है। मंदिरों के स्तूप, मस्जिदों की सुकुमार मीनारें, गाथिक गिरजाघर—ये सब भक्ति की विस्मयोत्पादिनी गंभीरता से ऊपर की ओर इशारा करते हैं; मानो, पत्थर या संगमरमर ऊपर के आकाश की वंदना कर रहे हों। वे आज दिन भी हमें पुलकित कर देते हैं; यद्यपि जिस प्राचीन श्रद्धा को वे मूर्त करते हैं, उसका हममें अभाव है। लेकिन अब उस श्रद्धा के दिन चले गए, और उन्हीं के साथ पत्थर का मोहक स्पर्श भी जाता रहा। हज़ारों मन्दिर, मस्जिदें और गिरजाघर निरंतर निर्मित होते हैं; लेकिन उनमें उस आत्मा का अभाव है, जो उन्हें मध्यकालीन युग में सजीव करता था। उनमें और आज-कल की व्यापारी इमारतों में—जो हमारे युग की प्रतिनिधि हैं—कुछ भी अंतर नहीं रह गया।

हमारा युग एक भिन्न युग है। यह अविश्वास, संकल्प-विकल्प और संशय का युग है। प्राचीन विश्वासों में से बहुतों को हम अब मान नहीं सकते। क्या एशिया में, क्या योरप या अमेरिका में, उन पर हमारी कुछ भी निष्ठा नहीं रह गई—अतएव, नए तरीक़ों को, शक्ति के उन नवीन पहलुओं को, जो हमारी परिस्थिति के अधिक अनुकूल हैं, हम खोजते हैं। हम एक दूसरे से सवाल पूछते, बहस करते और तरह-तरह के वाद और दर्शनों को गढ़ते हैं। जैसे सुकरात के ज़माने में, वैसे ही आज दिन भी हम शंका के युग में रह रहे हैं। लेकिन हमारी शंका एथेंस के-से नगर ही तक सीमित नहीं है, वह जगद्व्यापिनी है।

जब संसार का अन्याय, दुःख-दैन्य, क्रूरता कभी-कभी हमें सताने लगती हैं, तब हमारी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है, और उनसे छुटकारा पाने का कोई मार्ग हमें नहीं सुझाई देता। मैथ्यू आरनाल्ड के साथ हम भी अनुभव करने लगते हैं कि इस संसार में कोई आशा नहीं है; और जो कुछ भी हम कर सकते हैं, वह केवल इतना ही है कि एक दूसरे के प्रति हमारा व्यवहार सच्चा हो—

"विविध रम्य नूतन स्वप्नों से सज्जित है आशा का लोक !—
किन्तु कहाँ सुख-स्नेह स्वप्न में कहाँ अचल विश्वास ? ज्योति दृढ़ ?
कहाँ शान्ति वह, स्वप्नदेश में—हर ले जो उर-उर का शोक ?
विविध रम्य नूतन स्वप्नों से सज्जित है यद्यपि वह लोक !
हम सब हैं तम-लीन क्षेत्र में—अनियंत्रित-से युद्ध-नाद में,
युद्ध-निरत हैं यहाँ सैन्य-दल निशि में, तम में, बिन आलोक !
विविध रम्य नूतन स्वप्नों से सजित है यद्यपि वह लोक !"

और इतने पर भी यदि हम निराशामूलक दृष्टिकोण का आश्रय लें तो यह समझना चाहिए कि हमने न तो जीवन के और न इतिहास के पाठ को ठीक-ठीक पढ़ पाया; क्योंकि इतिहास ही तो विकास, प्रगति और मनुष्य के लिए अनन्त उन्नति की सम्भावनाओं का पाठ हमें पढ़ाता है। जीवन समृद्धिशाली और बहुरूपधारी है। यदि उसमें दलदल, कीचड़ और सीलन है तो बड़े-बड़े समुद्र, पहाड़, हिम, ग्लेसियर, तारागणों से जगमगाती, चमत्कारिणी रजनी (विशेषकर जेलखाने में), परिवार और मित्रों का स्नेह, समान सङ्कल्प की सिद्धि में लगे हुए कार्य्यकर्ताओं की सहकारिता भी तो हैं। और हैं संगीत-पुस्तकें और भावों के साम्राज्य। इस तरह हममें से हर एक यह पद कह सकता है—"प्रभो ! यद्यपि मैं पृथ्वी में था और पृथ्वी का था; परंतु मेरा पालन-पोषण तो तारकरंजित आकाश ने किया।"

विश्व की विभूतियों की प्रशंसा करना और भाव तथा कल्पना के संसार में विचरना आसान है। लेकिन न साहस का और न सहानुभूति का यह लक्षण है कि हम दूसरों के दुःख-दैन्य से दूर भागने की चेष्टा करें, और इसकी कुछ भी चिंता हमें न रहे कि उन लोगों पर क्या बीत रही है। वही भाव सार्थक हैं, जो कर्म्म में परिणत हो जाय। हमारे मित्र रोमें रोलाँ का कहना है कि 'कर्म्म ही भाव का लक्ष्य है; जो भाव कार्य्योन्मुख नहीं है, वे गर्भपात-सम और विश्वास-घातक हैं। अतएव, यदि हम भावों के सेवक हैं तो हमें कर्म्म का अनुचर बनना चाहिए।"

लोग प्रायः कर्म्म से भागते हैं, क्योंकि वे उसके परिणामों से झिझकते हैं। कर्म्म का अर्थ जोखिम और खतरा है। खतरा दूर से भयानक मालूम होता है; लेकिन जब हम उसे पास से देखते हैं, तब वह उतना भयानक नहीं रह जाता। वह प्रायः सुखकारी सहचर है, जो जीवन को अधिक रसमय और आनंदपूर्ण बनाता है। जीवन का साधारण गति-क्रम समय-समय पर नीरस हो जाता है। हम बहुत-सी बातों को जैसे-का-तैसा मानकर स्वीकार कर लेते हैं, और तब उनमें कुछ मजा नहीं रह जाता। लेकिन जीवन की इन्हीं साधारण वस्तुओं के बिना जब हमें कुछ दिन काटने पड़ते हैं, तब उनका मोल हमारी आँखों में अधिक जँचने लगता है। बहुत-से आदमी ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ते हैं; और चढ़ाई के आनंदोच्छ्वास के लिए, जो किसी कठिनता को जीतने या किसी आपत्ति पर विजयी होने पर प्राप्त होता है, अपने जीवन और अपने शरीर को जोखिम में डालते हैं। उस समय उनके चारों ओर

ख़तरा मड़राया करता है, उनकी दृष्टि अधिक पैनी हो जाती है; क्योंकि तब उनके प्राण एक धागे के सहारे लटका करते हैं।

हममें से प्रत्येक को यह आज़ादी है कि चाहें तो हम नीचे की खाड़ियों में रहें, जहाँ रोगोत्पादक पाला और कुहरा है, लेकिन जान की जोखिम कम है; या, चाहें तो जोखिम और ख़तरे को अपना साथी बनाकर पहाड़ों के ऊपर चढ़ जाएँ, ताकि हम ऊपर की विमल वायु का पान करें, दूर-दूर के दृश्यों को देखें और उदय होते हुए सूर्य्य का स्वागत करें।

मैंने इस पत्र में कवियों और दूसरों के बहुत-से उद्धरण और अवतरण दिए हैं। मैं एक और अवतरण से इस पत्र को समाप्त करूँगा। यह गीताञ्जलि से है। यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता है—

चित्त जेथा भयशून्य, उच्च जेथा शिर, ज्ञान जेथा मुक्त, जेथा गृहेर प्राचीर।
आपन प्राङ्गणतले दिवसशर्व्वरी, वसुधारे राखे नाई खण्ड क्षुद्र करि।
जेथा वाक्य हृदयेर उत्समुख ह'ते उच्छ्वसिया उठे, जेथा निर्वारित स्रोते।
देशे-देशे दिशे-दिशे कर्म्म-धारा धाय अजस्र सहस्रविध चरितार्थताय;
जेथा तुच्छ आचारेर मरुवालिराशि विचारेर स्रोतःपथ फेले नाई ग्रासि,
पौरुषेरे करेनि शतधा; नित्य जेथा तुमि सर्व्व कर्म्म चिन्ता आनन्देर नेता,—
निज हस्ते निर्दय आघात करि पितः, भारतेरे सेई स्वर्गे करे जागरित।

समाप्त कर चुका, प्यारी बेटी! और यह अन्तिम पत्र भी ख़त्म हो गया। अन्तिम पत्र! निःसंदेह नहीं! मैं तुम्हें बहुत-से पत्र लिखूँगा, लेकिन इस पत्रमाला का अब अन्त होता है; और, अतएव—

तमाम शुद

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

निवेदन

पिछले अंक की विज्ञप्ति के अनुसार, इस अंक में प्राचीन जगत् का एक नक़शा पाठकों को मिलेगा। ऐसे अनेक स्थानों और व्यक्तियों के नाम 'विश्व-इतिहास की झलक' के पहले और दूसरे अंकों में आए हैं, जो हिंदी के अधिकांश पाठकों के लिए अपरिचित-से हैं। उनकी सुविधा की दृष्टि से, इस अंक के अंत में, परिशिष्ट के रूप में, टिप्पणियाँ दे दी गई हैं। मुझे आशा है कि यदि पाठक इन टिप्पणियों को एक बार पढ़ने का कष्ट उठाएँगे तो विश्व-इतिहास की कहानी उन्हें अधिक रोचक मालूम होगी। टिप्पणियाँ वर्णानुक्रमिक रूप में दी गई हैं।

खेद है कि स्थानाभाव के कारण इस अंक में, पूर्व-प्रतिज्ञा के अनुसार, हम प्रथम और द्वितीय भागों की अनुक्रमणिकाएँ नहीं दे सके। अगले अंक में तीनों ही भागों की अनुक्रमणिकाएँ रहेंगी। पाठक क्षमा करें।

—वेंकटेश नारायण तिवारी

सरमेशिया योरपिया
सरमेशिया एशियाटिका
जरमेनिया
स्पेन
कृष्ण सागर
भूमध्य सागर
मिस्र
अफ्रीका
अरेबिया
पार्थिया
ईरान
भारत
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
बर्मा
श्याम
चीन

(२५)
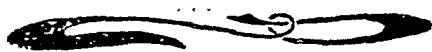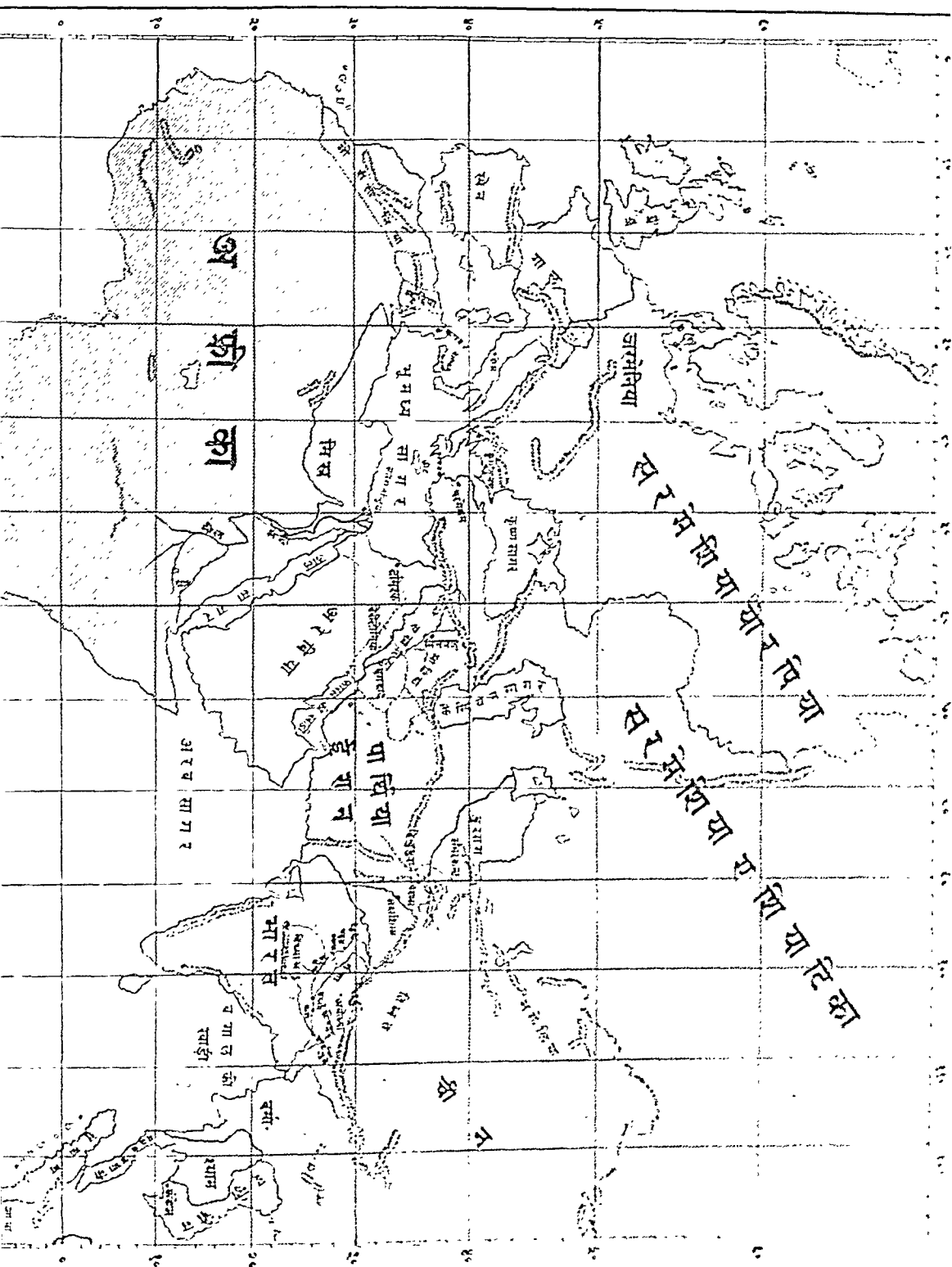
अशोक-कालीन जगत्

मार्च ३१, १९३२

हम देख चुके हैं कि अशोक ने दूर-दूर देशों को राजदूत और बौद्ध प्रचारक भेजे थे। हमने यह भी देखा कि भारत का उन देशों के साथ संसर्ग और व्यापारिक संबंध था। निस्संदेह तुम इस बात को ध्यान में रक्खोगी कि मैं उन दिनों के जिस संसर्ग और व्यापार-संबंध की बात कहता हूँ, वह आजकल की तुलना में कुछ भी नहीं ठहरता। अब तो रेल, जहाज़ और हवाई जहाज़ से माल और यात्रियों का आना-जाना बहुत ही सुगम हो गया है। सुदूर भूतकाल में प्रत्येक यात्रा में बहुत दिन लगते थे, उसमें जोखिम भी बहुत थी। इसलिए साहसिक और बलवान् आदमी ही यात्राएँ किया करते थे। ऐसी दशा में तब और अब के व्यापार में किसी तरह की भी तुलना नहीं हो सकती।

वे कौन-से दूरस्थ देश थे, जिनका अशोक ने उल्लेख किया है? उसके समय में यह दुनिया कैसी थी? मिस्र और भूमध्यसागर के तट को छोड़कर, उन दिनों के अफ्रीका के संबंध में हमें कुछ भी नहीं मालूम। तात्कालिक उत्तरीय, मध्य और पूर्वीय योरप या उत्तरीय और मध्य एशिया के विषय में भी हमारा ज्ञान बहुत ही कम है। उस समय के अमेरिका का भी हाल हम नहीं जानते। लेकिन आज दिन भी ऐसे बहुत-से लोग हैं जिनकी धारणा है कि बहुत प्राचीन काल से अमेरिका महाद्वीप में समुन्नत सभ्यताएँ विद्यमान थीं। कहा जाता है कि ईसा से १५ सौ वर्ष बाद कोलंबस ने अमेरिका को खोज निकाला। लेकिन हम तो जानते हैं कि उस समय भी दक्षिण अमेरिका के पीरू-नामक देश और उसके अड़ोस-पड़ोस में उत्कृष्ट कोटि की सभ्यता वर्तमान थी। अतएव, यह बहुत संभव है कि अमेरिका में सुसभ्य जन-समुदाय

रहा हो; और ईसा से पूर्व तीसरी सदी में, जब भारत में अशोक राज्य करता था, वहाँ पर सुसंगठित समाज मौजूद हो। लेकिन हमें वहाँ का कुछ भी हाल नहीं मालूम। मैंने तो उनका उल्लेख केवल इसलिए किया है कि बहुधा हम लोग यही सोचा करते हैं कि प्राचीन काल में सभ्य जातियाँ सिर्फ़ उन्हीं देशों में रहती थीं, जिनकी बाबत हम पढ़ा-लिखा करते हैं। बहुत दिनों तक योरपवालों की यह धारणा थी कि प्राचीनकाल के इतिहास में केवल ग्रीस, रोम और यहूदियों ही के इतिहासों की गणना है। वे समझते थे कि ये ही ऐसी तीन जातियाँ हैं, जिनकी गणना प्राचीन इतिहास में हो सकती है। उनके विचार से, संसार का बाक़ी हिस्सा अंधकाराच्छादित जंगल था, जिसमें जंगली लोग रहते थे। बाद में जब उनके पंडितों और पुरातत्त्ववेत्ताओं ने चीन, भारत और दूसरे देशों का हाल उन्हें बताया, तब उनको पता चला कि उनका ज्ञान कितना अधूरा और परिमित था। अतएव, हमें सचेत रहना चाहिए। हमें यह न मान लेना चाहिए कि जो कुछ अभी तक हमारी इस दुनिया में हुआ है उस सब का हम अल्पज्ञों को ज्ञान है।

इस समय तो हम इतना ही कहेंगे कि अशोक के समय के—अर्थात् ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी के—प्राचीन सभ्य जगत् में भूमध्यसागर के तटों पर बसे हुए अफ़्रीका और योरप के देशों की और पश्चिमी एशिया, चीन तथा भारत की मुख्यतया गिनती होती थी। संभवतः, पश्चिमी देशों अथवा पश्चिमी एशिया तक से चीन का कोई सीधा संपर्क न था; और चीन या कैथे के विषय में पश्चिम में बिलकुल ऊल-जलूल भावनाएँ फैली हुई थीं। चीन और पश्चिम को मिलानेवाली कड़ी का काम शायद भारत करता था, और यहीं से चीन से पश्चिम को और पश्चिम से चीन को माल, आदि, आता-जाता था।

हम देख चुके हैं कि ऐलैकजेंडर या सिकंदर की मृत्यु के बाद, उसके साम्राज्य को उसके सेनापतियों ने आपस में बाँट लिया था। उसका साम्राज्य तीन मुख्य भागों में विभाजित हुआ (१) सैल्यूकस के आधिपत्य में पश्चिमी एशिया, फ़ारस और इराक़; (२) टालैमी के आधीन मिस्र; और (३) एंटिगोनस के शासन में मैसिडोनिया। पहले दो राज्य बहुत दिनों तक चले। तुम्हें याद होगा कि सैल्यूकस भारत का पड़ोसी था। वह भारत के एक अंश को अपने साम्राज्य में मिलाने के लिए लालायित हुआ। लेकिन चन्द्रगुप्त ने सेर का बदला सवासेर से दिया। उसने सैल्यूकस को भारत से निकाल भगाया, और जो प्रदेश आज अफ़ग़ानिस्तान कहलाता है, उसका भी एक भाग उससे छीन लिया।

इन दो राज्यों की अपेक्षा मैसिडोनिया कम सौभाग्यशाली निकला। उत्तरीय योरप के गाल नामक जातिवालों तथा दूसरों ने बार-बार हमले कर उसे बहुत सताया। परंतु इस राज्य का एक अंश इन गालों के आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सका, और स्वतंत्र बना रहा। एशिया माइनर में जहाँ आज दिन टर्की है, वहाँ पर पैरगैमम-नामक मैसिडोनिया का उपर्युक्त

प्रदेश था। यह एक छोटा-सा ग्रीक राष्ट्र था; लेकिन सौ साल से अधिक अवधि तक वह ग्रीक संस्कृति और कलाओं का केंद्र बना रहा। वहाँ अनेक भव्य-भव्य प्रासाद थे। एक पुस्तकालय और एक अजायबघर भी वहाँ पर था।

मिस्र में टालैमी-राजवंश की राजधानी ऐलैकजेंड्रिया में थी। यह एक महानगर हो गया था, जिसकी प्राचीन जगत् में बड़ी ख्याति थी। एथेंस की गौरव-गरिमा बहुत कुछ घट गई थी। और उसके स्थान में यह नगर धीरे-धीरे ग्रीकों की संस्कृति का केंद्र बन गया। इसके विशाल पुस्तकालय और अजायबघर से आकृष्ट होकर दूर-दूर के देशों से विद्यार्थी यहाँ आते थे। तत्त्वज्ञान, गणित, धर्म्म, आदि, जिन विषयों में प्राचीन जगत् के विद्वानों की विशेष अनुरक्ति थी, उनका अध्ययन विद्यार्थी यहाँ करते थे। जिस युकलिड का नाम तुमने और स्कूल में शिक्षा पानेवाले प्रत्येक लड़के और लड़की ने सुना है, वह इसी ऐलैकजेंड्रिया का निवासी था। वह अशोक का समकालीन था।

टालैमी राजवंश के राजा, जैसा तुम्हें मालूम है, ग्रीक थे। लेकिन उन्होंने बहुत-सी मिस्री रस्म-रिवाजों को अपना लिया था, यहाँ तक कि मिस्र के कुछ प्राचीन देवताओं तक को वे पूजने लगे थे। प्राचीन ग्रीकों के जिन ज्यूपिटर, अपालो तथा दूसरे देवी-देवताओं का होमर के महाकाव्यों में स्थान स्थान पर उसी तरह से उल्लेख है, जैसे महाभारत में वैदिक देवताओं का, उनको टालैमी राजवंश के समय में मिस्र से या तो भाग जाना या नाम और सूरत बदलकर प्रादुर्भूत होना पड़ा। आइसिस, ओसिरिस और होरस आदिक प्राचीन मिस्री देवी-देवताओं एवं प्राचीन ग्रीस के देवी-देवताओं में बहुत कुछ खिलत-मिलत हो गई; और इस संमिश्रण से नए देवी-देवताओं की सृष्टि हुई, जिन्हें जनता पूजने लगी। जब तक जनसाधारण को कोई-न-कोई देवता पूजने के लिए मिलता जाता था, तब तक इस बात की किसी को क्या परवा थी कि वे किस के सामने सिर झुकाते और किसकी पूजा करते अथवा किस नाम से अपने देवता को याद करते हैं। इन नए देवताओं में सब से परम प्रसिद्ध सैरफिस नामक देवता था।

ऐलैकजेंड्रिया बड़ा भारी व्यापारी केंद्र भी था। सभ्य संसार के दूसरे देशों के व्यापारी वहाँ आते थे। हमने पढ़ा है कि ऐलैकजेंड्रिया में भारतीय व्यापारियों की भी एक बस्ती थी। हमें यह भी मालूम है कि ऐलैकजेंड्रिया के व्यापारियों की एक बस्ती दक्षिण भारत में मलाबार के समुद्र-तट पर थी।

मिस्र से बहुत दूर नहीं—भूमध्यसागर के उस पार—रोम था, जो इस समय तक बहुत समुन्नत हो चुका था और जो भविष्य में इससे भी अधिक गौरवशाली एवं शक्तिसंपन्न होनेवाला था। उसके बिलकुल सामने, भूमध्यसागर के अफ्रीकावाले तट पर, रोम का प्रतिद्वंद्वी और शत्रु, कारथैज था। प्राचीन जगत् की अवस्था जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम रोम और कारथैज की कहानी कुछ विस्तार के साथ लिखें।

पूर्व में चीन उसी तरह बढ़ रहा था, जैसे पश्चिम में रोम। इसका भी हमें विचार करना है, जिसमें अशोक के समय के जगत् का सच्चा चित्र हमारी आँखों के सामने आ जाय।

(२६)

चिन और हान

अप्रैल ३, १९३२

मैंने पिछले साल नैनी-जेल से जो पत्र लिखे थे, उनमें मैंने तुमको चीन के आदि काल, हॉंग-हो नदी के तटवाली बस्तियों और सिया, शाङ या इन तथा चौ-नामक राजवंशों के संबंध में थोड़ा-बहुत हाल लिखा था। मैंने यह भी बताया था कि विस्तृत कालावधि में कैसे चीनी राष्ट्र धीरे-धीरे बढ़ा और कैसे केंद्रीय शासन का वहाँ पर विकास हुआ। उसके बाद एक ऐसा सुदीर्घ युग आया, जब चौ राजवंश का आधिपत्य देश-भर में केवल नाम-मात्र को रह गया, और केंद्रीय शासन यहाँ तक कमजोर हो गया कि चारों ओर अव्यवस्था फैल गई। छोटी-छोटी रियासतों के शासक वास्तविक रूप से स्वतंत्र हो गए और आपस में लड़ने-भिड़ने लगे। यह शोचनीय दशा कई सौ वर्षों तक जारी रही। चीन में जो भी बात होती है, वह सैकड़ों या हज़ारों साल तक बनी रहती है। अंत में इन प्रांतिक शासकों में से एक—चिन के सरदार—ने चौ-नामक प्राचीन और शक्ति-हीन राजवंश के राजा से गद्दी छीन ली। चिन का सरदार जब से चीन के राज-सिंहासन पर बैठा, तभी से चिन-राजवंश का राज्य-काल आरंभ होता है। यह एक रोचक बात है कि चीन इसी चिन शब्द से निकला है।

इस प्रकार चीन में चिन राजवंश के शासन का आरंभ २५५ ई० पू० से हुआ। इससे तेरह वर्ष पूर्व अशोक भारत में राजसिंहासन पर बैठा था। अतएव अब हम उन लोगों का उल्लेख कर रहे हैं, जो चीन में अशोक के समकालीन थे। प्रथम तीन चिन राजाओं ने थोड़े-थोड़े दिनों तक राज्य किया। फिर, २४६ ई० पू० में चौथा राजा राजगद्दी पर बैठा, जो अपने ढंग का बड़े मार्के का पुरुष था। उसका नाम था वाङ चाङ, लेकिन बाद में उसने अपना दूसरा नाम रख लिया। उसका दूसरा नाम था शीह ह्युआँग टी, और इसी दूसरे नाम से वह प्रसिद्ध है। इसका अर्थ है "प्रथम सम्राट्"। स्पष्टतया उसे अपना और अपने युग का बड़ा ही अभिमान था। पुरातन में उसे कुछ भी श्रद्धा न थी। वास्तव में उसकी यही कामना थी कि लोग पुरातन को भूल जाएँ और यही समझने लगें कि उसी से—'प्रथम' सम्राट् के समय ही से—इतिहास का आरंभ हुआ। उसे इस बात की कुछ भी परवा न थी कि विगत दो हज़ार वर्षों से सम्राट् के बाद सम्राट् चीन में होते चले आए हैं। वह चाहता था कि चीन के महादेश से उनके नाम तक मिटा दिए जाएँ; और न केवल इन्हीं पुराने सम्राटों को किंतु प्राचीन समय के अन्य प्रसिद्ध महापुरुषों तक को लोग भुला दें। अतएव राजाज्ञा निकाली गई कि जिन पुस्तकों में प्राचीन काल का विवरण है, वे सब पुस्तकें और विशेष रूप

से इतिहास की पुस्तकें एवं कनफ़ूसियस की ग्रन्थावली आग में भस्म कर दी जाएँ। चिकित्सा और विज्ञान से संबंध रखनेवाली किताबों पर यह आज्ञा लागू न थी। अपनी राजाज्ञा में उसने घोषणा की—

"जो लोग पुरातन का हवाला देकर आधुनिक समय की निंदा करेंगे, वे सपरिवार मार डाले जाएँगे।"
उसने अपनी इस प्रतिज्ञा का पूर्ण रूप से पालन किया। सैकड़ों पंडित, जिन्होंने अपनी प्यारी किताबों को छिपाने की कोशिश की, जीवित ही गाड़ दिए गए। यह प्रथम सम्राट् बड़ा ही सौम्य, दयालु और विनयशील रहा होगा! मैं सदा उसकी याद किया करता हूँ; और जब मैं भारत के प्राचीन काल की बहुत अधिक प्रशंसा सुनता हूँ तब मुझे उस सम्राट् के प्रति कुछ सहानुभूति भी हो आती है। हममें से कुछ लोग सदा पुरातन ही पर दृष्टि लगाए रहते हैं, सदा उसी का गुण गान किया करते हैं, सदा उसी से प्रोत्साहन की भिक्षा माँगा करते हैं। यदि पुरातन हमें बड़े-बड़े काम करने के लिए प्रोत्साहित करता है तो उसके द्वारा हमारा हर तरह प्रोत्साहित होना उचित है। लेकिन मेरी संमति में सदा पीछे की ओर देखते रहना न तो किसी व्यक्ति और न किसी जाति ही के लिए स्वस्थकर है। जैसा किसी ने कहा है, यदि पीछे की ओर चलने या देखने के लिए मनुष्य की रचना की गई होती तो उसकी आँखें उसकी खोपड़ी के पीछे लगी होतीं। हमें अपने भूत का अवश्यमेव ज्ञान होना चाहिए, और उसमें जो कुछ प्रशंसनीय है उसकी प्रशंसा भी करनी चाहिए; लेकिन उचित तो यह है कि हमारी आँखें सदा आगे की ओर देखें और हमारे पैर धीरता के साथ आगे बढ़ते जाएँ।

निस्संदेह शीह ह्यूयाँग टी ने प्राचीन ग्रंथों को जलवाने और उन ग्रंथों का अनुशीलन करने वालों को मरवाने या गड़वाने में बड़ी बर्बरता से काम लिया। लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि उसने जो कुछ किया उस सब का उसीके साथ अंत हो गया। वह संसार का सब से 'प्रथम सम्राट्' माना जाय और उसके बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, तीसरे के बाद चौथा सम्राट् हो, और इसी तरह कल्पांत तक क्रम बना रहे। यही उसका अभिप्राय था। लेकिन चीन के सब राजवंशों में चिन राजवंश ही ने सबसे कम समय तक शासन किया। जैसा मैं तुम्हें लिख चुका हूँ, इनमें से बहुत-से राजवंशों ने सैकड़ों वर्षों तक राज्य किया; उनमें से एक ने, जो चिन राजवंश का पूर्वगामी था, ८६७ वर्षों तक राज्य किया। लेकिन चिन-राजवंश के सम्राट् उठे, विजयी हुए और एक शक्तिशाली साम्राज्य के शासक रहे, फिर बिगड़े और समाप्त हो गए—और यह सब केवल ५० साल की अल्प अवधि में हुआ। शीह ह्यूयाँग टी शक्तिशाली सम्राटों की माला का पहिला गुरिया होने को था। लेकिन उसकी मृत्यु के तीन साल बाद, अर्थात् २०६ ई० पू० में, उसके वंश का अंत हो गया और तुरंत ही सब प्राचीन पुस्तकें एवं कनफ़ूसियस की ग्रंथावली गुप्त स्थानों से बाहर निकाली गईं और फिर से उनका पूर्ववत् आदर-सत्कार होने लगा।

चीन में जो बड़े-से-बड़े शक्तिशाली शासक किसी भी युग में हुए हैं; उनमें शीह ह्यूयाँग

टी भी एक है। उसने अगणित छोटे-छोटे सरदारों को कुचल डाला, मनसबदारी प्रथा का अंत कर दिया और एक सबल केंद्रीय शासन का निर्माण किया। उसने सारे चीन को जीता और अनम के ऊपर भी अपना आधिपत्य जमाया। उसीने चीन की बड़ी दीवार का बनवाना शुरू किया। इस काम में बहुत रुपया लगा। लेकिन चीनियों ने अपनी रक्षा के लिए बड़ी सेना रखने की अपेक्षा, इस बड़ी दीवार पर, जो विदेशी शत्रुओं से उनको बचाने के लिए बनाई जा रही थी, रुपया बहाना अधिक पसंद किया। दीवार बड़े-बड़े हमलों को तो रोक नहीं सकती थी; पर उससे अधिक-से-अधिक जो लाभ हुआ, वह केवल इतना ही था कि उसके कारण छोटे-मोटे धावे बंद हो गए। लेकिन इससे प्रकट होता है कि चीनी शांति से रहना चाहते थे, और सबल होते हुए भी वे सैनिक कीर्ति के लोलुप न थे।

प्रथम सम्राट् शीह ह्वयाँग टी मर गया, और उसके राजवंश में कोई ऐसा न निकला जो उसके स्थान को लेता। लेकिन उसके समय से चीन में एकता की परंपरा सदा बनी रही।

उसके बाद दूसरे राजवंश का आविर्भाव हुआ। इसका नाम था हान। यह ४०० वर्ष तक चला। इसके आरंभिक शासकों में एक सम्राज्ञी हुई है। इस राजवंश का छठा सम्राट् वू टी था। इसकी भी चीन के परम प्रसिद्ध और शक्तिशाली सम्राटों में गिनती होती है। इसने पचास साल से अधिक समय तक राज्य किया। पूर्व में कोरिया से लेकर पश्चिम में कैस्पियन सागर तक चीनी सम्राट् की तूती बोलती थी। मध्य एशिया की समस्त जातियाँ उसको अपना अधीश्वर मानती थीं। एशिया के नक्शे को देखो, तब तुम ईसा से पूर्व प्रथम और द्वितीय शताब्दियों में उसके प्रभाव और चीन की शक्ति के विशाल विस्तार का कुछ-कुछ अनुमान लगा सकोगी। इस युग में रोम की महत्ता के विषय में हम लोग बहुत कुछ पढ़ा सुना करते हैं। लोग यह समझ बैठे हैं कि रोम ने सारे संसार पर अपनी धाक जमा ली थी। रोम को "संसार की स्वामिनी" कहते हैं; लेकिन उस समय यद्यपि रोम बड़ा था और अधिकाधिक बढ़ता जाता था तो भी चीन साम्राज्य उससे कहीं अधिक विशाल और कहीं अधिक शक्तिसंपन्न था।

संभवत: वू टी के समय में चीन और रोम में संपर्क स्थापित हुआ। फ़ारस और इराक़ के भूभाग का प्राचीन नाम पार्थिया है। इन्हीं पार्थिया-निवासियों द्वारा इन दोनों साम्राज्यों में व्यापारविनिमय होता था। बाद में जब रोम और पार्थिया में लड़ाई छिड़ी तब यह व्यापार बंद हो गया। रोम ने समुद्र-मार्ग से ठेठ चीन को माल भेजने की कोशिश की। रोम का एक जहाज़ चीन पहुँचा भी। लेकिन यह तो ईसा के बाद दूसरी सदी की बात है। हम तो अभी दूसरी सदी ई० पू० ही में हैं।

हान-राजवंश के शासन-काल में बौद्धमत का चीन में आगमन हुआ। ईसवी संवत् के पहले भी चीन में उसकी चर्चा होने लगी थी और कुछ लोग उसे मानने भी लगे थे। लेकिन

इसके बहुत काल बाद जब एक चीनी-सम्राट् ने, कहते हैं, एक सोलह फ़ीट लंबे मनुष्य को, जिसका सिर आभा-मंडित था, स्वप्न में देखा तब से यह मत चीन में ज़ोरों से फैलने लगा। सम्राट् ने स्वप्न में इस महापुरुष को पश्चिम दिशा में खड़ा हुआ देखा था, अतएव उसने उसी दिशा में दूत भेजे। ये दूत वहाँ से बुद्ध की मूर्ति और बौद्ध ग्रंथ लेकर लौटे। बौद्ध मत के साथ-साथ भारतीय कलाएँ भी चीन में जा पहुँचीं। वहाँ से क्रमशः कोरिया और कोरिया से जापान पर उनका प्रभाव फैलता गया।

हान-राजवंश के शासन-काल में दो और महत्त्वपूर्ण बातें हुईं, जिनका उल्लेख आवश्यक है। पहली यह कि लकड़ी के ढाँचे से छपाई की कला का आविष्कार इसी काल में हुआ, लेकिन हज़ार साल तक थोड़े ही से लोग उसे काम में लाए। इतने पर भी चीन योरप से ५०० वर्ष आगे था।

दूसरी उल्लेखनीय बात यह हुई कि इसी समय से राजकर्मचारियों की नियुक्ति के लिए परीक्षा की प्रथा जारी हुई। परीक्षाएँ ली जाती थीं, और उनमें जो सफल होते थे, वे ही सरकारी पदों पर नियुक्त किए जाते थे। बालक-बालिकाओं को परीक्षा से प्रेम नहीं होता; और इस विषय में मुझे उनके साथ सहानुभूति है। लेकिन राजकर्म्मचारियों की नियुक्ति की इस चीनी प्रणाली का उस युग में चलन होना एक उल्लेखनीय घटना है। दूसरे देशों में, अभी कुछ दिन पहले तक, राजकर्म्मचारियों की नियुक्ति नियुक्त करनेवाले के अनुग्रह—उसकी मुरौवत—पर निर्भर थी, या किसी विशेष जाति या श्रेणी ही के लोगों को ये पद दिए जाते थे। चीन में ऐसी कोई जाति-विशेष न थी। जो कोई परीक्षा में सफल हो जाता, उसी को पद मिल सकता था। यह कोई आदर्श प्रणाली नहीं है, क्योंकि यह संभव है कि एक आदमी कनफूसियस की ग्रंथावली में परीक्षा देकर उत्तीर्ण भले ही हो जाय लेकिन पद पाने पर वह बहुत अच्छा राजकर्म्मचारी न निकले। अनुग्रह के कारण नियुक्ति की प्रथा या उसीके समान दूसरी प्रणालियों की तुलना में चीनी परीक्षा-प्रणाली कहीं अधिक अच्छी थी। यह प्रणाली चीन में दो सहस्र वर्ष तक चलती रही। थोड़े दिन हुए, इसका अंत हो गया।

(२७)

रोम बनाम कारथेज
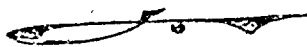
अप्रैल ५, १९३२

आओ, अब हम सुदूर पूर्व से पश्चिम को लौट चलें, और वहाँ रोम के विकास की रूप-रेखा को देखें। कहा जाता है कि आठवीं सदी ई० पू० में रोम की नींव पड़ी थी। आदिकालीन रोमन संभवतः योरप की ओर अतीत काल में जानेवाले आर्य्यों के वंशधर थे। टाइबर नदी के पास सात पहाड़ियों पर इन रोमनों की कुछ बस्तियाँ थीं। धीरे-धीरे ये बस्तियाँ बढ़कर एक नगर-राष्ट्र हो गईं। वह बढ़ता गया, और इटली में फैलते-फैलते इस प्रायद्वीप की दक्षिण-तम नोक—जिसे मैसिना कहते हैं—तक जा पहुँचा। यहाँ से समुद्र-पार सिसली-नामक द्वीप उसके ठीक सामने आ गया।

ग्रीस के नगर-राष्ट्रों को शायद तुम न भूली होगी। जहाँ-जहाँ ग्रीक गए, वहाँ-वहाँ वे अपनी नगर-राष्ट्र की भावना को भी अपने साथ लेते गए। भूमध्यसागर का तट ग्रीक उपनिवेशों और नगर-राष्ट्रों से खचाखच पटा था। लेकिन, अब, रोम में हमें दूसरी ही—बिलकुल भिन्न—बात नजर आती है। आदि में, संभव है, रोम का भी राजनीतिक संगठन ग्रीक नगर-राष्ट्र के संगठन से मिलता-जुलता रहा हो। लेकिन पड़ोसी जातियों के पराजय से रोम के राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया था। फलतः रोमन राष्ट्र एक बहुत बड़े भूभाग पर शासन करने लगा। इटली-प्रायद्वीप के बहुत बड़े हिस्से पर उसका आधिपत्य हो गया। इतने बड़े क्षेत्रफल—इतने विस्तृत भूभाग—का राज्य प्रबंध छोटे-से नगर-राष्ट्र के ढंग पर करना असंभव था। इस विस्तीर्ण प्रदेश का संचालन रोम के हाथ में था, उसी के अधीन सारा देश था; लेकिन स्वयमेव रोम की शासन-प्रणाली बहुत विचित्र थी। वहाँ न तो कोई बड़ा सम्राट् था, और न राजा। आजकल का-सा प्रजातंत्र भी वहाँ न था। तो भी रोम का शासन एक प्रकार से प्रजासत्तात्मक ही था। वास्तव में, वहाँ वही होता था, जो धनाढ्य जमींदारों के परिवार चाहते थे, यद्यपि कहने को शासन सैनेट के अधीन था। इस सैनेट को मनोनीत करते थे दो 'कांसल', जिनको नियमित अवधि के लिए रोम के नागरिक चुनते थे। बहुत दिनों तक केवल उच्च कुलवाले धनी ही सैनेट के सदस्य—सैनैटर—हो सकते थे। रोम की जनता दो श्रेणियों में विभाजित थी—(१) उच्च जातिवाले "पैट्रीशियन", अर्थात् धनाढ्य कुलीन वंशवाले, जो आम तौर से जमींदार होते थे; और (२) निम्न जातिवाले प्लैबियन या साधारण नागरिक। रोमन राष्ट्र या प्रजातंत्र के कई सौ वर्षों का इतिहास इन्हीं दोनों श्रेणियों के पारस्परिक संघर्ष का इतिहास है। पैट्रीशियनों के हाथ में सारी शक्ति थी; और जहाँ शक्ति रहती है, वहाँ

लक्ष्मी का वास होता है। लैबियन या लैब दुर्बल असामी थे। उनके पास न तो शक्ति थी, और न धन था। शासन में अधिकार पाने के लिए लैबियन लड़ते-झगड़ते रहे, और धीरे-धीरे प्रभुता के कुछ टुकड़े उन्हें भी नसीब हुए। यह एक मनोरंजक बात है कि इस विस्तृत संघर्ष में लैबियनों ने एक प्रकार से असहयोग के सिद्धांत का प्रयोग, सफलता के साथ, किया। वे सब के सब रोम नगर को छोड़कर निकल गए, और एक नए शहर में जा बसे। इससे पैट्रीशियन लोग डरे, क्योंकि लैबों के बिना उनका काम चलना असंभव हो गया। फलतः उन्होंने लैबों के साथ समझौता किया, और उन्हें कुछ छोटे-मोटे अधिकार दे दिए। धीरे-धीरे लैब भी ऊँचे पदों पर पहुँचे और सैनेट तक के सदस्य होने लगे।

पैट्रीशियनों और लैबियनों के संघर्षों की बातें करते करते हम यह समझने लगते हैं कि रोम में इन दो को छोड़कर किसी और का कुछ सरोकार नहीं था। लेकिन इन दो के अतिरिक्त रोम में दासों की भी बहुत बड़ी संख्या थी, जिन्हें किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त न थे। नागरिकों में उनकी गिनती भी नहीं होती थी। वोट या मत देने का उन्हें अधिकार न था। कुत्ते या गाय के समान ही वे भी अपने प्रभुओं की व्यक्तिगत और निजी संपत्ति माने जाते थे। स्वामी की इच्छा पर यह निर्भर था कि कब वे बेंच दिए जाएँगे या उन्हें दंड मिलेगा। कुछ अवस्थाओं में वे मुक्त भी कर दिए जाते थे। जो दास मुक्त हो गए थे, उन्होंने अपनी एक जाति-विशेष बना ली, जिसे 'मुक्त मनुष्यों' या फ्रीडमैन की जाति कहते थे। प्राचीन समय में पश्चिमी देशों में दासों की बड़ी माँग थी। नर-नारियों और बच्चों तक को पकड़ने और पीछे दासों के रूप में उन्हें बेंचने के लिए ससैन्य लोग दूर-दूर देशों तक का धावा मारा करते थे। जैसे प्राचीन मिस्र की, वैसे ही प्राचीन ग्रीस और रोम की गौरव-गरिमा विस्तृत दास-वृत्ति की नींव पर खड़ी थी।

क्या दासता की यह प्रथा भारत में भी उन दिनों उसी तरह से प्रचलित थी? बहुत संभव है कि ऐसा न था। चीन में भी ऐसी कोई बात न थी। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राचीन भारत या चीन में दासता की प्रथा न थी। लेकिन उस समय इन दो देशों में जिस तरह की दासता का चलन था, वह बहुत कुछ घरेलू थी। कुछ घरेलू नौकर दास कहलाते थे। भारत या चीन में श्रमिक दास न थे, जिनके बड़े बड़े झुंड खेतों आदि में काम किया करते रहे हों। अतएव ये दोनों ही देश दासता की अधम नीचता से बचे रहे।

इस तरह रोम बढ़ने लगा। पैट्रीशियनों ने इससे लाभ उठाया, और वे अधिकाधिक धनी और संपन्न होते गए। लैबियन बेचारे गरीब ही बने रहे। पैट्रीशियन उन्हें कुचलते थे। पैट्रीशियन और लैबियन दोनों मिलकर दासों को पददलित करते थे।

जब रोम बढ़ा, तब उसका किस ढंग से शासन होता था? सैनेट के द्वारा, जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ। सैनेट को दो निर्वाचित कांसल मनोनीत—नामजद—करते थे। कांसलों को कौन चुनता था? वे नागरिक, जिन्हें वोट देने का अधिकार था। आरंभ में

जब रोम नगर-राष्ट्र की तरह छोटा था, तब उसके सारे नागरिक रोम में या उसके आस-पास रहते थे। उन सबके लिए एक जगह जमा होकर वोट देना कुछ भी कठिन न था। लेकिन जब रोम की वृद्धि हुई, तब ऐसे नागरिकों की संख्या बढ़ने लगी, जो रोम से बहुत दूर बसते थे। उनके लिए वोट देना दुस्साध्य था। जिसे अब प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन कहते हैं, उसका उस समय तक न तो विकास हुआ था, और न उसका प्रयोग ही लोग करते थे। तुम्हें मालूम है कि आज-कल प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र राष्ट्रीय ऐसेंबली, पार्लामेंट या कांग्रेस के लिए अपना-अपना प्रतिनिधि चुनता है; और इस तरह एक छोटी-सी सभा में समस्त जाति के प्रतिनिधि जमा हो जाते हैं। यह बात प्राचीन रोम-निवासियों को न सूझी थी। ऐसी दशा में, रोम ही में वोट लिए जाते थे, यद्यपि दूर के वोटरों का वोट देने के लिए वहाँ जाना प्रायः असंभव था। वास्तव में, दूरस्थ वोटरों को इसका पता भी न लगता था कि रोम में क्या हो रहा है। उस समय न तो अखबार थे, न पैंफलैट या किताबें। इने-गिने आदमी पढ़ना-लिखना जानते थे। इस परिस्थिति में रोम से दूर रहनेवालों को वोट देने का जो अधिकार मिला था, वह उनके किसी काम न आता था। उन्हें वोट का अधिकार था, लेकिन दूर रहने के कारण वे इस अधिकार से वंचित थे।

इस प्रकार तुम्हें मालूम होगा कि रोम में रहनेवाले वोटर ही चुनाव और महत्त्व-पूर्ण विषयों के निर्णय में वास्तविक भाग लेते थे। खुले मैदान में बाड़े बाँधे जाते थे, जिनके अंदर जाकर लोग वोट देते थे। वोटरों में अधिकांश दरिद्र प्लैबियन थे। उच्च पद और प्रभुता के लोलुप धनी पैट्रीशियन इन ग़रीबों को घूस दिया करते थे, जिसमें इनके वोट उन्हें मिल जाएँ। इस अवस्था में रोम के चुनावों में घूस और चालबाज़ी से उतनी ही अधिक मात्रा में काम लिया जाता था, जितनी अधिक मात्रा में कभी-कभी आज-कल के चुनावों में।

इधर इटली में रोम बढ़ रहा था, उधर उत्तरीय अफ्रीका में कारथेज शक्ति-संपन्न होता जाता था। कारथेज-निवासी फ्यूनिशियनों के वंशधर थे। उनमें नाविक और व्यापारिक क्षमता थी। प्राचीन समय से वे लोग समुद्र-यात्रा और व्यापार करते आते थे। उनके यहाँ भी प्रजातंत्र था; लेकिन रोम से बढ़कर उनका प्रजातंत्र धनिकों का शासन-तंत्र था। यह भी एक नगर-राष्ट्र था, जिसमें बहुत बड़ी संख्या में दास थे।

आरंभिक दिनों में, रोम और कारथेज के बीचो-बीच, दक्षिण-इटली और मेसिना में, ग्रीक उपनिवेश थे। लेकिन रोम और कारथेज ने मिलकर इन ग्रीकों को निकाल भगाया। जब दोनों इस उद्योग में सफल हुए, तब कारथेज ने सिसिली का टापू ले लिया, और रोम इटली के प्रायद्वीप की ठीक दक्षिणतम नोक पर पहुँच गया। रोम और कारथेज अधिक दिनों तक एक दूसरे के मित्र और सहायक न बने रह सके। थोड़े ही समय के अनंतर दोनों में मुठभेड़ हुई, और गहरी लाग-डाँट छिड़ गई। ऐसे दो सबल राष्ट्रों के लिए, जो संकीर्ण समुद्र के दो तटों से एक दूसरे को ललकार रहे थे, भूमध्य-सागर काफ़ी बड़ा न था। दोनों ही महत्त्वा-

कांक्षी थे। रोम बढ़ रहा था। यौवन की उच्च अभिलाषाएँ और आत्म-विश्वास उसमें था। आरंभ में तो, शायद, कारथेज नवोन्नत रोम को तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। उसे अपनी सामुद्रिक शक्ति का पूरा भरोसा था। सौ वर्षों तक दोनों लड़ते रहे; बीच-बीच में संधि भी हो जाती थी। दोनों ही जंगली जानवरों की तरह लड़े। हजारों, लाखों आदमी इनकी लड़ाई से तबाह हो गए। इनमें तीन युद्ध हुए, जिन्हें प्यूनिक युद्ध कहते हैं। प्रथम प्यूनिक युद्ध २३ वर्षों—अर्थात् २६४ ई० पू० से २४१ ई० पू०—तक होता रहा। इसमें रोम विजयी हुआ। बाइस साल के बाद द्वितीय प्यूनिक युद्ध हुआ। इस युद्ध में कारथेज ने एक इतिहास-प्रसिद्ध सेनापति को भेजा। इसका नाम हैनीबाल था। पंद्रह साल तक इसने रोम को खूब ही सताया-रुलाया और रोमन प्रजा को आतंक से भयाकुल बना रक्खा। उसने रोम की सेनाओं को बड़ी मार-काट के साथ बुरी तरह हराया—विशेषकर कैनी की लड़ाई में, जो २१६ ई० पू० में हुई। इसने यह सब कर दिखाया, यद्यपि कारथेज से उसे बहुत कम सहायता मिलती थी; क्योंकि समुद्र पर रोम ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर रक्खा था। रोमन हारते गए; उनपर विपत्ति पर विपत्ति आई, हैनीबाल बराबर उनके सिर पर मँडराता रहा; लेकिन उन्होंने न तो हिम्मत छोड़ी और न हार मानी। घृणित शत्रु के मुक़ाबिले में वे डटे रहे। खुले मैदान में हैनीबाल से लड़ने की हिम्मत तो उन्हें हुई नहीं, इसलिए वे उसे परेशान करते और उसके पास कारथेज से सहायता न पहुँचने देते थे। न रसद पहुँच पाती, न खबर आ-जा सकती थी। हर तरह से वे उसके रास्ते में—वास्तविक और आलंकारिक, दोनों अर्थों में—अड़ंगे लगाते थे। जिस रोमन सेनापति को युद्ध से बचने की यह नीति बहुत पसंद थी, उसका नाम फ़ेबियस था। मैंने उसके नाम का उल्लेख इसलिए नहीं किया कि वह कोई महापुरुष था, बल्कि इसलिए कि उसके नाम से अँगरेजी भाषा में एक शब्द—फ़ेबियन—की रचना हो गई है। उन चालों को फ़ेबियन कहते हैं, जो मामले को इतनी दूर तक नहीं बढ़ने देतीं कि उसका निर्णय अनिवार्य्य हो जाए। फ़ेबियन नीति पर चलनेवाले लोग लड़ाई-झगड़े से कोसों दूर भागते हैं, वे किसी विषय को चरम सीमा तक घसीट ले जाने के पक्षपाती नहीं होते। अपनी उद्देशसिद्धि के लिए वे विरोधी के विरोध को धीरे-धीरे रगड़-रगड़कर मिटा देने की नीति को सर्वोत्तम समझते हैं। इँगलैंड में एक फ़ेबियन सोसाइटी—फ़ेबियन नीति में विश्वास करनेवालों की सभा—है, जिसका समाजवाद * में तो विश्वास है, लेकिन शीघ्रता या आकस्मिक अकांड अथवा अकल्पित परिवर्त्तनों में विश्वास नहीं। मुझे आशंका है कि मैं किसी भी बात में फ़ेबियन नीति का प्रशंसक नहीं हूँ।

* मूल में Socialism—सोशलिज़्म—शब्द है। उसका हिंदी में प्रचलित रूपांतर साम्यवाद है। लेकिन साम्यवाद कम्यूनिज़्म (Communism) के लिए भी प्रयुक्त होता है ऐसी दशा में सोशलिज़्म के लिए समाजवाद का प्रयोग उचित मालूम होता है।

हैनीबाल ने इटली के बहुत बड़े भाग को उजाड़ डाला; लेकिन रोम के अनवरत और कठोर प्रयत्न ने अंत में विजय पाई। २०२ ई० पू० में, जामा के युद्ध में, हैनीबाल परास्त हो गया। वह जगह-जगह भागता फिरा; लेकिन जहाँ वह जाता, वहीं रोम की अतृप्त प्रतिहिंसा उसका पीछा करती थी। अंत में उसने जहर खाकर जान दे दी।

कारथेज को अच्छी तरह से नीचा देखना पड़ा। रोम के सामने आँख उठाने का साहस तक न वह कर सकता था। दोनों देशों में ५० वर्ष तक संधि रही। इतने पर भी रोम संतुष्ट न हुआ। उसने तीसरी बार उससे युद्ध छेड़ा। इसे तीसरा प्यूनिक युद्ध कहते हैं। जब कारथेज का सत्यानाश हो गया और असंख्य आदमी मार डाले गए, तभी इस युद्ध की समाप्ति हुई। सचमुच, जिस भूमिस्थल पर किसी समय कारथेज की नगरी—भूमध्य-सागर की रानी—का आसन था, उस पर रोम ने हल चलवाए।
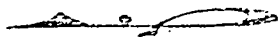
(२८)

रोमन प्रजातंत्र का साम्राज्य में परिणत होना

अप्रैल ७, १९३२

कारथेज के पूर्ण रूप से पराजित और विनष्ट हो जाने पर रोम पश्चिमी जगत् का निर्द्वंद्व अधीश्वर होगया। इसके पहले ही वह ग्रीक राष्ट्रों को पराजित कर चुका था; अब उसने कारथेज के अधीन प्रदेशों पर भी अधिकार जमा लिया। इसी तरह दूसरे प्यूनिक संग्राम के बाद, स्पेन का देश रोम के हाथ लगा। लेकिन इतने पर भी रोमन राज्य में अभी तक केवल भूमध्यसागर ही के देश संमिलित थे। उत्तरीय और मध्य यूरप रोम-अधिकार से स्वतंत्र था।

रोम में विजय और आधिपत्य का परिणाम था धन और विषयभोग। विजित देशों से रोम में सुवर्ण और दासों की वर्षा होने लगी। लेकिन उनका होता क्या था? वे कहाँ जाते थे? जैसा मैं तुमसे पहले कह चुका हूँ, रोम में शासन की बागडोर सैनेट के हाथ में थी, और इस संस्था के सदस्य थे धनाढ्य, उच्च कुलों के वंशधर। धनिकों का यह समूह रोमन प्रजातंत्र और उसके जीवन का नियंत्रण करता था; और ज्यों-ज्यों रोम की शक्ति और उसके राज्य-विस्तार में वृद्धि हुई, त्यों-त्यों उसके साथ-साथ इन लोगों की संपत्ति भी बढ़ती गई। फलतः जो धनी थे, वे और भी अधिक धनी हो गए; और जो ग़रीब थे, वे या तो ग़रीब ही बने रहे या और भी ज्यादा ग़रीब हो गए। दासों की संख्या भी बढ़ी, और साथ-साथ विलासिता तथा दुःख-दैन्य भी बढ़े। जब कभी ऐसा होता है, तभी साधारणतया संकट उपस्थित होता है। यह देखकर विस्मय होता है कि मनुष्य कहाँ तक सह सकता है। लेकिन मानव सहिष्णुता—सहनशीलता—की भी सीमा है, और जब कष्ट इस सीमा को पार कर जाता है, तब उपद्रव उठ खड़ा होता है।

धनिकों ने ग़रीबों को खेल-तमाशों से फुसलाने की कोशिशें कीं। इन तमाशों में ग्लैडिएटर केवलमात्र दर्शकों के मनोरंजन के लिए एक दूसरे के साथ लड़ने और एक दूसरे को मार डालने के लिए विवश किए जाते थे। जिसे लोग खेल-तमाशा कहते थे, उसमें बहुत-से दास और लड़ाइयों के क़ैदी इसी तरह मृत्यु के घाट उतारे जाते थे।

लेकिन रोमन राष्ट्र में चारो तरफ़ उपद्रव बढ़ने लगा। लोग बग़ावत करते, और उन्हें दबाने में सैकड़ों-हज़ारों आदमियों का ख़ून बहाया जाता। चुनाव के समय पर घूस और गंदगी का बाज़ार गर्म हो जाता। दीन, पददलित दासों तक ने स्पारटेकस नामक एक ग्लैडिएटर के नेतृत्व में विद्रोह किया। लेकिन वे बड़ी निर्दयता के साथ कुचल दिए गए। कहा जाता है, उनमें से छः हज़ार सूली पर चढ़ाए गए।

सेनापतियों और शूर-वीरों की धीरे-धीरे अधिक पूछ होने लगी। सैनेट का मान लोगों की दृष्टि में घटने लगा। रह-रहकर घरेलू लड़ाई छिड़ जाती, और जिधर देखो उधर ही सत्यानाश दिखाई देता। प्रतिद्वंद्वी सेनापति एक दूसरे से लड़ा करते। पूर्व में, पार्थिया (आधुनिक इराक़) में करे-नामक स्थान पर जो लड़ाई ५३ ई० पू० में हुई, उसमें रोमन सेना बुरी तरह परास्त हुई। पार्थियावालों से लड़ने के लिए जो सेना भेजी गई थी, उसे शत्रुओं ने समूल नष्ट कर दिया।

रोमन सेनापतियों के इस झुंड में दो सेनापतियों के नाम, उनकी विशेषता के कारण, उल्लेखनीय हैं—पामपी और जूलियस सीजर। तुम्हें मालूम है कि सीजर ने फ़्रांस या (जैसा वह तब कहलाता था) गाल और ब्रिटेन को जीता था। पामपी पूर्व की ओर गया, और वहाँ उसे कुछ थोड़ी बहुत सफलता मिली। लेकिन इन दोनों सेनापतियों में गहरी लाग-डाँट—होड़ा-होड़ी या प्रतिद्वंद्विता—थी। बेचारा सैनेट तो पीछे पड़ गया, यद्यपि दोनों ही केवल जिह्वा से उसकी अधीनता स्वीकार करते थे। सीजर ने पामपी को परास्त कर दिया, और इस तरह वह रोमन जगत् का सर्वश्रेष्ठ पुरुष बन गया। लेकिन रोम प्रजातंत्र था। अतएव हर मामले में सीजर की प्रधानता नियमानुसार नहीं प्रकट हो पाती थी। इस कठिनाई को हटाने के उद्देश से सीजर को राज-मुकुट पहनाने की चेष्टाएँ की गईं। वह इसके लिए तैयार तो था, लेकिन इस विचार से कि बहुत प्राचीन काल से प्रजातंत्र रोम में चला आया है, उसे राज मुकुट को धारण करने में संकोच हुआ। वास्तव में, यह प्रजातंत्र-संबंधी विचार-परंपरा सीजर से भी अधिक सबल सिद्ध हुई। जिस फ़ोरम-नामक स्थान में सैनेट के अधिवेशन हुआ करते थे, उसी की सीढ़ियों पर ब्रूटस और उसके साथियों ने जूलियस सीजर को कटारों से छेद-छेद-कर मार डाला। तुमने शेक्सपियर का जूलियस सीजर-नामक नाटक पढ़ा होगा, जिसमें इस घटना का उल्लेख है।

जूलियस सीजर ४४ ई० पू० में मारा गया; लेकिन उसकी मृत्यु भी प्रजातंत्र को स्थायी न बना सकी। जूलियस सीजर के औरस पुत्र का नाम आक्टेवियस आक्टेविएनस था। इसकी माता सीजर की बहन की पुत्री थी। इस आक्टेवियसन और सीजर के मित्र, मार्क ऐंटनी, ने उसकी हत्या का बदला लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रजातंत्र के स्थान में एकाधिपत्य स्थापित हो गया। आक्टेविएनस राष्ट्र का प्रमुख शासक—अर्थात्, प्रिंसेप्स—बना। प्रजासत्ता रोम से उठ गई। सैनेट बना रहा; लेकिन उसके हाथ में कुछ भी वास्तविक शक्ति न थी।

जब आक्टेविएनस प्रिंसेप्स या प्रधान हुआ, तब उसने अपने पुराने नाम की जगह अपना नाम आगस्टस रक्खा, और सीजर की उपाधि धारण की। उसके बाद उसके सब उत्तराधिकारी सीजर कहलाते रहे। सीजर शब्द ही, वास्तव में, सम्राट् के अर्थ में प्रयुक्त होने

लगा। क़ैसर शब्द इसी शब्द, सीज़र, से निकला है; और हिंदुस्तानी भाषा में भी इसी अर्थ में क़ैसर शब्द का प्रयोग होता आया है—क़ैसरे-रूम, क़ैसरे-रूस, क़ैसरे-हिंद। इँगलैंड के किंग जार्ज आज दिन क़ैसरे-हिंद की उपाधि से विभूषित होने में प्रफुल्लित हैं। जर्मन क़ैसर चल दिए; इसी तरह आस्ट्रिया के क़ैसर, टर्की के क़ैसर और रूस के क़ैसर भी अब नहीं रहे। लेकिन यह एक रोचक और कुतूहलपूर्ण बात है कि अकेले इँगलैंड के राजा ही उस जूलियस सीज़र के नाम या उपाधि को धारण करने के लिए इस समय बचे हैं, जिसने रोम के नाम पर इँगलैंड को विजय किया था।

इस तरह से जूलियस सीज़र का नाम महेश्वरीय–शाही–ऐश्वर्य का द्योतक शब्द हो गया। यदि पामपियस ने ग्रीस में फारस्तलस वाली लड़ाई में जूलियस सीज़र को पराजित कर दिया होता तो क्या हुआ होता? पामपियस तब प्रिंसैप्स या सम्राट् हुआ होता और पामपी शब्द सम्राट् का द्योतक हो जाता। उस दशा में जर्मन सम्राट् जर्मन (द्वितीय विलियम) क़ैसर न क़हलाकर जर्मन पामपी कहलाता, और किंग जार्ज पामपी–ए–हिंद हो जाते।

रोमन राष्ट्र के परिवर्त्तन के इन दिनों में—जब प्रजातंत्र साम्राज्य में परिणत हो रहा था—मिस्र में एक स्त्री रहती थी, जिसकी सुंदरता का इतिहास में बहुत बखान है। उसका नाम क्लिओपैट्रा था। उसके कुछ अधिक सुमधुर कीर्ति न थी; लेकिन उन इनी-गिनी स्त्रियों में उसकी गणना होती है, जिनकी बाबत यह कहा जाता है कि उन्होंने अपनी सुंदरता के बल से इतिहास की गति बदल दी। वह बिलकुल छोकरी ही थी, जब जूलियस सीज़र मिस्र गया था। बाद में मार्क ऐंटनी से उसकी गहरी दोस्ती होगई। इस मैत्री से ऐंटनी का अनिष्ट ही हुआ। वास्तव में क्लिओपैट्रा ने उसके साथ विश्वासघात किया, और एक सामुद्रिक लड़ाई में वह अपने जहाजों को लेकर खिसक गई। पैस्कल-नामक एक प्रसिद्ध फ़्रेंच लेखक ने, बहुत दिन हुए, लिखा था—Le nez de cliopathi, s'il ent etc. plus court, toute la face de la terre aurait change (अर्थात्, यदि क्लिओपैट्रा की नासिका बड़ी होती तो संसार की काया ही पलट जाती। इसमें अतिशयोक्ति का अंश है। क्लिओपैट्रा की नासिका के साथ-साथ संसार बहुत कुछ न बदल जाता। लेकिन यह संभव है कि सीज़र, मिस्र जाने के बाद से, अपने को एक प्रकार का ईश्वर-नृपति समझने लगा। मिस्र में प्रजातंत्र तो था नहीं। वहाँ पर राजा राज्य करता था, और राजा न केवल सर्वेश था, किंतु उसे लोग देवता-तुल्य मानते थे। प्राचीन काल से मिस्र की यही धारणा थी; और ग्रीक टालैमी-नामक राजाओं ने, जो ग्रीक थे और सिकंदर की मृत्यु के बाद मिस्र के अधीश्वर हुए, बहुत-से मिस्री आचार-विचारों को अपना लिया था।

इसमें क्लिओपैट्रा का हाथ रहा हो या न रहा हो, लेकिन, राजा-देवता का मिस्री भाव रोम में जा पहुँचा; और वहाँ पर वह स्थायी रूप से बस गया। जूलियस सीज़र के जीवन-काल ही में, जब

रोम में प्रजातंत्र का बोल-बाला था, परंतु इस पर भी उसकी मूर्तियाँ स्थापित की गईं और पुजने लगीं। आगे चलकर हम देखेंगे कि इसी तरह कैसे सब रोमन सम्राटों की विधिवत् पूजा-अर्चना की जाती थी।

अब हम रोम के इतिहास में एक बड़े ही महत्त्वपूर्ण मोड़ पर पहुँच गए हैं जहाँ से रोमन प्रजातंत्र का अंत-समय आ जाता है। और उसके सम्राटों की कथा आरंभ होती है। उस कथा को शुरू करने के पूर्व, आओ, रोमन प्रजातंत्र के अंतिम दिनों में रोम के शासित प्रदेशों पर एक नज़र डाल लें।

रोम का इटली में तो राज्य था ही। इसके अतिरिक्त, पश्चिम में स्पेन और गाल (फ्रांस) उसके आधीन थे। पूर्व में उसका शासन ग्रीस पर था, और एशिया माइनर में परगेमम का ग्रीक राष्ट्र भी उसी का एक अंग था। उत्तरीय अफ्रीका में मिस्र ने रोम के साथ मैत्री कर ली थी। फलतः वह रोम की एक संरक्षित रियासत के पद को पहुँच गया था। कारथेज और भूमध्य सागर के अन्य देशों के हिस्से भी रोम के आधीन थे। योरप में रोमन साम्राज्य की उत्तरीय सीमा राइन नदी थी। जर्मनी, रूस तथा मध्य और उत्तरीय योरप रोम साम्राज्य के बाहर थे। इराक़ के पूर्व के देशों पर भी उसका शासन था।

उन दिनों रोम का बड़ा दबदबा था। योरप के बहुत-से लोग, जो दूसरे देशों के इतिहासों से अनभिज्ञ हैं, यह समझते हैं कि रोम की संसार भर में तूती बोलती थी। इस बात में वास्तविकता का बहुत थोड़ा अंश है। तुम्हें याद होगा, इसी युग में, चीन का वैभवशाली हान नामक राजवंश एशिया के पूर्वी तट से लेकर कैस्पियन सागर तक के विस्तीर्ण प्रदेश पर शासन कर रहा था। करे (इराक़) की लड़ाई में, जहाँ रोमन बुरी तरह से परास्त हुए, संभव है, पार्थियावालों को चीन के मंगोलों ने सहायता दी हो।

लेकिन रोमन इतिहास, विशेषकर रोमन प्रजातंत्र का इतिहास, योरपवालों को बहुत प्यारा है; क्योंकि वे इसी रोमन राष्ट्र को योरप के आधुनिक राष्ट्रों का परदादा मानते हैं। इसीलिए अँगरेज़ी स्कूलों के विद्यार्थियों को, चाहे उन्हें आधुनिक इतिहास का कुछ भी ज्ञान हो या न हो, ग्रीक और रोमन इतिहास पढ़ाए जाते हैं। मुझे नहीं मालूम कि इन दो देशों के इतिहासों के अध्ययन में वे आजकल अपना समय लगाते हैं या नहीं।

हमने अशोक-कालीन जगत् का सिंहावलोकन करना कुछ समय पहले आरंभ किया था। हम केवल उस सिंहावलोकन को ही समाप्त नहीं कर चुके, बल्कि चीन और योरप के विषय में उससे भी आगे बढ़ गए। अब हम ईसाई युग के आरंभ-काल के बिलकुल ही पास पहुँच गए हैं। अतएव ईसा से पूर्व कालीन भारतीयों के विषय में अपने ज्ञान की पूर्ति के लिए हमें भारत को लौटना पड़ेगा; क्योंकि अशोक की मृत्यु के बाद यहाँ बड़े-बड़े परिवर्तन हुए और दक्षिणी तथा उत्तरी भारत के नए-नए साम्राज्यों का उत्थान हुआ।

मैंने इस बात की चेष्टा की है कि तुम इतिहास को एक अखंड धारा के रूप में देखो। लेकिन मुझे आशा है तुम यह याद रक्खोगी कि उन प्राचीन युगों में दूर के देशों का एक दूसरे के साथ बहुत ही संकुचित संपर्क था। रोम बहुत-सी बातों में बहुत समुन्नत था; परंतु भूगोल और नक़्शों का न तो उसे अधिक ज्ञान था, और न इस विषय के ज्ञानोपार्जन की ओर उसकी प्रवृत्ति ही थी। यद्यपि रोमन सैनेट के बड़े-बड़े सेनापति और विद्यानिधि अपने को संसार का महाप्रभु समझते थे; परंतु भूगोल का ज्ञान आजकल के स्कूली लड़कों और लड़कियों को उनसे कहीं अधिक है। और, जैसे ये लोग अपने को संसार का स्वामी समझते थे, वैसे ही उनसे कई हज़ार मील दूर, एशिया के विशाल महाद्वीप के दूसरे सिरे पर, चीन के शासक भी अपने को संसार का महाप्रभु कहते थे।

(२९)

दक्षिणी भारत उत्तरी भारत पर हावी हुआ

अप्रैल १०, १९३२

पूर्वतम दिशा में चीन की और पश्चिम दिशा में योरप की सैर करने के बाद अब हम फिर भारत को लौट रहे हैं।

अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य्य-साम्राज्य अधिक दिनों तक न चला। थोड़े ही वर्षों के अंदर वह मुरझा गया। उत्तरी सूबे उसके हाथ से निकल गए, और दक्षिण में एक नवीन शक्ति—आंध्र शक्ति—का आविर्भाव हुआ। अशोक के वंशज पचास साल तक अपने साम्राज्य पर राज्य करते रहे, परंतु दिन-पर-दिन उसका विस्तार घटता जाता था। अंत में उनके ब्राह्मण-जातीय प्रधान सेनापति, पुष्यमित्र, ने उन्हें बलपूर्वक सिंहासन से हटा दिया और स्वयमेव राजा बन बैठा। कहा जाता है कि उसके समय में ब्राह्मण-धर्म्म—हिंदू मत—का पुनरुत्थान हुआ। बौद्ध भिक्षु थोड़ी-बहुत मात्रा में सताए भी गए। लेकिन जब तुम भारतीय इतिहास को पढ़ोगी, तब तुम्हें पता चलेगा कि हिंदू-संप्रदाय ने बौद्ध-संप्रदाय पर बहुत ही चालाकी और गुप्त रीति से हमला किया। उसने उन्हें सताने की भोंडी नीति से काम नहीं लिया। कहीं-कहीं बौद्ध सताए अवश्य गए; लेकिन इसका कारण संभवतः राजनीतिक था, धार्मिक नहीं। बड़े-बड़े बौद्ध संघ शक्तिशालिना संस्थाएँ थीं; और बहुत-से राजे-महाराजे उन संघों की राजनीतिक शक्ति से भयभीत रहते थे। इसलिए वे उनके बल को घटाने का प्रयत्न करते थे। हिंदू-धर्म्म ने बौद्ध मत को उसकी जन्म-भूमि से अपदस्थ करने में कई साधनों का सफल प्रयोग किया। कई बातें बौद्ध मत से ले लीं; उसे अपने में मिला लिया; और उसे अपने घर में स्थान देने की चेष्टा भी की।

इस दृष्टि से यदि हम देखें तो हमें मालूम होगा कि नए हिंदू-धर्म्म ने न तो प्राचीन धार्मिक प्रणाली का पुनरुत्थान किया, और न बौद्धों के किए-कराए पर हरताल ही फेरा। हिंदू-धर्म्म के अभिनायक बहुत चतुर थे। प्राचीन समय से उनकी यही नीति रही है कि दूसरों के आचार-विचारों को ग्रहण कर उन्हें अपने में मिला लिया जाय। जब पहले-पहल आर्य्य भारत में आए, तब उन्होंने द्रविड़ों की संस्कृति और रीति-नीति को बहुत-से अंशों में अपना लिया। तब से वे अपने ऐतिहासिक विकास-क्रम में ज्ञात या अज्ञात रूप से निरंतर ऐसा ही करते आए। बौद्ध मत के साथ भी उन्होंने यही नीति बरती। बुद्ध को उन्होंने एक अवतार बना दिया; उन्हें देवता कहने लगे। हिंदुओं के अनेक देवता बौद्धों के भी देवता हो गए। बुद्ध तो बने रहे, उनका लोग पूजते और उनके नाम का जप करते रहे, परंतु उनके विशेष संदेश को जनता के सामने से हिंदुओं ने चुपके से हटा दिया। इस प्रकार हिंदू धर्म्म गौण परिवर्त्तनों के साथ शांत धारा में बहने लगा। लेकिन बौद्ध मत को हिंदू जामा पहनाने का कार्य-क्रम बहुत वर्षों तक जारी रहा।

यहाँ पर हम फिर आगे की बात की ओर समय से पूर्व ही संकेत कर गए। अशोक की मृत्यु के कई सौ वर्षों बाद तक बौद्ध मत भारत में चला।

मगध में एक दूसरे के बाद जो राजा और राजवंश हुए, उनके चक्कर में पड़ने का कोई आवश्यकता नहीं। अशोक के मरने के दो सौ वर्ष बाद तो मगध भारतवर्ष के प्रधान राष्ट्र पद को भी खो बैठा। लेकिन तो भी वह बौद्ध संस्कृति का एक बड़ा केंद्र बना रहा।

इस बीच में उत्तरी और दक्षिणी भारत में बड़ी महत्वपूर्ण घटनाएँ हो रही थीं। उत्तर में मध्य एशिया से शक, हूण, कुशान आदिक जातियों के बार-बार आक्रमण हुए। मेरी ऐसी धारणा है कि मैं तुमको एक बार यह लिख चुका हूँ कि कैसे मध्य एशिया में विभिन्न जातियों के झुंड के झुंड उत्पन्न होते गए, और कैसे वे लोग इतिहास के विकास-क्रम में बार-बार वहाँ से निकलकर सारे एशिया में तथा योरप तक में फैल गए। ईसा से पूर्व की दो सदियों में इन लोगों ने भारत पर कई हमले किए। लेकिन तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि इन आक्रमणों का उद्देश केवल विजय और लूटना न था। वे तो बसने के लिए भूमि की तलाश में थे। मध्य एशिया की इन जातियों में से अनेक जातियाँ चर-जातियाँ थीं, और ज्यों-ज्यों उनकी संख्या बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों जिस भू-भाग में वे रहती थीं, वह उनके पालन-पोषण के लिए अपर्य्याप्त होने लगता था। इसलिए उन्हें वहाँ से हटना और नए देशों की खोज करनी पड़ती थी। इन बड़े-बड़े देश-परिवर्तनों का उपर्युक्त कारण से भी अधिक सबल कारण पीछे से धक्का या संघर्षण था। एक बड़ी जाति या समूह दूसरी जाति या समूह को स्थान-विशेष से निकाल देता था; और ऐसी दशा में, ये निकाली हुई जातियाँ, दूसरे देशों पर आक्रमण करने के लिए विवश हो जाती थीं। इस तरह जो लोग भारत में आक्रमण करने को आए, वे प्रायः स्वयं अपने-अपने गोचर-प्रदेशों से भागकर आए थे। जब कभी चीनी साम्राज्य में ऐसा करने की सामर्थ्य होती थी, जैसा हान-राजवंश के राज्य-काल में उसने किया था, तब वह इन बनचर जातियों को देश से निकालकर दूसरे देशों में जा बसने के लिए बाध्य करता था।

तुम्हें यह भी याद रखना चाहिए कि मध्य एशिया की जो बनचर जातियाँ भारत को शत्रुवत् नहीं मानती थीं, वे म्लेच्छ कहलाती थीं। निस्संदेह उस समय के भारतीयों की तुलना में वे उतने सभ्य और संस्कृत नहीं थे। लेकिन उनमें से अधिकांश उत्साही बौद्ध थे। वे भारत को आदर की दृष्टि से देखते थे; क्योंकि यहीं उनके धर्म्म का जन्म हुआ था।

पुष्यमित्र के समय में भी उत्तर-पश्चिमी भारत पर आक्रमण हुआ। इस आक्रमण का करनेवाला बैक्ट्रिया का मैनेंडर था। भारतीय सरहद के बिलकुल पास बैक्ट्रिया का प्रदेश है। यह प्रांत सैल्यूकस के साम्राज्य का एक सूबा था, लेकिन बाद में स्वतंत्र हो गया था। मैनेंडर का आक्रमण असफल रहा। फिर भी काबुल और सिंध पर उसने अधिकार जमा लिया। मैनेंडर बड़ा ही श्रद्धालु बौद्ध था।

इसके बाद शकों के हमले हुए। इनके असंख्य झुंड के झुंड आए और उत्तर तथा पश्चिम में फैल गए। तुर्की शक जाति बनचरों की एक उप-जाति थी। कुशान-नामक एक विशाल बनचर जाति ने इन शकों को इनकी गोचर भूमि से निकाल भगाया था। वहाँ से निकलने

पर वे बैक्ट्रिया तथा पार्थिया में फैल गए और धीरे-धीरे उत्तरीय भारत, विशेषकर पंजाब, राजपूताना एवं काठियावाड़, में आ बसे। भारत ने उन्हें सभ्य बनाया, और उन लोगों ने अपने वनचरपने को छोड़ दिया।

यह एक रोचक बात है कि भारत के कुछ प्रांतों में राज्य करनेवाले इन बैक्ट्रियावालों और तुर्की शासकों का भारतीय आर्य्यसमाज के जीवन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। बौद्ध होने के कारण, इन शासकों ने बौद्ध संघों के संघटन का अनुसरण किया, यह संघ-संघटन प्राचीन आर्य्य ग्राम-संघों के ढंग पर निर्मित हुआ था। इस प्रकार, इन शासकों की आधीनता में भी भारत केंद्रीय शासन के अंतर्गत स्वशासित ग्राम-संघों का एक समूह बना रहा। इस युग में भी तक्षशिला और मथुरा बौद्ध ज्ञान-विज्ञान के केंद्र थे, जहाँ चीन और पश्चिमी एशिया से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे।

लेकिन बारंबार होनेवाले इन आक्रमणों का और मौर्य्य राष्ट्र-प्रणाली के मंथर ह्रास का परिणाम यह हुआ कि भारत की दक्षिणी रियासतें प्राचीन आर्य्य-विधान की सच्ची प्रतिनिधि बन गईं। इस तरह आर्य्य शक्ति का केंद्र उत्तर से दक्षिण को हट गया। संभवतः बहुत-से योग्य विद्वान् आक्रमणों के कारण उत्तर छोड़कर दक्षिण में जा बसे। तुम आगे चलकर देखोगी कि एक हज़ार वर्ष बाद जब मुसलमानों ने भारत पर हमला किया, तब भी ऐसी ही बात हुई। आज दिन भी उसकी तुलना में दक्षिण-भारत पर विदेशी संघर्ष और संसर्ग का बहुत ही कम प्रभाव पड़ा है। उत्तर के रहनेवालों में बहुत-से लोग एक प्रकार से संमिश्रित संस्कृति में पले हैं—जिसमें पश्चिमी संस्कृति का पुट देकर आर्य्य और मुस्लिम संस्कृतियों का संमिश्रण हुआ है। हमारी भाषा तक—हिंदी, उर्दू या हिंदोस्तानी, उसे कुछ भी कहो—एक वर्ण-संकर भाषा है। लेकिन दक्षिण-भारत, जैसा तुमने खुद देखा है, आज दिन भी प्रधानतया कट्टर हिंदू है। सैकड़ों वर्षों से वह प्राचीन आर्य्य-परंपरा को सुरक्षित और चिरस्थायी बनाए रखने का प्रयत्न करता रहा है, और इस चेष्टा के कारण उसे अपने सामाजिक संघटन को इतना दृढ़ बनाना पड़ा है कि उसकी दृढ़ता और असहिष्णुता आज भी विस्मयोत्पादक है। दीवारें बड़ी खतरनाक साथी हैं। कभी-कभी वे हमें बाहरी बुराइयों से भले ही बचा लें और संभव है, अन-चाहे आगंतुक भी उनके कारण भीतर न आने पाएँ। लेकिन वे तुम्हें भी क़ैदी और दास बना देती हैं। अपनी स्वतंत्रता को बेचकर तुम कथित पवित्रता और निर्भयता पाते हो। सबसे भयंकर दीवारें वे हैं, जो हमारे चित्तों में उठ आती हैं, जिनके कारण हम किसी बुरे आचार-विचार को केवल इसीलिए नहीं त्याग सकते कि वह प्राचीन है; और किसी नए विचार को इसलिए ग्रहण नहीं कर सकते कि वह नवीन है।

लेकिन दक्षिण भारत ने न केवल धार्मिक क्षेत्र में, किंतु कला और चित्रकारी में भी भारतीय आर्य्य-परंपरा को हज़ारों वर्षों से सुरक्षित रखकर वास्तविक सेवा की है। यदि तुम प्राचीन आर्य्यकला के नमूने देखना चाहती हो तो आज दिन भी तुम्हें दक्षिण-भारत जाना होगा। राजनीति में, ग्रीक मैगैस्थनीज़ के द्वारा हमें यह बात मालूम हुई है कि दक्षिण के जनसंघ राजाओं की शक्ति का नियंत्रण करते थे।

जब मगध का ह्रास हुआ, तब न केवल पंडित किंतु कलाकार, शिल्पी और कारीगर भी दक्षिण चले गए। दक्षिण-भारत और योरप के बीच बहुत व्यापार होता था। मोती, हाथी-दाँत, सुवर्ण, चावल, मिर्च, मोर एवं बंदर तक बैबिलान, मिस्र, ग्रीस और बाद में रोम तक को भेजे जाते थे। इससे भी बहुत पहले साखू की लकड़ी मलाबार के समुद्री तट से कैलडिया और बैबिलोनिया को जाती थी। भारतीय जहाजों के द्वारा, जिनको द्राविड़ मल्लाह खेते थे, यह सब व्यापार या उसका अधिकांश होता था। इससे तुम इस बात का अनुमान कर सकती हो कि प्राचीन जगत् में दक्षिण-भारत कितना आगे बढ़ा हुआ था। दक्षिण में बहुत-से रोमन सिक्के मिले हैं; और, जैसा मैं तुम्हें पहले ही लिख चुका हूँ, ऐलैक्जैंड्रियावालों की बस्तियाँ मलाबार-तट पर और भारतीयों की बस्तियाँ ऐलैक्जैंड्रिया में थीं।

अशोक की मृत्यु के थोड़े ही समय बाद आंध्र का राष्ट्र स्वतंत्र हो गया। तुम्हें मालूम है कि आंध्र अब एक कांगरेसी प्रांत है, जो भारत के पूर्वीय तट पर और मद्रास के उत्तर में है। आंध्र-देश की भाषा तैलगू है। आंध्रों की शक्ति अशोक के बाद बहुत जल्दी-जल्दी बढ़ती गई, और यहाँ तक बढ़ी कि वह दक्षिण में एक समुद्री तट से दूसरे समुद्री तट तक फैल गई।

दक्षिण में उसने कई विशाल उपनिवेश दूर देशों में बसाए। लेकिन इनके विषय में हम आगे लिखेंगे।

ऊपर मैंने शक, और दूसरी जातिवालों का उल्लेख किया है, जिन्होंने भारत पर हमले किए और उत्तरी भारत में बस गए। वे भारत ही के अंश बन गए। उत्तरी भारत के हम लोग उनके भी उतने ही वंशधर हैं, जितने आर्य्यों के। विशेष रूप से सुंदर शरीरवाले राजपत और काठियावाड़ के मेहनती लोग तो उन्हीं की सन्तान हैं।

(३०)

कुशानों का सरहदी साम्राज्य

अप्रैल ११, १९३२

मैं तुम्हें अपने पिछले पत्र में भारत पर शकों और तुर्कों के बार-बार हमलों के संबंध में लिख चुका हूँ। मैंने तुमको दक्षिण में शक्तिशाली आंध्र राष्ट्र के उत्थान और वृद्धि का भी हाल बताया है, जो बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक फैला हुआ था। शकों को कुशानों ने भारत की ओर ढकेला था। कुछ समय बाद वे ही कुशान खुद भारतीय रंग-मंच पर आ विराजे। पहली शताब्दी ई० पू० में उन्होंने भारतीय सीमा-प्रांत में एक राज्य स्थापित किया; और यही राष्ट्र बढ़ते-बढ़ते एक विशाल साम्राज्य हो गया। यह कुशान साम्राज्य दक्षिण में काशी और विंध्याचल तक, उत्तर में काशगर, यारकंद और खोतान तक, और पश्चिम में ईरान और पार्थिया की सरहदों तक फैला हुआ था। इस तरह, समस्त उत्तरीय भारत में, जिसमें संयुक्त-प्रांत, पंजाब, काश्मीर शामिल थे, तथा मध्य एशिया के एक बड़े भाग में कुशानों का शासन था। लगभग तीन सौ वर्षों तक—ठीक उन्हीं दिनों, जब आंध्र राष्ट्र दक्षिण-भारत में फल-फूल रहा था—यह साम्राज्य जीवित रहा। पहले तो शायद कुशानों की राजधानी काबुल में थी। बाद में वह हटकर पेशावर या प्राचीन पुरुषपुर में उठ आई; और अंत तक यहीं बनी रही।

यह कुशान-साम्राज्य कई दृष्टियों से रोचक है। यह बौद्ध साम्राज्य था, और उसके प्रसिद्ध शासकों में से एक शासक, सम्राट् कनिष्क, बौद्ध धर्म का श्रद्धालु अनुयायी था। इसका राजधानी पेशावर के पास तक्षशिला में थी, जो बहुत पहले से बौद्ध संस्कृति का केंद्र हो रही थी। मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि कुशान मंगोल या उन्हीं से संबंधित जाति के थे। कुशानों की राजधानी से मंगोलिया के प्रदेश को बहुत-से लोग जाते और वहाँ से यहाँ आते रहे होंगे। बौद्ध पांडित्य और बौद्ध संस्कृति यहीं से अवश्य ही चीन और मंगोलिया में गई होगी। इस तरह पश्चिमी एशिया का बौद्ध विचार-धारा से घनिष्ट संसर्ग हुआ होगा। सिकंदर के ज़माने से पश्चिमी एशिया ग्रीक शासन के आधीन था। बहुत-से ग्रीक अपनी संस्कृति वहाँ लाए थे। यह ग्रीक-एशियाई संस्कृति अब भारतीय बौद्ध संस्कृति के साथ संमिश्रित होने लगी।

इस तरह चीन और पश्चिमी एशिया भारत से प्रभावित हुए। लेकिन उसी प्रकार भारत उनसे प्रभावित हुआ। पश्चिम में ग्रीक रोमन जगत, पूर्व में चीनी दुनिया और दक्षिण में भारतीय संसार से घिरा हुआ कुशान-साम्राज्य किसी विशालकाय देव के समान एशिया की पीठ पर सवारी गाँठे बैठा था। वह भारत और रोम तथा भारत और चीन के बीच में मध्यवर्ती चट्टी (या विश्राम-गृह) का काम देता था।

ऐसी दशा में तुम अनुमान कर सकती हो कि कुशान-साम्राज्य की मध्यवर्ती स्थिति ने भारत और रोम के पारस्परिक संसर्ग को घनिष्ट बनाने में बहुत सहायता पहुँचाई। रोमन

प्रजातंत्र के अंतिम समय से (जब जूलियस सीज़र जीवित था) रोमन साम्राज्य की प्रथम दो शताब्दियों तक कुशानों ने शासन किया। यह कहा जाता है कि कुशान सम्राट् ने आगस्टस सीज़र के पास राजदूत भेजे थे। वे लोग रोम को भारत से जो सौगातें ले गए थे, उनमें तरह-तरह की सुगंध, मसाले, रेशम और ज़री के कपड़े, मलमल, सुनहले वस्त्र और बहुमूल्य रत्न थे। प्लाइनी नामक एक रोमन लेखक ने बड़े कड़े शब्दों में इस बात की शिकायत तक कर डाली है कि रोम से भारत को सोना ढोया चला जाता है। उसका कहना है कि प्रतिवर्ष रोमन साम्राज्य विलास की इन सामग्रियों पर दस करोड़ सस्टर्सेज़* लुटा देता है। यह रक़म लगभग डेढ़ करोड़ रुपए के बराबर होगी।

इस युग में बौद्ध विहारों और बौद्ध संघ के अधिवेशनों में वाद-विवादों और तर्क-वितर्कों की बड़ी धूम थी। दक्षिण और पश्चिम से नए विचारों या नवीन सजधज में प्राचीन विचारों का वहाँ प्रचार होता था। इसके कारण बौद्ध विचार-शैली की सरलता को धक्का पहुँचने लगा। परिवर्त्तन का यह चक्र यहाँ तक घूमा कि अंत में बौद्ध मत दो संप्रदायों में विभक्त हो गया। एक को महायान और दूसरे को हीनयान कहते थे। और, ज्यों-ज्यों नए-नए विचारों तथा नई-नई टीका-टिप्पणियों के साथ-साथ जीवन तथा धर्म्म के विषय में लोगों का दृष्टि-कोण बदलता गया, त्यों-त्यों कला और शिल्प में भी इन विचारों के व्यक्त करने की शैलियों में उलट-फेर होते गए। आज दिन यह कहना कठिन है कि ये परिवर्त्तन कैसे हुए। संभवतः दो प्रमुख—हिंदू और यूनानी—प्रवृत्तियों ने बौद्ध विचार-धारा को एक ही समान दिशा की ओर मोड़ दिया।

जैसा मैं तुमसे कई बार कह चुका हूँ, बौद्धमत जाति-पाँति, पुरोहिताई और कर्म्म-कांड के विरुद्ध विद्रोह था। गौतम बुद्ध ने प्रतिमा-पूजन का समर्थन नहीं किया। उन्होंने अपने को पूज्य देव नहीं कहा। वह तो आप्त पुरुष थे, बुद्ध थे। इस विचार-शैली के अनुरूप बुद्ध का चित्रण मूर्तियों में नहीं हुआ। उन दिनों मंदिर और प्रासादों के निर्माणकर्त्ता अपनी कृतियों में मूर्तियाँ नहीं बनाते थे। लेकिन ब्राह्मण लोग हिंदू-धर्म्म और बौद्ध मत के बीच में सेतु बाँधने को उत्सुक थे। इसीलिए वे बौद्ध विचार-शैली में हिंदू-विचारों और प्रतीकों का प्रचार फैलाने की निरंतर चेष्टा करते थे। ग्रीक-रोमन कलाकार और कारीगर भी देव-मूर्तियाँ बनाने के अभ्यस्त थे। इस प्रकार बौद्ध मंदिरों में मूर्तियों का धीरे-धीरे प्रवेश होने लगा। आरंभ में बुद्ध की नहीं, किंतु बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। बोधिसत्त्व, बौद्धों के मत से, बुद्ध के पूर्वावतार हैं। मूर्ति-निर्माण की यह प्रथा जारी रही, और अंत में स्वयमेव बुद्ध मूर्तियों में अंकित होने और पूजे जाने लगे।

महायान-संप्रदाय ने इन परिवर्त्तनों का स्वागत किया। हिंदू-विचार-परंपरा से वह बहुत मिलता-जुलता था। कुशान-सम्राट् महायान-संप्रदाय के अनुयायी हो गए, और उसके प्रचार में उन्होंने सहायता दी। लेकिन उन्हें हीनयान और दूसरे मतों से कोई विद्वेष न था। कहते हैं, कनिष्क ने पारसी मत को भी प्रोत्साहन दिया था।

उन शास्त्रार्थों के विवरणों को पढ़कर बड़ा मनोरंजन होता है, जो महायान और हीनयान

* एक रोमन मुद्रा

के तुलनात्मक गुणों के विषय में पंडित-मंडली में हुआ करते थे। इस उद्देश से संघ के बड़े-बड़े अधिवेशन होते थे। कनिष्क ने संघ का एक साधारण अधिवेशन काश्मीर में आमंत्रित किया था। कई सौ वर्षों तक उपर्युक्त प्रश्न पर वाद-विवाद होता रहा। महायान की उत्तर भारत में और हीनयान की दक्षिण भारत में विजय हुई। अंत में दोनों ही मत भारत के हिंदू धर्म्म में लीन हो गए। इस समय महायान चीन, तिब्बत और जापान में तथा हीनयान लंका और बर्म्मा में प्रचलित है।

जाति-विशेष की कला वह शीशा है जिसमें हमें उसकी आत्मा का सच्चा प्रतिबिंब दिखाई देता है। अतएव, जब आरंभिक बौद्ध विचार-शैली अपनी सरलता को छोड़कर श्रम-सिद्ध प्रतीकवाद में बदल गई, तब भारतीय कला भी अधिकाधिक श्रम-सिद्ध और आलंकारिक बन गई। विशेष रूप से उत्तर-पश्चिमी गांधार की महायानी मूर्त्तियों में अलंकार और कारीगरी की भरमार है। मंदिरों के निर्माण में हीनयान इस नवीन प्रवृत्ति के प्रभाव से एकदम अछूता न बचा। धीरे-धीरे उसने भी अपनी आरंभिक संयमशीलता एवं सरलता को खो दिया, और अलंकार-पूर्ण (पत्थर पर) खोदाई और प्रतीकों को अपना लिया।

आज दिन भी हमें इस युग के कुछ स्मारक मिलते हैं। सब से रोचक अजंता के कुछ सुंदर मंडोदक* चित्र हैं। गत वर्ष तुम उन्हें देखने को जाते-जाते रह गईं। वहाँ जाने के दूसरे अवसर को तुम्हें किसी तरह भी हाथ से न खोना चाहिए।

आओ, अब हम कुशानों को छोड़कर आगे बढ़ चलें। लेकिन यह याद रखना कि शकों और दूसरी तुर्की जातियों के समान ही कुशान भी इस भाव से न तो भारत में आए और न राज्य ही किया कि, मानो, वे कोई विदेशी जातिवाले विजित देश पर शासन कर रहे हों। वे भारत और भारतवासियों के साथ धर्म्म के सूत्र में बँधे थे। इसके अतिरिक्त भारत के आर्य्यों की शासन-प्रणाली को उन्होंने अपना लिया था। वे बहुत-से अंशों में भारतीय पद्धति में खप गए थे; इसी-लिए वे लगभग तीन सौ वर्षों तक उत्तर भारत में राज्य कर पाए।
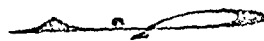
*इन्हें अँगरेज़ी में फ्रेस्को (Fresco) कहते हैं। दीवारों या छतों पर अंकित रंगीन चित्रों को मंडोदक चित्र कहते हैं।

(३१)

ईसा और ईसाई मत

अप्रैल १२, १९३२

उत्तर पश्चिमी भारत के कुशान साम्राज्य और चीन के हान राजवंश का उल्लेख करने में हम इतिहास की एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना को पीछे छोड़ गए। यह घटना युग परिवर्तन-कारिणी थी। इससे एक युग का अंत और दूसरे युग का आरंभ हुआ। इसीलिए इस घटना को दो युगों की संधि सूचित करनेवाला विशाल स्तंभ * या विशाल युग-स्तंभ कहते हैं। आओ, हम इस युग-स्तंभ को लौट चलें। अभी तक हमने जो तिथियाँ दी हैं वे ईसा के पूर्व या ई० पू० की थीं। अब हम ईसाई संवत् में पहुँच गए। आगे से जो तिथियाँ हम देंगे, वे ईसा के पश्चात् अर्थात् ई० स० की होंगी। जैसा नाम ही से प्रकट है, इस संवत् का आरंभ ईसा की अनुमानित जन्म-तिथि से माना जाता है। वास्तव में यही अधिक संभव मालूम होता है कि इस तिथि से चार साल पहले ही ईसा का जन्म हो गया था। लेकिन इससे कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता। ईसा के पश्चात् की घटनाओं की तिथियों के बाद से ई० स० के जोड़ने का चलन है। इस बहु-प्रचलित प्रथा का अनुसरण करने में कोई हानि नहीं, लेकिन मुझे ई०प०—ईसा के पश्चात्—लिखना अधिक वैज्ञानिक मालूम होता है, जैसे ईसा के पूर्व की घटनाओं की तिथियों के बाद हम ई० पू० लिखते हैं। वैसे ही मैंने ई० प० ही लिखने का निश्चय किया है।

मसीहा या ईसा—यही उनका नाम था—की कथा बाइबिल के नव संदेश-नामक उत्तरार्ध में मिलती है, और तुम्हें उसका कुछ कुछ ज्ञान भी है। बाइबिल के गास्पेल-नामक भागों में जो विवरण हैं, उनमें उनकी युवावस्था का बहुत कम हाल मिलता है। वह नेज़रैथ में पैदा हुए, उन्होंने गैलली में प्रचार किया, और तीस वर्ष से अधिक आयु होने पर वह जेरूसलम आए। इसके थोड़े दिनों बाद पांटियस पाइलेट-नामक रोमन गवर्नर के सामने उनका मुक़द्दमा पेश हुआ और उन्हें सज़ा मिली। यह बात स्पष्ट नहीं है कि प्रचार-कार्य को आरंभ करने के पहले ईसा ने क्या किया और वह कहाँ रहे। सारे मध्य एशिया, काश्मीर, लद्दाख, और तिब्बत में तथा उसके उत्तरीय प्रदेशों में भी लोगों की यह दृढ़ धारणा है कि ईसा ने वहाँ भ्रमण किया था। कुछ लोगों का विश्वास है कि वह भारत में भी आए थे। इस संबंध में कोई बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। बहुत-से विद्वान्, जिन्होंने ईसा की जीवनी का अनुशीलन किया है, इस बात पर विश्वास नहीं करते कि ईसा भारत या मध्य एशिया को गए थे। लेकिन यह बात वस्तुतः असंभव नहीं प्रतीत होती कि उन्होंने ऐसा किया था। उन दिनों भारत के बड़े-बड़े विश्वविद्यालय, विशेष रूप से उत्तर-पश्चिम का तक्षशिला, दूर-दूर देशों से उत्साही विद्यार्थियों को आकर्षित करते थे। संभव है, ईसा भी

* अँगरेज़ी के Land-Mark (लैंड-मार्क) शब्द का हिंदी में कोई प्रचलित पर्यायवाची शब्द नहीं मिलता। हम आगे से युग-स्तंभ का इस अर्थ में प्रयोग करेंगे

ज्ञान की खोज में वहाँ आए हों। बहुत-सी बातों में ईसा के उपदेश गौतम के उपदेशों से इतने मिलते-जुलते हैं कि यह बहुत संभव मालूम होता है कि वह बुद्ध के उपदेशों से पूरे तौर से परिचित थे। लेकिन बौद्ध मत का ज्ञान दूसरे देशों के लोगों को भी अच्छी तरह था; इससे भारत में आए बिना भी वह उससे अच्छी तरह परिचित हो सकते थे। स्कूल की प्रत्येक लड़की जानती है, कि मतमतांतरों के कारण समय-समय पर संघर्ष और घातक युद्ध हुए हैं। लेकिन विश्व-धर्म्मों के आरंभ का निरीक्षण और उनकी तुलना करना मनोरंजक है। उनके दृष्टि कोणों और सिद्धांतों में इतनी समानता है कि यह देखकर अचरज होता है कि लोग छोटी छोटी और गौण बातों को उठाकर लड़ने की मूर्खता क्यों करते हैं। लेकिन आरंभिक उपदेशों में दूसरी बातें जोड़ दी जाती हैं, जिससे उनका असली रूप विकृत हो जाता है। प्रवर्तक का स्थान संकीर्णहृदय और असहिष्णु कट्टर-पंथी ले लेते हैं। बहुधा अनुगामी सेवक बनकर, धर्म्म राजनीति और साम्राज्यवाद की सेवा करते रहे हैं। रोमनों की यह चिरपरिचित नीति थी कि जनता के कल्याण के लिए अथवा अधिकतर उन्हें चूसने के अभिप्राय से अंधविश्वासों को प्रोत्साहन दिया जाय। यदि जनता अंधविश्वासिनी है तो उसे दबाए रहना अधिक सरल होता है। उच्च जाति के रोमन दार्शनिक विचारों के साथ भले ही क्रीड़ा करें, लेकिन जो बात उनके लिए अच्छी थी, वह जनता के लिए न तो हितकर थी और न निरापद। मैकैवैली नामक एक उत्तर-कालीन इटैलियन लेखक ने राजनीति पर एक पुस्तक लिखी है। उसका कहना है कि शासन के लिए धर्म्म की आवश्यकता है और ऐसे धर्म्म की सहायता करना भी शासक के लिए आवश्यक हो सकता है, जिसे वह असत्य समझता हो। आधुनिक काल में भी हमें ऐसे अगणित उदाहरण मिलते हैं जिनमें साम्राज्यवाद ने धर्म्म की ओट में अपना विस्तार बढ़ाया है। ऐसी दशा में कार्ल मार्क्स का यह लिखना आश्चर्यजनक नहीं कि—

"धर्म्म जनता की अफीम है।"

ईसा यहूदी थे। यहूदी लोग बड़े अजीब और विचित्र रूप से धुन के पक्के होते थे और होते हैं। डैविड और सुलेमान के युग के अल्पकालिक वैभव के बाद, उनके बुरे दिन आए। इस वैभव की भी मात्रा थोड़ी ही थी; लेकिन उनकी कल्पना ने उसे इस हद तक बढ़ाया कि अंत में वह भूतकालीन सुवर्ण युग हो गया, जो एक निश्चित समय पर फिर लौट आनेवाला था उनकी धारणा थी कि तब यहूदी फिर महाशक्तिशाली हो जाएँगे। वे रोमन साम्राज्य और दूसरे देशों में फैल गए, लेकिन उनके इस दृढ़ विश्वास ने उनकी एकता को नष्ट नहीं होने दिया कि उनके वैभव के दिन आनेवाले हैं और एक मसीहा उन्हें वह दिन दिखाएगा। यह इतिहास की एक आश्चर्यमयी समस्या है कि कैसे गृहहीन, आश्रयहीन, अत्यंत पीड़ित और संतप्त एवं बहुधा मृत्यु के अतिथि बनाए जानेवाले यहूदियों ने दो हजार वर्षों से अधिक समय तक अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रक्खा; और आज दिन भी उनमें एकता है तथा वे धनवान् और शक्ति-संपन्न हैं।

यहूदी एक मसीहा की प्रतीक्षा कर रहे थे, और कदाचित् ईसा से उन्हें इसी प्रकार की आशा थी। लेकिन उन्हें जल्द ही निराश होना पड़ा। क्योंकि ईसा एक विचित्र भाषा में प्रचलित प्रणाली और सामाजिक संघटन के विरुद्ध विद्रोह करने की बातें कहते थे। विशेषकर, वह धनिकों

और उन ढोंगियों के, जो कुछ विशेष विधानों और पूजन-क्रियाओं ही को धर्म्म समझने लगते हैं, विरोधी थे। धन और ऐश्वर्य देने की प्रतिज्ञा करने के स्थान में वह उलटे, स्वर्ग के अव्यक्त और काल्पनिक राज्य की लालसा में, लोगों से उनके पास जो कुछ था उसे भी त्याग देने को कहते थे। वह कथा-कहानियों द्वारा उपदेश देते थे। यह स्पष्ट है कि वह जन्म से ही ऐसे विद्रोही थे, जो प्रचलित परिस्थिति को देख नहीं सकते थे और उसे बदलने पर उतारू थे परंतु; यह तो वह बात न थी, जिसे सुनने को यहूदी लालायित थे। इसलिए अधिकतर यहूदी उनके विरुद्ध होगए और उन लोगों ने उन्हें रोमन शासकों के हाथ पकड़वा दिया।

धर्म्म के मामलों में रोमन असहिष्णु न थे वे साम्राज्य में सभी तरह के मत-मतांतरों को समदृष्टि से देखते थे। यदि कोई आदमी किसी देवता को भला-बुरा कहता या उसकी निंदा करता था तो उसे सज़ा न दी जाती थी। जैसा टाइबीरियस-नामक एक सम्राट् ने कहा था, "यदि देवताओं का अपमान होता है तो उन्हें स्वयमेव बदला लेना चाहिए।" अतएव, जब पांटियस पाइलैट नामक रोमन गवर्नर के सामने ईसा पकड़कर पेश किए गए, तब उसको इस मामले के धार्मिक पहलू से कुछ भी चिंता न हुई होगी। ईसा एक राजनीतिक और यहूदियों की दृष्टि में, सामाजिक विद्रोही माने जाते थे। अतः इसी अपराध में उन्हें गैथसमेन-नामक स्थान पर सज़ा मिली और गालगोथा नामक स्थान पर वह सूली पर चढ़ाए गए। परम वेदना की घड़ी में उनके चुने हुए शिष्य तक उन्हें छोड़कर भाग खड़े हुए, और यहाँ तक कह बैठे कि वे उनको जानते तक नहीं। इन शिष्यों ने अपने विश्वासघात से उनकी पीड़ा को प्रायः असह्य बना दिया, जिससे मरते समय वह विचित्र रूप से हृदय को हिला देनेवाले इन शब्दों में चिल्ला उठे:—"मेरे भगवन्, मेरे भगवन्, तूने मुझे क्यों त्याग दिया है?"

ईसा जब मरे तब वह जवान ही थे। उस समय उनकी आयु तीस साल से कुछ ही अधिक थी। हम गास्पैलों की सुंदर भाषा में उनकी मृत्यु की कारुणिक कहानी पढ़ते और द्रवित हो जाते हैं। पिछली सदियों में ईसाई मत की वृद्धि ने करोड़ों मनुष्यों को ईसा के नाम के प्रति श्रद्धालु बना दिया है, परंतु उन्होंने उनके उपदेशों का बहुत कम अनुसरण किया है। हमें याद रखना चाहिए कि जब वह सूली पर चढ़ाए गए थे तब फ़िलिस्तीन के बाहर बहुत थोड़े आदमी उनको जानते थे। रोम के निवासी उनके विषय में कुछ भी नहीं जानते थे। पांटियस पाइलेट ने भी इस घटना को बहुत ही स्वल्प महत्व दिया होगा।

ईसा के निजी अनुयायी और शिष्य इतने भयभीत और सशंकित हो गए थे कि वे उनके साथ अपने संबंध तक को अस्वीकार करने लगे थे। लेकिन थोड़े ही दिनों बाद, पाल-नामक एक व्यक्ति ईसाई हो गया। उसने ख़ुद ईसा को कभी नहीं देखा था, परंतु जिन सिद्धांतों को वह ईसाई सिद्धांत समझता था, उनका उसने प्रचार करना शुरू कर दिया। बहुत से लोगों की धारणा है कि जिस ईसाई मत का प्रचार पाल ने किया, वह ईसा के उपदेशों से बहुत बातों में भिन्न था। पाल एक योग्य और विद्वान् पुरुष था, लेकिन वह ईसा की तरह सामाजिक विद्रोही न था। पाल को सफलता प्राप्त हुई, और ईसाई मत धीरे-धीरे फैलने लगा। आरंभ में तो रोम-वालों ने इस मत को कुछ अधिक महत्व नहीं दिया। उनके विचार में ईसाई मत भी यहूदियों

का एक संप्रदाय-मात्र था। लेकिन ईसाई अपनी धुन के पक्के और दुराग्रही थे। वे दूसरे मतों का विरोध और रोमन सम्राट् की प्रतिमा की पूजा करने से इनकार करते थे। रोमन इस तरह की मनोवृत्ति और, उनके अनुसार, इस प्रकार की संकीर्णता को समझ ही नहीं सकते थे। अतएव वे ईसाइयों को सनकी, झगड़ालू, असभ्य और मानव-प्रगति का विरोधी समझते थे। धार्मिक दृष्टि से वे उनकी उपेक्षा कर जाते; लेकिन सम्राट् की प्रतिमा के समादर के विषय में ईसाइयों की आपत्ति तो राजनीतिक विद्रोह थी। यह नियम बना दिया गया कि ऐसे अपराधी को मौत की सजा दी जाय। ईसाई ग्लैडेटोरियल तमाशों की भी कड़ी समालोचना करते थे। इसके बाद ईसाई सताए जाने लगे; उनकी जायदादें ज़ब्त कर ली जाती थीं और वे शेरों के सामने फेंक दिए जाते थे। तुमने ईसाई शहीदों की कहानियाँ अवश्य पढ़ी होंगी। शायद तुमने उनके चित्रपट भी देखे हों। लेकिन जब कोई आदमी किसी आंदोलन के लिए मरने को तैयार हो जाता है, और—इससे भी अधिक—ऐसी मृत्यु में गौरव का अनुभव करने लगता है, तब उसे या उस आंदोलन को जिसका वह प्रतिनिधि है दबाना असंभव हो जाता है। रोमन साम्राज्य ईसाई मत को दबाने में एकदम असफल रहा। सचमुच, ईसाई मत इस संघर्ष में विजयी हुआ, और ईसा के बाद चौथी शताब्दी के आरंभिक भाग में एक रोमन सम्राट् स्वयमेव ईसाई हो गया, और उस समय से ईसाई मत साम्राज्य का राजधर्म्म माना जाने लगा। इस सम्राट् का नाम कानस्टेंटाइन था, उसी कानस्टेंटाइन ने कानस्टेंटिनोपल या कुस्तुनतुनिया नगर बसाया। इसके संबंध में हम बाद में लिखेंगे।

ज्यों-ज्यों ईसाई मत की वृद्धि होती गई त्यों-त्यों ईसा के ईश्वरत्व के संबंध में झगड़े बढ़ने लगे। तुम्हें याद होगा कि मैं तुम्हें यह बता चुका हूँ कि जिन गौतम बुद्ध ने ईश्वरत्व का कभी दावा नहीं किया था, उन्हीं की कैसे देवता और अवतार के रूप में पूजा होने लगी। इसी तरह, ईसा ने भी ईश्वरत्व का कोई दावा नहीं किया। उनकी पुनरुक्तियों का कि वह ईश्वर के बेटे और मनुष्य के बेटे थे, यह अनिवार्य्य अर्थ नहीं है कि उन्होंने ईश्वर या मनुष्योपरि होने का दावा किया। लेकिन मनुष्यों को अपने महापुरुषों को देवता बनाना भाता है, यद्यपि उन्हें देवता बनाने के बाद उनका अनुसरण करने में वे उदासीन हो जाते हैं! छः सौ वर्ष बाद पैग़म्बर मोहम्मद ने एक दूसरे महाधर्म्म का प्रवर्त्तन किया, और संभवतः इन उदाहरणों से लाभ उठाते हुए ही उन्होंने स्पष्ट शब्दों में बार-बार यह कहा कि वह ईश्वर नहीं किंतु मनुष्य थे।

इस तरह, ईसा के सिद्धांतों को समझने और जीवन में उन सिद्धांतों का अनुसरण करने के स्थान में ईसाई ईसा के ईश्वरत्व के स्वरूप और त्रिमूर्ति के संबंध में बहस करने और झगड़ने लगे। वे एक दूसरे को नास्तिक कहते, एक दूसरे को सताते और एक दूसरे का गला काटते थे। एक समय विभिन्न ईसाई संप्रदायों में एक संयुक्त-अक्षर के प्रयोग के पीछे, बड़ी गहरी बहस छिड़ गई। एक दल का कहना था कि प्रार्थना में *Homo-Ousion* (होमो-ऊसिअन) शब्द का प्रयोग होना चाहिए; दूसरा दल *Homoi-Ousion* (होमाइ-ऊसिअन) शब्द को ठीक बताता था। इस मत-भेद का ईसा के ईश्वरत्व से संबंध था। इस संयुक्त अक्षर के पीछे भीषण युद्ध हुआ, और बहुत-से आदमी मारे गए।

ये घरेलू झगड़े तब हुए, जब ईसाई-संघ की शक्ति बढ़ रही थी। अब से कुछ दिन पहले तक पश्चिमी देशों में ये झगड़े विभिन्न ईसाई संप्रदायों में चलते रहे।

तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि ईसाई मत इँगलैंड और पश्चिमी योरप में जाने से बहुत पहले भारत में आया था, वह यहाँ उस समय आया था। जब स्वयमेव रोम में तिरस्कृत और पीड़ित संप्रदाय के रूप में प्रचलित था। ईसा के मरने के सौ, सवा-सौ, साल के भीतर ही ईसाई उपदेशक समुद्र-मार्ग से दक्षिण भारत में आए। उनका सादर स्वागत किया गया, और उन्हें अपने नए मत के प्रचार करने की आज्ञा दी गई। उन्होंने बहुत-से आदमियों को अपने मत का अनुयायी बनाया। ये लोग कभी अच्छी और कभी बुरी दशा में तब से आज तक रहते चले आए हैं। उनमें से बहुतेरे उन प्राचीन संप्रदायों के अनुयायी हैं, जिनका योरप में नाम तक मिट गया है। इनमें से कुछ के प्रधान केंद्र एशिया माइनर में हैं।

ईसाई मत, राजनीतिक दृष्टि से, इस समय सबसे अधिक प्रभावशाली मत है, क्योंकि उसी के अनुयायी योरप में प्रभावशाली हैं। लेकिन जब हम विद्रोही ईसा की—अहिंसा का और सामाजिक संघटन के विरुद्ध विद्रोह का प्रचार करते हुए विद्रोही ईसा की—बात सोचते और उनके वर्तमान के तुमुल-रव-कारी अनुयायियों से और इन अनुयायियों के साम्राज्यवाद, शस्त्रास्त्रों, संग्रामों तथा धन की उपासना से उनकी तुलना करते हैं; तब अचरज होने लगता है। पहाड़ी के ऊपर वाला उनका उपदेश (Sermon on the Mount) और आधुनिक योरप तथा अमेरिका का ईसाई मत—दोनों में कितनी अद्भुत असमानता है। इसीलिए यह कोई अचरज की बात नहीं है यदि बहुत-से लोग यह सोचने लगें कि आज दिन पश्चिम के कथित ईसाई को देखते हुए बापू (महात्मा गांधी) ईसा के उपदेशों के कहीं अधिक समीप हैं।

(३२)

रोमन साम्राज्य

अप्रैल २२, १९३२

प्यारी बेटी, मैंने बहुत दिनों से तुम्हें कोई पत्र नहीं लिखा है। प्रयाग से जो समाचार, विशेषकर डोल अम्मा के जो समाचार, मुझे यहाँ मिले हैं, वे मुझे एक साथ ही चिंतित और प्रफुल्लित कर देते हैं। जेल में अपना आराम मुझे खलने-खटकने लगता है, जब मैं यह सुनता हूँ कि मेरी दुबली-पतली और कमज़ोर मा पुलिस की लाठियों के प्रहारों का सामना करते हुए डंडे खा रही हैं। लेकिन मुझे न तो अपने मन को चंचल होने और न कहानी की गति ही को रुकने देना चाहिए।

आओ, रोम या, प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के अनुसार, रोम को लौट चलें। तुम्हें याद होगा कि रोमन प्रजातंत्र के अंत और रोमन साम्राज्य के आगमन का उल्लेख हम कर चुके हैं। जूलियस सीज़र का औरस पुत्र, आक्टेवियन, आगस्टस सीज़र के नाम से, सम्राट् बना। उसने दो कारणों से राजा की उपाधि नहीं धारण की। एक तो उसे यह उपाधि बहुत तुच्छ जँचती थी, दूसरे वह प्रजातंत्र के बाह्य रूप को जैसे का तैसा बनाए रखना चाहता था। इसलिए वह अपने को इम्परेटर या सेनापति कहता था। इस तरह यह 'इम्परटर' शब्द सर्वोच्च उपाधि का सूचक बन गया; और, जैसा शायद तुम्हें मालूम है, अँगरेज़ी शब्द 'ऐम्परर' इसीसे निकला है। अतएव, आरंभिक रोमन साम्राज्य ने ऐसे दो शब्द—ऐम्परर और सीज़र अथवा क़ैसर या ज़ार—संसार को दिए, जिनपर दुनिया भर के राजे-महाराजे सदियों से जान देते आए हैं और उनका प्रयोग करते रहे हैं। आदि में यह धारणा थी कि एक समय में एक ही सम्राट्, एक तरह का चक्रवर्ती महेश्वर, हो सकता है। पश्चिम के लोग रोम को संसार की स्वामिनी कहते और यह समझते थे कि रोम ही सारे संसार पर हावी है। वास्तव में यह धारणा निर्मूल थी। इससे भूगोल और इतिहास से अनभिज्ञता प्रकट होती है। रोमन साम्राज्य तो अधिकांश में केवल भूमध्यसागर का तटवर्ती साम्राज्य था, जिसका पूर्व में इराक़ से परे विस्तार कभी नहीं हुआ। समय-समय पर चीन और भारत में रोमन साम्राज्य से कहीं अधिक विस्तृत, कहीं अधिक शक्तिशाली और कहीं अधिक सुसंस्कृत राष्ट्र हुए हैं। तो भी यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि पश्चिमी जगत् के लिए तो रोम ही एकमात्र साम्राज्य था। इस दृष्टि से प्राचीन काल के लोग उसी को विश्व-साम्राज्य समझते थे।

रोम के संबंध में सबसे आश्चर्य-जनक बात यह है कि उसके मूल में इस विचार—संसार के आधिपत्य, जगत् के नेतृत्व, का भाव—या भावना का अस्तित्व था। जब रोम का अधःपतन हो गया, उस समय भी इसी भावना ने उसकी रक्षा की और उसे सबल बनाया। यह भावना उस समय भी सजीव बनी रही जब स्वयमेव रोम से उसका कुछ भी संबंध शेष न रह गया था; यहाँ तक कि साम्राज्य विलीन हो गया परंतु भाव जैसे का तैसा ही बना रहा।

रोम और उसके उत्तराधिकारियों के विषय में कुछ लिखना मुझे कठिन मालूम होता है। मेरे लिए यह आसान नहीं है कि मैं तुम्हारे लिए किन बातों को चुनूँ और किन्हें छोड़ जाऊँ। मुझे भय है कि जिन पुरानी किताबों को मैंने पढ़ा है, उनसे मैंने बहुत-से असंबंधित घटना-चित्रों को जमा कर लिया है। ऐसी दशा में मेरा मस्तिष्क एक ऐसा पिटारा बन गया है, जिसमें कहीं का ईंट, कहीं का रोड़ा लेकर भानमती कुनबा जोड़ा करती है। जेल में मैंने प्राचीन रोम के इतिहास का पाठ किया था। सच बात तो यह है कि अगर मैं जेल न आया होता तो रोमन इतिहास की एक प्रसिद्ध पुस्तक के पढ़ने की शायद कभी नौबत ही न आती। किताब इतनी बड़ी है कि दूसरे झंझटों में फँसे रहने के कारण उसको अंत तक पढ़ने के लिए समय मिलना कठिन है। उसका नाम है 'दि डैक्लाइन एंड फ़ॉल ऑफ़ दि रोमन ऐम्पायर' (अर्थात्, रोमन साम्राज्य का पतन)। इसे गिबन नामक एक अँगरेज़ ने लिखा है। लगभग डेढ़ सौ साल हुए जब यह पुस्तक हास और स्विटज़रलैंड में लैक लैमन नामक झील के तट पर लिखी गई थी; लेकिन आज भी उसको पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है। किसी हद तक आलंकारिक किन्तु श्रुति-मधुर भाषा में वर्णित उसकी कहानी मुझे तो उपन्यास से भी अधिक मनोहारिणी मालूम हुई। दस साल हुए मैंने उसे लखनऊ के डिस्ट्रिक्ट जेल में पढ़ा था। उसकी भाषा के बल से चित्रित, प्राचीन काल के चित्रों में मगन रहते हुए मैंने सखा-रूपी गिबन के साथ एक महीना बिताया। किताब समाप्त भी न होने पाई थी कि मैं एकाएक छोड़ दिया गया। जादू खंडित हो गया। प्राचीन रोम और कानस्टैंटिनोपल को लौट जाने के लिए अनुकूल मनोवृत्ति लाने और उसके अवशिष्ट सौ, सवा सौ पृष्ठों को पूरा करने के लिए समय निकालने में मुझे कठिनाई हुई।

लेकिन यह तो लगभग दस साल पहले की बात है। उस समय मैंने जो कुछ पढ़ा था, उसमें से बहुत अंश को मैं भूल भी गया हूँ। तो भी जितना याद है वह चित्त को परिपूर्ण और क्षुभित करने के लिए काफ़ी है। मैं नहीं चाहता कि इसी भ्रांति और क्षोभ में तुम्हें भी फँसा दूँ।

आओ, पहले पहल हम युगांतर व्यापी रोमन साम्राज्य या साम्राज्यों पर एक नजर डालें। बाद में चित्र को थोड़ा-बहुत भरने की चेष्टा की जाएगी।

रोमन साम्राज्य ईसाई संवत् आरंभ होने के कुछ पहले आगस्टस सीज़र के समय से शुरू हुआ। थोड़े दिनों तक तो सम्राट् सैनेट का कुछ आदर-सत्कार करते रहे; लेकिन बहुत ही जल्द प्रजातंत्र के अंतिम चिह्न भी मिट गए, और सम्राट् ही सर्व-शक्तिमान्, पूर्णरूप से स्वेच्छाचारी अधीश्वर, प्रायः देव-तुल्य, हो गए। अपने जीवन-काल में उनकी अर्ध-देव के रूप में पूजा होती था, और मरने पर वह पूरी तौर से देवता हो जाते थे। सामयिक लेखकों ने आदि काल के सम्राटों को—विशेषकर आगस्टस को—सर्वगुण-सम्पन्न लिखा है। वे उसके समय को सुवर्ण युग, आगस्टस का युग कहते हैं, उस समय सर्वत्र भलाई ही भलाई थी, भले आदमी इनाम और बुरे आदमी सज़ा पाते थे। अनियंत्रित शासकों के राज्यों में जहाँ राजा की प्रशंसा से टेंट गर्म होती है, लेखक इसी पथ पर चला करते हैं। लैटिन भाषा के कुछ परम प्रसिद्ध लेखक—वरजिल, ओविड, होरेस—इसी युग में पैदा हुए थे। इनकी किताबों को हमें स्कूल में पढ़ना पड़ा

था। यह संभव है कि जो घरेलू लड़ाई-झगड़े प्रजातंत्र के अंतिम दिनों में हुआ करते थे, उनके बाद शांति के दिनों को देखकर जनता बड़ी सांत्वना का अनुभव करती होगी। व्यापार और किसी अंश में सभ्य जीवन भी फलने-फूलने लगे थे।

लेकिन यह सभ्यता क्या थी? यह तो धनिकों की सभ्यता थी: प्राचीन ग्रीस के कलाविद् और कुशाग्र-बुद्धि धनिकों की-सी नहीं, किंतु ऐसे साधारण और मंद बुद्धिवाले मुंडों की सभ्यता थी, जिनका एकमात्र उद्यम आत्मरंजन था। दुनिया भर से भोजन और विलास की सामग्रियाँ उनके लिए आती थीं: और हर तरफ़ बड़ी तड़क-भड़क तथा शान-शौक़त दिखाई देती थी। ऐसे लोगों के कुनबे अभी तक नहीं मिटे हैं। वहाँ वैभव था, आडंबर था और थे चटकीले-मटकीले जुलूस एवं सरकसों में खेल-तमाशे, जिनमें ग्लैडिएटर मौत के घाट उतारे जाते थे। इस ऐश्वर्य्य के पीछे जनता की यातनाएँ थीं; राजकरों का भारी बोझ था, जिसके नीचे जन-साधारण ही अधिकांश में पिसते थे; और था असंख्य दासों के सिर पर लादा हुआ परिश्रम का पहाड़। रोम के महापुरुषों ने चिकित्सा का काम, दार्शनिक विवेचन और जीवन की समस्याओं का चिंतन भी अपने दासों के मत्थे छोड़ रक्खा था। जिस संसार का प्रभु वे अपने को कहते थे, उसी संसार के संबंध में ज्ञातव्य बातों की खोज करने या सीखने की बहुत ही कम चेष्टा की जाती थी।

सम्राट् के बाद सम्राट् होते गए। उनमें से कुछ बुरे, और कुछ बहुत ही बुरे निकले। धीरे-धीरे सेना सर्व-शक्तिशालिनी हो गई। वही सम्राटों को बनाया-बिगाड़ा करती थी। इस तरह सेना के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए बोली बोली जाने लगी। उसको घूस देने के लिए जनता या विजित देश लूटे जाते थे। आमदनी का एक बड़ा साधन दासों का व्यापार था। इसलिए रोमन सेनाएँ संघटित रूप से दास बनाकर बेंचने के लिए पूर्वीय देशों की प्रजा को पकड़ती थीं। फ़ौज के साथ दासों के व्यापारी भी रहते थे, जिसमें वे उन्हें मौक़े ही पर मोल ले लें। डेलास का टापू, जो प्राचीन ग्रीकों का एक धर्म्म-क्षेत्र था, दासों के व्यापार का एक बड़ा केंद्र हो गया। यहाँ पर कभी-कभी १० हजार दास तक एक दिन में बिकते थे। रोम के विशाल कालोसियम में एक सम्राट, जो जनता का दुलारा था, १२०० ग्लैडिएटरों को जनता के सामने एक साथ पेश करता था। इन दासों को सम्राट् और उसकी प्रजा को तमाशा दिखाने के लिए मरना पड़ता था।

साम्राज्य के दिनों में रोमन सभ्यता ऐसी थी। इसपर भी हमारे मित्र गिबन ने लिखा है—"यदि किसी आदमी से संसार के इतिहास में ऐसे युग का नाम लेने को कहा जाय, जब मानव जाति अधिक-से-अधिक सुखी और संपन्न थी, तो निस्संकोच होकर वह उस युग का नाम लेगा, जिसका अवधि-विस्तार डामीशियन की मृत्यु से कामोडस के राज्याभिषेक तक था—इस का अर्थ है ८४ वर्ष, अथवा ९६ ई० प० से १८० ई० प० तक।" मुझे आशंका है कि पंडित होते हुए भी गिबन ने ऐसी बात कही है, जिससे सहमत होने में अधिकांश आदमियों को संकोच होगा। वह मानव जाति का ज़िक्र करता है, जिससे उसका अभिप्राय मुख्यतया भूमध्यसागर वाले संसार से है। उसे भारत, चीन या प्राचीन मिस्र का प्रायः कुछ भी ज्ञान न रहा होगा।

लेकिन संभवतः रोम के साथ मैं सख्ती कर रहा हूँ। रोम के अधीन देशों में कुछ मात्रा में भी शांति के स्थापित होने से अवश्य सुखद परिवर्तन हुआ होगा। सीमाओं पर प्रायः लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। लेकिन कम-से-कम साम्राज्य के प्रारंभिक दिनों में साम्राज्य के अंदर पैक्स रोमना—रोमन शांति—विराजती थी। जान-माल कुछ-कुछ सुरक्षित थे, और इस कारण व्यापार भी उन्नत था। सारे रोमन संसार के निवासियों को रोमन नागरिकों के अधिकार दे दिए गए थे; लेकिन याद रखना कि वेचारे ग़ुलामों को इससे कुछ भी सरोकार न था। और यह भी याद रखना कि जहाँ के सम्राट् सर्वशक्तिशाली थे वहाँ के नागरिकों के अधिकार यत्किंचित् ही थे। राजनीति पर टीका-टिप्पणी करना इंपरेटर के प्रति राजद्रोह समझा जाता था। उच्च श्रेणी के लोगों के लिए किसी अंश में नियमित शासन और एक ही क़ानून था। इससे अनेक आदमियों को, जिन्हें इसके पहले अधम स्वेच्छाचारिता के दिनों में वहुत कष्ट भोगने पड़े थे, वहुत लाभ हुआ होगा।

धीरे-धीरे रोमन इतने आलसी या अयोग्य हो गए कि वे अपनी सेनाओं में भरती होकर लड़ भी नहीं सकते थे। जो वोझ देहात के दीन किसानों पर लाद दिए गए थे, उनके कारण वे और भी अधिक दीन और दरिद्र होते जाते थे। यही हाल शहर में रहनेवालों का भी था। लेकिन नगर-निवासियों को सम्राट् प्रसन्न रखना चाहते थे ताकि वे दंगे-फ़साद न करें। इसलिए रोम के रहनेवालों को मुफ़्त में रोटी वाँटी जाती थी और उनके मनोरंजन के लिए सरकसों में मुफ़्त खेल-तमाशे दिखाए जाते थे। इस प्रकार वे संतुष्ट किए जाते थे, लेकिन मुफ़्त की रोटियाँ थोड़े ही स्थानों में वाँटी जा सकती थीं; और इसके कारण मिस्र जैसे दूसरे देशों के दासों को, जिनसे मुफ़्त आटा लिया जाता था, कष्ट एवं पीड़ा भोगनी पड़ती थी।

रोमन अपनी मर्ज़ी से फ़ौज में भरती न होते थे। इसलिए साम्राज्य के वाहर से लोग—वर्वर लोग, जैसा उन्हें रोमन कहा करते थे—सेना में लिए जाते थे। रोमन फ़ौजों में कुछ समय के वाद अधिकतर ऐसे ही लोग भर गए, जो रोम के शत्रुओं के या तो संवंधी थे या मित्र। सरहद्दों पर ये वर्वर जातियाँ रोमन राज्य को वरावर दवाती और घेरती जाती थीं। ज्यों-ज्यों रोम दुर्वल होने लगा, त्यों-त्यों वर्वर अधिकाधिक सवल और उद्दंड होने लगे। पूर्व दिशा से विशेष रूप में आशंका थी। यह सीमा रोम से दूर थी। अतएव उसकी रक्षा करना भी दुष्कर था। आगस्टस सीज़र के तीन सौ वर्ष वाद, कानस्टैंटाइन-नामक सम्राट ने ऐसा महत्व-पूर्ण काम किया, जिसका आगे चलकर वहुत ही व्यापक परिणाम हुआ। वह साम्राज्य के आसन को रोम से उठाकर पूर्व में ले गया। ब्लैक सी (काले सागर) और भूमध्यसागर के मध्य में वास्फ़रस के तट पर स्थित विज़ेंटियम-नामक प्राचीन नगर के पास उसने एक नया नगर वसाया, जिसका नाम उसने, अपने नाम के अनुकरण में, कानस्टैंटिनोपल रक्खा। तव से कानस्टैंटिनोपल, या नवीन रोम में—उसे इस नाम से भी पुकारते थे—रोमन साम्राज्य की गद्दी रही, और राजधानी स्थापित हुई। आज भी एशिया के वहुत से भागों में कानस्टैंटिनोपल रूम या रोम के नाम से प्रसिद्ध है।

(३३)

रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर अंत में प्रेत बना

अप्रैल २४, १९३२

रोम के साम्राज्य का सिंहावलोकन हम आज भी जारी रक्खेंगे। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी के प्रथम चरण में—३२६ ई० प० में—कानस्टैंटाइन ने प्राचीन बिजेंटियम के भूमिस्थल के पास कानस्टैंटिनोपल की नींव डाली। उसने अपने साम्राज्य की राजधानी प्राचीन रोम से दूर हटाकर बास्फ़रस के तट पर नए रोम में स्थापित की। तुम देखोगी कि कानस्टैंटिनोपल का यह नवीन नगर, योरप के कोने पर खड़ा, शक्तिशाली एशिया की ओर देख रहा है। दो महाद्वीपों के बीच में वह एक तरह की कड़ी है। थल और जल के बहुत-से बड़े-बड़े व्यापारी मार्ग उसीसे होकर जाते थे। नगर और राजधानी के लिए यह बहुत ही सुंदर स्थान है। कानस्टैंटाइन ने राजधानी के लिए बहुत ही उपयुक्त स्थान चुना था; लेकिन उसे या उसके उत्तराधिकारियों को रोम से राजधानी हटाने का मोल भी देना पड़ा। एशिया माइनर और पूर्वीय देशों से जैसे प्राचीन रोम कुछ अधिक दूर था, वैसे ही नई राजधानी भी गाल और ब्रिटेन के समान पश्चिमी देशों से बहुत दूर थी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ समय तक दो संयुक्त सम्राट् होते थे; एक रोम में रहता था, और दूसरा कानस्टैंटिनोपल में। इसका परिणाम यह हुआ कि यह साम्राज्य पश्चिमी और पूर्वीय साम्राज्यों में विधिवत् विभाजित हो गया। लेकिन पश्चिमी साम्राज्य, जिसकी राजधानी रोम में थी, इस विच्छेद के थोड़े ही दिनों बाद समाप्त हो गया। जिन लोगों को वह बर्बर कहता था उनसे वह अपनी रक्षा न कर सका। गाथ-नामक जर्मन जातिवालों ने रोम पर चढ़ाई की और उसे लूट लिया। इसके बाद वैंडाल एवं हूण आए, और पश्चिमी साम्राज्य का तहस-नहस हो गया। तुमने हूण शब्द का प्रयोग होते सुना होगा। विगत महायुद्ध में अँगरेज आम तौर से जर्मनों को हूण कहते थे। उनका उद्देश यह सिद्ध करना था कि जर्मन बड़े क्रूर और बर्बर हैं। बात तो यह है कि लड़ाई में प्रायः हर एक आदमी पागल हो जाता है। उसे सभ्यता और सुजनता के विषय में जो कुछ मालूम होता है, उसे भूलाकर वह क्रूर और बर्बर आचरण करने लगता है। जर्मनों ने भी इसी तरह का आचरण किया; अँगरेज और फ़्रांसीसियों ने भी ऐसा ही किया। कोई किसी से घट-बढ़ नहीं निकला।

इस तरह हूण शब्द क्रूरता को व्यक्त करनेवाला एक भयंकर निंदात्मक शब्द बन गया है। यही हाल वैंडाल का भी है। संभवतः हूण और वैंडाल असभ्य एवं क्रूर थे और उन्होंने बहुत क्षति भी पहुँचाई थी। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि उनके विषय में जो विवरण हमें उपलब्ध हैं, वे उनके शत्रु, रोमनों, से हमें प्राप्त हुए हैं। उनसे यह आशा करना व्यर्थ है कि वे एकदम पक्षपात-रहित होंगे। जो भी हो, गाथ, हूण और वैंडालों ने रोमन साम्राज्य को गुड़ियों के घिरौंदे की तरह तोड़-फोड़ डाला। उनकी सुगम सफलता का एक कारण शायद यह था कि

साम्राज्य की अधीनता में रोमन किसान इतने अधिक पीड़ित थे, उन पर करों का इतना अधिक बोझ लदा था और उन पर इतना अधिक ऋण हो गया था कि वे किसी भी परिवर्त्तन का उसी तरह स्वागत करते थे, जिस तरह आज दिन भारतीय किसान, अपनी भयंकर दरिद्रता और दीनता में, किसी भी परिवर्त्तन का स्वागत करेंगे।

इस तरह रोमन साम्राज्य समाप्त हुआ। कुछ शताब्दियों के बाद, दूसरे ही रूप में, उसका पुनरुत्थान होनेवाला था। लेकिन पूर्वीय रोमन साम्राज्य स्थायी बना रहा, यद्यपि हूण और दूसरों के हमलों से अपनी रक्षा करने में उसे कठिनाई का सामना करना पड़ा। उसने न केवल इन आक्रमणों को झेल डाला, बल्कि अरबों और बाद में तुर्कों से लड़ते-झगड़ते रहने पर भी वह कई शताब्दियों तक चला। ११ सौ वर्षों की आश्चर्योत्पादिनी अवधि तक उसका अस्तित्व बना रहा। जब १४५३ ई० प० में तुर्कों ने क़ानस्टेंटिनोपल पर अपना झंडा गाड़ा तब कहीं उसका अंत हुआ। उस समय से बराबर आज तक, विगत पाँच सौ वर्षों से, कानस्टेंटिनोपल या इस्तंबूल, जैसा उसे पुकारते हैं, तुर्कों के हाथ में चला आया है। वे वहाँ से बार-बार योरप में हमले करते रहे, और वियना की दीवारों तक पहुँच गए। बाद की सदियों में उन्हें धीरे-धीरे पीछे हटना पड़ा, और आज से बारह वर्ष पहले, महायुद्ध में पराजित होने के बाद, वे कानस्टें-टिनोपल को क़रीब-क़रीब खो बैठे थे। यह नगर अँगरेज़ों के क़ब्ज़े में था, और तुर्की सुलतान उनके हाथ का खिलौना हो रहा था। लेकिन एक बड़ा नेता, मुस्तफ़ा कमाल पाशा, अपने देशवासियों की रक्षा में अग्रसर होकर एक वीरता-पूर्ण संग्राम में सफल हुआ। आज दिन टर्की एक प्रजातंत्र है। उसके सुलतान सदा के लिए हवा हो गए। कमाल पाशा प्रजातंत्र के राष्ट्रपति हैं। कानस्टेंटिनोपल, जहाँ पंद्रह सौ वर्षों तक साम्राज्य—पहले पूर्वीय रोमन और बाद में तुर्की साम्राज्य—की राजगद्दी रही, वह आज भी तुर्की राष्ट्र का अंग है, लेकिन अब वहाँ राजधानी नहीं रही। तुर्कों ने उसके राजसी संस्कारों से दूर ही रहना और एशिया माइनर में दूरस्थ अंगोरा (या अंकारा) में राजधानी बनाना पसंद किया।

हमने दो हज़ार वर्षों को जल्दी से निपटा दिया; और जो परिवर्त्तन क्रमशः हुए उनका—कानस्टेंटिनोपल के संस्थापन का तथा नए नगर में रोमन साम्राज्य का उठकर जाने का भी—हमने शीघ्रता के साथ दिग्दर्शन किया। लेकिन कानस्टेंटाइन ने और भी एक नई बात की। वह ईसाई हो गया; और सम्राट् होने के कारण उसके इस काम का वास्तविक परिणाम यह हुआ कि ईसाई मत साम्राज्य का सरकारी धर्म्म बन गया। ईसाई मत की अवस्था में आकस्मिक उलट-फेर—राजदंड से पीड़ित मत का राजकीय धर्म्म बन जाना—अवश्यमेव एक बड़ी ही विचित्र बात लोगों को मालूम हुई होगी। कुछ दिनों तक इस परिवर्तन से इस मत को कुछ अधिक लाभ न पहुँचा। ईसाइयों के विभिन्न संप्रदाय आपस में लड़ने लगे। अंत में दो संप्रदायों—लैटिन और ग्रीक संप्रदायों—में संबंध-विच्छेद हो गया। लैटिन संप्रदाय का केंद्रस्थान रोम था, और रोम के बिशप उसके प्रमुख या प्रधान संचालक माने जाते थे। बाद में यही रोमन बिशप रोम के पोप कह-लाने लगे। ग्रीक संप्रदाय का प्रमुख स्थान कानस्टेंटिनोपल था। लैटिन संप्रदाय उत्तरीय और पश्चिमी योरप में फैल गया, और रोमन कैथलिक चर्च के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ग्रीक चर्च

आरथोडाक्स चर्च कहलाया। पूर्वीय रोमन साम्राज्य के पतन के बाद, रूस ही एक ऐसा प्रधान देश था जहाँ आरथोडाक्स चर्च फला-फूला। अब बोलशविक शासन के आ जाने से वहाँ न तो इस चर्च का और न किसी दूसरे ही चर्च का कोई सरकारी पद रह गया है।

मैं पूर्वीय रोमन साम्राज्य का ज़िक्र करता हूँ, यद्यपि रोम का इससे कुछ भी संबंध नहीं है। जो भाषा वे बोलते थे वह ग्रीक थी, न कि लैटिन। एक अर्थ में यह पूर्वीय साम्राज्य ऐलैकज़ैंडर के ग्रीक साम्राज्य का अनुक्रम या उत्तर-खंड है। इसका पश्चिमी योरप से बहुत ही कम संसर्ग था। यद्यपि बहुत समय तक उसने पाश्चात्य देशों की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं किया, तो भी पूर्वी साम्राज्य रोमन शब्द का प्रयोग करता रहा, और वहाँ के निवासी भी रोमन ही कहलाते थे, मानो इस शब्द में कोई जादू था। इससे भी अधिक विचित्र बात यह थी कि यद्यपि रोम के नगर का पतन हो चुका था किंतु उसका संमान पूर्ववत् ही बना रहा, यहाँ तक कि जो बर्बर जातियाँ उसे पराजित करने को आती थीं, वे भी सकुचाती-सी उसका आदर-सत्कार किया करती थीं। यह है बड़े नाम की महिमा, यह है विचारों का प्रताप!

साम्राज्य खो बैठने के बाद रोम दूसरा ही, किंतु भिन्न प्रकार का, साम्राज्य स्थापित करने में तत्पर हुआ। लोग कहते थे कि ईसा का शिष्य पीटर रोम में आया था, और वही वहाँ का पहला विशप हुआ। इससे बहुत-से ईसाई उसे पवित्र स्थान मानने लगे, और रोम के महंत का महत्त्व भी बढ़ गया। आरंभ में रोम का विशप दूसरे विशपों के समान ही था, लेकिन जब से सम्राट् कानस्टेंटिनोपल में विराजने लगे तब से उसकी महिमा बढ़ने लगी। रोम में ऐसा कोई दूसरा न रह गया, जो रोमन विशप से बड़ा हो, और पीटर के गद्दीधर होने के कारण वह विशपों में सबसे श्रेष्ठ गिना जाने लगा। बाद में उसे लोग पोप कहने लगे। तुम्हें मालूम है कि पोप अब भी होते हैं। वह रोमन कैथलिक चर्च में सबसे बड़े महंत हैं।

यह एक कुतूहल-वर्द्धक बात है कि जिन कारणों से रोमन और ग्रीक चर्चों का संबंध-विच्छेद हुआ, उनमें से एक कारण प्रतिमा-पूजन के विषय में मतभेद था। रोमन चर्च अपने संतों की और विशेषकर ईसा की माता, मैरी, की प्रतिमाओं के पूजन को प्रोत्साहन देता था। आरथोडाक्स (ग्रीक) चर्च इसका घोर विरोधी था।

उत्तर की जातियों के नेता कई पीढ़ियों तक रोम पर अधिकार जमाए और शासन करते रहे। लेकिन वे भी बहुधा कानस्टेंटिनोपल के सम्राटों के आधिपत्य को स्वीकार करते थे। इस अरसे में रोम के विशप की शक्ति बढ़ती गई और अंत में वह इतना सबल हो गया कि कानस्टेंटिनोपल को चुनौती देने लगा। जब मूर्ति-पूजन के ऊपर झगड़ा उठ खड़ा हुआ तब पोप ने पूर्व के साथ अपने संबंध को पूर्ण रूप से तोड़ने की ठान ली। इस कालावधि में बहुत-सी ऐसी बातें हुईं जिनका हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे:—एक नया मत, इस्लाम, अरब में प्रादुर्भूत हुआ; अरबों ने उत्तरीय अफ्रीका एवं स्पेन पर अधिकार जमा लिया तथा योरप के हृदय-स्थल पर हमले किए; उत्तरीय और पश्चिमी योरप में नए राष्ट्रों का संस्थापन हुआ: और पूर्वीय रोमन साम्राज्य पर अरबों के भीषण आक्रमण हुए।

पोप ने फ्रैंक-नामक उत्तर की एक जर्मन जाति के नेता से सहायता की प्रार्थना की। फ्रैंकों

के सरदार, कार्ल या चार्ल्स, को रोम में सम्राट् का पद दिया गया। यह बिलकुल एक नया साम्राज्य या राष्ट्र था, लेकिन उन्होंने उसे रोमन साम्राज्य का और बाद में पुनीत रोमन साम्राज्य का नाम दिया। उनके लिए किसी ऐसे साम्राज्य की, जो रोमन न हो, कल्पना करना भी असंभव था। यद्यपि कार्लमैन या महान् चार्ल्स—जैसा उसे लोग पुकारते हैं—का रोम से कुछ भी सरोकार न था तो भी वह इंपरेटर, सीज़र और आगस्टस बन गया। नवीन साम्राज्य प्राचीन साम्राज्य का अनुक्रम या अनुबंध माना जाने लगा। लेकिन उसके नाम के साथ एक और उपाधि जोड़ दी गई। वह 'पवित्र या पुनीत' बन गया। वह इसलिए पुनीत कहलाता था, क्योंकि वह विशिष्ट रूप से ईसाई साम्राज्य था और पोप उसके धर्म्म-पिता थे।

तुम्हें एक बार फिर विचारों की विचित्र महिमा दिखाई देती है। मध्य योरप का रहनेवाला एक फ़्रैंक या जर्मन रोमन सम्राट् बन जाता है। इस 'पुनीत' साम्राज्य का उत्तरकालीन इतिहास और भी विचित्र है। इधर तो कानस्टैंटिनोपल का पूर्वीय रोमन साम्राज्य एक राष्ट्र के रूप में स्थायी बना रहा, उधर यह पश्चिमी साम्राज्य समय-समय पर बदला, विलीन हुआ और फिर प्रकट हो गया। यह वास्तव में स्वप्निल छाया-साम्राज्य था जिसका अस्तित्व रोमन उपाधि और ईसाई चर्च के प्रताप से सिद्धांत-रूप से बना रहा। यह कल्पना-जनित साम्राज्य था, जिसमें सार का प्रायः अभाव ही था। किसी ने—मेरा खयाल है कि वह वालटेयर था—पुनीत रोमन साम्राज्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि वह एक ऐसी चीज़ थी जो न तो पुनीत, न रोमन और न साम्राज्य ही थी। यह परिभाषा ठीक वैसी है जैसी परिभाषा किसी दूसरे आदमी ने इंडियन सिविल सर्विस की, जिससे दुर्भाग्यवश आज दिन भी हम इस देश में शासित हैं, यह कहकर दी थी कि वह न तो इंडियन, न सिविल और न सर्विस ही है।

कुछ भी रहा हो, यह छायारूपी पुनीत रोमन साम्राज्य कम-से-कम नामचार के लिए एक हज़ार साल तक जीवित रहा। कुछ ऊपर सौ साल हुए, नेपोलियन के समय में, इसका सदा के लिए अंत हो गया। इसका अंत न तो उल्लेखनीय और न कुतूहल-जनक था। सच बात तो यह है कि बहुत थोड़े आदमियों ने उसके अंतिम संस्कार को देखा भी होगा, क्योंकि यथार्थ में वह बहुत दिन पहले लोप हो चुका था। लेकिन अंत में उसका प्रेतात्मा भी शांत कर दिया गया। अंत में कहना ठीक नहीं है, क्योंकि क़ैसर, ज़ार, आदि, के रूप में वह बार-बार प्रकट होता रहा है। १४ साल हुए महायुद्ध की समाप्ति पर इनमें से कई एक का अंत हो गया।

(३४)

विश्व-राष्ट्र की भावना

अप्रैल २७, १९३२

मुझे भय है कि बहुधा इन पत्रों से मैं तुम्हें थका और घबड़वा देता हूँ। विशेषकर रोमन साम्राज्य के विषय में मेरे पिछले पत्रों ने तो तुमको व्यथित कर दिया होगा। हज़ारों वर्षों और मीलों को पार करते हुए कभी मैं आगे बढ़ गया और कभी पीछे की ओर लौट पड़ा हूँ। यदि इसके कारण मैंने तुम्हें सफलता-पूर्वक चक्कर में डाल दिया है तो दोष मेरा ही है। खिन्न मत होना। बढ़ी चलो। यदि कहीं पर मैं कोई ऐसी बात कहता हूँ जो तुम्हारी समझ में न आती हो तो उस से व्यथित न होना, किंतु आगे बढ़ी चली चलना। इन पत्रों का उद्देश तुम्हें इतिहास सिखाना नहीं किंतु उसकी झलक भर दिखा देना और तुम्हारे कुतूहल को जाग्रत कर देना भर है।

रोमन साम्राज्यों से तुम ऊब उठी होगी! मैं मानता हूँ कि मैं ऊब गया हूँ। लेकिन हमें आज थोड़ी देर के लिए उनका और साथ देना पड़ेगा। फिर हम कुछ समय के लिए उनसे अलग हो जाएँगे।

तुम्हें मालूम है कि आजकल जातीयता और देशभक्ति—स्वदेश के प्रेम—की बहुत चर्चा होती है। भारत में आज दिन हममें से प्रायः हर एक बढ़ा-चढ़ा राष्ट्रवादी है। यह राष्ट्रीयता—यह जातीयता—इतिहास में एकदम नई चीज़ है, और इन पत्रों के गति-क्रम में हम शायद उसके आरंभ और विकास का अध्ययन कर लें। रोमन साम्राज्यों के समय में शायद ही इस तरह का कोई भाव मौजूद था। लोगों का अनुमान था कि साम्राज्य संसार पर शासन करनेवाला एक महाराष्ट्र है। न तो कोई ऐसा साम्राज्य और न कोई ऐसा राष्ट्र ही अभी तक हुआ है, जिसने सारे संसार पर हुकूमत की हो, लेकिन भूगोल की अनभिज्ञता और आने-जाने तथा लंबी यात्राओं में बड़ी कठिनाई के कारण, प्राचीन काल के लोग बहुधा विचारा करते थे कि ऐसा राष्ट्र है। जैसे, योरप में और भूमध्य-सागर के आस-पास रोमन राष्ट्र को, उसके साम्राज्य होने के पहले ही से, लोग एक महाराष्ट्र मानते थे, जिसकी अधीनता को दूसरे राज्य मानते थे। उसका इतना अधिक प्रताप था कि एशिया माइनर के परगैमम-नामक ग्रीक राष्ट्र और मिस्र को इन दोनों देशों के शासकों ने रोमन प्रजा को भेंट कर दिया। लोगों की धारणा थी कि रोम सर्वशक्तिवान् और दुर्जेय है। तो भी, जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, रोम ने प्रजातंत्र के काल में या साम्राज्य के दिनों में भूमध्यसागर के देशों के अतिरिक्त बहुत ही थोड़े से मुल्कों पर राज्य किया। उत्तरी योरप के 'बर्बर' उसकी अधीनता को स्वीकार नहीं करते थे, और उसे भी उनकी परवा न थी। लेकिन रोम की अधिकार-(या राज्य-) सीमा चाहे जो रही हो, उसमें विश्व-राष्ट्र की भावना निहित थी। पश्चिम में उस युग के लोग इस भाव को मानते थे, अंगीकार करते थे। यही कारण है कि रोमन साम्राज्य इतने अधिक समय तक जीवित बना रहा। उन दिनों भी, जब उसमें कुछ भी सार न रह गया था, उसका बड़ा नाम और बड़ा प्रताप था।

सब संसार भर पर आधिपत्य करनेवाले एक महाराष्ट्र का भाव रोम ही तक सीमित न था; प्राचीनकाल में चीन और भारत में भी हम इसी धारणा को पाते हैं। जैसा तुम्हें मालूम है, चीनी राष्ट्र कई अवसरों पर रोमन साम्राज्य से भी विस्तार में बढ़ गया था। वह कैस्पियन सागर तक फैला हुआ था। चीनी सम्राट्, जिसे लोग 'स्वर्ग का पुत्र' कहते थे, चीनवालों की दृष्टि में सार्वभौम अधीश्वर था। यह सच है कि ऐसी जातियाँ और ऐसे देश थे, जो उपद्रव मचाते और चीनी सम्राट् की आज्ञाओं का पालन न करते थे। लेकिन वे 'वर्बर' थे; वैसे ही, जैसे रोमन लोग उत्तरी योरप के निवासियों को वर्बर कहते थे।

इसी प्रकार भारत में आदि काल से तुम्हें इन कथित सार्वभौम सम्राटों—चक्रवर्ती राजाओं—का उल्लेख मिलेगा। निस्संदेह संसार के विषय में उनका भाव बहुत ही परिमित था। भारत ही स्वयमेव इतना विशाल था कि वही उन्हें संसार मालूम होता था। और भारत का आधिपत्य उन्हें संसार का आधिपत्य दिखाई देता था। भारत के बाहर रहनेवाले वर्बर थे, म्लेच्छ थे। काल्पनिक भरत, जिनके नाम पर हमारे देश—भारतवर्ष—का नाम पड़ा है, अनुश्रुति के अनुसार, सार्वभौम सम्राट् थे। युधिष्ठिर और उनके भाई, महाभारत के अनुसार, इसी सार्वभौम आधिपत्य के लिए लड़े थे। अश्वमेध-नामक महायज्ञ इस सार्वभौम राज्य का लक्षण और उसके लिए आह्वान था। संभवतः अशोक ने उसे अपना लक्ष्य बनाया था। लेकिन अनुताप से विवश होकर उसने लड़ना ही त्याग दिया। उत्तरकाल में तुम्हें गुप्तों के समान और भी दूसरे साम्राज्यवादी सम्राट् दिखाई देंगे, जिनका यही ध्येय था।

इस प्रकार तुम देखोगी कि प्राचीन काल में बहुधा लोग सार्वभौम सम्राट् और विश्व राष्ट्रों की चर्चा किया करते थे। बहुत दिनों के बाद जातीयता और एक प्रकार के साम्राज्यवाद के भावों का उदय हुआ। इन दोनों ने मिलकर या अलग-अलग संसार में काफ़ी उपद्रव मचाया है। अब फिर विश्व-राष्ट्र की चर्चा होने लगी है। अब न तो बड़े साम्राज्य की और न सार्वभौम राजाधिराज की, न तो साम्राज्यों की और न सम्राटों की, जरूरत है। जरूरत है एक ऐसे विश्व-राष्ट्र की, जो एक जाति, देश या श्रेणी का दूसरी जाति, देश या श्रेणी द्वारा स्वार्थ-हित में चूसा जाना बंद कर दे। यह कहना कठिन है कि निकट भविष्य में इस तरह की कोई बात होगी या नहीं। लेकिन दुनिया की हालत ख़राब है, और उसकी बीमारी को दूर करने का और कोई रास्ता नहीं दिखाई देता।

मैंने बार-बार उत्तरी योरप के 'वर्बरों' का जिक्र किया है। मैं इस शब्द का प्रयोग इसलिए करता हूँ क्योंकि इसी नाम से उनका उल्लेख रोमनों ने किया। ये लोग भी, मध्य एशिया के वन-चरों और दूसरी जातियों की तरह, उतने सभ्य न थे, जितने रोम या भारत के निवासी थे। लेकिन वे अधिक बलिष्ठ होते थे, क्योंकि वे खुली हवा में रहने के अभ्यस्त थे। बाद में वे ईसाई हो गए; और जब उन्होंने रोम को जीत भी लिया, उस समय भी साधारणतया, उन्होंने क्रूर शत्रुओं का-सा आचरण नहीं किया। उत्तरी योरप की आधुनिक जातियाँ इन्हीं 'वर्बर'—गाथ, गाल और अन्य—जातियों से उत्पन्न हुई हैं।

मैंने तुम्हें रोमन सम्राटों के नाम नहीं बताए हैं। वहाँ अनेक सम्राट् हुए, पर बहुत थोड़ों को

छोड़कर बाक़ी सब बहुत बुरे थे। कोई-कोई तो दुष्टता में पूरे दानव थे। तुमने निस्संदेह नीरो का नाम सुना है, लेकिन कई सम्राट् उससे भी अधिक बुरे थे। आइरीन नाम की सम्राज्ञी ने अपने पुत्र को, जो सम्राट् था, सम्राज्ञी होने के लोभ में, मार डाला था।

रोम का एक सम्राट् दूसरे सम्राटों को अपेक्षा बहुत ही श्रेष्ठ था। उसका नाम मारकस आरेलियस एंटोनियस था। लोग उसे दार्शनिक कहते हैं, और उसकी एक किताब, जिसमें उसके विचारों और चिन्तनों का संग्रह है, पठनीय है। मारकस आरेलियस की कमी को पूरा करने के लिए, उसका लड़का, जो उसके बाद गद्दी पर बैठा, रोम का एक ही धूर्त था।

रोमन साम्राज्य के आरंभिक तीन सौ साल तक रोम पश्चिमी संसार का केंद्र बना रहा। वह एक महानगर रहा होगा, जो बड़े-बड़े वैभवशाली प्रासाद से भरा था और जहाँ सारे साम्राज्य से और दूसरे देशों से लोग आते थे। रुचिर पदार्थ, असाधारण भोज्य सामग्री और बहुमूल्य वस्तुएँ दूर-दूर देशों से जहाज़ भर-भरकर उसके लिए लाते रहे होंगे। कहा जाता है कि लाल सागर के एक मिस्री बंदरगाह से प्रतिवर्ष १२० जहाज़ भारत के लिए प्रस्थान करते थे। वे ऐसे समय पर रवाना होते थे कि वे मौसमी पुरवैया का लाभ उठा सकें। इससे उन्हें बड़ी मदद मिलती थी। साधारणतया वे दक्षिणी भारत जाते थे। वहाँ वे बहुमूल्य सामग्रियों को लादते और मौसमी हवा से लाभ उठाते हुए मिस्र को लौट जाते थे। मिस्र से थल-जल मार्गों द्वारा माल रोम पहुँचाया जाता था।

लेकिन इस सब व्यापार से धनिकों ही का लाभ होता था। थोड़े-से मनुष्यों के विलास के पीछे बहुत-सी जनता का दुःख-दैन्य था। तीन सौ से अधिक वर्षों तक पश्चिम में रोम परम शक्तिशाली रहा, और बाद में जब कानस्टैंटिनोपल की नींव पड़ी तब से उसने उसके सहयोग में एकाधिपत्य भोगा। यह एक विचित्र बात है कि इस विस्तीर्ण कालावधि में वह विचारक्षेत्र में उस उत्कृष्ट कोटि की एक भी रचना की सृष्टि न कर पाया, जिस कोटि की रचनाओं की सृष्टि ग्रीस ने थोड़े ही समय में की। सच तो यह है कि रोमन सभ्यता बहुत-सी बातों में ग्रीक सभ्यता की केवल पीत छाया-मात्र मालूम होती है। एक क्षेत्र में, कहा जाता है, रोम ने नया रास्ता दिखाया। यह है क़ानून का विषय। आज भी हम में से कुछ को रोमन क़ानून पढ़ने का कष्ट उठाना पड़ता है, क्योंकि योरप के अनेक विधानों का वही आधार माना जाता है। मैं जानता हूँ कि बहुत दिन हुए मुझे उसका थोड़ा अध्ययन करना पड़ा था।

रोमन साम्राज्य से ब्रिटिश साम्राज्य की तुलना बहुधा की जाती है—साधारणतया तुलना करनेवाले अँगरेज़ होते हैं। इस तुलना से वे बहुत प्रसन्न होते हैं। सभी साम्राज्य कम या अधिक मात्रा में एक से होते हैं। वे अनेक को चूसकर मोटे होते हैं। लेकिन अँगरेज़ों और रोमनों में एक और बड़ी समानता है—दोनों ही में विशिष्ट रूप से कल्पना का अभाव है। वे बड़े चिकने-चुपड़े होते हैं, आत्मतुष्टि की बहुत अधिक मात्रा उनमें मिलेगी। उन्हें यह विश्वास है कि संसार विशेष रूप से उन्हीं के लाभ के लिए रचा गया है। उन्हें जीवन की यात्रा में न कभी शंका सताती है और न कोई कठिनाई विचलित कर पाती है। लेकिन अँगरेज़ बहुत अच्छे हैं, और यद्यपि हम उनसे लड़ते हैं और आगे भी लड़ते चले जाएँगे तो भी हमें उनके अच्छे गुणों को न भूलना चाहिए—विशेषकर जब उनकी कमज़ोरियाँ आजदिन भारत में इतनी साफ़ दिखाई देती हैं।

(३५)

पार्थिया और सासान राजवंश

अप्रैल ११, १९३२

अब हमें रोमन साम्राज्य और योरप को छोड़कर संसार के दूसरे भागों की सैर करना चाहिए। हमें देखना है कि एशिया में क्या-क्या हुआ; और साथ ही भारत तथा चीन की कहानी को भी आगे बढ़ाना है। विदित इतिहास के क्षितिज पर अब दूसरे देश भी दिखाई देते हैं। उनके विषय में भी हमें थोड़ा-बहुत कहना होगा। वास्तव में, जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, वैसे-वैसे अनेक स्थानों के संबंध में इतना अधिक कहने को होगा कि यह बहुत संभव है कि मैं ही निराश होकर हाथ खींच लूँ।

एक पत्र में मैंने पार्थिया के करे-नामक स्थान की लड़ाई में रोमन प्रजातंत्र की गहरी हार का जिक्र किया था। उस समय न तो पार्थिया ही का हाल सुनाने और न यही बताने को मैं रुका था कि उस भूभाग में जहाँ आज दिन ईरान तथा इराक़ हैं, पार्थियावालों ने कैसे एक राष्ट्र स्थापित कर लिया। तुम्हें याद होगा कि सिकंदर के बाद उसके सेनापति सैल्यूकस और सैल्यूकस के वंशजों ने भारत से एशिया माइनर तक विस्तृत साम्राज्य पर शासन किया। लगभग तीन सौ वर्षों तक उनका राज्य रहा। बाद में मध्य-एशिया की एक पार्थियन-नामक जाति ने उन्हें निकाल भगाया। ईरान या पार्थ ही के ये पार्थियन थे, जिन्होंने प्रजातंत्र के अंतिम दिनों में रोम को परास्त किया था, और जब रोम में प्रजातंत्र के स्थान में साम्राज्य स्थापित हुआ उस समय भी वह उन्हें दबाने में पूर्ण रूप से सफल न हो सका। ढाई सौ साल से ऊपर पार्थियावाले ईरान में शासन करते रहे। लेकिन अंत में एक विप्लव के कारण उन्हें भाग जाना पड़ा। खुद ईरानवाले अपने विदेशी शासकों के विरुद्ध उठ खड़े हुए और उनकी जगह पर अपनी ही जाति और अपने ही धर्म्म के एक आदमी को राज-गद्दी पर बैठाया। इस व्यक्ति का नाम आरदेशीर प्रथम था। उसका राजवंश सासान राजवंश कहलाता है। ज़रदुस्त्र के चलाए हुए जिस मत को, तुम्हें याद होगा, भारत के पारसी मानते हैं, उसी मत का आरदेशीर कट्टर अनुयायी था। दूसरे मतमतांतरों के प्रति उसके अनुदार भाव थे। सासान राजवंश की रोमन साम्राज्य के साथ बराबर लड़ाई छिड़ी रही। एक बार उन्होंने एक रोमन सम्राट् तक को लड़ाई में बंदी बना लिया था। अनेक बार ईरानी फ़ौजें कानस्टेंटिनोपल के बहुत पास तक पहुँच गई थीं। एक मौक़े पर उन्होंने मिस्र देश को जीत लिया था। सासान राजवंश विशेष रूप से इसलिए प्रसिद्ध है कि उस राजवंश के राजा पारसी-मत के बड़े उत्साही समर्थक थे। जब सातवीं सदी में इस्लाम का उदय हुआ तब उसने सासान राजवंश और उसके राजधर्म्म दोनों का अंत कर दिया। इस परिवर्त्तन के कारण और धार्मिक अत्याचार की आशंका से बहुत-से पारसियों ने देश छोड़ देना ही उचित समझा। वे भारतवर्ष में चले आए। भारत ने भी उनका उसी तरह स्वागत किया, जिस

तरह उसने दूसरे शरणागतों का स्वागत सदा किया है। भारत के पारसी इन्हीं आगंतुकों के वंशज हैं।

विभिन्न मतमतांतरों के प्रति व्यवहार के विषय में अन्य देशों के साथ भारत की तुलना कुतूहल-पूर्ण और किसी हद तक आश्चर्य-जनक है। बहुत-से स्थानों में, विशेषकर योरप में, जो लोग राजधर्म्म के अनुयायी नहीं होते थे उनके प्रति विद्वेप और अत्याचार के भाव तुम्हें पिछले युगों में दिखाई देंगे। प्रायः सभी देशों में किसी मत-विशेष को मानने के लिए लोग विवश किए जाते थे। योरप में तुम भयंकर इनकीज़िशन* और कथित जादू-टोना करनेवाली औरतों के जलाने का हाल पढ़ोगी। लेकिन भारत में प्राचीन काल से सब धर्म्मों के प्रति बहुत कुछ सम भाव था। हिंदू धर्म्म और बौद्ध मत के छोटे-मोटे लड़ाई-झगड़े पश्चिमी देशों के विभिन्न संप्रदायों के संघर्षों की तुलना में नगण्य थे। इस बात को ध्यान में रखना उचित है, क्योंकि हाल में हमारे यहाँ धार्मिक और सांप्रदायिक झगड़े हुए हैं, और इतिहास से अपरिचित कुछ लोग यह समझ बैठे हैं कि युगयुगांतरों से भारत में ऐसा ही होता आया है। यह बिलकुल गलत है। ऐसे लड़ाई-झगड़े अधिकतर थोड़े सालों से होने लगे हैं। तुम्हें पता चलेगा कि इस्लाम के आरंभ के बाद, कई सौ वर्षों तक मुसलमान भारत के सभी स्थानों में अपने पड़ोसियों के साथ पूर्ण शांति में रहा करते थे। जब वे व्यापारियों के रूप में आते थे तब उनका स्वागत किया जाता था, और देश में बस जाने को वे प्रोत्साहित किए जाते थे।

इसी तरह भारत ने पारसियों का स्वागत किया। इस घटना से कुछ सदियों पहले भारत ने उन यहूदियों का भी स्वागत किया था, जो प्रथम शताब्दी ई० प० में अत्याचार के कारण रोम से भाग निकले थे।

ईरान के सासान-वंश के राज्य-काल में एक मरुस्थल-राष्ट्र सीरिया प्रदेश के पैलमाइर में था। इसका भी सितारा कुछ दिनों तक खूब चमका। सीरिया के रेगिस्तान के मध्य में पैलमाइर एक व्यापारी केंद्र था। बड़े-बड़े भग्नावशेषों से, जो आज दिन भी मौजूद हैं, उसके विशाल प्रासादों का पता चलता है। किसी समय इस राष्ट्र पर जैनोबिया-नामक एक महिला राज्य करती थी। लेकिन रोम ने उसे परास्त कर दिया। रोमन इतने कायर निकले कि वे उसे जंजीरों से कसकर रोम ले गए।

ईसाई युग के आरंभ में सीरिया एक सुखद प्रदेश था। बाइबिल के उत्तरार्ध से इसका थोड़ा-बहुत हाल हमें मालूम होता है। कुशासन और अत्याचार के होते हुए भी वहाँ बड़े-बड़े नगर थे, और घनी आबादी थी। बड़ी-बड़ी नहरें थीं। खूब व्यापार होता था। लेकिन निरंतर लड़ाई-झगड़े और कुशासन ने उसे छः सौ वर्षों में एक उजाड़-खंड बना दिया—महानगर उजाड़ और प्राचीन प्रासाद खंडहर हो गए।

यदि तुम हवाई जहाज पर भारत से योरप को जाओ तो तुम पैलमाइर और बालबेक के खंडहरों के ऊपर से जाओगी। तुम देखोगी कि कहाँ बैबिलान था, और कहाँ दूसरे अनेक इतिहास-प्रसिद्ध स्थान थे जो अब विलीन हो गए हैं।

* इनकीज़िशन पर संपादकीय टिप्पणी देखिए।

(३६)

दक्षिणी भारत के उपनिवेश

अप्रैल २८, १९३२

हम दूर निकल गए। आओ, फिर भारत को लौट चलें और इस बात का पता लगाने की चेष्टा करें कि इस देश में हमारे पूर्वज क्या कर रहे थे। तुम्हें कुशाणों के सरहद्दी साम्राज्य की—एक विशाल बौद्ध राष्ट्र की, जिसमें संपूर्ण उत्तरीय भारत और मध्य एशिया का बहुत बड़ा भाग संमिलित थे,—याद होगी। इस साम्राज्य की राजधानी पुरुषपुर या पेशावर में थी। तुम्हें शायद यह भी याद होगा कि इन्हीं दिनों समुद्र तक विस्तृत एक महाराष्ट्र—आंध्र राष्ट्र—दक्षिणी भारत में था। लगभग तीन सौ साल तक कुशाण और आंध्र राष्ट्र राज्य करते रहे। तीसरी शताब्दी ई० प० के मध्य चरण में इन दोनों साम्राज्यों का अंत हो गया; और फिर कुछ समय तक भारत में छोटे-छोटे रजवाड़े राज्य करने लगे। लेकिन सौ साल के अंदर ही, एक दूसरे* चंद्रगुप्त ने पाटलिपुत्र में आविर्भूत होकर उग्र हिंदू सार्वभौमिकता की नीति को फिर से अपनाई। लेकिन इसके पूर्व कि हम गुप्त राजवंश का—इसी नाम से ये लोग प्रसिद्ध हैं—उल्लेख करें, यह उचित मालूम होता है कि हम पहले दक्षिणी भारत के उन महत्त्वपूर्ण प्रयासों के सूत्रपात पर एक दृष्टि डाल लें, जिनकी बदौलत पूर्वीय जगत् के सुदूर टापुओं में भारतीय कला और संस्कृति का प्रचार हुआ।

हिमालय और दो समुद्रों के बीच में भारतवर्ष की आकृति को तुम अच्छी तरह से जानती हो। उसका उत्तरीय भाग समुद्र से बहुत दूर है। भूतकाल में इस भूभाग को अपनी स्थल-सीमा की विशेष चिंता रहती थी, जहाँ से शत्रुओं के आक्रमण हुआ करते थे। लेकिन पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में हमारी सुविस्तृत सीमाएँ समुद्र-वेष्टित हैं, और भारत का प्रायद्वीप संकुचित होते-होते इतना संकुचित हो गया है कि कन्याकुमारी अंतरीप या केप कामारिन में पहुँचकर पूर्व और पश्चिम मिलकर एक हो जाते हैं। समुद्र के पास रहनेवाले भारत-वासियों को स्वभावतः सागर से प्रेम था। उनमें से अधिकांश का समुद्रगामी होना एक स्वाभाविक बात थी। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि बहुत ही प्राचीन काल से दक्षिण भारत का पश्चिमी देशों से व्यापारिक संबंध चला आता था। अतएव हमें यह जानकर कुछ आश्चर्य नहीं होता कि भारत में जहाज़ बनते थे और यहाँ के निवासी व्यापार के लिए अथवा नए-नए अनुभवों की खोज में समुद्र-यात्रा किया करते थे। कहा जाता है कि जब गौतम बुद्ध जीवित थे, तब विजय ने भारत से जाकर लंका जीती थी। मेरा खयाल है कि अजंता की कंदराओं

---

* श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने कुशाणों के अंत-काल में और गुप्तों के उदय के पूर्व दो प्रमुख हिंदू साम्राज्यों का पता लगाया है। प्रथम का नाम था शिवमार और दूसरे का वाकाटक साम्राज्य। इससे मालूम होता है कि गुप्तों से पहले ही हिंदू पुनरुत्थान का आरंभ हो चुका था।—हिं० ना० नि०

में जहाज़ों पर हाथी-घोड़ों के साथ लंका जाते हुए विजय का एक चित्र है। विजय ने लंका को सिंहल—सिंहल द्वीप—का नाम दिया था। सिंहल शब्द सिंह से बना है, और लंका में सिंह की एक कहानी प्रचलित है, लेकिन उसे मैं भूल गया हूँ। मेरा अनुमान है कि सिलान (या सिलोन) शब्द सिंहल शब्द से बना है। दक्षिणी भारत से लंका की छोटी समुद्र-यात्रा कोई बड़ी बात न थी। हमें इस बात के बहुत-से प्रमाण मिलते हैं कि भारत में जहाज़ बनते थे, और भारतवासी बंगाल से लेकर गुजरात प्रांत तक फैले हुए अनेक बंदरगाहों से विदेशों की समुद्र-यात्रा किया करते थे। अपने अर्थशास्त्र में, जिसका ज़िक्र मैं नैनी से लिखते समय कर चुका हूँ, चंद्रगुप्त मौर्य्य के महामात्य, चाणक्य, ने नौ-सेना का कुछ हाल हमें बताया है। चंद्रगुप्त की राज-सभा के मैगैस्थनीज़-नामक ग्रीक दूत ने भी उसका उल्लेख किया है। इस तरह पता चलता है कि मौर्य्य काल के आरंभ में जहाज़ों के बनाने का भारत में व्यवसाय समुन्नत दशा में था। और जहाज़ बनाए इसीलिए जाते हैं कि वे काम में लाए जाएँ। अतएव बहुत-से लोग उनपर समुद्र-यात्रा किया करते रहे होंगे। इन बातों को सोचकर और फिर यह सोचकर कि आज दिन भी हमारे कुछ ऐसे देशवासी हैं जो समुद्र-यात्रा से घबड़ाते और उसे धर्म्म-विरुद्ध समझते हैं, कौतुक और अचंभा होता है। हम ऐसे आदमियों को भूतकाल के बचे-बचाए अवशिष्ट भी नहीं कह सकते, क्योंकि, जैसा तुम्हें मालूम है, पुरातन कहीं अधिक विवेकशील था। सौभाग्य से, इस प्रकार की अद्भुत और अपूर्व धारणाएँ अब बहुत कुछ उठ गई हैं, और इने-गिने लोग ही उनसे प्रभावित होते हैं।

उत्तरीय भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत का स्वभावतः समुद्र से अधिक संबंध था। विदेशी व्यापार का अधिकांश दक्षिणवालों के हाथ में था। तामिल काव्य-ग्रंथ 'यवन' सुरा, कलश, पात्र और दीपकों के उल्लेखों से भरे पड़े हैं। 'यवन' शब्द का प्रयोग मुख्यतया ग्रीस-निवासियों के लिए लेकिन शायद साधारणतया सब विदेशियों के लिए होता था। आंध्र देश के ईसवी सन् की दूसरी और तीसरी सदियों के सिक्कों पर दो मस्तूलवाले जहाज़ का चित्र बना है। इससे यह प्रकट होता है कि जहाज़ों के बनाने और सामुद्रिक व्यापार में प्राचीन काल के आंध्र-निवासियों की कितनी अधिक अभिरुचि थी।

अतएव वह दक्षिणी भारत ही था जो उन व्यवसायों के संचालन में अग्रसर हुआ, जिनके कारण पूर्वीय सागर के सब टापुओं में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हुई। इन औपनिवेशिक यात्राओं का आरंभ प्रथम शताब्दी ई० प० में हुआ, और कई सौ वर्षों तक वे जारी रहीं। मलय, जावा, कंबोडिया और बोर्नियो के सब स्थानों में वे जा पहुँचे, बसने लगे और अपने साथ भारतीय कला तथा भारतीय संस्कृति को भी वहाँ लेते गए। बर्म्मा, स्याम और हिंदी चीन में बड़े-बड़े भारतीय उपनिवेश थे। अपनी नई बस्तियों और नगरियों के जो नाम उन लोगों ने रक्खे, वे भारत ही से लिए गए थे—जैसे, अयोध्या, हस्तिनापुर, तक्षशिला, गांधार। यह विचित्र बात है कि कैसे इतिहास अपने को दोहराता है! इंगलैंड से जो लोग अमेरिका में जा बसे, उन्होंने भी ऐसा ही किया; और संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) के नगर आज दिन प्राचीन अँगरेज़ी नगरों के नाम से प्रसिद्ध हैं। उत्तरीय इंगलैंड के प्राचीन नगर, यार्क, के नाम पर अमेरिका के सबसे बड़े महानगर, न्यूयार्क, का नामकरण हुआ था।

जहाँ-जहाँ ये गए, वहाँ-वहाँ निस्संदेह इन भारतीय उपनिवेशकों ने दुर्व्यवहार किया होगा, जैसे सभी उपनिवेशक किया करते हैं। उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए इन टापुओं के आदिम निवासियों को लूटा होगा और उनपर प्रभुता जमाई होगी। लेकिन कुछ दिनों के बाद उपनिवेशक और प्राचीन निवासी हिलमिल गए होंगे। भारत के साथ नियमित रूप से संस्पर्श स्थापित रखना कठिन रहा होगा। इन पूर्वीय टापुओं में हिंदू राष्ट्र और साम्राज्य स्थापित किए गए। बाद में वहाँ बौद्ध शासक पहुँचे। हिंदू और बौद्ध शासकों में प्रभुता के लिए संघर्ष हुआ। बृहत्तर भारत के इतिहास की कहानी लंबी और मनोरंजक है। जो महाप्रासाद और बड़े-बड़े मंदिर इन भारतीय उपनिवेशों को अलंकृत करते थे, उनका पता आज दिन भी हमें विशाल खंडहरों से चलता है। उन उपनिवेशों में बड़े-बड़े नगर थे जिनको भारतीय शिल्पियों और कारीगरों ने बनाया था—जैसे, कंबोज: श्रीविजय, ऐश्वर्य्यशाली अंगकोर और मज्जपहित।

ये हिंदू और बौद्ध रियासतें प्रभुता के लिए आपस में लड़ती-झगड़ती, हस्तांतरित होती और कभी-कभी एक दूसरे को विनष्ट करती हुई, लगभग १४ सौ वर्षों तक इन टापुओं में बनी रहीं। १५ वीं सदी में मुस्लिमों ने पूर्ण रूप से अपना अधिकार जमा लिया। इसके थोड़े समय बाद पुर्तगीज़, स्पेनवाले, डच, अँगरेज़ और अंत में अमेरिकावाले वहाँ पहुँचे। चीनवाले तो सदा से पड़ोसी रहे हैं। चीनवाले कभी रियासतों के मामलों में हस्तक्षेप करते और उन पर अपना अधिकार जमाते, तथा बहुधा उनके साथ मित्रवत् रहते और उपहारों का विनिमय करते, परंतु सदैव अपनी महती सभ्यता और संस्कृति से उनको प्रभावित करते थे।

पूर्व के ये हिंदू उपनिवेश कई दृष्टियों से हमें रोचक प्रतीत होते हैं। सबसे आकर्षक बात यह है कि तत्कालीन दक्षिण भारत के एक प्रमुख राष्ट्र ने उपनिवेशीकरण—उपनिवेशों के संस्थापन—को सुसंघटित रूप से चेष्टा की। आरंभ में अनेक अन्वेषक व्यक्तिगत रूप से उन देशों में पहुँचे होंगे; फिर व्यापार बढ़ा होगा; और बाद में परिवार या यूथ स्वेच्छा से गए होंगे। यह कहा जाता है कि पहले-पहल कलिंग (उड़ीसा) और भारत के पूर्वीय तटों से उपनिवेशक गए थे। संभवतः कुछ लोग बंगाल से भी गए थे। यह भी अनुश्रुति है कि गुजरात के कुछ लोग, जिनका स्वदेश में रहना कठिन हो गया था, इन टापुओं में जा बसे। लेकिन ये सब तो कोरे अनुमान हैं। उपनिवेशकों की प्रमुख धारा तामिल-प्रांत के दक्षिणी भाग, पल्लव, से प्रवाहित होकर इन द्वीपों में पहुँची। पल्लव देश में पल्लव-नामक प्रसिद्ध राजवंश राज्य करता था। और यही वह पल्लव राष्ट्र है जिसको मलय और उसके समीपवर्ती प्रांतों के संघटित रूप से उपनिवेशीकरण का श्रेय प्राप्त है। संभवतः उत्तरीय भारत से बहुत-से लोग दक्षिण भारत में जाकर बसने लगे थे। इसके कारण दक्षिण में भूमि पर जन-संख्या का बहुत अधिक बोझ हो गया था। कारण कुछ भी रहा हो, भारत से बहुत दूर, अलग-अलग छितरे हुए स्थानों में बस्तियों की योजना विचार-पूर्वक तैयार की गई, और प्रायः एक ही समय में इन देशों और टापुओं को उपनिवेशक भेजे जाने लगे। हिंदी चीन, मलय प्रायद्वीप, बोर्निओ, जावा (यव-द्वीप), सुमात्रा और अन्य स्थानों में ये उपनिवेश थे। इन भारतीय नामधारी उपनिवेशों को पल्लव-राष्ट्र ने बसाया था।

हिंदी-चीन के उपनिवेश या बस्ती का नाम कंबोज (आधुनिक कंबोडिया) था। यह नाम गांधार की काबुल नदी की घाटी में स्थित कंबोज से चलकर इतनी दूर जा पहुँचा।*

ये उपनिवेश चार या पाँच सौ साल तक हिंदू धर्म्म को मानते रहे। बाद में धीरे-धीरे बौद्ध मत उनमें फैल गया। बहुत दिनों बाद इस्लाम पहुँचा, और मलय तथा उसके आस-पास के कुछ लोग मुसलमान होगए, कुछ बौद्ध बने रहे।

मलय आदिक भूभागों में राज्य बनते-बिगड़ते गए। लेकिन इन औपनिवेशिक प्रयत्नों का असली परिणाम था संसार के इस हिस्से में भारतीय आर्य्य सभ्यता का प्रवेश और प्रसार; और किसी अंश में इस मलेशिया के लोग इस आर्य्य सभ्यता के वैसे ही वंशज हैं, जैसे हम लोग। उन पर दूसरे भी, विशेषकर चीनी, संस्कार पड़े। मलेशिया के विभिन्न देशों में इन दो शक्ति--शाली चीनी और भारतीय—संस्कारों के संमिश्रण का दृश्य रोचक है। कुछ तो भारतीय रंग से अधिकतर रंगे हैं; दूसरों में चीनी संस्कार विशेष रूप से दिखाई देता है। प्रधान स्थल-खंड में—बर्मा, स्याम और हिंदी चीन में—चीनी संस्कारों का बोल-बाला है; लेकिन मलय प्रायद्वीप में ऐसा नहीं है। जावा, सुमात्रा आदिक द्वीपों में इस्लाम की आधुनिक कलई के नीचे भारतीय संस्कारों की प्रधानता दिखाई देती है।

लेकिन चीनी और भारतीय संस्कारों में कोई संघर्ष न था। वे एक दूसरे से बिलकुल भिन्न थे, लेकिन दोनों ही किसी कठिनाई के बिना समानांतर रेखाओं में अपना-अपना कार्य्य करते रहे। क्या हिंदू, क्या बौद्ध, दोनों ही धर्मों का भारत ही उद्गम-स्थान था। चीन भी धर्म्म के मामले में भारत का ऋणी था। कला में भी भारतीय प्रणाली मलेशिया में सर्वोपरि थी। हिंदी चीन तक में, जहाँ चीनी संस्कारों का बड़ा ज़ोर था, शिल्पकला एकदम से भारतीय थी। चीन ने इन महाद्वीपी देशों को शासन-व्यवस्था और जीवनचर्य्या के विषय में अधिकतर प्रभावित किया। इसीलिए हिंदी चीन, स्याम और बर्म्मा के निवासी आज दिन भारतीयों से कम और चीन-निवासियों से अधिक मिलते-जुलते दिखाई देते हैं। यह ठीक है कि जाति-भेद की दृष्टि से उनमें अधिकतर मंगोल रक्त है, और इसीलिए किसी अंश में वे चीनवालों से अधिक मिलते हैं।

जावा के बोरोबुदूर में आज भी भारतीय कारीगरों के बनाए हुए विशाल बौद्ध मंदिरों के भग्नावशेष देख सकते हैं। इन मंदिरों की दीवारों पर बुद्ध की जीवन-कथा खुदी है। ये अवशिष्ट न केवल बुद्ध के किंतु तत्कालीन भारतीय कला के अपूर्व स्मारक-स्तंभ हैं।

भारतीय संस्कारों का प्रभाव यहाँ से बहुत दूर फैल गया। वह फिलिपाइन और फार-मोसा तक जा पहुँचा। ये दोनों टापू कुछ काल तक सुमात्रा के श्रीविजय-राज्य के अंग थे। उसके बहुत दिनों बाद, फिलिपाइन में स्पेनवालों का अधिकार हुआ, और अब वह अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के अधीन है। संयुक्त राष्ट्र ने बार-बार उसे स्वाधीनता देने का वादा तो किया है; लेकिन जो चीज़ किसी के हाथ लग जाती है उसे छोड़ना कठिन होता है। फिलिपाइन की राष्ट्र-

* कंबोज, कुछ विद्वानों का कहना है, काश्मीर के उत्तर में था। इसकी पूर्वीय सीमा पर [illegible] नदी बहती थी। अतएव ऊपर का कथन कि कंबोज काबुल नदी की घाटी में स्थित था विचारणीय है।

धानी मनिला में है। कुछ समय हुआ, वहाँ एक नवीन लैजिस्लेटिव (कौंसिल—) भवन बघ था, और उसके मख-द्वार पर फिलिपाइन की संस्कृति की प्रतीक-रुपिणी चार प्रतिमाएँ कढ़ी हैं। ये प्राचीन भारत के धर्म्मशास्त्र-प्रवर्त्तक मनु, चीन के तत्ववेत्ता लाओ-ज़े और एंग्लो-सैक्सन न्याय तथा स्पेन की मूर्तियाँ हैं।

(३७)

गुप्त राजवंश के अंतर्गत हिंदू साम्राज्यीक रण*

अप्रैल २९, १९३२

इधर तो दक्षिणी भारत के निवासी समुद्रों को पार कर दूर-दूर देशों में बस्तियाँ और नगर बसा रहे थे, उधर उत्तरीय भारत में एक विचित्र हलचल मची हुई थी। कुशाण साम्राज्य अपने बल और प्रताप को खो चुका था। दिन पर दिन उसका विस्तार घटता जाता था और संकुचित होते-होते वह मिट रहा था। सारा उत्तरार्द्ध भारत छोटी-छोटी रियासतों में बँटा था। उनमें उत्तर-पश्चिमी सरहद की ओर से आए हुए शक और तुर्कों के वंशधर राज्य करते थे। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि ये लोग बौद्ध थे, और यह भी कि वे भारत में शत्रुओं की तरह धावा मारने की नीयत से नहीं किंतु बसने के उद्देश से आए थे। मध्य एशिया की जो दूसरी जातियाँ चीनी साम्राज्य से बहुधा धकिया दी जाती थीं, वे इन शकों और तुर्कों को निष्ठुरता के साथ पीछे से धक्के मार-मार कर भारत की ओर ढकेल देती थीं। भारत में आने पर इन लोगों ने भारतीय आर्य्यों के धर्म्म और आचार-विचारों को अपना लिया। वे भारत-भूमि को अपने धर्म्म, सभ्यता और संस्कृति की जननी मानकर उसका संमान करते थे। स्वयमेव कुशाण बहुत-सी बातों में भारतीय आर्य्य विचार-परंपरा के अनुगामी थे। यही कारण था कि वे भारत में इतने अधिक समय तक टिके और देश के बहुत बड़े भाग पर शासन कर सके। उन्होंने भारतीय आर्य्यों का-सा आचरण करने की पूरी चेष्टा की। वे चाहते थे कि इस देश के निवासी यह भूल जाएँ कि वे विदेशी थे। इस उद्देश में वे किसी हद तक सफल भी हुए, लेकिन पूर्ण रूप से नहीं। विशेषकर क्षत्रियों को यह बात खटका करती थी कि उनपर विदेशी शासक राज्य करते थे। वे इस विदेशी शासन की अधीनता में रहते-रहते तिलमिला उठे। इस तरह हलचल बढ़ी और लोग क्षुभित होने लगे। अंत में विद्रोहियों को एक समर्थ नेता मिल गया, और उन्होंने आर्य्यावर्त्त को स्वाधीन बनाने के लिए उसके झंडे के नीचे धर्म्म-युद्ध—ऐसा कहा जाता है—छेड़ दिया।

उस नेता का नाम चंद्रगुप्त था। इस चंद्रगुप्त से उस दूसरे चंद्रगुप्त † का, जो अशोक का पितामह था, तुम्हें धोखा न होना चाहिए। इसका मौर्य्य राजवंश से कोई संबंध न था। बात यह है कि यह पाटलिपुत्र का एक छोटा-मोटा राजा था, लेकिन अशोक के वंशधरों का उस समय तक अंत हो चुका था। तुमको यह याद रखना चाहिए कि अब हम चौथी सदी ई० प० के आरंभ, अर्थात् ३०८ ई० प०, में पहुँच गए हैं। यह अशोक की मृत्यु से ५३४ वर्ष बाद की बात है।

* अँगरेज़ी के 'इंपीरियलइज़्म' का हिंदी में प्रचलित पर्य्यायवाची शब्द साम्राज्यवाद है। लेकिन दोनों के अर्थ में भेद है। इस दूसरे अर्थ को व्यक्त करने के लिए ऊपर के शब्द का प्रयोग किया गया है।

† अर्थात् चंद्रगुप्त मौर्य्य।

चंद्रगुप्त महत्त्वाकांक्षी और योग्य शासक था। वह उत्तरीय भारत के दूसरे आर्य्य राजाओं को मिलाने और उनके सहयोग से संघ-शासन स्थापित करने का प्रयत्न करने लगा। उसने प्रसिद्ध और शक्तिशालिनी लिच्छवि जाति की कुमारी देवी से विवाह किया, और इस प्रकार उस जाति-वालों की सहायता उसको प्राप्त हो गई। पूरी तैयारी कर लेने के बाद चंद्रगुप्त ने भारत के समस्त विदेशी राजाओं के विरुद्ध धर्म्म-युद्ध का डंका बजाया। क्षत्रिय और उच्च कुलों के आर्य्य, जिनसे विदेशियों ने अधिकार और ऊँचे-ऊँचे पद छीन लिए थे, इस युद्ध के पृष्ठ-पोषक थे। बारह वर्ष तक लड़ने के बाद, चंद्रगुप्त ने उत्तरीय भारत के उस भू-खंड को, जिसमें आज कल का संयुक्त प्रांत भी शामिल था, जीत लिया। तब उसने राजाधिराज होने की घोषणा की।

इस प्रकार, उस राजवंश का आरंभ हुआ, जो गुप्त राजवंश के नाम से विख्यात है। वह दो सौ वर्षों तक चला, लेकिन अंत में हूणों के हमलों ने उसे जर्जर कर दिया। गुप्त युग कुछ अंशों में उग्र हिंदू राष्ट्रीयता का युग था। विदेशी तुर्क, पार्थियन और दूसरे अनार्य्य शासक जड़ से उखाड़कर फेंक दिए गए। इस तरह, हम जातीय वैमनस्य को कार्य्य-रूप में परिणत होते देखते हैं। उच्च कुल के भारतीय आर्य्यों को अपनी जाति का अभिमान था। वे म्लेच्छों और यवनों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। जिन आर्य्य राज्यों और राजाओं को गुप्त सम्राटों ने परास्त किया, उनके साथ तो दयालुता-पूर्ण व्यवहार किया गया। लेकिन अनार्य्यों के प्रति व्यवहार में दया का नाम तक न था।

चंद्रगुप्त का पुत्र, समुद्रगुप्त, अपने पिता से भी बढ़कर दुर्धर्ष योद्धा निकला। वह बड़ा ही रणकुशल सेनापति था। सम्राट् होने पर वह दिग्विजय के लिए निकला; और सारे देश में, दक्षिणी भारत तक में, उसे जहाँ-कहीं कोई शत्रु मिला, उसने उसीको युद्ध में परास्त किया। उसने गुप्त साम्राज्य को इतना बढ़ाया कि भारत का अधिकांश भाग उसके अधीन हो गया। लेकिन दक्षिण में उसका आधिपत्य नामचार ही को था। उत्तर में कुशाण सिंधु नदी के उस पार खदेड़ भगाए गए।

तुम्हें यह बात रोचक मालूम होगी कि एक समसामयिक कवि ने समुद्रगुप्त की विजयों का कीर्तन संस्कृत पद्य में किया था, और उसके ये पद प्रयाग के अशोक-स्तंभ पर अंकित किए गए थे।

समुद्रगुप्त का पुत्र, चंद्रगुप्त द्वितीय, भी युद्ध-प्रेमी राजा था। उसने काठियावाड़ और गुजरात को जीत कर अपने राज्य में मिलाया। इसके पहले, इन प्रांतों में बहुत दिनों से शक या तुर्की राजाओं का शासन चला आता था। इस चंद्रगुप्त ने अपना नाम बदलकर विक्रमादित्य रक्खा। इसी नाम से वह साधारणतया प्रसिद्ध है। लेकिन यह नाम भी, सीज़र के नाम की तरह, अनेक नृपतियों की उपाधि रहा है। इसलिए, यह नाम कुछ-कुछ भ्रमोत्पादक है।

क्या तुम्हें दिल्ली में क़ुतुबमीनार के पास लोहे की एक लाट की याद है? कहते हैं कि विक्रमादित्य ने इस लाट को एक विजय-स्तंभ के रूप में बनवाया था। यह लाट कारी-गरी का एक सुंदर नमूना है। इसके शिखर पर कमल का फूल है, जो गुप्त साम्राज्य का 'निशान' था।

गुप्त युग भारतवर्ष में हिंदू चक्रवर्ती राज्य का युग है। इस युग में प्राचीन आर्य्य संस्कृति और संस्कृत भाषा का व्यापक रूप से पुनरुत्थान हुआ। ग्रीक, कुशाण तथा दूसरे लोगों ने भारतीय जीवन में जिन ग्रीक और मंगोल संस्कारों को ला मिलाया था, उनकी गुप्त साम्राज्य में उपेक्षा का जाने लगी। इतना ही नहीं; भारतीय आर्य्य आचार-विचारों की प्रधानता के कारण, ये अनार्य्य संस्कार विधिवत् दबा भी दिए गए। संस्कृत राज-भाषा थी। लेकिन उन दिनों संस्कृत जन-साधारण की भाषा न रह गई थी। बोलचाल की भाषा तो एक प्रकार की प्राकृत थी, जिसका संस्कृत से निकट संबंध था। इस युग में संस्कृत काव्य एवम् नाटक और ललित कलाओं की अत्यधिक उन्नति हुई। वैदिक और वीरगाथा-संबंधी युगों के बाद, यही युग संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में संभवतः सबसे अधिक समुन्नत और समृद्धिशाली था। अद्वितीय कवि कालिदास इसी युग में उत्पन्न हुए थे। दुर्भाग्य से हममें से अनेक—और मैं भी उनमें से एक हूँ—संस्कृत भाषा को अच्छी तरह से नहीं जानते हैं। इसलिए हम लोगों के लिए यह अनमोल बपौती दुष्प्राप्य हो गई है। मुझे आशा है कि तुम इसका लाभ उठा सकोगी।

कहते हैं कि विक्रमादित्य की राजसभा अपनी कीर्तिमयी गरिमा के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी। उसमें सम्राट् ने अपने समसामयिक सर्वश्रेष्ठ कवियों और कलाकारों को एकत्रित किया था। क्या तुमने उनकी सभा के नवरत्नों* के विषय में नहीं सुना है? कहते हैं कि इन नवरत्नों में कालिदास भी थे।

समुद्रगुप्त अपनी राजधानी पाटलिपुत्र से उठाकर अयोध्या ले गया। संभवतः उसकी यह धारणा थी कि वाल्मीकि की रामायण ने रामचंद्र की जिस कथा को अमर कर दिया है, और उसके साथ जिस अयोध्या का संबंध है, वहाँ राजधानी बनाने में उसके उग्र हिंदू दृष्टिकोण के लिए अधिक अनुकूल वातावरण मिलेगा।

गुप्त युग में आर्य्य संस्कृति और हिंदू धर्म्म के पुनरुत्थान की प्रवृत्ति स्वभावतः बौद्ध मत के प्रति बहुत उदार न थी। इसका कुछ तो यह कारण था कि इस पुनरुत्थान में भद्र पुरुषों का हाथ था, और उसके पृष्ठपोषक क्षत्रिय शासक थे; इसके विपरीत बौद्ध मत विशेष रूप से प्रजा-सत्तात्मक था। कुछ-कुछ यह भी कारण था कि उत्तरीय भारत के कुशाण और दूसरे विदेशी राजाओं से बौद्ध महायान का विशेष संबंध था। लेकिन ऐसा नहीं मालूम होता, कि गुप्त युग में बौद्धों और बौद्ध धर्म्म को तंग करने या सताने की कोई चेष्टा की गई थी। बौद्ध विहार ज्यों के त्यों बने रहे। इस युग में भी शिक्षा के बड़े-बड़े केंद्र थे। जो लंकाद्वीप बौद्ध मत का अनुयायी था, उसके राजा के साथ गुप्त सम्राटों की मैत्री थी। लंका के राजा, मेघवर्ण, ने समुद्रगुप्त के पास बहुमूल्य उपहार भेजे थे, और लंकाद्वीप के विद्यार्थियों के लिए गया में एक विहार स्थापित किया था।

लेकिन भारत से बौद्ध मत उठने लगा था। जैसा मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, उसके ह्रास

---

* विक्रमादित्य के नवरत्नों की कथा केवल किंवदंती-मात्र है। नीरस इतिहास इस मनोरंजक बात का समर्थन नहीं करता।—अं० ना० ति०

में ब्राह्मणों और समकालीन राजाओं के दबाव का उतना असर न था, जितना हिंदू धर्म्म की बौद्धमत को अपने में मिलाने की शक्ति का।

इस समय के आसपास एक प्रसिद्ध यात्री चीन से भारतवर्ष में आया। यह वह ह्युआन् शाङ* नहीं है, जिसके विषय में मैं तुम्हें लिख चुका हूँ। इसका नाम था फ़ा हियान। यह बौद्ध धर्म्म की पुस्तकों की खोज करने के लिए बौद्ध मतावलंबी के रूप में यहाँ आया था। यह हमें बताता है कि मगध के निवासी सुखी और संपन्न थे; राजदंड में निष्ठुरता न थी, और न किसी को प्राण-दंड दिया जाता था। गया उजाड़ और निर्जन था; कपिलवस्तु जंगल हो गया था; लेकिन पाटलिपुत्र के लोग "धनी, संपन्न और धर्म्म-निष्ठ" थे। वहाँ पर अनेक बड़े-बड़े समृद्धि-शाली विहार थे। प्रधान सड़कों पर जगह-जगह धर्म्मशालाएँ थीं, उनमें राज्य के खर्चे से यात्रियों के ठहरने और भोजनों का प्रबंध रहता था। बड़े-बड़े नगरों में दातव्य औषधालय थे।

भारत में भ्रमण करने के बाद, फ़ा हियान लंका गया और वहाँ दो साल तक ठहरा। लेकिन उसके एक साथी, ताओ चिङ, को भारत से बड़ा प्रेम हो गया। बौद्ध भिक्षुओं की धर्म्म-निष्ठा का उसपर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उसने इसी देश में रह जाने का निश्चय कर लिया। लंका से फ़ा हियान समुद्र-मार्ग से चीन के लिए लौट पड़ा। बहुत-से खतरों और जोखिमों को झेलता हुआ वह कई वर्षों में अपने घर पहुँचा।

चंद्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य ने लगभग २५ साल तक राज्य किया। उसके बाद उसका पुत्र, कुमारगुप्त, गद्दी पर बैठा। उसने ४० साल तक शासन किया। उसके बाद, ४५३ ई० प० में स्कंदगुप्त ने राज-दंड ग्रहण किया। उसे एक नए आतंक का सामना करना पड़ा। इसीने अंत में गुप्तों के विशाल साम्राज्य की कमर तोड़ दी। लेकिन इसके विषय में मैं तुम्हें अपने अगले पत्र में लिखूँगा।

अजंता के कई सर्वोत्तम भुंडोदक चित्र तथा अजंता के बड़े-बड़े कमरे और मंदिर गुप्त-कालीन कला के नमूने हैं। जब तुम उन्हें देखोगी तब तुम्हें पता चलेगा कि वे कितने आश्चर्य-जनक हैं। दुर्भाग्य से भुंडोदक चित्र धीरे-धीरे मिट रहे हैं, क्योंकि अधिक समय तक वे वायु और प्रकाश में टिक नहीं सकते।

तुम्हें यह रोचक मालूम होगा कि गुप्त सम्राटों की राजमहिषियों की उपाधि महादेवी थी। जैसे, चंद्रगुप्त की राजमहिषी महादेवी कुमार देवी कहलाती थीं।

जिस समय भारत में गुप्त सम्राट् राज्य कर रहे थे, उस समय संसार के दूसरे देशों में क्या हो रहा था? चंद्रगुप्त प्रथम महान् कानस्टेंटाइन-नामक उस रोमन सम्राट् का समसामयिक था, जिसने कानस्टेंटिनोपल नगर बसाया। उत्तर-कालीन गुप्तों के शासन-काल में रोमन साम्राज्य पूर्वीय और पश्चिमी साम्राज्यों में विभक्त हुआ; और उत्तर की बर्बर जातियों ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य को विध्वंस भी कर डाला। इस तरह, ठीक उन्हीं दिनों जब रोमन साम्राज्य का क्षय हो रहा था, भारत में एक बहुत ही शक्तिशाली राष्ट्र विद्यमान था, जिसमें बड़े-बड़े सेनापति

* इसे युआन च्वाङ भी कुछ लोग कहते हैं।

और दुर्जेय सेनाएँ थीं। समुद्रगुप्त को कभी-कभी लोग "भारत का नैपोलियन" कहते हैं। लेकिन महत्वाकांक्षी होते हुए भी उसने भारत की सीमा को पारकर विजय-लाभ की चेष्टा नहीं की।

गुप्त युग सार्वभौमिकता विजय और सार्वभौमिकता का युग था। लेकिन प्रत्येक देश के इतिहास में ऐसे युग अनेक बार आते हैं। इनका महत्व कालांतर में नगण्य ही सा होता है। गुप्त युग की विशिष्टता, जिसके कारण वह भारतवर्ष के लिए साभिमान स्मरणीय है, इस बात में है कि उसमें कला और साहित्य का विस्मयकारी पुनरुत्थान हुआ।
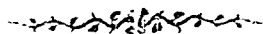
(३८)

हूणों का भारत में आगमन

मई ४, १९३२

जो नई गाज उत्तर-पश्चिमी पर्वतों के मार्ग से भारत पर टूटी, वह हूण-रूपी गाज थी। मैंने अपने एक पिछले पत्र में रोमन साम्राज्य का जिक्र करते हुए हूणों के संबंध में कुछ लिखा था। योरप में उनका सबसे बड़ा नेता ऐटिला था, जो वर्षों तक रोम और कानस्टेंटिनोपल को त्रस्त करता रहा। इन्हीं जातियों—कबीलों—के सजातीय हूण, जो श्वेत हूणों के नाम से प्रसिद्ध थे, उसी समय भारत में आए। वे मध्य एशिया के वनचर थे। बहुत दिनों से वे भारतीय सीमा पर मंडरा रहे थे, और वहाँ जिसका उनसे संपर्क हुआ उसीको उन्होंने बेतरह सताया।

गुप्त राजवंश के पंचम सम्राट्, स्कंदगुप्त, को हूणों के आक्रमण का सामना करना पड़ा था। उसने उन्हें परास्त कर सीमा के बाहर खदेड़ भगाया। लेकिन बारह वर्ष बाद वे फिर आ पहुँचे। धीरे-धीरे वे गांधार प्रांत और उत्तरीय भारत के अधिकांश भाग में फैल गए। उन्होंने बौद्धों को तरह-तरह की यातनाएँ दीं, और अनेक प्रकार के अत्याचार किए।

निरंतर वर्षों तक उनके साथ संग्राम होता रहा, लेकिन गुप्त सम्राट् उन्हें देश से निकाल न सके। हूणों की नवीन लहरें भारत में बढ़ती चली आईं और मध्य भारत में फैल गईं। उनके नायक, तोरमण, ने विधिवत् अपना राज्याभिषेक कराया। वह काफ़ी दुष्ट था। लेकिन उसके बाद उसके पुत्र, मिहिरकुल, की बारी आई, जो सर्वांश में बर्बर और राक्षस के समान क्रूर था। कल्हण स्वरचित काश्मीर के इतिहास—राजतरंगिणी—में लिखते हैं कि मिहिरकुल अपने मनोरंजन के लिए हाथियों को ऊँचे कगारों से खड्डों में ढकेलवाया करता था। उसके अत्याचारों से उद्विग्न होकर आर्य्यावर्त्त अंत में उत्तेजित हो उठा; और गुप्तवंशीय बालादित्य तथा मध्य भारत के एक राजा, यशोवर्म्मन्, के नेतृत्व में आर्य्यों ने हूणों को परास्त किया और मिहिरकुल को बंदी कर लिया। लेकिन हूणों की प्रथा के विपरीत, बालादित्य ने शत्रु के प्रति उदारता दिखाई। उसने मिहिरकुल को अभय-दान दिया और उसे देश छोड़कर चले जाने को कहा। मिहिरकुल ने काश्मीर में आश्रय लिया। जिस बालादित्य ने उसके साथ इतना उदार व्यवहार किया था, उसने बाद में उसी पर, विश्वासघात-पूर्वक हमला किया।

लेकिन भारत में हूणों की शक्ति जल्द ही क्षीण हो गई। तो भी हूणों के बहुत-से वंशजों ने हिंदोस्तान में घर बना लिया, और धीरे-धीरे आर्य्य जनता में वे मिल गए। यह संभव है कि मध्य भारत और राजपूताने की कतिपय राजपूत जातियों में इस श्वेत हूण रक्त का अंश हो।

हूणों ने उत्तरीय भारत में बहुत थोड़े काल तक—पचास साल से भी कम—शासन किया।

इसके पश्चात् वे ठंढे पड़ गए और शांतिपूर्वक रहने लगे। लेकिन हूण-युद्धों और उनकी भीषणता का भारत के आर्य्यों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। हूणों की जीवनचर्या और शासन-पद्धति आर्य्य जीवनविधान और राज्य-प्रणाली से भिन्न थी। इस समय आर्य्य स्वतंत्रता-प्रेमी थे। उनके राजाओं तक को लोकमत के सामने झुकना पड़ता था। उनके ग्राम-संघों के हाथ में बड़ी ताक़त थी। लेकिन हूणों के आगमन, उनके सहवास और भारतीय जातियों के साथ उनके संमिश्रण से भारतीय पद्धति में अंतर पड़ गया और वह कुछ नीचे भी गिर गई।

गुप्तों में बालादित्य अंतिम महापुरुष था। ५३० ई० पू० में वह मरा। यह एक रोचक बात है कि विशुद्ध हिंदू राजवंश का एक सम्राट् बौद्धमत की ओर आकर्षित हुआ और उसका गुरु एक बौद्ध भिक्षु था। गुप्त काल कृष्णोपासना के प्रसार के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है, लेकिन इस पर भी बौद्ध मत के साथ हिंदुओं का कोई ख़ास झगड़ा न था।

एक बार फिर, हम देखते हैं, गुप्त शासन-काल के दो सौ वर्ष बाद उत्तरीय भारत में अनेक रियासतें स्थापित हो गईं, जिन पर किसी केंद्रीय शासन का आधिपत्य न था। दक्षिणी भारत में एक विशाल राष्ट्र का आविर्भाव हुआ। पुलकेशिन-नामक एक महाराजाधिराज ने, जो रामचंद्र के वंशज होने का दावा करते थे, दक्षिण में एक साम्राज्य स्थापित किया। यह चालुक्य साम्राज्य के नाम से विख्यात है। पूर्वीय द्वीप-समूह के भारतीय उपनिवेशकों के साथ अवश्य ही इन दाक्षिणात्यों का घनिष्ट संबंध रहा होगा। भारत और इन द्वीपों में निरंतर व्यापार भी होता होगा। हमें पता चलता है कि भारतीय जहाज़ प्रायः ईरान को माल ले जाते थे। चालुक्य राजा और ईरान के सासान राजा एक दूसरे के दरबार में अपने-अपने राजदूत भी भेजते थे। ईरान के एक महासम्राट्, ख़ुशरो द्वितीय, के समय में ऐसा ख़ास तौर से हुआ था।

(३९)

भारत का विदेशीय बाज़ारों पर क़ब्ज़ा

मई ३, १९३२

इतिहास के उस प्राचीन युग के, जिस युग की हम विवेचना कर रहे हैं, उसके आद्योपांत, एक हज़ार वर्षों से अधिक काल तक, भारतीय व्यापार हमें पश्चिम में योरप और पश्चिमी एशिया तक तथा पूर्व में चीन तक उन्नत अवस्था में फैला हुआ दिखाई देता है। ऐसा क्यों था ? यह केवल इसलिए न था कि उन दिनों के भारतवासी कुशल नाविक और व्यापारी थे, जो वे वास्तव में थे। इसका कारण यह भा न था कि वे बड़े चतुर कारीगर थे, यद्यपि उनकी चतुरता बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी। ये सब बातें सहायक सिद्ध हुईं। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि भारत द्वारा दूर-दूर की मंडियों के नियंत्रण का एक प्रधान कारण रसायन-शास्त्र में, विशेषकर रँगने की कला में, उसकी श्रेष्ठता थी। उन दिनों भारत-वासियों ने कपड़े रँगने के पक्के रंग तैयार करने की विशेष विधि ढूँढ़ निकाली थी। उन्हें नील का रंग बनाने की भी विशेष क्रिया का ज्ञान था। तुम देखोगे कि इंडिगो (नील) नाम ही इंडिया से बना है। यह भी संभव है कि लोहे को अच्छी तरह से तपाने का भी गुरु प्राचीन भारतीयों को मालूम था; और इस तरह वे फ़ौलाद के अच्छे-अच्छे हथियार भी बनाना जानते थे। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें बताया था कि सिकंदर के हमलों की ईरानी कहानियों में जहाँ कहीं तलवार या कटार का ज़िक्र आया है वहाँ यह भी कह दिया गया है कि वह भारत से आई थी।

दूसरे देशों के मुक़ाबिले में जब भारत इन रंगों और दूसरी वस्तुओं को ज्यादा अच्छी तरह बना सकता था तब यह स्वाभाविक ही था कि संसार की मंडियों में उसकी तूती बोले। जिस व्यक्ति या देश को, दूसरों की अपेक्षा, बढ़िया औज़ार या किसी चीज़ के बनाने का बढ़िया अथवा अधिक सस्ता ढंग मालूम है, वह कालांतर में दूसरे देश को, जिसके पास न उतने अच्छे औज़ार हैं और न जिसे किसी वस्तु-विशेष के बनाने का उतना बढ़िया गुरु मालूम है, मंडी से निकाल बाहर करेगा। और यही कारण है कि विगत दो सौ वर्षों से योरप, एशिया की अपेक्षा, इतना आगे बढ़ गया है। नई खोजों और ईजादों की बदौलत योरप को नए-नए और शक्तिशाली औज़ार तथा वस्तुओं के बनाने की नवीन क्रियाएँ मालूम हो गईं। इनकी सहायता से उसने संसार की मंडियों पर अधिकार जमा लिया। इन्हीं की बदौलत वह धनी तथा शक्तिशाली हो गया। दूसरे भी कारण थे, जिनसे उसे मदद मिली। लेकिन इस समय तो मैं इतना ही चाहता हूँ तुम इस बात को सोचो कि यंत्र की कितनी अधिक महिमा है। एक महापुरुष ने एक अवसर पर कहा था कि मनुष्य यंत्र-बनानेवाला जानवर है। आदि काल से वर्तमान समय तक का मानव-इतिहास अधिकाधिक उपयोगी यंत्रों का इतिहास है। प्रस्तर-युग के आरंभिक बाण और हथौड़ों से आरंभ कर, आज तक की रेलों, भाप के इंजनों और भीमकाय मशीनों पर एक नज़र

डाल जाओ। सच तो यह है कि जो कुछ भी हम करते हैं, उसीमें हमें यंत्रों की आवश्यकता होती है। औज़ारों के बिना हमारी क्या दशा होती ?

यंत्र अच्छी चीज़ है। इससे काम हलका हो जाता है। लेकिन यह भी सच है कि यंत्र का दुरुपयोग भी हो सकता है। चाक़ू बहुत ही अधिक काम की चीज़ों में से एक है। प्रत्येक बालचर को अपने पास सदा चाक़ू रखना चाहिए। परंतु एक मूर्ख आदमी किसी दूसरे को चाक़ू से, संभव है, मार डाले। इसमें बेचारे चाक़ू का कुछ भी दोष नहीं है। दोष तो है उस व्यक्ति का, जो चाक़ू का दुरुपयोग करता है।

इसी तरह, यद्यपि आधुनिक मशीनें स्वतः अच्छी और उपयोगी हैं, लेकिन उनका अनेक प्रकार से दुरुपयोग होता आया और हो रहा है। जनसमुदाय के परिश्रम-संबंधी बोझ को हलका करने के स्थान में यंत्रों ने बहुधा उनके जीवन को पूर्व-काल की तुलना में अधिकतर कष्टसाध्य बना दिया है। यंत्र ने लाखों, करोड़ों मनुष्यों को सुखी और संतोषी तो बनाया नहीं, जैसा उसे करना चाहिए; उलटा, उसने बहुतों को मुसीबत में डाल दिया। उसने शासकों के हाथों में इतनी अधिक शक्ति दे दी कि वे अपने युद्धों में लाखों, करोड़ों का संहार कर सकते हैं।

लेकिन इसमें यंत्र का नहीं, किंतु उसके दुष्प्रयोग का दोष है। यदि बड़ी-बड़ी मशीनों का नियंत्रण अनधिकारी व्यक्तियों के हाथ में न रहे, जो उसके प्रयोग से अपने लिए रुपया कमाना चाहते हैं, परंतु जनता के द्वारा और उनके कल्याण के लिए उनसे काम लिया जाय तो बहुत बड़ा अंतर पड़ जायगा।

इस तरह उन दिनों, आजकल के प्रतिकूल, भारत माल को तैयार करने के साधनों में संसार में सबसे आगे था। इसीलिए भारतीय कपड़ा और भारतीय रंग तथा दूसरी वस्तुएँ दूर-दूर देशों में भेजी जाती थीं। वहाँ उनकी बड़ी माँग थी। भारत को इस व्यापार से धन की प्राप्ति होती थी। इस व्यापार के अतिरिक्त, दक्षिण में भारत से मिर्च और मसाले भी विदेशों में जाते थे। मसाले पूर्वीय द्वीपों से भी भारत में आते, और फिर यहाँ से पश्चिम को भेजे जाते थे। रोम और पश्चिम में मिर्च की बड़ी माँग था। कहा जाता है कि एलैरिक नामक गाथ जाति का एक नायक रोम से, जिस पर उसने ४१० ई० प० में अधिकार कर लिया था, ३,००० पौंड मिर्च ले गया। यह सब मिर्च या तो भारत से या भारत होकर रोम में गई होगी।

(४०)

देशों और सभ्यताओं का उत्थान और पतन

मई ६, १९३२

चीन को छोड़े हुए हमें बहुत दिन हो गए। आओ, वहाँ हम फिर लौट चलें। आगे की कथा कहते हुए हम इस बात का भी विचार करें कि जब पश्चिम में रोम का पतन और भारत में गुप्तों के अनुशासन में जातीय पुनरुत्थान हो रहा था, उस समय चीन में कौन सी घटनाएँ घट रही थीं। रोम के उत्थान या पतन का चीन पर बहुत ही कम असर हुआ। वे एक दूसरे से बहुत दूर थे। लेकिन मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि मध्य एशिया की जातियों को पीछे ढकेलने की चीनी राष्ट्र की जो नीति थी, उसके परिणाम योरप और भारत के लिए कभी-कभी बड़े ही दुःखद होते थे। जिन जातियों को चीनी राष्ट्र अपनी सरहद्द से हटा देती थी, वे पश्चिम और दक्षिण दिशाओं की ओर अपने गति क्रम में राज्यों और राष्ट्रों को उलटती और सब जगह गड़बड़ी फैलाती जाती थीं। इनमें से बहुत-से लोग पूर्वीय योरप और भारत में बस गए।

रोम और चीन में सीधा—साक्षात्—संबंध भी था। दोनों एक दूसरे के पास अपने राजदूत भी भेजते थे। चीनी ग्रंथों में इन राजदूतों के संबंध में उल्लेख से पता चलता है कि पहले-पहल १६६ ई० प० में रोम के आन-टून-नामक सम्राट् ने चीन के सम्राट् के पास राजदूत भेजे थे। यह आन-टून उस मार्कस आरेलियस एंटोनियस के अतिरिक्त और कोई नहीं है, जिसका ज़िक्र मैं अपने एक पत्र में कर चुका हूँ।

योरप में रोम का पतन एक महत्त्व-पूर्ण घटना थी। यह केवलमात्र एक नगर या साम्राज्य का पतन न था। एक तरह से रोमन साम्राज्य कानस्टेंटिनोपल में बहुत समय तक बना रहा; और उस का भूत योरप के सिर पर लगभग चौदह सौ वर्ष तक मँडराया। लेकिन रोम के पतन से एक महायुग का अंत, और ग्रीस एवम् रोम के प्राचीन जगत् का लोप हो गया। एक नई दुनिया, एक नवीन संस्कृति और सभ्यता, पश्चिम में रोम के भग्नांशों पर उठने लगी। शब्दों और वाक्यों से हम भ्रम में पड़ जाते, और यह समझने लगते हैं कि जब समान शब्द प्रयुक्त किए गए हैं तब उनका अर्थ भी समान ही होगा। रोम के पतन के बाद भी पश्चिमी योरप रोम ही की भाषा—शब्दावली—में अपने भाव व्यक्त करता रहा; लेकिन उस भाषा के पीछे भाव भिन्न थे, आशय दूसरा था। लोग कहते हैं कि आधुनिक योरप के देश ग्रीस और रोम की संतति हैं। किसी अंश तक यह ठीक है। लेकिन तो भी यह कथन भ्रमोत्पादक है। क्योंकि जिस भावना को ग्रीस और रोम अभिव्यक्त करते थे, उससे बिलकुल भिन्न भाव को योरप के देश प्रतिबिंबित करते हैं। रोम और ग्रीस का प्राचीन जगत् तो प्रायः पूर्ण रूप से मटिया-मेट हो गया। जो सभ्यता हज़ार या उससे अधिक वर्षों में विकसित हुई थी, वह पूर्णावस्था को प्राप्त कर सूख गई। ऐसा होने के पश्चात् ही पश्चिमी योरप के अर्ध-संस्कृत, अर्ध-

बर्बर देश इतिहास के पृष्ठ पर दिखाई देते और धीरे-धीरे एक नई सभ्यता और संस्कृति की रचना करते हैं। उन्होंने रोम ने बहुत कुछ सीखा; बहुत-सी बातों के लिए वे प्राचीन जगत् के ऋणी थे। लेकिन सीखने की क्रिया कठिन और श्रमसाध्य थी। सैकड़ों वर्षों तक ऐसा मालूम होता था कि योरप में संस्कृति और सभ्यता सो गई। अज्ञान और कट्टरता का अंधकार छा गया था। इसीलिए इन शताब्दियों को तमसाच्छादित युग या तमोयुग कहते हैं।

इसका क्या कारण था? संसार पीछे की ओर क्यों लौटने लगता है, और क्यों शताब्दियों के परिश्रम से संचित ज्ञान-राशि विलीन या विस्मृत हो जाती है? ये बड़े-बड़े प्रश्न हैं, जो हम में से बड़े-से-बड़े बुद्धिमान् को चक्कर में डाल देते हैं। मैं इनके उत्तर देने की चेष्टा न करूँगा। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस भारत ने एक समय ज्ञान और कर्म्म के क्षेत्रों में बड़ा नाम कमाया था, वह इतनी बुरी तरह पिछड़ जाय और बहुत दिनों तक पराधीन बना रहे? या, प्राचीन गौरवशाली चीन घरेलू लड़ाई-झगड़ों का केंद्र बन जाय? संभव है कि युग-युगांतरों के ज्ञान और अनुभूति की राशि, जिसे मनुष्य कण-कण बटोर कर संगृहीत करता है, एक साथ ही विलुप्त नहीं हो जाती। लेकिन न जाने क्यों, हमारी आँखें मुँद जाती हैं, और समय-समय पर हम कुछ भी देख नहीं पाते। खिड़की बंद हो जाती और अंधकार छा जाता है। लेकिन उस समय भी बाहर और हमारे चारों ओर प्रकाश रहता है। यदि हम अपने नेत्रों या खिड़कियों को मूँद लें तो इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रकाश का लोप हो गया।

कुछ लोगों का कहना है कि ईसाई मत के कारण – ईसा के मत के कारण नहीं, किंतु उन राजकीय ईसाई मत के कारण जो योरप में कानस्टैंटाइन-नामक रोमन सम्राट् के ईसाई हो जाने के बाद प्रचलित हुआ—योरप सदियों तक अंधकार में भटका। वास्तव में, इन लोगों का कहना है कि चौथी शताब्दी में कानस्टैंटाइन द्वारा ईसाई मत के अंगीकरण से एक नए युग का आरंभ हुआ। एक हजार साल तक के इस युग में "विवेक शृंखला में जकड़ा रहा, विचार दास के समान परमुखापेक्षी हो गया, और ज्ञान की प्रगति स्थगित हो गई।" उसके कारण, न केवल परपीड़न, कट्टरता और असहिष्णुता ने जोर पकड़ा किंतु विज्ञान या दूसरे क्षेत्रों में प्रगति के मार्ग भी बंद हो गए। धर्म्म-ग्रंथ बहुधा प्रगति के पथ में अड़ंगे लगाते हैं। इन धर्म्म-ग्रंथों से हमें पता चलता है कि जब वे लिखे गए थे, उस समय संसार की क्या दशा थी। उनसे हमें उस युग के भावों और आचार-विचारों का परिचय मिलता है। लेकिन बाद में किसी को उन भावों या आचार-विचारों के खंडन का केवल इसीलिए साहस नहीं होता, क्योंकि धर्म्म-ग्रंथों में उनका उल्लेख है। अतएव, यद्यपि संसार में व्यापक परिवर्तन भले ही होते रहें, परंतु हमें उन भावों और आचार विचारों को परिवर्त्तित परिस्थिति के अनुकूल बनाने का अधिकार नहीं है। इसका यह परिणाम होता है कि हम परिस्थिति के प्रतिकूल हो जाते हैं। तब अयत्नजन्य संकट उठ खड़े होते हैं।

कुछ लोग इसीलिए ईसाई-मत पर योरप में अंधकार-मय युग के लाने का दोषारोपण करते हैं। दूसरों का कहना है कि इन तमसाच्छादित युगों में ईसाई-मत और ईसाई पादरियों ने ज्ञान के दीपक को नहीं बुझने दिया। उन्होंने कला और चित्रकारी को मरने से बचाया।

उन्होंने मूल्यवान् ग्रंथों को यत्नपूर्वक सुरक्षित रक्खा और उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार कीं।

इस प्रकार लोग तर्क-वितर्क करते हैं। संभवतः दोनों पक्ष ठीक हैं। लेकिन यह कहना हास्यास्पद होगा कि रोम के पतन के बाद योरप में जितनी बुराइयाँ आईं उन सबके लिए ईसाई धर्म्म उत्तरदायी है। सच तो यह है कि रोम का पतन इन्हीं बुराइयों के कारण हुआ था।

मैं बहुत दूर बढ़ गया। जो बात मैं तुम्हें बताना चाहता था, वह यह है कि जहाँ योरप में आकस्मिक सामाजिक विप्लव और आकस्मिक उथल-पुथल हुए, वहाँ चीन, या भारत तक, में इस तरह का कोई आकस्मिक परिवर्त्तन नहीं हुआ। योरप में हम एक सभ्यता का अंत और दूसरी सभ्यता का उदय देखते हैं, जो धीरे-धीरे विकसित होते हुए अपने वर्त्तमान रूप में परिणत होगई। चीन में हमें उच्च कोटि की समान सभ्यता और संस्कृति अविरल धारा में बहती हुई दिखाई देती है। उसमें योरप के समान कोई आकस्मिक विच्छेद नहीं हुए। बात तो यह है कि उत्थान और पतन हुआ ही करते हैं; अच्छे युग और बुरे राजे-महाराजे आते और चले जाते हैं; राजवंश बदला करते हैं; लेकिन सांस्कृतिक दायभाग छिन्न-भिन्न नहीं होता। जिस समय चीन बहुत-से राष्ट्रों में विच्छिन्न हो गया और उनमें पारस्परिक संघर्ष मच रहा था, उस समय भी कला और वाङ्मय समुन्नत बने रहे; मनोहारी चित्रों का चित्रण जारी था; सुंदर-सुंदर कलश और प्रासाद रचे गए। छपाई का प्रयोग होने लगा है; चाय पीने का चलन फैला और उसकी कीर्ति कविता में गाई गई। चीन में जो अविछिन्न लावण्य और चारुता हम पाते हैं, वह केवल उत्कृष्ट सभ्यता ही का परिणाम है।

इस तरह भारत में भी, उस प्रकार का कोई आकस्मिक विच्छेद नहीं हुआ, जैसा रोम में हुआ था। यह ठीक है कि अच्छे और बुरे दिन यहाँ भी आए। उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिक और ललित कला-संबंधी रचनाओं के युग आए; और ह्रास एवम् विनाश के भी युग हुए। लेकिन सभ्यता की गति यहाँ एक प्रकार से जारी रही। भारत से वह पूर्व के दूसरे देशों में फैल गई। उन बर्बरों को, जो उसे लूटने आए थे, उसने अपने में मिला और उन्हें सिखा-पढ़ा लिया।

यह न सोचना कि योरप को नीचा दिखाकर मैं भारत या चीन की प्रशंसा करना चाहता हूँ। आज दिन भारत या चीन की दशा में कोई ऐसी बात नहीं है, जिसको लेकर कोई ढोल पीटता फिरे। अंधा भी देख सकता है कि प्राचीन महत्ता के होते हुए भी ये दोनों देश, संसार की जातियों की तुलना में, बहुत ही नीचे गिर गए हैं। यदि उनकी प्राचीन संस्कृति में कोई विच्छेद नहीं हुआ तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनमें निकृष्टता की ओर प्रत्यावर्त्तन नहीं हुआ। यदि पहले हम ऊपर उठे थे और आज नीचे गिर गए हैं, तो यह प्रत्यक्ष है कि हम संसार में नीचे उतर आए। अपनी सभ्यता की अटूट शृंखला को देखकर हम प्रसन्न भले ही हो लें; लेकिन इससे नामचार ही का संतोष होता है क्योंकि हमें यह बात याद हो आती है कि वही सभ्यता उत्कृष्टता की चरम सीमा को पहुँच कर विनष्ट होगई। कदाचित्, कहीं अधिक अच्छा होता यदि हमारे यहाँ भी पुरातन से आकस्मिक विच्छेद हुए होते। वे हमें जड़ से हिला देते और नया जीवन और

नई शक्ति प्रदान करते। यह हो सकता है कि आज दिन भारत और संसार में जो घटनाएँ घट रही हैं, वे हमारे पुरातन देश को विकंपित कर उसे नवयौवन और नवीन जीवन से भर दें।

मालूम होता है कि प्राचीन काल में भारत को शक्ति और अध्यवसाय ग्रामों के प्रजासत्तात्मक संघ अथवा स्वशासित पंचायतों की सुविस्तृत प्रणाली से मिला करता था। उन दिनों न तो आज-कल के से बड़े-बड़े जमींदार और न ताल्लुक़दार ही होते थे। भूमि पर या तो ग्राम-पंचायतों का या उसे कमानेवाले किसानों का अधिकार था। और इन पंचायतों के हाथ में बड़ी शक्ति और बड़े अधिकार थे। उनको गाँव के लोग अवश्य चुनते रहे होंगे। इस प्रकार, यह प्रथा प्रजासत्ता के आधार पर स्थित थी। राजा आते-जाते या एक दूसरे से लड़ते-भिड़ते रहते थे; लेकिन वे न तो इस ग्राम-प्रणाली में हस्तक्षेप करते और न पंचायतों की स्वतंत्रता छीनने की चेष्टा ही करते थे। और इस प्रकार साम्राज्यों का उलट-फेर तो होता रहा, किंतु जो समाज-संघटन ग्राम-संघों की प्रणाली पर निर्मित था, वह व्यापक परिवर्त्तन से अछूता ज्यों का त्यों स्थायी बना रहा। आक्रमणों, संघर्ष-संग्रामों और शासकों के परिवर्तनों के वृत्तांतों को पढ़कर हम भ्रमवश यह सोचने लगते हैं कि सारी जनता पर अवश्य ही इन घटनाओं का प्रभाव पड़ा करता होगा। हाँ, जनता पर, विशेषकर उत्तरीय भारत में, इन का कभी-कभी असर पड़ता था; लेकिन आम तौर से यह कहा जा सकता है कि लोग इन के कारण बहुत ही कम विचलित होते और राज-दरबारों में उथल-पुथल के होते हुए भी अपने-अपने धंधे में लगे रहते थे।

दूसरा कारण, जिसने बहुत काल तक भारत की सामाजिक प्रणाली को सबल बनाए रक्खा, आदि-कालीन वर्ण-व्यवस्था थी। उन दिनों वर्ण-व्यवस्था न तो उतनी जकड़ी हुई थी, जितनी वह बाद में हो गई, और न वह केवल जन्म ही से मानी जाती थी। हजारों साल तक भारतीय जीवन का आधार वर्णव्यवस्था बनी रही। वह सफलता पूर्वक आधार बनी रही, इसलिए नहीं कि वह वृद्धि और परिवर्त्तन को रोकती थी, किंतु इसलिए कि वह वृद्धि और परिवर्त्तन की सहायक थी। प्राचीन भारतीय धर्म्म और दृष्टिकोण जीवन के विषय में सहिष्णुता, परिवर्त्तन और अनुसंधान का सदा आदर करता था। इससे उसे बल मिलता था। लेकिन बार-बार के हमले और दूसरे संकटों ने वर्ण-व्यवस्था को धीरे-धीरे कठोर बना दिया, और साथ-साथ समस्त भारतीय दृष्टिकोण भी अधिकाधिक कठोर हो गया, उसका लोच जाता रहा। यही क्रम बराबर जारी रहा, यहाँ तक कि भारतवासी अपनी वर्तमान शोचनीय दशा को पहुँच गए और वर्ण-व्यवस्था हर तरह की उन्नति की शत्रु बन बैठी। सामाजिक संघटन को एक सूत्र में बाँधना तो दूर रहा, उलटे, वह उसे सैकड़ों टुकड़ों में छिन्न-भिन्न करती, हमें दुर्बल बनाती और भाई को भाई से लड़ाती है।

इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था से प्राचीन काल में भारत के सामाजिक संघटन को बल मिलता था। लेकिन उस अवस्था में भी विनाश के बीज उसमें मौजूद थे। वह परंपरागत असमानता और अन्याय की आश्रित थी। किसी भी स्वस्थ और स्थायी समाज का निर्माण अन्याय और असमानता या एक वर्ग अथवा श्रेणी द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण की नींव पर नहीं हो सकता। सारे संसार में हमें इसीलिए इतना अधिक उपद्रव और दुःख-दैन्य दिखाई देते हैं, क्योंकि आज

दिन सब कहीं सबल निर्बल का अनुचित और अन्याय-पूर्ण शोषण कर रहे हैं। लेकिन सर्वत्र लोगों की आँखें अब खुल गई हैं, और जनता उसे मिटाने की भरपूर कोशिश कर रही है।

जैसे भारत में, वैसे ही चीन में सामाजिक संघटन को ग्रामों और लाखों, करोड़ों मेहनत-मज़दूरी करनेवाले मौरुसी किसानों से बल मिलता था। वहाँ भी न बड़े-बड़े ज़मींदार थे और न धर्म्म में तो कट्टरता और न असहिष्णुता ही आने पाई थी। संभवतः, चीन-निवासी धार्मिक मामलों में, संसार की सब जातियों की अपेक्षा, कम असहिष्णु होते हैं।

फिर, तुम्हें यह भी याद होगा कि भारत और चीन दोनों ही में मजदूर-ग़ुलामों की कोई वैसी प्रथा न थी, जैसी ग्रीस या रोम में, अथवा, इससे भी पूर्व काल में, मिस्र में वर्त्तमान थी। हम लोगों के यहाँ घरेलू सेवक होते थे, जो दास कहलाते थे। लेकिन उनके कारण सामाजिक व्यवस्था में कुछ भी अंतर न पड़ता था। यह वर्ण-व्यवस्था उन दासों के बिना भी यथावत् बनी रहती। लेकिन प्राचीन ग्रीस या रोम में तो ऐसा न था। वहाँ तो बहु-संख्यक दासों का होना सामाजिक प्रणाली का एक अनिवार्य्य अंग था। उन्हीं के कंधों पर परिश्रम का वास्तविक भार डाल दिया गया था। मिस्र में क्या विशाल पिरैमिडों की रचना ग़ुलाम-मजदूरों के बिना संभव थी?

मैंने इस पत्र को चीन से आरंभ किया था। उसकी आगे का कहानी मैं कहना चाहता था। लेकिन मैं दूसरे ही विषय की ओर बह गया। मेरे लिए यह कोई असाधारण बात नहीं है! संभवतः दूसरी बार हम चीन के विषय को न छोड़ेंगे।

(४१)

टाङ राजवंश के शासन-काल में चीन ने उन्नति की

मई ७, १९३२

मैं तुम्हें चीन में हान राजवंश का, बौद्ध मत के आगमन का, छपाई की ईजाद का, और सरकारी अफ़सरों के चुनाव के लिए परीक्षा-प्रणाली के आरंभ का, हाल बता चुका हूँ। ईसवी संवत् की तीसरी शताब्दी में हान राजवंश का अंत हुआ, और साम्राज्य तीन भागों में बँट गया। तीन राज्यों में विभाजन का युग—यह इसी नाम से प्रसिद्ध है—कई सौ वर्षों तक चला। उसके बाद, टाङ-नामक नए राजवंश ने चीन को फिर से एक संयुक्त और शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया। यह सातवीं सदी के शुरू में हुआ।

लेकिन विच्छेद के इस युग में भी, यद्यपि उत्तर से तातार लोग आक्रमण पर आक्रमण कर रहे थे। चीनी संस्कृति और कला-कौशल समुन्नत दशा में बने रहे। बड़े-बड़े पुस्तकालयों और सुंदर-सुंदर चित्रों का विवरण हमें मिलता है। भारत वहाँ न केवल अपने कपड़े और अन्य पदार्थ किंतु अपनी विचार-राशि, अपना धर्म्म और अपनी कलाएँ भी भेजा करता था। बहुत-से बौद्ध उपदेशक भारत से चीन गए; और वे अपने साथ भारतीय कलाओं के परंपरागत सिद्धांतों को भी लेते गए। संभव है, भारतीय शिल्पी और कलाकार भी गए हों। भारत से बौद्ध धर्म्म और नवीन विचार-धारा के प्रवेश का चीन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। चीन बहुत पहले ही से एक सुसभ्य देश था। यह बात तो थी नहीं कि भारतीय धर्म्म, विचार-शैली या कलाओं ने, मानों, किसी असभ्य देश में जाकर अधिकार जमा लिया हो। चीन में तो उन्हें चीन के प्राचीन कला-कौशल और विचार-पद्धति का सामना करना पड़ा। इन दोनों के संपर्क से, परिणाम-स्वरूप, एक ऐसी चीज़ पैदा हो गई, जो दोनों ही से भिन्न थी, जिसका बहुत-सा अंश तो भारतीय था लेकिन जो वास्तव में चीनी थी और जो चीनी ढाँचे में ढली थी। भारत से इन विचार-धाराओं के आगमन ने चीन के कला-संबंधी और मानसिक जीवन में नई स्फूर्ति और नया उल्लास फूँक दिया।

इस प्रकार, बौद्ध धर्म्म और भारतीय कला-कौशल का संदेश पूर्व में आगे बढ़कर कोरिया और जापान में जा पहुँचा। इसका पता लगाना रोचक होगा कि इन देशों पर भारतीय संस्कृति का क्या प्रभाव पड़ा। दोनों ही ने उसे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप बनाकर ग्रहण किया। जैसे, यद्यपि चीन और जापान दोनों ही में बौद्धधर्म्म का प्रचार है, परंतु दोनों ही में उसके भिन्न-भिन्न रूप हैं; और संभवतः उसके ये दोनों ही रूप बौद्धधर्म्म के उस रूप से भिन्न हैं, जिस रूप में वह भारत से वहाँ गया था। जलवायु में अंतर और जाति-भेद के कारण कला भी बदल जाती है। भारत में हमारी जाति कला और सौंदर्य को भूल गई है। न सिर्फ़ बहुत दिनों से हम लोगों ने किसी लावण्यमयी वस्तु की रचना नहीं की, किंतु हममें से अधिकांश यह भी भूल गए कि किसी सुंदर

वस्तु का आदर किस प्रकार करना चाहिए। उस देश में, जो स्वतंत्र नहीं है, कैसे सौंदर्य और कला-कौशल पनप सकते हैं? बंधन और पराधीनता के अंधकार में वे मुरझा जाते हैं। लेकिन इस समय भी, हमारी आँखों के सामने स्वाधीनता की झलक के आते ही, सौंदर्य को परखने की शक्ति धीरे-धीरे हम में आने लगी है। जब स्वाधीनता आ जायगी तब तुम देखोगी कि देश में कला और सौंदर्य का पुनरुत्थान होता है। मुझे आशा है कि वह हमारे जीवन, घरों और नगरों से कुरूपता को बटोरकर दूर फेंक देगा।

भारत की अपेक्षा चीन और जापान अधिक सौभाग्यशाली निकले। उन्होंने सुंदरता और कारीगरी से संबंधित अपने ज्ञान को बहुत कुछ सुरक्षित रक्खा।

ज्यों-ज्यों बौद्धधर्म्म चीन में फैलने लगा त्यों-त्यों अधिकाधिक संख्या में भारतीय बौद्ध और भिक्षु वहाँ पहुँचने लगे। चीनी भिक्षु भारत और दूसरे देशों में भ्रमण करने जाते थे। मैंने तुम्हें फ़ाहियान का हाल बताया है। तुम ह्युयान शाङ का हाल भी जानती हो। दोनों ही भारत आए थे। हूई शेङ नामक एक चीनी भिक्षु पूर्वीय समुद्रों के पार गया था। इसका विवरण बड़ा ही मनोरंजक है। वह ४६६ ई० प० में चीन की राजधानी में पहुँचा। वहाँ उसने बताया कि वह एक ऐसे देश में होकर आया है, जिसका नाम वह फ़ू साङ बताता था; और जो चीन से कई हज़ार मील पूर्व में था। चीन और जापान के पूर्व में प्रशांत महासागर है, और यह संभव है कि उसने इस महासागर को पार किया हो। संभवतः वह मैक्सिको गया हो, क्योंकि मैक्सिको में उस समय भी एक बहुत ही प्राचीन सभ्यता थी।

चीन में बौद्धधर्म्म के प्रसार से आकर्षित होकर, भारतीय बौद्धधर्म्म के महाचार्य और पितामह दक्षिण भारत से चीन में कैंटन के लिए रवाना हुए। उनका नाम या उपाधि बोधि धर्म्म थी। भारत में बौद्धधर्म्म का धीरे-धीरे ह्रास होते देखकर उन्होंने संभवतः देश से बाहर चला जाना उचित समझा। जब ५२६ ई० प० में वह चीन गए तब वह बहुत ही वृद्ध थे। उनके साथ और उनके पश्चात् बहुत से भिक्षु चीन गए। यह कहा जाता है कि चीन के सिर्फ़ एक प्रांत—लो-याङ—में इन दिनों ३,००० भारतीय भिक्षु और १०,००० भारतीय परिवार रहते थे।

इसके थोड़े ही समय बाद, बौद्ध धर्म्म भारत में फिर एक बार चमक उठा। बुद्ध की जन्म-भूमि होने के कारण और इसलिए भी कि इसी देश में बौद्धों के धर्म्म-ग्रंथ थे, भारत में संसार भर के भक्त बौद्ध तीर्थ-यात्रा के लिए आते थे। लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि भारत में बौद्ध धर्म्म हतश्री हो चुका था, और अब से चीन बौद्ध धर्म्म का प्रमुख देश हो गया।

६१८ ई० प० में सम्राट् काओ शू से टाङ राजवंश का आरंभ हुआ। उसने न केवल चीन को फिर एक किया, किंतु दक्षिण में अनम और कंबोडिया तक और पश्चिम में ईरान और कैस्पियन सागर तक विस्तृत विशाल भूभाग पर अपना अधिकार जमाया। इस शक्तिशाली साम्राज्य में कोरिया का भी एक भाग संमिलित था। साम्राज्य की राजधानी सी-आन-फ़ू नामक नगर में थी जो अपने वैभव और संस्कृति के लिए पूर्वीय एशिया में विख्यात था। वहाँ जापान और दक्षिण कोरिया (जो अभी तक स्वतंत्र था) से राजदूत और

विद्वन्मंडलियाँ उसके कला-कौशल, दर्शनशास्त्र और सभ्यता के अध्ययन के लिए आया करती थीं।

टाङ सम्राट् विदेशीय व्यापार और विदेशीय यात्रियों को प्रोत्साहन देते थे। जो विदेशी लोग चीन में बसने या भ्रमण करने के लिए जाते थे, उनके लिए विशेष क़ानून थे ताकि उनके मामलों का फ़ैसला यथासंभव उन्हीं की रीति-नीति के अनुसार किया जाय। लगभग ३०० ई० पू० में बहुत से अरब कैंटन के समीप दक्षिण चीन में बसते थे। यह इस्लाम के प्रादुर्भूत होने, अर्थात् पैग़म्बर मुहम्मद के जन्म, से पहले की बात है।

इन अरबों की सहायता से सामुद्रिक व्यापार में उन्नति हुई; व्यापारियों का माल चीनी तथा अरब के जहाज़ों में लदकर आता था।

तुम्हें यह सुनकर आश्चर्य होगा कि मर्दुमशुमारी—मनुष्य-गणना—की प्रथा, जिसके द्वारा किसी देश की आबादी का पता चलता है, चीन में बहुत पुराने ज़माने से चली आती है। कहा जाता है, आज से बहुत दिन पहले, अर्थात् सन् १५६ ई० पू० में, चीन में पहली मनुष्य-गणना हुई थी। यह हान राजवंश के शासन-काल में हुआ होगा। तब व्यक्तियों की नहीं किंतु कुटुंबों की गणना की जाती थी। प्रत्येक परिवार में मोटे तौर से पाँच व्यक्ति मान लिए जाते थे। इस हिसाब से १५६ ई० पू० में चीन की आबादी लगभग ५ करोड़ थी। यह मनुष्य-गणना का सही ढंग नहीं है; परंतु सोचो तो कि मनुष्य-गणना की यह प्रथा पश्चिम के लिए बिलकुल नई चीज़ है। मेरा ख़याल है कि १५० वर्ष पहले अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में पहली बार मनुष्य-गणना हुई थी।

टाङ-राजवंश के आरंभिक काल में दो नवीन धर्मों—ईसाई मत और इस्लाम धर्म्म—का चीन में प्रचार शुरू हुआ। ईसाई धर्म्म को एक संप्रदाय-विशेष के अनुयायी ले गए थे। ये लोग पश्चिम से 'नास्तिक' कहकर निकाल दिए गए थे। कुछ समय पहले मैंने तुम्हें ईसाई संप्रदायों के आपसी लड़ाई-झगड़ों का हाल बताया था। इन्हीं झगड़ों में से एक का यह परिणाम हुआ कि रोम ने नैस्टोरियन संप्रदाय के अनुयायियों को खदेड़ भगाया। वे चीन, ईरान और एशिया के अन्य बहुत-से प्रदेशों में फैल गए। वे भारत में भी आए, और उन्हें यहाँ सफलता मिली। लेकिन बाद में नैस्टोरियन, मुस्लिमों या दूसरे ईसाई संप्रदायों में मिल गए, और अब उनका नामो-निशान भी बाक़ी नहीं है। लेकिन जब पिछले साल मैं दक्षिण भारत की यात्रा कर रहा था तब मुझे एक स्थान पर उनकी एक बस्ती देखकर अचरज हुआ। उनके बिशप ने हम लोगों को चाय-पानी के लिए आमंत्रित किया था। वह एक बड़े ही प्रफुल्लवदन वयोवृद्ध सज्जन थे।

ईसाई मत को चीन पहुँचने में कुछ समय लगा। लेकिन उसकी अपेक्षा इस्लाम वहाँ बहुत जल्द पहुँच गया। यह घटना नैस्टोरियनों के आगमन के कुछ समय पहले और पैग़म्बर के जीवन-काल ही में घटित हुई थी। चीनी सम्राट् ने दोनों ही—इस्लामी और नैस्टोरियन—राजदूतों का आदर के साथ स्वागत किया, और जो कुछ उन्होंने कहा उसे ध्यान-पूर्वक सुना। उसे दोनों ही की बातें पसंद आईं, और उसने दोनों ही को समभाव से अपनी कृपा का वचन दिया। कैंटन में अरबों को मसजिद बनाने की आज्ञा दी गई। यद्यपि यह मसजिद

१२०० वर्ष की पुरानी है लेकिन अभी तक मौजूद है यह संसार की सब से प्राचीन मसजिदों में से एक है।

इसी प्रकार टाङ सम्राट् ने एक ईसाई गिरजा और भिक्षुओं के लिए एक विहार बनाने की भी आज्ञा दी। इस समदृष्टि और उन दिनों के योरप के पक्षपात में जो अंतर है, वह प्रकट है।

कहा जाता है कि अरबों ने काग़ज़ बनाने की विधि चीनियों से सीखकर योरप को सिखाई। ७५१ ई० प० में मध्य एशिया के तुर्किस्तान में चीनियों और मुस्लिम अरबों का एक युद्ध हुआ। उसमें अरबों ने बहुत-से चीनियों को बंदी बना लिया। इन्हीं बंदी लोगों ने उन्हें काग़ज़ बनाने की विधि सिखाई।

टाङ राजवंश ने तीन सौ वर्षों अर्थात् ६०७ ई० प० तक राज्य किया। कुछ लोगों का कहना है कि ये तीन सौ वर्ष चीन के इतिहास में सर्वोत्तम थे, तब वहाँ पर केवल उच्च कोटि की संस्कृति ही नहीं किंतु वहाँ के लोगों को सुख-शांति भी बहुत अधिक परिमाण में उपलब्ध थी। अनेक बातें, जिन्हें पश्चिमवालों ने बाद में जाना, चीनियों को उस युग में मालूम थीं। काग़ज़ का ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। बारूद दूसरी वस्तु है। उनके यहाँ अच्छे-अच्छे इंजीनियर थे। साधारणतया, प्रायः प्रत्येक बात में, वे लोग योरप से बहुत आगे बढ़े-चढ़े थे। जब वे इतने समुन्नत थे तब फिर वे आगे ही क्यों न बढ़ते गए और विज्ञान तथा आविष्कार में योरप के पथ-प्रदर्शक क्यों न बने रहे ? लेकिन जिस प्रकार एक नवयुवक चलते-चलते वृद्ध पुरुष के बराबर आ जाता है, वैसे ही योरप भी धीरे-धीरे उनके बराबर पहुँचकर, कम-से-कम कुछ विषयों में, आगे निकल गया। क्योंकि जातियों के इतिहास में इस तरह की बातें होती ही रहती हैं, यह दार्शनिकों के लिए एक बहुत ही जटिल समस्या है। फिर तुम अभी तक दार्शनिक नहीं हो गई हो, जो इस प्रश्न के संबंध में माथा-पच्ची करोगी, अतः मुझे भी माथा-पच्ची करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

इस युग में चीन की श्रेष्ठता और महत्ता का एशिया के दूसर देशों पर स्वभावतः बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। कला और संस्कृति में पथ-प्रदर्शन के लिए वे सब चीन का मुँह ताकते थे। गुप्त साम्राज्य के बाद भारत का सितारा भी मंद हो गया था। जैसा सदा होता है, चीन की प्रगति और सभ्यता के साथ-साथ विलास और सुखद जीवन की ओर लोगों की प्रवृत्ति बढ़ती गई। फिर शासन-प्रणाली भी कलुषित थी। इस कारण, बहुत लंबे राजकरों का लगाना आवश्यक हो गया। जनता टाङों से ऊब उठी, और उसने उनके राजवंश का अंत कर दिया।

(४२)

चोसन और डाई-निपोन

मई ८, १९३२

जैसे-जैसे हमारी, संसार की कथा आगे बढ़ती जायगी, वैसे ही वैसे हमें नए-नए देश दृष्टिगोचर होते जायँगे। अतएव हमें अब कोरिया और जापान पर एक नजर डाल लेनी चाहिए, जो चीन के निकटपड़ोसी और अनेक बातों में चीनी सभ्यता की संतान हैं। वे एशिया की बिलकुल नोक—पूर्वतम सीमा—पर स्थित हैं। उनसे परे प्रशांत महासागर है। आधुनिक युग के पूर्व अमेरिका के साथ या योरप से उनका कोई ठेठ संपर्क न था। ऐसी दशा में महाद्वीप के शक्तिशाली राष्ट्र चीन ही के साथ कोरिया और जापान का एकमात्र संस्पर्श था। उन्होंने चीन से और चीन के द्वारा ही अपने धर्म्म, कलाओं और सभ्यता को पाया। चीन के प्रति कोरिया और जापान दोनों ही का अपार ऋण है; और कुछ बातों के लिए वे भारत के भी ऋणी हैं। लेकिन उन्हें जो कुछ भी भारत से मिला, वह चीन द्वारा और चीनी रंग में रँगा हुआ मिला।

अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण, कोरिया और जापान दोनों ही ने एशिया या दूसरे महाद्वीपों में होनेवाली महत्वपूर्ण घटनाओं में कुछ भी भाग नहीं लिया। वे घटना-केन्द्र से बहुत दूर थे। बहुत अंशों में यह उनके, विशेषकर जापान के लिए सौभाग्य की बात थी। अतएव हम उनके प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास को आसानी से छोड़ सकते हैं। इसके कारण एशिया के दूसरे भागों की घटनाओं को समझने में कुछ भी अंतर न पड़ेगा। लेकिन तो भी हमें इन देशों के प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास की उसी भाँति उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, जैसे हम मलेशिया और पूर्वीय द्वीप-समूह की भूतकालीन कथा की उपेक्षा नहीं कर रहे हैं। आज दिन बेचारे नन्हे-से देश कोरिया, को लोग प्रायः भूल सा गए हैं, जापान ने उसे हड़प कर अपने राज्य का अंग बना लिया है। लेकिन आज दिन भी कोरिया स्वतंत्रता का स्वप्न देख और स्वाधीन होने की चेष्टा कर रहा है। आजकल जापान की बहुत चर्चा है, चीन पर उसके आक्रमण के विवरणों से समाचार-पत्र भरे रहते हैं। मेरे लिखने के समय मंचूरिया में एक तरह की लड़ाई हो रही है। अतएव यह अच्छा ही होगा, यदि हम कोरिया और जापान के भूतकाल का कुछ थोड़ा-बहुत हाल जान लें। इससे हमें वर्तमान काल की स्थिति समझने में कुछ सहायता मिलेगी।

पहली बात, जो हमें याद रखनी चाहिए वह यह है कि बहुत लंबे युगों तक ये दुनिया से अलग—बिलकुल पृथक्—रहे हैं। वास्तव में, जापान अपने पृथकत्व और आक्रमणों से सुरक्षित रहने के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसके समस्त इतिहास-क्रम में बहुत कम ऐसे अवसर मिलते हैं जब दूसरों ने उस पर हमला किया हो। उस पर जो आक्रमण हुए भी उनमें से एक भी सफल न हुआ। अतएव, वर्तमान युग के पूर्व, उसे जिन संकटों का सामना करना पड़ा, वे सब घरेलू थे। कुछ काल के लिए जापान ने संसार से अपना संपूर्ण संपर्क तोड़ दिया

था। किसी जापानी का स्वदेश के बाहर जाना या किसी विदेशी, चीनवाले तक, का जापान में प्रवेश करना प्रायः असंभव था। उसने योरपवालों और ईसाई पादरियों से अपने को बचाने की नीयत से ऐसा किया था। उसका यह कार्य भयावह और मूर्खतापूर्ण था, क्योंकि इसका अर्थ, समस्त जाति को क़ैदख़ाने में बंद कर देना और सभी प्रकार के भले, बुरे बाहरी प्रभावों से वंचित कर लेना था। फिर जापान ने अपने सब दरवाज़े और खिड़कियाँ एकाएक खोल दीं, और उन्हें योरप जो कुछ भी सिखा सकता था उसे सीखने के लिए वह बाहर निकल पड़ा। उसने इस तरह से जी लगाकर योरप से सीखा कि एक या दो पीढ़ियों ही में वह बाह्य बातों में योरप के किसी भी देश की समता करने लगा। इस चेष्टा में उसने उनकी बुरी आदतों की नक़ल करना भी सीख लिया! यह सब पिछले ७० वर्षों में या लगभग उतनी ही अवधि में हो गया।

कोरिया का इतिहास चीनी इतिहास के बहुत बाद, और जापानी इतिहास कोरिया के इतिहास के भी बहुत पीछे, आरंभ होता है। मैंने परसाल अपने एक पत्र* में तुम्हें बताया था कि कैसे की-ज़े-नामक एक निर्वासित चीनी, चीन के राजवंश-संबंधी उलट-फेर से असंतुष्ट होकर, अपने ५ हज़ार साथियों के साथ पूर्व दिशा की ओर चला गया था। वह कोरिया में—जिसे 'चोसन' अर्थात् प्रातःकालीन शांति का देश कहते हैं—जाकर बस गया। की-ज़े अपने साथ चीनी कला-कौशल, कृषि और रेशम बनाने की विधि भी इस देश में ले गया। ६ सौ से अधिक वर्षों तक की-ज़े के वंशजों ने चोसन पर राज्य किया। चीनी उपनिवेशक समय-समय पर चोसन में आते रहे और बसते गए। कोरिया का चीन के साथ काफ़ी घनिष्ठ संस्पर्श था।

जिस समय शीह ह्युआङ टी चीन का सम्राट् था, उस समय चीनियों का एक बड़ा जत्था कोरिया आया था। तुम्हें इस सम्राट् की सुधि होगी†। यह वही आदमी है जो अपने को प्रथम सम्राट् कहता था और जिसने सब प्राचीन ग्रंथों को जलवा डाला था। वह अशोक का समकालीन था। शीह ह्युआङ टी के निष्ठुर शासन से त्रसित होकर बहुत से चीन-निवासियों ने कोरिया में जाकर आश्रय लिया। उन्होंने की-ज़े के अयोग्य और दुर्बल वंशधरों को निकाल भगाया। इसके बाद चोसन ८ सौ साल से अधिक समय तक कई रियासतों में विभक्त रहा। ये रियासतें बहुधा आपस में लड़ा करती थीं। एक बार इनमें से एक रियासत ने चीन से सहायता की प्रार्थना—भयावह प्रार्थना—की। सहायता आई, लेकिन उसने लौटने से इनकार कर दिया। शक्तिशाली देशों का यही ढंग है। चीन वहीं डट गया और कोरिया के एक अंश पर अधिकार जमा लिया। चोसन के शेष भाग भी कई सौ वर्षों तक चीन के टाङ सम्राटों को अपना अधीश्वर मानते रहे।

६३५ ई० प० में चोसन संयुक्त स्वाधीन राष्ट्र हो गया। वाङ कायन वह मनुष्य था जो

---

* पत्र नं० (११) देखिए।
† पत्र नं० (२६) देखिए।

इस कार्य्य के संपादन में सफल हुआ और चार सौ पचास वर्षों तक उसके उत्तराधिकारी इस राज्य पर शासन करते रहे।

मैंने दो या तीन पैराग्राफ़ों में ही तुम्हें कोरिया के इतिहास के दो हज़ार वर्षों से अधिक का हाल बता दिया। जो स्मरणीय है, वह कोरिया का चीन के प्रति अपार ऋण है। कोरिया में चीन से लेखनकला आई। वहाँवाले एक हज़ार वर्षों तक चीनी वर्णमाला का प्रयोग करते रहे—तुम्हें याद होगा कि चीनी वर्णमाला में भावों, शब्दों और वाक्यों को अंकित करते हैं, अक्षरों को नहीं—बाद में उन्होंने इस वर्णमाला से एक विशेष वर्णमाला निकाली, जो उनकी भाषा के लिए अधिक उपयुक्त थी।

बौद्ध धर्म्म चीन के मार्ग से आया, और कनफ्यूशियन दर्शनशास्त्र भी चीन ही से आया। कला-संबंधी संस्कार भारत—से चीन द्वारा कोरिया और जापान में पहुँचे। कोरिया ने कला की, विशेष-कर शिल्पकला की, सुंदर रचनाओं की सृष्टि की, और जहाज़ बनाने की कला में विशेष उन्नति हुई। एक समय कोरियावालों के पास शक्तिशाली नौ-सेना थी, जिससे उन्होंने जापान पर हमला किया था।

संभवतः आधुनिक जापानियों के पूर्वज कोरिया या चोसन से आए थे। संभव है, उनमें से कुछ, दक्षिण से—अर्थात् मलेशिया से—आए हों। यह तुम जानती ही हो कि जापानी मंगोल की नस्ल से हैं। परंतु आज दिन भी जापान में कुछ ऐसे लोग हैं, जो एनू कहलाते हैं। अनुमान किया जाता है कि ये ही देश के आदिम निवासी हैं। ये लोग श्वेतवर्ण और कुछ-कुछ रोमश हैं। ये लोग सूरत-शक्ल में साधारण जापानियों से बिलकुल नहीं मिलते। एनू जापान-द्वीप समूह के उत्तरी भाग में खदेड़ दिए गए हैं।

हमें पता चलता है, कि २०० ई० प० के लगभग, जिंगो-नाम्नी एक सम्राज्ञी यामाटो राष्ट्र का अधीश्वरी थी। जापान अथवा उसके उस भाग-विशेष का, जहाँ नवागंतुक बस गए थे, असली नाम यामाटो था। इस देवी जिंगो के नाम पर ध्यान दो। यह एक कुतूहल-पूर्ण संयोग की बात है कि जापान की एक आदिकालीन सम्राज्ञी का नाम जिंगो रहा हो। अंग-रेज़ी भाषा में जिंगो शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में होता है। इसका अर्थ है घमंडी और बढ़चढ़िया साम्राज्यवादी, अथवा हम महज़ साम्राज्यवादी भी कह सकते हैं; क्योंकि इस तरह का हर एक आदमी अवश्यमेव किसी न किसी अंश में घमंडी और बढ़चढ़िया होता है, जैसे, उदाहरण के लिए, आजकल के अँगरेज़ों का ख़याल है कि वर्त्तमान काल का जापान भी इसी साम्राज्यवाद या जिंगोपने के रोग से थोड़ा-बहुत ग्रस्त है। उसने पिछले कुछ सालों में कोरिया और चीन के प्रति बहुत ही बुरा व्यवहार किया है। अतएव यह कौतुक-मय संयोग है कि उसकी प्रथम ऐतिहासिक सम्राज्ञी का नाम जिंगो हो।

यामाटो का कोरिया के साथ घनिष्ठ संबंध था। कोरिया से ही उसे चीनी सभ्यता प्राप्त हुई और कोरिया द्वारा ही वहाँ ४०० ई० प० के लगभग चीनी वर्णमाला पहुँचा। इसी प्रकार बौद्ध धर्म्म भी वहाँ गया। ५५२ ई० प० में पकचे—कोरिया में उन दिनों तीन रियासतें थीं, उनमें से एक का नाम पकचे था—के शासक ने यामाटो के शासक के पास बुद्ध की एक सुवर्ण-प्रतिमा, बौद्ध धर्म्म-ग्रंथ और बौद्ध उपदेशक भेजे थे।

जापान के प्राचीन धर्म्म का नाम शिंटो था। यह एक चीनी शब्द है, जिसका अर्थ है 'देवताओं का पथ'। इस धर्म्म में प्रकृति-पूजन और पितरों की उपासना का संमिश्रण है। मृत्यु के बाद जीव की क्या गति होती है, अथवा इसी तरह की दूसरी समस्याओं और पहेलियों के विषय में शिंटो धर्म्म उदासीन है। वह तो वीर-जाति का धर्म्म था। यद्यपि जापानी चीनवालों के इतने निकट पड़ोसी और अपनी सभ्यता के मामले में उनके इतने अधिक ऋणी थे, परंतु तो भी वे लोग इनसे विलकुल ही भिन्न प्रकृति के थे। चीनी सदा से शांति-प्रिय होते आए हैं और आज दिन भी हैं। उनकी सभ्यता और जीवनचर्य्या शांतिमयी है। इसके विपरीत, जापानी सदा से वीर होते आए हैं और इस समय भी हैं। सैनिक का प्रधान गुण, अपने नेता और साथियों के प्रति अविचल कर्त्तव्य-निष्ठा है। जापानियों का यही एक विशेष गुण रहा है, और यही उनकी शक्ति का प्रधान श्रोत है। शिंटो इसी गुण को सिखाता है—"देवताओं का संमान करो और उनके वंशजों के प्रति निष्ठावान् बनो।" इसीलिए शिंटो धर्म्म इस समय तक जापान में जीवित है। बौद्ध धर्म्म के साथ-साथ इसका भी प्रचार है।

लेकिन क्या यह निष्ठा कोई गुण है ? साथी या पक्ष-विशेष के प्रति कर्त्तव्य-निष्ठा सचमुच गुण है। लेकिन शिंटो तथा दूसरे धर्म्मों ने, हमारे ऊपर शासन करनेवाले वर्ग के फ़ायदे के लिए, हमारी निष्ठाओं का अनुचित ढंग से दुरुपयोग किया है। उन्होंने जापान, रोम तथा दूसरे देशों में हमें अधिकारी की उपासना करना सिखाया। आगे चलकर तुम देखोगी कि इससे हमारी कितनी हानि हुई है।

जब जापान में नवीन बौद्ध धर्म्म पहुँचा तब शिंटो धर्म्म ने उसका विरोध किया और दोनों में कुछ संघर्ष हुआ। लेकिन थोड़े ही समय में दोनों पड़ोसियों की तरह शांति-पूर्वक रहने लगे। तब से बराबर दोनों इसी तरह से रहते चले आये हैं। दोनों में से शिंटो धर्म्म अधिक लोक-प्रिय है। शासक-वर्ग उसे प्रोत्साहन भी देता है, क्योंकि वह जनता को उन के प्रति निष्ठा और आज्ञाकारिता सिखाता है। बौद्ध धर्म्म, किसी हद तक, शिंटो की अपेक्षा अधिक भयंकर धर्म्म है, क्योंकि उसके प्रवर्तक स्वयमेव विद्रोही थे।

जापान का कला-संबंधी इतिहास बौद्ध धर्म्म के साथ आरंभ होता है। जापान या यामाटो का तभी से चीन के साथ सीधा संबंध स्थापित हो गया। जापान से चीन को निरंतर, विशेषकर टाङ राजवंश के समय में जब नवीन राजधानी, सी-आन-फू, समस्त पूर्वीय एशिया में प्रसिद्ध थी, राजदूत जाते थे। जापानियों, अथवा यामाटो के निवासियों ने, खुद भी एक नई राजधानी, स्थापित की, जिसको नारा कहते थे। इसमें सी-आन-फू की पूरी-पूरी नक़ल उतारने की चेष्टा की गई थी। मालूम होता है कि जापानियों में दूसरों के अनुसरण और अनुकरण करने की सदा से आश्चर्यमयी क्षमता है।

जापान के इतिहास में एक बात निरंतर दिखाई देती है। वह है बड़े-बड़े परिवारों का आपस में शक्ति के लिए लड़ना-झगड़ना और एक दूसरे का विरोध करना। प्राचीन काल में दूसरे देशों का भी यही हाल था। इन परिवारों में प्राचीन कुल-भाव सजीव बना है। अतएव जापानी इतिहास मुख्यतया विभिन्न परिवारों की पारस्परिक लाग-डाँट का इतिहास है। लोगों

की धारणा है कि उनके सम्राट्—जिनकी उपाधि मिकाडो है—सर्वशक्तिमान, एकाधिपति और देवता-तुल्य हैं। सूर्य्य के वंशज ही ठहरे। शिंटो और पितरों की उपासना के प्रभाव से लोग सम्राट् के एकाधिपत्य को अंगीकार करते और देश के प्रभावशाली व्यक्तियों का अनुशासन मानते हैं। लेकिन जापान में बहुधा सम्राट् स्वयम् कठपुतली की तरह शक्तिहीन हुए हैं और दूसरों के इशारों पर नाचते रहे हैं। शक्ति और अधिकार तो किसी बड़े कुटुंब या कुनबे के हाथ में रहते थे, जो राजाओं के कर्त्ता, धर्त्ता और विधाता होते थे और अपनी इच्छा के अनुरूप राजाओं और सम्राटों को बनाया-बिगाड़ा करते थे।

कहा जाता है कि जापान में जिस बड़े घराने ने सबसे पहले राष्ट्र का नियंत्रण किया, वह सोगा नाम से विख्यात है। जब इन लोगों ने बौद्ध धर्म्म को अंगीकार कर लिया तभी से वह राज-धर्म्म माना जाने लगा। और उसे राजा का आश्रय मिल गया। शोटूकू टैशी-नाम के एक सोगा नेता की गणना जापान के इतिहास-प्रसिद्ध श्रेष्टतम महापुरुषों में होती है। वह सच्चा बौद्ध और उच्च कोटि का कलाविद् था। चीन के कनफ्यूशियन ग्रंथों से भाव ग्रहण कर, उसने नैतिक आधार पर, न कि पाशविक बल पर, शासन-मंदिर के निर्माण की चेष्टा की। जापान उन दिनों ऐसे परिवारों से भरा था, जिनके सरदार प्रायः स्वतंत्र शासक थे। वे एक दूसरे से लड़ा करते थे और किसी की आधीनता को स्वीकार न करते थे। यद्यपि सम्राट् की लंबी-चौड़ी उपाधि थी परंतु वास्तव में वह केवल एक कुल-विशेष का सरदार-मात्र था। शोकूटू टैशी ने इस दशा को बदलने और एक सबल केंद्रीय शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने विभिन्न कुलपतियों और सरदारों को सम्राट् की आधीनता में अनुवर्ती शासक बना दिया। यह ६०० ई० प० के लगभग हुआ था।

लेकिन शोकूटू टैशी की मृत्यु के बाद सोगा-परिवार की शक्ति छिन गई। इसके थोड़े दिनों बाद, एक दूसरा व्यक्ति, जो जापानी इतिहास में बहुत ही प्रसिद्ध हुआ है, रंग मंच पर प्रकट हुआ। उसका नाम काकाटोमी नो कामाटोरी था। उसने शासन-प्रणाली में तरह-तरह के उलट-फेर किए और बहुत-सी बातों में चीनी शासन-पद्धति की नक़ल की। लेकिन सरकारी अफ़सरों की नियुक्ति के लिए परीक्षा-प्रणाली का, जो चीन की विशिष्टता थी, उसने अनुकरण न किया। अभी तक सम्राट् वास्तव में एक कुलपति ही के समान था। इस समय से वह सरदारों के ऊपर माना जाने लगा, और केंद्रीय शासन भी अधिक सबल हो गया।

इन्हीं दिनों में जापान की नारा में राजधानी स्थापित हुई। लेकिन यहाँ राजधानी थोड़े ही समय तक रही और ७६४ ई० प० में वह कियोटो में उठ आई। जहाँ पर वह लगभग ११ सौ वर्षों तक रही। थोड़े दिन हुए वह कियोटो से उठकर टोकियो में स्थापित हुई। लेकिन वह तो कियोटो ही है जिससे हमें जापान की आत्मा का पता चलता है और जो एक हज़ार वर्षों की स्मृतियों से परिपूर्ण है।

काकाटोमी नो कामाटोरी उस फ़ूजीवारा-नामक कुल का आदि पुरुष था, जिसने जापानी इतिहास में बहुत से महत्व-पूर्ण कार्य्य किए हैं। इस वंश ने दो सौ वर्षों तक शासन किया और सम्राटों को अपने हाथ का खिलौना बनाया, एवं अनेकों बार अपने घराने की लड़कियों के साथ

विवाह करने को विवश किया। दूसरे परिवारों के योग्य व्यक्तियों से सशंकित होने के कारण, वे बलपूर्वक इन लोगों को प्रवृज्या ग्रहण कर बौद्ध विहारों में भर्ती होने के लिए बाध्य करते थे।

जब नारा में राजधानी थी, तब चीन के सम्राट् ने जापानी सम्राट् के पास एक संदेश भेजा, जिसमें उसने इसको टाई-न्यीह-पूङ-कोक अर्थात् 'महा-सूर्य्य-उदय-साम्राज्य' के सम्राट् की उपाधि से संबोधित किया था। जापानियों को यह नाम बहुत रुचा। यह नाम यामाटो की अपेक्षा अधिक गौरव पूर्ण मालूम होता था। अतएव उन लोगों ने अपने देश को डाई-निपोन—उदित सूर्य्य का देश—कहना शुरू किया। वे लोग अब तक इसी नाम से जापान को पुकारते हैं। जापान शब्द विचित्र ढंग से स्वतः नीपान शब्द से बना है। ऊपर की घटना के ६०० वर्ष बाद एक प्रसिद्ध इटैलियन यात्री चीन गया। उसका नाम मार्कोपोलो था। वह स्वयम् कभी जापान नहीं गया, लेकिन उसका विवरण उसने अपनी यात्रा के ग्रंथ में दिया है। उसने न्यीह-पूङ-कोक का नाम सुना था। उसने इसे अपनी किताब में चीपांगो लिखा है। इससे जापान शब्द की उत्पत्ति हुई।

क्या मैंने तुम्हें बताया है, या तुम्हें मालूम है, कि कैसे हमारा देश इंडिया और हिंदोस्तान कहलाने लगा। दोनों ही नाम इंडस या सिंधु नदी से निकले हैं। इस प्रकार यह नदी भारत की नदी-विशिष्ट हो जाती है। सिंधु से ग्रीक हमारे देश को इंडास कहने लगे। इस इंडास से इंडिया बना। वैसे ही सिंधु से ईरानियों को हिंदु मिला और उससे हिंदोस्तान बना।

परिशिष्ट—(अ)

टिप्पणियाँ

लेखक— मार्कंडेय वाजपेयी, एम्० ए०, एल० एल० बी०
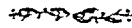
अरिस्टाटल:—अथवा अरस्तू, एक प्रसिद्ध ग्रीक तत्त्ववेत्ता था। इसका जन्म ३८४ ई० पू० में मेसीडोनिया प्रदेश के स्टैजिरा-नामक नगर में हुआ था। इसका पिता मेसीडोनिया-नरेश का वैद्य था। ३६७ ई० पू० में अरस्तू एथेंस चला आया और वहाँ के विख्यात दार्शनिक प्लेटो का १७ वर्ष तक शिष्य रहा। प्लेटो की मृत्यु के उपरांत वह एशिया माइनर के माइसिया-नामक प्रांत को चला गया और वहाँ के नरेश, हरमियास, की पुत्री से उसने विवाह किया। ईरानी सम्राट् के साथ एक युद्ध में माइसियन नरेश मारा गया, और अरिस्टाटल वहाँ से भागकर माइटीलीन नगर में पहुँचा। वहाँ से दो वर्ष बाद, ३४३ ई० पू० में, उसे मेसीडोनिया के राजा, फिलिप, ने अपने तेरहवर्षीय पुत्र, सिकंदर, को पढ़ाने के लिए अपने देश में बुलाया। वहाँ इसका बड़ा सत्कार हुआ; यहाँ तक कि राजा फिलिप ने उसके कहने से स्टैजिरा नगर को फिर से बनवा दिया। ३३४ ई० पू० में, सिकंदर के एशिया-विजय के लिए रवाना होने पर, अरिस्टाटल फिर एथेंस को लौट गया; और वहाँ पर उसने लीसियन-नामक व्यायामशाला में एक पाठशाला खोला, जिसमें वह दर्शन, वेदांत, तर्क, न्याय और राजनीति पर व्याख्यान दिया करता था। तेरह वर्ष उसने इसी प्रकार व्यतीत किए। ३२३ ई० पू० में सिकंदर की मृत्यु हुई; और तब एथेंस में उसके गुरु के विरुद्ध एक ज़बर्दस्त आंदोलन उठ खड़ा हुआ। राजद्रोह का अभियोग तो अरस्तू पर लगाया नहीं जा सकता था, इसलिए उस पर धार्मिक अविश्वास का अभियोग लगाया गया। अपने मुक़द्दमे की सुनवाई के पहले ही अरिस्टाटल एथेंस से भाग कर इयोबिया जा पहुँचा और वहीं उसकी मृत्यु हो गई। अरिस्टाटल में असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता थी और पश्चिमी राजनीति, दर्शन और तर्क के विद्यार्थी को उसके ग्रंथ अब भी अनिवार्य रूप से पढ़ने पड़ते हैं। उसका "राजनीति"-नामक ग्रंथ बड़ा प्रसिद्ध है।

आरिस्टोफोनीज़:—इस नाम के दो व्यक्ति हुए हैं। प्रथम एथेंस का प्रसिद्ध हॅंसोड़ कवि और नाटककार था, जिसका काल लगभग ४४५ से ३८० ई० पू० तक है। इसका जन्म शायद एथेंस नगर ही में हुआ था, पर इसका पिता फिलीपस एजिना-द्वीप का जमींदार था और शायद वहीं से यहाँ आया था। उसके फिलीपस, अरारस और निकोस्ट्रेटस-नामक तीन पुत्र थे। पर

इसके निजी जीवन का अधिक वृत्तांत किसी को नहीं मालूम। इसके सुखांत नाटकों से उस समय की बहुत-सी बातों का पता चलता है और इसके शाब्दिक व्यंग-चित्रों से उस समय के प्रमुख व्यक्तियों का व्यक्तित्व आँख के सामने खिंच-सा जाता है।

असीरिया:—एशिया के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम। आरंभ में इसमें केवल अशर-नामक नगर शामिल था; जो टाइग्रस नदी के दाहिने किनारे पर बसा था। बाद में यह साम्राज्य इतना बढ़ा कि तीन जुदा-जुदा स्थान असीरिया के नाम से विख्यात हो गए। एक तो असीरिया का प्रांत था, जो टाइग्रस नदी के पूर्वीय तट की ओर स्थित है। टाइग्रस नदी उसे इराक़ और बैबीलोनिया से पश्चिम और उत्तर-पश्चिम की ओर विभाजित करती है। उसके उत्तर और पूर्व की ओर निफ़ेट्स और जागरूस के पहाड़ हैं। ये उसे आर्मीनिया और मीडिया से अलग करते थे। उसके दक्षिण-पूर्व में सूसियाना था। इसमें होकर कई छोटी-छोटी नदियाँ बहती और टाइग्रस नदी में पूर्व की ओर से आकर मिल जाती हैं। इनमें से लाइकस अथवा जैबेटस और कैप्रस अथवा ज़ैबस नाम की दो छोटी नदियाँ इस प्रांत को तीन भागों में विभाजित करती हैं। उत्तरी टाइग्रस और लाइकस के बीच का भाग एटूरिया कहलाता था। असीरिया के समृद्धिशाली राजवंश का आदिम निवास-स्थान शायद यहीं था; और निनेवा भी यहीं बसा था। लाइकस और कैप्रस के बीच का भाग एडियाबीनी कहलाता था, और कैप्रस के दक्षिण-पूर्व के भाग में अपोलोनियाटिटस और सिट्टासीनो के ज़िले थे। फिर यूफ़्रेटीज़ और टाइग्रस द्वारा अभिषिक्त समस्त देश को भी असीरिया कहते थे। इस दृष्टि से, इराक़ और बैबीलोनिया, दोनों ही, असीरिया के अंतर्गत थे। तीसरे अर्थ में असीरिया से पूर्ण असीरियन साम्राज्य का बोध होता था।

असीरिया बहुत दिनों तक बैबीलोनियन साम्राज्य के अंतर्गत रहा। परंतु ईसा से ११२० वर्ष पहले, टिग्लैथपिलीसर प्रथम के सिंहासनारूढ़ होते ही, तख़्ता पलट गया, और बैबीलोनियन साम्राज्य असीरियन साम्राज्य के अधीन हो गया। सम्राट् टिग्लैथपिलीसर चतुर्थ ने साम्राज्य की सीमाओं को और भी विस्तृत किया और निनेवा में इस साम्राज्य की राजधानी स्थापित हुई। इस सम्राट् का राज्य-काल ७४५ ई० पू० से ७२७ ई० पू० तक है। ७२२ ई० पू० से ७०५ ई० पू० तक सम्राट् सार्गन द्वितीय ने शासन किया और साम्राज्य को बहुत बढ़ाया। उसके बेटे, सेनाकेरिब, ने साम्राज्य को सुरक्षित रक्खा, और सम्राट् इसारहैडन ने मिस्र को विजय किया। इस सम्राट् का काल ६८१ ई० पू० से ६६८ ई० पू० तक है। इसकी मृत्यु के उपरांत, साम्राज्य इसके दो बेटों में बँट गया। इसी समय से इस विशाल साम्राज्य के ह्रास का आरंभ हुआ; और ६१२ ई० पू० में बैबीलोनिया और मीड के राजाओं ने असीरिया को जीत लिया और उसकी राजधानी, निनेवा, को विध्वंस कर डाला।

असीरिया का विशाल साम्राज्य उन सर्वप्रथम साम्राज्यों में से एक है जिनके ऐतिहासिक लेख मिलते हैं। अपने गौरव-काल में यह मिस्र से ईरान तक फैला हुआ

था। मीडिया, ईरान, आर्मीनिया, सीरिया, फ़्यूनीशिया, फ़िलिस्तीन, बैबीलोनिया, इराक़, उत्तरी अरब और मिस्र के राज्यों पर उसका आधिपत्य था। उसकी सभ्यता भी उच्च कोटि की थी। उसकी लिपि बैबीलोनियन थी और उसका अवशिष्ट वाङ्मय ईंटों, पत्थरों, महलों और मंदिरों के टुकड़ों और चट्टानों पर खुदा हुआ मिलता है। असीरिया का धर्म भी बैबीलोनियन था। उसके प्रधान देवता का नाम अशर था, किंतु बैबीलोनिया के देवता का नाम मार्डक था। असीरियन और बैबीलोनियन, दोनों ही, साम्राज्य अपने-अपने काल के बड़े विशाल साम्राज्य थे। कभी एक बढ़ जाता था तो कभी दूसरा। कभी एक का सम्राट् अपने को विश्व-सम्राट् कहता था तो कभी दूसरे का।

इनक्वीज़ीशन:—यह ईसाई धर्म के रोमन कैथोलिक संप्रदाय की संरक्षता में स्थापित पादरियों का एक न्यायालय था, जिसका काम धार्मिक अविश्वास को रोकना था। पोप इनोसेंट चतुर्थ ने १२४८ ई० प० में इसे न्यायालय का रूप दिया। प्रथम न्यायालय की स्थापना फ़्रांस के टूलूज़ नगर में हुई। इसके बाद ऐसे न्यायालय इटली, स्पेन, पोर्चुगाल, पीरू, मेक्सिको, गोआ, नेदरलैंड्स और जर्मनी में भी खुले। इसमें सर्वसाधारण पर दोषारोपण की सुनवाई होती थी और उन्हें दंड दिया जाता था। क़ानून, इत्यादि, का इनमें कोई विचार न किया जाता था। गवाही के लिए यंत्रणा तक का प्रयोग किया जाता था। स्पेन में, ख़ासतौर से, इसका बड़ा क्रूरता-पूर्ण दुरुपयोग किया गया। वहाँ पर इसका प्रयोग यहूदियों और मूर जाति के ख़िलाफ़ किया जाता था। इसमें न सिर्फ़ कथन और कार्यों ही पर बल्कि वास्तविक अथवा कल्पित विचारों के लिए भी दंड दिया जाता था। इस क्रूर संस्था का उन्नीसवीं शताब्दी ने अंत कर दिया।

इराक़:—यूफ़्रेटीज़ और टाइग्रस नदियों के बीच के पूरे प्रांत का नाम इराक़ है। यह नाम सबसे पहले ग्रीक-जाति के सेल्यूकाइड राजवंश के समय में इस प्रांत के लिए प्रयोग किया गया था। ईरानी साम्राज्य में यह प्रांत बैबीलोनिया के सूबे के अंतर्गत था। कभी-कभी इस नाम का प्रयोग यूफ़्रेटीज और टाइग्रस नदियों के बीच के संपूर्ण देश के लिए होता है। इस अर्थ में, प्राचीन असीरिया, बैबीलोनिया, कैल्डिया, सब इसमें आ जाते हैं। इस तरह से यह देश प्राचीन सभ्यताओं में से कई एक का क्रीड़ा-क्षेत्र रहा है।

ईरान:—अथवा पर्सिस या फ़ारस, एशिया का एक देश है। जो पठार दक्षिण में अरब-सागर तक, पूर्व में सिंधु नदी तक, पश्चिम में फ़ारस की खाड़ी और इराक़ तक और उत्तर में कैस्पियन सागर तथा अरब-सागर तक फैला हुआ है, वह प्राचीन काल में फ़ारस या पारस कहलाता था। वर्तमान ईरान का क्षेत्रफल केवल ६,२८,००० वर्ग मील के लगभग है। उसकी राजधानी तेहरान है।

ऐतिहासिक काल में यहाँ के प्रथम निवासी शायद सुमेरियन जाति के थे। पर असीरियन साम्राज्य के पतन के अनंतर

मीड-जाति वालों ने उस साम्राज्य पर अधिकार जमा लिया। ईसा से लगभग ६० वर्ष पूर्व मीडिया एक बड़ा समृद्धिशाली साम्राज्य था। पर इसके ५० ही वर्ष बाद मीडिया का साम्राज्य ईरान की एक दूसरी आर्य जाति के हाथ में चला गया। डेरियस के सम्राट् होने पर ईरानी साम्राज्य बड़ा विस्तृत और शक्तिशाली हो गया। उन दिनों उसका विस्तार एशिया माइनर तक था। मिस्र भी ईरान के अधीन था। प्राचीन काल में शायद ही किसी दूसरे साम्राज्य का इसके समान विस्तार रहा हो। इस साम्राज्य की राजधानियाँ पश्चिम में वैबीलन, सूसा और एकबाटना में और ईरान में पसार्डगाडा और पर्सेपालिस में थीं। डेरियस ने इसे २० सूबों में विभाजित किया था। इसके सम्राटों में साईरस, कैंबीसस, डेरियस प्रथम, ज़रैक्सस प्रथम, आर्टाजेनस, आर्टाज़रसीज़ प्रथम, लाँगीमेनस, इत्यादि, हुए हैं। उनका शासन-काल ५५६ ई० पू० से ३३१ ई० पू० तक है। उस समय ईरानी सभ्यता बहुत समुन्नत दशा में थी। साम्राज्य इतना विशाल और शक्तिशाली था कि ग्रीस-निवासियों को डर के कारण नींद नहीं आती थी। योरप, अफ़्रीका और एशिया ईरानी सम्राट् के नाम से काँपते थे। पर इतने विशाल साम्राज्य को चिरकाल तक स्थायी बनाए रखने के लिए असाधारण प्रतिभा की आवश्यकता थी। धीरे-धीरे ईरान का पतन होने लगा, और ग्रीक विजेता सिकंदर ने इस साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। सिकंदर की मृत्यु के पश्चात् ईरान पर सेल्यूकाइड राजवंश का शासन रहा। पर ईरान का भाग्य-सूर्य अस्त हो चुका था। बाद में तो पहले की अपेक्षा पतन ही पतन होता गया। सेल्यूकाइडों के बाद पार्थियन आए और उनके आर्सासिड राजवंश ने, २४६ ई० पू० के लगभग, सारे देश पर अपना आधिपत्य जमा लिया। इस तरह थोड़े दिनों के लिए ईरान का सितारा एक बार फिर चमक उठा। इनके बाद सासान राजवंश आया, जिसने ६५१ ई० प० तक राज्य किया। फिर यहाँ पर अरबों का राज्य हुआ। लगभग ६०० वर्ष तक यह देश खलीफ़ाओं के अधीन रहा।

एस्किलसः—एक प्रसिद्ध नाटककार। इसका जन्म ५२५ ई० पू० में ऐटिका प्रांत के इल्यूसिस-नामक नगर में हुआ था। पिता का नाम यूफ़ोरियन था। ४९९ ई० पू० में, २५ वर्ष ही की आयु में, इसने सर्वोत्तम दुखांत नाटक के लिए दिए जाने वाले पुरस्कार को प्राप्त करने का प्रयत्न किया, पर उसमें यह असफल हुआ। बाद में यह मराथान, सलामिस और प्लेटिया के युद्धों में लड़ा और ४८४ ई० पू० में अंत में उसने वह पुरस्कार प्राप्त किया। इसके १२ वर्ष बाद उसे अपनी एक दूसरी पुस्तक पर पुरस्कार मिला। ४६८ ई० पू० में अपने नौजवान प्रतिद्वंदी, साफ़ोक्लीज़, द्वारा परास्त होने पर वह चिढ़कर सिराक्यूज़-नरेश, हाइरो, के दरबार में चला गया। ४६७ ई० पू० में हाइरो की मृत्यु हो गई और, ४५८ ई० पू० के लगभग, यह फिर एथेंस नगर को लौट आया। वहाँ से वह सिसिली-द्वीप को चला गया और ४५६ ई० पू० में इसकी मृत्यु

हो गई। दंतकथा के अनुसार इसकी गंजी खोपड़ी को चट्टान समझकर एक चील ने उस पर एक कछुवा गिरा दिया था; और इस प्रकार एस्किलस के विषय में जो भविष्य-द्वाणी हुई थी कि उसकी मृत्यु आकाशी चोट से होगी, वह पूरी हुई। कहा जाता है कि इसने कुल ७० दुखांत नाटक लिखे। उनमें ७ अब भी विद्यमान हैं।

ऐंटीगोनस:—यह सिकंदर का एक काना सेनापति था। सिकंदर की मृत्यु के उपरांत यह उसके अन्य सभी सेनापतियों से लड़ा। ३०६ ई० पू० में इसकी स्पर्धा यहाँ तक बढ़ी कि इसने अपने को "एशिया का सम्राट्" घोषित कर दिया। पर पाँच ही वर्ष पश्चात् यह फ्रीजिया में इप्सस-नामक स्थान पर लड़ाई में मारा गया। इसका काल ३८० से ३०१ ई० पू० तक माना जाता है।

कन्फ्यूशियस:—यह प्रसिद्ध चीनी दार्शनिक और धर्म-प्रवर्तक था। इसका चीनी नाम कंङ्फूस है। कन्फ्यूशियस उसका अंगरेजी अपभ्रंश है। इसका जन्म ईसा से ५५१ वर्ष पूर्व हुआ था और इसने अपना सारा जीवन अपने देश के प्राचीन ग्रंथों के संलकन, संपादन और प्रकाशन में व्यतीत किया था। इसकी मृत्यु ४७८ ई० पू० में हुई। कन्फ्यूशियस के धर्म के नौ मुख्य अंग हैं, जिनमें व्यक्तिगत और राजनीतिक कर्त्तव्य और आचरण के उपदेश दिए गए हैं। कन्फ्यूशियस ने परमात्मा और आत्मा अथवा परलोक के विषय में कोई सिद्धांत नहीं प्रतिपादित किया है। पर उसके विचार में धार्मिक आचार-विचार सर्वसाधारण के लिए हितकर हैं, क्योंकि उनसे न्याय और शांति की वृद्धि होती है।

कार्थेज:—यह उत्तरी अफ्रीका का एक प्राचीन नगर और शक्तिशाली साम्राज्य था। यह नगर वर्तमान ट्यूनिस के पास बसा हुआ था और किंवदंती है कि टाइर के फोनेशियनों ने, डाइडो के आधिपत्य में, इसे बसाया था। कालांतर में यह बढ़कर भूमध्यसागर का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य बन गया। रोम के साथ प्रथम और द्वितीय प्यूनिक युद्ध होने के पश्चात् इसकी गति क्षीण पड़ने लगी और अंत में १४६ ई० पू० में रोम ने इस साम्राज्य और नगर का अंत कर दिया। यह बड़ा धनी और व्यापारिक राज्य था। इसके जहाज दूर-दूर तक जाते थे और रोमन साम्राज्य भी इसके नाम से थर-थर काँपता था। अपने गौरवकाल में इस नगर की बस्ती ७ लाख थी। रोमन सम्राट्, आगस्टस, के समय में कार्थेज के दिन फिर बहुरे और यह रोमन साम्राज्य का एक प्रमुख नगर बन गया। ४३९ ई० प० में रोमन साम्राज्य का ह्रास होने पर यह नगर वांडल जाति की राजधानी बन गया। सन ६९८ ई० प० में अरबों ने जला कर इसका अंत कर दिया। हाल की खुदाई से पता चला है कि यह की प्राचीन सभ्यता बड़े ऊँचे दर्जे की थी।

कैल्डिया:—परिमित अर्थ में यह बैबीलोनिया का एक प्रांत था। ईरान की खाड़ी के ऊपर की ओर अरबी रेगिस्तान से मिला हुआ यह प्रांत यूफ्रेटीज नदी के निचले भाग के तटों पर स्थित था। इसमें अनेक नहरें थीं। इसलिए इसकी भूमि बहुत

ही उपजाऊ थी। ज़ेनोफ़ोन-नामक ग्रीक इतिहास-लेखक ने कैल्डिया को इराक़ के उत्तर की ओर के पहाड़ों में बताया है। यह बहुत संभव है कि कैल्डियनों का आदिम निवास-स्थान आर्मीनिया के पहाड़ों में तथा कुर्दिस्तान में रहा हो और वहाँ से वे इराक़ और वैबीलोनिया की समतल भूमि पर उतर आए हों।

दूसरे अर्थ में कैल्डिया का प्रयोग पूरे वैबीलोनिया और वैबीलोनियन साम्राज्य के लिए होता है। इसका कारण शायद यह है कि ६२५ ई० पू० में कैल्डिया-निवासी नाबोपोलासार, मीड-जाति की सहायता से, वैबीलोनिया का सम्राट् हुआ और उसी के उत्तराधिकारियों के काल में वैबीलोनियन साम्राज्य अपने गौरव के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा। इसीलिए वह काल नव-वैबीलोनियन अथवा कैल्डियन-वैबीलोनियन काल कहलाता है।

क्रीट:—यह भूमध्यसागर के सब से बड़े टापुओं में से एक टापू है। इसका क्षेत्र-फल २६५० वर्ग मील है; और आबादी लगभग ४ लाख है। इसका जलवायु बड़ा अच्छा है और भूमि भी बड़ी उपजाऊ है। प्राचीन सभ्यता में क्रीट का स्थान बड़ा ऊँचा है। कला-कौशल में कुशलता पाने-वाला यह प्रथम योरपीय देश है। इसके उत्थान का समय लगभग २२०० से १६०० ई० पू० माना जाता है। उस समय यहाँ पर एक उच्च कोटि की सभ्यता विद्यमान थी। प्रसिद्ध ग्रीक कवि, होमर, की रचनाओं में क्रीट के सौ नगरों का वर्णन मिलता है। यहाँ का राजा माइनास बड़ा प्रसिद्ध शासक था। उसकी राजधानी नोसास थी और उसके राज्य के अन्य बड़े नगरों में गार्टीना और सिडोनिया थे। उसी ने क्रीट में पहले-पहल क़ानून का विधान किया; और इतिहास का वह प्रथम राजा है जिसके पास अपनी जल-सेना थी। अपने बेड़े से उसने ईजियन सागर के समुद्री डाकुओं का दमन किया था। उसके समय में क्रीट का राज्य बड़ा संपन्न और शक्तिशाली हो गया था। उसे इमारतों का बड़ा शौक़ था और उसकी बनवाई हुई भूल-भुलैयां का नाम ग्रीक साहित्य में अक्सर आता है। माइनास के बाद क्रीट की सभ्यता का ह्रास होने लगा, और ग्रीस-निवासियों की डोरियन-नामक शाखा ने क्रीट में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। ग्रीक शासन के साथ-ही-साथ ग्रीक राजनीतिक और सामाजिक विधान भी स्थापित हुए और क्रीट की अपनी सभ्यता का अंत हो गया। बाद में डोरियन सभ्यता का भी पतन होने लगा, और क्रीट-निवासियों की अवस्था बहुत गिर गई। ईसाई महात्मा, पाल, के समय में क्रीट अपने दुराचार के लिए प्रसिद्ध था। पर तब भी वहाँ के निवासी धनुर्विद्या में अपनी निपुणता के लिए विख्यात थे और अन्य जातियों की सेनाओं में बहुधा उनकी माँग रहा करती थी। जब रोमन साम्राज्य की सत्ता बढ़ी तब क्रीट भी उसके अंतर्गत हो गया।

क्रीसस:—लीडिया के साम्राज्य का अंतिम सम्राट्। यह अल्याट्टीज़ का बेटा था और इसका शासन-काल ५६० से ५४६ ई०

पृ० तक है । इसने ईजियन सागर से हैलीज़ नदी तक की सब जातियों को अपने मातहत कर लिया था। एशिया माइनर के ग्रीक भी इसका आधिपत्य स्वीकार करते थे। इसकी राजधानी सार्डिस में थी। इसकी शक्ति और इसके धन की ख्याति ग्रीस के सारे विद्वानों को इसके दरबार में खींच लाई थी। ग्रीस का प्रसिद्ध विद्वान्, सोलन, भी इसके दरबार में आया था और इन दोनों की वार्ता प्राचीन काल में प्रसिद्ध थी। सम्राट् क्रीसस ने सोलन से प्रश्न पूछा था कि "तुमने कौन-सा व्यक्ति सब से सुखी देखा है?" उत्तर में सोलन ने कहा कि किसी भी व्यक्ति को तब तक सुखी न समझना चाहिए जब तक उस व्यक्ति के जीवन का सुखमय अंत न हो जाय। ईरानी सम्राट्, साइरस, से युद्ध में क्रीसस की सेना हारी और राजधानी, सार्डिस, पर विजेता का अधिकार हो गया। विजेता ईरानी सम्राट् ने आज्ञा दी कि पराजित लोडियन सम्राट् जीता ही जला दिया जाय। चिता के संमुख खड़े हुए क्रीसस को सोलन का कथन स्मरण हो आया और उसने तीन बार सोलन का नाम लिया। साइरस ने कौतूहलवश पूछा कि "किसका नाम याद कर रहे हो?" क़िस्सा सुनने पर साइरस को पश्चात्ताप हुआ और उसने क्रीसस की केवल जान ही नहीं बख्शी वरन् उसे अपना मित्र भी बना लिया। क्रीसस साइरस के बाद तक जिया और ईरानी सम्राट्, कांबिसीज़, के साथ मिस्र-विजय को गया।

ग्लैडियेटर:—यह प्राचीन रोम के उन द्वंद्-युद्ध करने वालों का नाम था, जो दूसरे योद्धाओं से अथवा जंगली जानवरों से अखाड़ों में लड़ते थे और सारा रोम उसका तमाशा देखता था। इन लोगों को सिखाने और तय्यार करने के लिए पाठशालाएं थीं और दूसरे का खून बहते हुए देखने के इच्छुक रोम-निवासियों को ये बड़े प्रिय थे। खेल आरंभ होने से पहले इन लोगों का सम्राट् के सामने से एक जुलूस निकलता था और "सम्राट्! आपको उन लोगों का सलाम है जो मरने के नज़दीक़ हैं", इन शब्दों में ये लोग सम्राट् का अभिवादन करते थे। ये लोग पैदल या घोड़े पर सवार होकर लड़ते थे। पर ग्लैडियेटर से पैदल ही लड़नेवाले का साधारणतया बोध होता है। रोम-निवासी तमाशा देखते थे और जिस द्वंद्-युद्ध करनेवाले से वे प्रसन्न होजाते थे, उसे वे उसके विजेता द्वारा मरवा डालते थे। इस अमानुषिक खेल में भाग लेने वाले की एक बड़ी सुंदर मूर्ति मिली है, जिससे इन लोगों की करुण दशा और सुगठित शरीर का बड़ा अच्छा बोध होता है।

जरतुस्त्र:—ये प्राचीन ईरानी धर्म के प्रवर्तक अथवा पैग़ंबर थे। इनके काल का ठीक पता नहीं चलता है। कुछ लोगों के मतानुसार इनका काल ईसा से १००० वर्ष पूर्व है। यह निश्चित है कि ईरानी सम्राट् सीरियस के काल से जरतुस्त्र का धर्म ईरान का मुख्य धर्म हो गया था। यह भी एक आर्यधर्म था। इसमें देवता औमूर्ज़ और दानव अह्री-

मान का विवाद दिखाया गया है। यह धर्म मूर्ति-पूजा का पोषक नहीं था पर इसमें पुरोहित और मंदिर सब बाक़ायदा मौजूद थे और मंदिरों की वेदी पर सदा अग्नि जला करती थी। पर इस धर्म के माननेवालों में मुर्दे न जलाए जाते थे और न गाड़े ही जाते थे। भारतीय पारसी अब भी इसी धर्म के अनुयायी हैं। उनके अतिरिक्त इस धर्म को पूजनेवाला अब संसार में कोई नहीं है। उनकी मुख्य धर्म-पुस्तक जंदावस्ता है।

जीन डी आर्कः—या जोन आफ़ आर्क को "आर्लिएंस की कुमारी" भी कहते हैं। यह फ़्रांस के इतिहास की प्रमुख वीरांगना थी। यह डामरेमो-नामक वस्ती के एक किसान-ज़मींदार की कन्या थी और जनवरी ६, १४१२, को इसका जन्म हुआ था। फ़्रांस की दशा उस समय बड़ी शोचनीय थी। लाय नदी के ऊपर का सारा देश अंगरेज़ों के अधीन था और बर्गंडी का ड्यूक उनका मित्र था। इधर अंगरेज़ों का राजा, हेनरी छठा, १४२२ ई० प० में फ़्रांस का भी राजा घोषित हो चुका था; उधर फ़्रांस के राजा, चार्लस, का राज्याभिषेक तक न हो पाया था। १४२८ ई० प० में अंगरेज़ों ने आर्लिएंस नगर पर चढ़ाई की। यह नगर दक्षिणी फ़्रांस की कुंजी थी। जोन को पूर्ण विश्वास था कि वह फ़्रांस को अंगरेज़ों के चंगुल से बचा सकती है। उसने कई बार इसी बात के सपने भी देखे थे और उसे ऐसा प्रतीत होता था कि उसे दिव्य आत्माएं इस कर्तव्य-पालन की ओर प्रेरित कर रही हैं। बड़ी कठिनाई से वह चार्लस के पास तक पहुँच पाई। पर वहाँ पहुँचकर उसने चार्लस को अपने व्यक्तित्व से बड़ा प्रभावित किया; और वहाँ से ४ या ५ हज़ार सैनिकों को अपने नेतृत्व में लेकर, मर्दाना लिबास पहने हुए, उसने आर्लिएंस की ओर प्रस्थान किया। नगर के भीतर तक वह पहुँच गई; और वहाँ से वह अंगरेज़ों पर इतने भीषण आक्रमण करने लगी कि अंगरेज़ मैदान छोड़कर भागे। एक ही सप्ताह में उसने अंगरेज़ों को लाय नदी के उस पार मार भगाया। उसने कायर राजा चार्लस में भी कुछ जोश पैदा कर दिया। रीम के प्रसिद्ध गिरजाघर में जुलाई १७, १४२६, को चार्लस का राज्याभिषेक हुआ; और उस समय जोन राजा के साथ खड़ी हुई थी। पर राजा में इससे अधिक साहस न था। जब जोन ने आगे बढ़कर पेरिस नगर को जीतना चाहा तब राजा ने उसके साथ विश्वासघात किया। इस युद्ध में जोन हारी और घायल हो गई। उसका जादू टूट गया। एक ही हार ने उसके यश में कालिमा लगा दी। उसने बर्गंडी के ड्यूक के विरुद्ध फिर लड़ाई की। पर कांपेन नगर के पास वह घेर ली गई और पकड़ी गई। राजा चार्लस ने अपने राज्य-देनेवाली की कोई सहायता नहीं की। उसने यह भी न किया कि उसे रुपए देकर छुड़वा लेता। ड्यूक ने उसे अंगरेज़ों के हाथ बेच दिया। उस पर अविश्वासिनी और जादूगरनी होने का अभियोग लगाया गया और रून नगर में मई ३०, १४३१, को वह जीवित जला दी गई। इसके पचीस वर्ष बाद, जुलाई ७, १४५६, को पोप ने उसे निरपराध बताया

और पाँच सौ वर्ष बाद, मई १६, १६२०, को जोन रोम में पोप-द्वारा साधुनी क़रार दी गई। इसमें संदेह नहीं कि जोन का बड़ा असाधारण व्यक्तित्व था और उसकी प्रतिभा तथा स्वतंत्रता की उपासना ने उसे विश्व-इतिहास में सदा के लिए अमर कर दिया है।

टालमी:–मिस्र के कई सम्राटों और राजवंश का नाम। टालमी प्रथम सोटर ग्रीक सम्राट्, सिकंदर, का एक सेनापति था, जो उसकी मृत्यु के पश्चात् ३०५ ई० पू० में मिस्र का सम्राट् बन बैठा। इसी ने टालमी राजवंश चलाया, जो ३० ई० पू० तक राज्य करता रहा। इस सम्राट् का काल ३८३ ई० पू० से २६७ ई० पू० तक है। इसने उत्तरी मिस्र में टालेमाय-नामक एक प्रसिद्ध और शानदार शहर बसाया और वहाँ एक प्रसिद्ध पुस्तकालय और अजायबघर की आयोजना की। टालमी द्वितीय ने बेरीनीस-नामक नगर को बसाया और लाल सागर से नील नदी तक एक नहर खुदवाई। टालमी तृतीय ने सीरीनिका का राज अपने राज्य में मिलाया।

डेविड:–यह इसराइल का दूसरा नरेश था। इस का काल १०३० ई० पू० से लगाकर ६६० ई० पू० तक के लगभग है। यह जेसी के आठ लड़कों में से सबसे छोटा था और बचपन में भेड़ें चराया करता था। हार्प-नामक बाजा बजाने में कुशल होने के कारण इसका परिचय राजा साल से हो गया। फ़िलिस्तीन जाति के गोलियथ-नामक व्यक्ति को मारने के कारण इसकी साल के लड़के, राजकुमार जोनाथन, से बड़ी मैत्री हो गई। जब राजा साल ने आत्महत्या की और फ़िलिस्तानों ने राजकुमार जोनाथन को मार डाला तब डेविड राजा बनाया गया। इसने जेरूसलम को अपनी राजधानी बनाया। अपने जीवन के अंतिम दिनों में अपने लड़कों के विद्रोह के कारण यह बड़ा दुखी रहा। कहा जाता है कि बाइबिल के पुराने संस्करण का बहुत-सा भाग इसीने लिखा था।

तक्षशिला:–पंजाब प्रांत के रावलपिंडी ज़िले का एक अत्यंत प्राचीन और प्रसिद्ध नगर। इसका उल्लेख रामायण में है। उस समय यह गंधर्वों की राजधानी थी। भरत ने इसे जीत कर अपने पुत्र तक्ष को वहाँ का शासन सौंपा था। रामायण में इसका स्थान सिंधुनद के उत्तर में बताया गया है। महाभारत के मतानुसार यह स्थान गांधार के मध्य में था। यहीं जनमेजय ने अपना सर्पयज्ञ किया था। प्राचीन काल के तक्षवंशीय लोग इस प्रदेश पर शासन करते थे। शायद इसी कारण इस नगर का नाम तक्षशिला पड़ा था। पहली शताब्दी में यह नगर अमंद्र के नाम से भी प्रख्यात था। इस नगर के भग्नावशेष ६ वर्ग मील में फैले हुए हैं और उनमें बहुत-से बौद्ध मंदिर और स्तूप देखने में आते हैं। यहाँ का विश्वविद्यालय प्राचीन इतिहास में बड़ा प्रसिद्ध रहा है। उसमें शिक्षा पाने के लिए मध्य एशिया और चीन से विद्यार्थी आया करते थे। तक्षशिला और नालंद, यही दो विद्यापीठ, उस काल में ज्ञान के केंद्र थे। सम्राट् अशोक जब कुमार थे तब तक्षशिला के शासक थे। ग्राम-निवासियों का वर्णन

पढ़ने से मालूम होता है कि इस नगर के चारो ओर प्राचीर और भीतर बहुत-सी सड़कें थीं। कार्टियस ने इस नगर के एक सूर्य-मंदिर, एक उद्यान और एक मनोहर सरोवर का उल्लेख किया है। यह बड़ा धनाढ्य नगर था और यहाँ के स्तूप, मठ, इत्यादि, अत्यंत आश्चर्यजनक थे। यहाँ पर प्राचीन मुद्रा, आदि, बहुत पाई गई हैं।

थर्मापोली:—यह ग्रीस देश का एक प्रसिद्ध दर्रा था। उत्तर ग्रीस से दक्षिण ग्रीस को जाने का यही एक रास्ता था। ४८० ई० पू० में स्पार्टा नगर-राष्ट्र के राजा, लियोनिडास, ने बड़ी ही बहादुरी से, केवल एक हज़ार आदमियों को लेकर, ईरानी सेना को यहाँ पर रोका था। विश्वासघात होने के कारण ईरानियों ने ग्रीक-निवासियों को पीछे की ओर पहुँच कर घेर लिया और दोनों ओर से दबाए जाकर ये लोग वीरता से लड़ते-लड़ते मारे गए।

नालंद:—मगध के अंतर्गत एक प्राचीन बौद्ध-क्षेत्र और प्रसिद्ध विद्यापीठ। यह पटने से ३० कोस दक्षिण और बड़गाँव से ११ कोस पश्चिम में था। किसी-किसी का मत है कि यह स्थान वहाँ था जहाँ आजकल तेलाढ़ा है। बौद्ध यात्रियों के विवरण से पता चलता है कि पहले-पहल सम्राट् अशोक ने नालंद में एक बौद्ध मठ स्थापित किया था। चीनी यात्री, ह्युयान शाङ, ने लिखा है कि बाद में शंकर और मुद्गलगोमी-नामक दो ब्राह्मणों ने इस मठ को फिर से बड़े विशाल आकार में बनवाया। आज भी जो दीवारें इसके इधर-उधर खड़ी हुई मिलती हैं, उनमें से कई दीवारें तीस-बत्तीस हाथ ऊँची हैं। कहते हैं कि इस विश्वविद्यालय में रहकर नागार्जुन ने कुछ दिनों तक शंकर ब्राह्मण से शास्त्र का अध्ययन किया था। ६३७ ई० प० में प्रसिद्ध चीनी यात्री, ह्युयान शाङ, ने यहाँ पर प्रज्ञाभद्र-नामक आचार्य से विद्याध्ययन किया था। उन दिनों भी यह स्थान नालंद ही के नाम से प्रसिद्ध था। उस समय इतना बड़ा मठ और विश्वविद्यालय भारत में और दूसरा कहीं न था। बहुत समय तक वह बौद्धों का एक पवित्र स्थान समझा जाता रहा। सातवीं शताब्दी तक सैकड़ों बौद्धधर्माचार्य्य यहाँ एकत्र होकर धर्म और ज्ञान की आलोचना करते थे। ज्ञान और धर्म का उपदेश देने के लिए यहाँ १०० कृतविद्य बौद्ध पंडित नियुक्त रहते थे। उनके अतिरिक्त प्रायः १० हज़ार से अधिक याजक और शिष्य यहाँ पर रहा करते थे। काशी के राजा बुद्धपक्ष के काल में यहाँ पर ज़बर्दस्त आग लग गई और बहुत-सी पुस्तकें जल कर राख हो गईं। नालंद के जोड़ का विश्वविद्यालय उस काल में संसार में दूसरा न था।

निनेवा:—जिसका दूसरा नाम नाइनस भी है, प्राचीन जगत् की एक प्रसिद्ध नगरी और असीरियन साम्राज्य की राजधानी थी। दंतकथा के अनुसार सम्राज्ञी सेमीरामिस के पति, सम्राट् नाइनस, ने इसे अपने नाम पर बसाया था। यह नगर मोसल-नामक नगर के ठीक सामने टाइग्रस नदी के बाएं तट पर, १८०० एकड़ ज़मीन पर, बसा था। इसके चारो ओर ऊँची-ऊँची दीवारें थीं, जिनमें १५ फाटक और बहुत-से गुंबज़ थे। इसके

तीन ओर टाइग्रस नदी से एक गहरी खाई खोदी गई थी और चौथी ओर टाइग्रस स्वयं बहती थी। सम्राट् सेनकेरिब के काल में इस नगर ने बड़ी उन्नति की और वह लगभग २०० वर्ष तक एक बड़ा व्यापारिक केंद्र बना रहा। यहाँ का पुस्तकालय अपने समय में विश्वविख्यात था। किताबें मिट्टी के बेलनों के रूप में थीं। सम्राट् सेनकेरिब ने इसके कुयुजिक-नामक स्थान पर एक बड़ा विशाल महल निर्माण किया था और नेबीयुनुस-नामक स्थल पर एक अस्त्रागार बनवाया था। यहाँ पर एक बड़ा विस्तृत उद्यान भी बना हुआ था, जिसमें अन्य देशों के जानवर और पौधे थे। सम्राट् इसारहैडन ने नेबीयुनुस में एक महल बनाया और नगर की सड़कें चौड़ी कराईं। इस नगर का उल्लेख खंमुराबी के न्याय-शास्त्र में है, इसलिए ईसा से २५०० वर्ष पूर्व तक तो अवश्य ही इसकी प्रख्याति बहुत हो गई होगी। ६१२ ई० पू० में मीडों और बैबीलोनियनों ने संमिलित आक्रमण कर इस फलती-फूलती नगरी का विध्वंस कर डाला और एक सासान गाँव इसके खंडहरों पर बस गया।

नोसासः—यह प्राचीन नगरी भूमध्यसागर में स्थित क्रीट-नामक टापू की—राजा माइनास के समय में—राजधानी थी। माइनास बड़ा समृद्ध और शक्तिशाली राजा था। नोसास का नाम प्राचीन ग्रीक कविता में बहुधा आता है। हाल में जो खुदाई हुई है, उससे क्रीट की उस समय की उन्नत सभ्यता की बहुत-कुछ बातें ज्ञात हुई हैं। उसका राजमहल विशेषतया उल्लेखनीय है। यह महल पहले-पहल ईसा से २५०० वर्ष पूर्व बना था और फिर लगभग ६०० वर्ष बाद पहले से भी अधिक शानदार तरीक़े से वह बनवाया गया था। यह लगभग ६ एकड़ भूमि पर बना हुआ है और कमरों की और रास्तों की बिलकुल भूलभुलैया-सा है। कहीं पर एक बड़ा भारी कमरा बना है, जिसमें राजा के सिंहासन के कुछ अवशेष हैं। कहीं लकड़ी के स्तंभों पर आश्रित पत्थर का विशाल ज़ीना है, जो ऊपर के भाग की ओर चढ़ता चला गया है। दूसरे भाग में रास्ते हैं, सहन हैं, भंडारखाने हैं, जिनमें अनाज, तेल और शराब रखने के लिए मिट्टी के बड़े-बड़े बर्तन अब भी रक्खे हुए हैं। दीवारें ईंटों की हैं। भीतर की ओर उन पर पलस्तर चढ़ा है और सुंदर चित्र कढ़े हुए हैं। महल में ऐसे स्नानागार, पानी लाने और ले जाने के विधान और सफ़ाई के इंतिज़ाम हैं जैसे योरप में अभी थोड़े ही दिन हुए निकाले गए हैं। यह महल शायद दुमंज़िला या तिमंज़िला था और प्रकाश और साफ़ हवा के लिए उसमें बड़े-बड़े रोशनदान थे। उसके खंडहरों को भी इतनी शानदार अवस्था में देखकर योरप-निवासी आश्चर्यचकित हैं। नोसास बड़ा संपन्न नगर था। मिट्टी का काम वहाँ पर बड़ा ही सुंदर बनता था। उसके अतिरिक्त, सोने-चाँदी का काम भी यहाँ अच्छा बनता था और यहाँ के हथियार बड़े प्रसिद्ध थे। उस प्राचीन काल में लिखने-पढ़ने से क्रीट-निवासी पूरी तरह भिज्ञ थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि यहाँ

की संस्कृति और सभ्यता उस काल को देखते हुए बड़े ही ऊँचे दर्जे की थी।

पांपे:—अथवा पांपिया एक रोमन कुल का नाम था, जिसका प्रमुख व्यक्ति, नायस पांपियस, पांपे महान् के नाम से प्रसिद्ध था। पांपे महान् का जन्म १०६ ई० पू० में हुआ था। ८४ ई० पू० में उसने सला का साथ दिया और सला की मृत्यु के बाद वह रोम के सीनेटोरियल दल का एक प्रमुख नायक बन गया। ७६ से ७१ ई० पू० तक वह स्पेन में सेनापति रहा। ६७ ई० पू० में उसने समुद्री डाकुओं का दमन किया और ६६ ई० पू० में मिथ्राडेट्स को हरा कर संपूर्ण पूर्व को उसने रोमन सत्ता के अंतर्गत कर लिया। ६२ ई० पू० से वह सीजर और क्रैसस के साथ-साथ रोम का शासक रहा, पर ४६ ई० पू० में सीज़र ने इसे फार्सालिया-नामक स्थान पर हराया। पांपे मिस्र देश को भाग गया और वहीं मारा गया।

पिंडार:—ग्रीस देश की लिरिक कविता का सर्वोत्तम कवि। थाव्स के पास साइनो-सीफालाई-नामक ग्राम में लगभग ५२२ ई० पू० में इसका जन्म हुआ था। छुटपन ही में इसे कविता का शौक़ था और हेलेनिक राष्ट्रों और राजाओं के यहाँ इसकी कविताओं की बड़ी माँग थी। इसकी इपिस्सिया-नामक कविता ही अब शेष बच रही है, जो उसने सार्वजनिक खेलों में जीत के अवसर पर लिखी थी। यह कविता चार ग्रंथों में है और आलें-पियन, पाइथियन, नीमियन और इस्थ-मियन-नामक क्रीड़ास्थलों में पाई हुई विजय पर इसमें हर्ष प्रकट किया गया है। इसकी कविता सुंदर किंतु बहुत क्लिष्ट है।

पिथेगोरस:—ग्रीस का वेदांती। इसका जन्म समोस में हुआ था, पर ५२६ ई० पू० में यह इटली में क्रोटोना-नामक स्थान में जाकर बस गया। वहाँ पर उसने एक संस्था स्थापित की, जो कुछ धार्मिक और कुछ वेदांतिक थी। उसके शिष्य व्यायाम, गणित और संगीत सीखते, निरामिष भोजन करते और पुनर्जन्म तथा आत्मा के अमरत्व पर विश्वास करते थे। पिथेगोरस रेखागणित का प्रवर्त्तक माना जाता है। संगीत में इसने एक नया स्वर निकाला था।

पिरेमिड:—ये पत्थर के स्तूप हैं। नीचे की ओर ये चौकोर हैं, पर ऊपर उठ कर त्रिकोण हो गए हैं। मिस्र के प्राचीन सम्राटों की ये भीमकाय क़ब्रें हैं। एक-एक पिरेमिड एक ही एक क़ब्र के लिए बनाया गया है। मेंफिस-नामक स्थान में इस प्रकार की ७५ क़ब्रें अब तक मौजूद हैं। पर सबसे बड़ा पिरेमिड गिज़ेह-नामक स्थान पर है, जिसे खुफ़ू अथवा चयोप्स-नामक सम्राट् ने बनवाया था। यह ४८१ फ़ीट ऊँचा है और नीचे की ओर ७७५ फ़ीट लंबा है। इसमें पत्थर की २३ लाख चट्टानें लगी हैं। एक-एक चट्टान का वज़न २½ टन है। यह पूरे १८½ एकड़ ज़मीन पर बना हुआ है। इसका ४८ फ़ीट ऊँचा दरवाज़ा उत्तर की ओर है। यह पत्थर की चट्टान से बंद कर दिया गया था। इससे भीतर घुसकर एक रास्ता नीचे जाने के लिए मिलता है, जो ज़मीन से १०१½ फ़ीट नीचे के एक कमरे में जा-

कर निकलता है। यह कमरा अधूरा बना ही छोड़ दिया गया था। दरवाज़े से ६० फीट नीचे इसी रास्ते से एक रास्ता ऊपर की ओर बढ़ता है और वहाँ से फिर एक रास्ता समतल भूमि पर सम्राज्ञी के कमरे को जाता है। ऊपर चढ़कर सम्राट् का कमरा मिलता है और इसी में एक पाषाण की क़ब्र है। दूसरे पिरेमिड को खाफरा-नामक सम्राट् ने बनाया था। यह ज़मीन से ४५४ फ़ीट ऊंचा है और नीचे की ओर ७०८ फ़ीट लंबा है। तीसरा पिरेमिड सम्राट् मैनकुवाग़ का है। यह २१६ फ़ीट ऊँचा है और नीचे इसकी लंबाई ३५६½ फ़ीट है। सन् १६३२ में एक चौथा पिरेमिड भी मिला है। बीच रेगिस्तान में ये भीमकाय क़ब्रें हैं। इन क़ब्रों में से न जाने कितने काग़ज़ात और बहुत-सी सुरक्षित मोमियाइयाँ मिली हैं। जिस ज़माने में मशीनों का नाम तक न था, उस ज़माने में लोगों ने कैसे २½ टन के २३ लाख पत्थर एक-दूसरे पर चुन कर रख दिए इस बात के समझने में बुद्धि चकरा जाती है। मिस्र का साम्राज्य विशाल था; और वहाँ की सभ्यता ने मानव-सभ्यता के ऊषःकाल में बड़ी उन्नति की थी।

पीरूः—दक्षिण अमेरिका का एक देश। इसके उत्तर में इक्वाडर और कोलंबिया के देश, पूर्व में ब्राज़ील, दक्षिण-पूर्व में बोलीविया और दक्षिण में चाइल देश है। राजधानी लीमा है और प्रमुख बंदरगाह कलाओ। इसका क्षेत्रफल लगभग ५ लाख ३२ हज़ार वर्गमील है। यहाँ की चाँदी की खानें बड़ी प्रसिद्ध रही हैं। पहले यहाँ पर एक बड़ी प्राचीन सभ्यता रही है पर सन् १५३३ में स्पेनश लुटेरों ने इंका के साम्राज्य का अंत कर दिया। तब से लगभग दो सौ वर्ष तक यह स्पेन के अधीन रहा और यहीं सारे दक्षिण अमेरिका का वाइसराय रहने लगा। सन् १८२१ में पीरू एक स्वाधीन राष्ट्र हो गया और तब से यह एक प्रजातंत्रवादी देश है।

पेरीक्लीज़ः—ग्रीस देश के एथेंस नगर-राष्ट्र का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ। इसका काल लगभग ४६६ से ४२६ ई० पू० रहा है। यह सार्वजनिक कार्यों में ४६६ ई० पू० से भाग लेने लगा था, पर इसका गौरव-काल इससे २६ वर्ष बाद आरंभ हुआ। तब से मृत्यु-पर्यंत पेरीक्लीज़ एथेंस का वास्तविक स्वामी था। यह बड़ा ही प्रभावशाली वक्ता था और इसका काल ग्रीस का सबसे गौरवशाली काल है। इसने एथेंस को स्वतंत्र बनाया और अपने नगर-राष्ट्र का ग्रीस का सबसे प्रबल और उन्नत राष्ट्र बना दिया। पर उसे वह ऐसा विधान न दे सका, जिससे एथेंस अधिक काल तक अपनी सत्ता बनाए रख सकता।

पोरसः—पंजाब का एक राजा। जब ग्रीक-विजेता सिकंदर ख़ैबर की घाटी से होकर भारत में आया तब उसे पोरस का सामना करना पड़ा। पराक्रमी वीर पोरस और सिकंदर का युद्ध सिंधु नदी के ऊपरी भाग के पास हुआ था। पोरस के पास हाथियों की एक बड़ी सेना थी। पोरस के घायल हो जाने से उसकी सेना के पैर उखड़ गए और सिकंदर की विजय रही। जब घायल पोरस सिकंदर के सामने लाया गया और उससे सिकंदर ने पूछा कि "तुम्हारे साथ

कैसा वर्ताव किया जाय ?" तब पोरस ने बड़ी दृढ़ता और शान से उत्तर दिया कि "जैसा एक राजा दूसरे के साथ करता है।" सिकंदर ने उसे अपना मित्र बना लिया और उसे उसका राज्य वापस देकर ग्रीक अध्यक्ष बनाया। पोरस परास्त तो हुआ पर उसके पराक्रम ने ग्रीक सेना पर इतना प्रभाव डाला कि सिकंदर के लाख कहने पर भी उसकी सेना ने भारत में और आगे जाने से इंकार कर दिया।

प्यूनिक युद्ध:—इस नाम के रोम और कार्थेज में तीन युद्ध हुए। प्रथम युद्ध, जो २६४ से २४१ ई० पू० तक चला, सिसिली द्वीप में केंद्रित रहा। उस समय सिसिली पर कार्थेज के साम्राज्य का आधिपत्य था। द्वितीय प्यूनिक युद्ध २१८ से २०१ ई० पू० तक चला। पहले उसका केंद्र स्पेन रहा, पर फिर कार्थेज का वीर सेनापति, हैनीबाल, पिरेनीज़ और तत्पश्चात् आल्प्स पहाड़ों के रास्ते इटली में पो नदी की घाटी में उतर आया और २१७ ई० पू० में ट्रेसीमीनस झील की लड़ाई में तथा २१६ ई० पू० में केनी की लड़ाई में उसने विजय प्राप्त की। पर फिर रोमन सेनापति, क्विंटस फ़ीवियस मैक्सीमस, ने उसकी राह रोक दी। हैनीबाल का भाई, हस्डूवल, सहायता लेकर आया, पर मीटारस की लड़ाई में हारा और मारा गया। इधर रोमन सेनापति, सीपियो, एक सेना के साथ २०४ ई० पू० में अफ़्रीका पहुँचा और कार्थेज पर उसने आक्रमण किया। हैनीबाल अफ़्रीका वापस बुलाया गया, पर जमा की लड़ाई में वह बुरी तरह हार गया। संधि में स्पेन देश रोम को मिला। तीसरे प्यूनिक युद्ध का काल १४८ से १४६ ई० पू० तक है। यह लड़ाई रोम ने शुरू की थी। १४६ ई० पू० में रोम ने कार्थेज पर अधिकार कर लिया और कार्थेज नगर की एक ईंट भी साबित न छोड़ी।

प्लेटो:—ग्रीस का प्रसिद्ध वेदांती। यह एथेंस नगर का निवासी था और सुकरात का शिष्य था। ३९९ ई० पू० में जब सुकरात को प्राणदंड मिला तब अपने गुरु का काम प्लेटो ने सँभाला। प्लेटो ने भ्रमण बहुत किया था और एक बार एजिना में पकड़ा जाकर वह दास बनाकर बेच दिया गया था। राजनीति से प्लेटो को विशेष प्रेम था। इसके वेदांत का मूल सिद्धांत यह था कि जो पूर्णतया वास्तविक है वह जाना जा सकता है और जिसकी बिलकुल हस्ती नहीं है वह किसी तरह से नहीं जाना जा सकता है। इसका काल ४२७ से ३४७ ई० पू० तक है और इसका मुख्य ग्रंथ "प्रजातंत्र" है।

फ़ाहियान:—चीनी बौद्ध परिव्राजक। यह मगध-सम्राट्, चंद्रगुप्त द्वितीय, के काल में भारत-भ्रमण के लिए आया था और ६ वर्ष तक भारत में रहा। सारी यात्रा में उसे १५ वर्ष लगे थे। वह काबुल के मार्ग से आकर स्वात, गांधार, तक्षशिला, पेशावर, मथुरा, बनारस, पटना, इत्यादि, होता हुआ लंका तक गया था। उसने तत्कालीन भारत का अच्छा वृत्तांत लिखा है और गुप्त-साम्राज्य की बड़ी प्रशंसा की है। इसका काल लगभग ३७५ ई० पू० है।

फ़िलिस्तीन:—एशिया का एक देश। मिस्र देश के अधीन रहने के पश्चात् यह ११०० ई० प० में फ़िलिस्तीन जाति के अधिकार में

आया। नवीं शताब्दी ई० पू० से लेकर छठी शताब्दी ई० पू० तक असीरिया और वैबीलोनिया के साम्राज्य इसे जीतते और इससे फिर हारते रहे। छठवीं शताब्दी ई० पर्व में यहाँ पर ईरानी साम्राज्य स्थापित हो गया। सिकंदर का ईरान-विजय और उसकी मृत्यु के उपरांत यह मिस्र के टालमी राजवंश के अधिकार में रहा और इसके पीछे टालमियों और सेल्यूकाइड्स में युद्ध चलता रहा। इसके बाद यहाँ यहूदियों ने स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। ७० ई० पू० में राजधानी जेरूसलम का ध्वंस हो गया और ६ शताब्दियों तक यहाँ पर रोमन साम्राज्य रहा। ६३५ ई० पू० में यह मुसलमानों के अधीन हुआ। इसके बाद तुर्कों और आसपास के मुसलमानों में इसके पीछे लड़ाई चलती रही। १६वीं शताब्दी में पूर्णतया यहाँ तुर्की साम्राज्य स्थापित हो गया और सन् १९१७-१८ तक वह क़ायम रहा जब यह अंगरेज़ों के अधिकार में आ गया। तब से यह अंगरेज़ों ही के अधिकार में है और अब वहाँ अरब और यहूदियों में झगड़ा चल रहा है। यह ईसाइयों और मुसलमानों, दोनों, की पवित्र भूमि है।

फ़ीडियस:—ग्रीस का सब से प्रसिद्ध शिल्पकार। इसका काल ४९० से ४३२ ई० पू० तक है। एथेंस के शासक, पेरीक्लीज़, ने इसे अपने यहाँ के कला-कौशल विभाग का सुपरिंटेंडेंट बनाया था। पार्थीनाज की अथीना नाम्नी देवी की प्रसिद्ध मूर्ति इसी के हाथ की बनाई हुई है। अक्रोपोलिस का सारा काम, और खासकर प्रसिद्ध पार्थीनान-नामक अथीना का मंदिर, इसी की अध्यक्षता में बना था। अथीना की मूर्ति हाथी-दाँत और सोने की था। वह बड़ी सुंदर थी। बाद में वह ओलेंपिया और इलीज को चला गया और वहाँ पर उसने अपनी सर्वोत्तम मूर्ति, जो ज्यूज देवता की थी, बनाई। लौटकर एथेंस आने पर वह बंदीख़ाने में डाल दिया गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई।

फ़ोनीशियंस:—एशिया माइनर के एक प्राचीन देश, फ़ोनीशिया, के निवासी। फ़ोनीशिया फ़िलिस्तीन देश के उत्तर में, भूमध्यसागर के तट पर, समुद्र और लेबानन की पहाड़ियों के बीच में अवस्थित था। फ़ोनेशिया कभी एक संमिलित राज्य नहीं हो पाया। यह नगर-राष्ट्रों का एक समूह बना रहा। उन राष्ट्रों में से प्रधान राष्ट्र साइडन और टायर थे। ११वीं शताब्दी ई० पू० में टायर प्रमुख नगर हो गया था। यहाँ का राजा, हिराम, डेविड और सुलेमान-नामक राजाओं का मित्र था। पहले असीरिया, फिर बैबीलोनिया और फिर २०० वर्ष तक यह ईरान के अधीन रहा। सिकंदर के समय में यह मैसीडन के अधीन था। ३३२ ई० पू० में टायर के परास्त होने से इस देश का पृथक् इतिहास समाप्त हो गया। यहाँ के निवासी प्राचीन जगत् के प्रसिद्ध नाविक थे और व्यापार में बड़े कुशल थे। उन्होंने कार्थेज नगर को बसाया था।

बर्फ़-युग:—सृष्टि का सब से पुरातन युग। यह बर्फ़-युग इसलिए कहलाता है कि संसार के बहुत से भाग उस समय बर्फ़ से ढके थे। उत्तर-पश्चिमी योरप, अमेरिका के संयुक्तराष्ट का उत्तरी भाग,

ये सब उस युग में बर्फ़ से ढके थे। बर्फ़ के पिघलने पर मिट्टी और पत्थर हर तरफ़ फैल गए। इसके बाद के युग में मनुष्य का जन्म हो चुका था क्योंकि ब्रिटेन और फ्रांस में मैमथ-नामक भीमकाय पशु और रेंडियर-नामक बर्फ़िस्तानी हिरन के साथ-साथ मनुष्य की भी ठठरियाँ पाई गई हैं। इस युग के चार काल हुए हैं और चतुर्थ काल ईसा से ५०,००० वर्ष पूर्व था। इस काल के मनुष्य खोहों में रहते थे और लकड़ी के भालों और गदाओं से शिकार करते थे।

बुख़ारा:—मध्य एशिया का एक नगर और प्रांत। आज दिन यह ज़राफ़्शान नदी की एक शाखा पर, ट्रांसकैस्पियन रेलवे की पटरियों के पास, अवस्थित है और मध्य एशिया का व्यापारिक और धार्मिक केंद्र है। इसके बाज़ार बड़े और मसजिदें विशाल हैं। इस नगर का नाम प्राचीन भ्रमण की पुस्तकों में बहुधा आता है, क्योंकि भारत से चीन और ईरान की ओर जाने का एक रास्ता इधर से होकर गया है। यह प्रांत, जिसका प्राचीन नाम सोग्डियाना है, पहले रूस के अधीन था और अब उज़बेक और टर्कोमान सोवियट साम्यवादी प्रजातंत्र के अंतर्गत हैं।

बैबीलन:—यह एशिया का बड़ा प्राचीन नगर था। वर्तमान बग़दाद से लगभग ६० मील दक्षिण की ओर, यूफ़्रेटीज़ नदी के दोनों तटों पर, यह बसा था। यह प्राचीन जगत् का एक सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध नगर था। यहीं पर बैबोलोनियन, असीरियन और ईरानी साम्राज्यों की राजधानियाँ थीं। वर्तमान इराक़ में हिलिया-नामक स्थान के पास ५० वर्गमील में इसके खंडहर मिले हैं। दंतकथा के अनुसार बेलस अथवा बाल-नामक देवता ने इसे बसाया था और असीरियन सम्राट निनस अथवा उसकी पत्नी सेमीरामिस ने इसे बढ़ाया था। बहुत काल तक यह असीरियन साम्राज्य में था, पर इसके पहले, ईसा से लगभग १८०० वर्ष पूर्व, ही से इसका गौरव बढ़ा था और असीरियन साम्राज्य में रह कर भी यही नगरी उसकी राजधानी थी। इसका सब से गौरवशाली सम्राट् नाबोपोलासार था। इस सम्राट् ने माडियन राजा, सोयाक्ज़रीस, की सहायता से असीरियन साम्राज्य का नाश किया और निनेवा नगर का ध्वंस कर डाला। उस के उत्तराधिकारी, नेबूचडनेज़र द्वितीय, के काल में बैबीलोनियन साम्राज्य यूफ़्रेटीज़ नदी से मिस्र तक और अर्मीनिया के पहाड़ों से अरब के रेगिस्तान तक फैल गया था। परंतु इसके बाद इस साम्राज्य का फिर ह्रास हो गया। मीडों और ईरानियों ने साइरस के आधिपत्य में बैबीलन पर अधिकार जमा लिया और लगभग ५३८ ई० पू० में साइरस ने इसे ईरानी साम्राज्य की तीन राजधानियों में से एक बनाया। पर उसके उत्तराधिकारियों के काल में इस नगर का महत्त्व कम हो गया और इसके निवासियों के विद्रोह के दंडस्वरूप सम्राट् डारियस प्रथम ने इसकी क़िलेबंदी तोड़ डाली। इसके पश्चात् दिग्विजयी सिकंदर का साम्राज्य यहाँ पर स्थापित

हुआ । सिकंदर की मृत्यु के उपरांत यह उसके उत्तराधिकारी, सेल्यूकस निकेटर, के सीरियन साम्राज्य के अंतर्गत हो गया । सेल्यूकस ने टाइग्रस नदी पर एक नगर, सिल्यूकिया, बसाया और उसके बसने से बैबोलन का रहा-सहा महत्व भी सदा के लिए जाता रहा । आज वहाँ पर कुछ मिट्टी के ढेर, कुछ ईंटों के टूटे खंडहर और कुछ टूटे-फूटे टुकड़े ही शेष हैं । उनसे पता चलता है कि इस नगर की दीवारें १२ मील लंबी, २०० क्यूबिट ऊँची और ५० क्यूबिट मोटी थीं । वे ईंटों की बनी थीं और उनके चारो ओर गहरी खाई थी । यूफ्रे-टीज़ नदी नगर के बीचोबीच होकर निकलती थी और दोनों ओर ईंटों की दीवारों के बाँध थे । बीच-बीच में ताँबे के दरवाज़े थे । नगर में दो प्रख्यात इमारतें थीं । एक तो बाल-नामक देवता का मंदिर था । वह अठमंज़िला और गगन-चुंबी था और चारो ओर से ऊपर चढ़ने के लिए उसमें चौड़े ज़ीने थे । दूसरी इमारत नेबूचड्नेज़र के "लटकते हुए उद्यानों" की थी, जो एक के बाद एक ऊपर तक चढ़ते चले गए थे । वे डाटदार स्तंभों पर स्थित थे । इनकी बड़ी ख्याति थी । अपने काल का यह नगर सिरमौर था और इसकी सभ्यता बड़े ऊँचे दर्जे की थी ।

बैबीलोनिया—इराक़ के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है । यह टाइग्रस और यूफ्रेटीज़ नाम्नी दो नदियों के बीच में स्थित था । इसके उत्तर में असीरिया और दक्षिण में कैल्डिया-नामक देश था । दक्षिण की ओर ईरान की खाड़ी थी । पूर्व में इलाम के पहाड़ थे और पश्चिम में सीरिया और अरब के रेगिस्तान थे । इसके सबसे प्राचीन निवासी सुमेरियन जाति के थे । ये दक्षिण में रहते थे और एक तरह की तूरानी भाषा बोलते थे । उत्तर के निवासी अक्काडियस थे, जो शायद अरब की सेमाइट जातियों में से थे । पुरानी सभ्यता सुमेरियन थी ; पर उत्तर के सेमाइट निवासियों ने उससे लिपि, संस्कृति और बहुत कुछ अंशों में धर्म भी लिया था ।

प्रथम बैबिलोनियन राजवंश की स्थापना लगभग २३०० ई० पू० में हुई थी । लगभग २१०० ई० पू० में हंमुराबो अथवा खंमुरापी ने एक प्रसिद्ध न्याय-शास्त्र की रचना की थी । १७५० से ११६६ ई० पू० तक काशाइट अथवा काष्टाइट राजवंश के काल में साम्राज्य का ह्रास होने लगा था, पर लगभग ११४० ई० पू० में सम्राट् नेबुचड्नेज़र ने उसे फिर ऊँचा उठाया । लगभग ११०० ई० पू० में असीरियन सम्राट्, टिग्लैथपिलीसर प्रथम, के काल में बैबिलोनियन राज्य असीरियन साम्राज्य के अंतर्गत हो गया था, पर ६२५ ई० पू० के लगभग जब नाबोपोलासार-नामक कैल्डियन, मीडों की सहायता से, सम्राट् हुआ, तब बैबीलोनिया के दिन फिर बहुरे । उसका राज्य-काल नव-बैबीलोनियन अथवा कैल्डियन-बैबीलोनियन काल कहलाता है । उसके उत्तराधिकारी, नेबूचड्नेज़र द्वितीय, ने लगभग ६०४ से ५६५ ई० पू० तक इस साम्राज्य को गौरव के सबसे उच्च शिखर पर

पहुँचाया। उसके उत्तराधिकारियों के हाथ से साम्राज्य की वागडोर फिसलने लगी और साम्राज्य का थोड़े ही वर्षों में पतन हो गया। उसके अंतिम सम्राट्, नावोनिडस (५५५-५३६ ई० पू०), का सारा समय ज्ञानोपार्जन और धार्मिक हठयोग में व्यतीत होता था। वैवीलोनिया का साम्राज्य वड़ा प्राचीन था; पर वह फिर ऐसा गिरा कि आगे कभी न उठ सका।

भूमध्यसागर:—"मेडीटरेनियन" का अर्थ 'भूमध्य" है। जिस समय इसका नामकरण हुआ था उस समय योरप वालों को अपने महाद्वीप के अतिरिक्त अफ़्रीका का उत्तरीय भाग मालूम था और एशिया का वहुत थोड़ा सा पता था। इसलिए अपने परिमित संसार के वीच में इस सागर को पाकर इसका नाम उन्होंने भूमध्यसागर रख दिया। वास्तव में, यह सागर पृथ्वी के मध्य में नहीं है। शायद इसे भूमध्य कहने का यह भी कारण हो कि, लगभग चारो ओर से, यह ज़मीन से घिरा है। योरप, अफ़्रीका और एशिया, तीनों ही, महाद्वीप इसके तटों पर हैं। यह ११ लाख ५० हज़ार वर्ग मील में फैला है। नाइल ही एक ऐसी वड़ी नदी है, जो इसमें आकर गिरती है। यह साधारणतया इतना शांत है कि इसमें ज्वार-भाटे का भी प्रायः अभाव है। स्पेन, फ़्रांस, इटली, ग्रीस, एशिया माइनर, मिस्र, इत्यादि, सव इसी सागर के तट पर हैं। इस सागर ने न जाने कितनी सभ्यताओं का उत्थान और पतन देखा है। ग्रीस की सत्ता और उसका विनाश, एशियाई साम्राज्यों की सत्ता और उनका ह्रास, रोम और कार्थेज के उत्थान और पतन, क्लियोपैट्रा और नेपोलियन के गौरव और अधोगति, सब ही, इस वृद्ध सागर की आँखों से गुज़रे हैं। सुंदर जलवायु और शांत वक्षःस्थल यही इसके अव अवशिष्ट गौरव हैं।

मिस्र—अफ़्रीकन महाद्वीप के उत्तरी-पूर्वी भाग में, भूमध्यसागर के तट पर स्थित, मिस्र एक प्राचीन देश है। इसके उत्तर में भूमध्य सागर है, दक्षिण में ऐंग्लो-मिस्री सूडान है, पूर्व में पैलेस्टाइन का देश और लालसागर और पश्चिम में लीबिया का प्रांत है। इसका क्षेत्रफल लगभग ३,८३,००० वर्गमील है, जिसमें से १३,६०० वर्गमील में आवादी और काश्त है। इसकी आवादी लगभग १ करोड़ ५० लाख के है। इसकी राजधानी कैरो और मुख्य नगर अलेक्ज़ेंड्रिया, सईद बंदरगाह और स्वेज़ हैं।

मिस्र की सभ्यता वड़ी प्राचीन है। ऐतिहासिक काल के आरंभ होने से भी पहले यहाँ दो सभ्यताओं का उत्थान और पतन हो चुका था। ५६०० ई० पू० से लगाकर ३४२ ई० पू० तक यहाँ पर ५ सभ्यताओं और ३० राजवंशों का वोलवाला रहा। चौथे राजवंश के काल में (४८०० ई० पू० से ४५०० ई० पू० की समयावधि में) मिस्र-निवासी कला-कौशल के सवसे ऊँचे शिखर पर पहुँच गए थे। सम्राट् खुफू के महास्तूप (पिरेमिड) से अच्छा कोई स्तूप नहीं है। और उसके समय की पत्थर में खुदी हुई तस्वीरों से अच्छी तस्वीरें मिस्र में और दूसरी नहीं मिलेंगी। उन तस्वीरों से पता चलता है कि उस समय के शासकों का

बड़ा प्रबल व्यक्तित्व था और उनकी प्रकृति गंभीर थी। इन राजवंशों का अंत होने पर मिस्र ईरानियों के अधीन रहा। फिर चौथी शताब्दी ई० पू० में दिग्विजयी सिकंदर (अलेकज़ेंडर) ने मिस्र को विजय किया। इसके बाद लगभग ३२३ ई० पू० से टालमियों का ग्रीक राजवंश चला और इस वंश ने ३०० वर्ष तक राज्य किया।

टालमियों के बाद मिस्र रोमन साम्राज्य का एक अंग बन गया और ३० ई० प० से ६४० ई० प० तक वहाँ पर रोमन अधिकार रहा। इस अवधि में रोमवाले मिस्र का सारा धन खींच ले गए, और अनाज और संपत्ति पर उन्होंने बड़े लंबे कर लगाए। ६४० ई० प० में कुछ ही हजार जंगली अरबों ने रोमन शासन का अंत कर दिया।

मीडिया:—एशिया का प्राचीन काल में एक प्रसिद्ध देश। यह कैस्पियन सागर के दक्षिण और ईरान के उत्तर में था। इसके उत्तर में अराक्ज़ीस नदी थी, जो कैस्पियन सागर में गिरती थी; पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम में कुर्दिस्तान और लौरिस्तान के पहाड़ थे, जो इसे यूफ्रेटीज़ और टाइग्रस नदियों की घाटी से अलग करते थे; पूर्व में लंबा रेगिस्तान था और उत्तर-पूर्व में एल्बुर्ज़ पहाड़ की श्रेणियाँ थीं। इस देश की भूमि बड़ी उपजाऊ और बस्ती बड़ी आबाद थी। इसकी राजधानी एकबाटना-नामक नगर था, जो वर्तमान हामदान है। पहले यह असीरियन साम्राज्य के अंतर्गत था, पर ईसा से लगभग ७०० वर्ष पूर्व, यहाँ के निवासी, जो मीडूस कहलाते थे, विद्रोह कर बैठे और वह विद्रोह सफल हुआ। उस समय के इतिहास का अभी पूरा पता नहीं चला है। ग्रीक इतिहासज्ञ, हेरोडाटस, के मतानुसार मीडिया के कुल चार सम्राट् हुए हैं:—(१) डायसीज़, जिसका काल ७१० ई० पू० से लेकर ६५० ई० पू० तक था; (२) फ्राओर्टीज़, जिसका काल ६५० ई० पू० से ६३५ ई० पू० तक था; (३) सियाग्ज़ारिस, जिसका काल ६३५ ई० पू० से लेकर ५६५ ई० पू० तक था; और (४) अस्टाइजीज़, जिसका काल ५६५ से ५६० ई० पू० तक था। ३३१ ई० पू० में जब अरबेला के युद्ध में विजय पाकर सिकंदर ने ईरानी साम्राज्य का अंत किया, तब मीडिया सिकंदर के साम्राज्य के अंतर्गत हो गया। सिकंदर की मृत्यु के पश्चात् ३२३ ई० पू० में यह प्रांत सेल्यूकाइड राजवंश के हिस्से में गया और १४७ ई० पू० तक उसी के अधिकार में रहा। तत्पश्चात् पार्थियनों ने इसे जीत लिया। बाद में यह फिर ईरानी साम्राज्य में संमिलित हो गया। तब तक इसके दो भाग हो चुके थे—बड़ा मीडिया और एट्रोप्टीना। इस भाँति यह साम्राज्य, जो ईरानी साम्राज्य में संमिलित होने पर भी उसका एक प्रमुख भाग बन गया था, अरब-विजय के पश्चात् छिन्न-भिन्न हो गया।

मैगस्थनीज़:—सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य्य के दरबार में ग्रीक सम्राट, सेल्यूकस निकेटर, का राजदूत। ३०५ ई० पू० में सेल्यूकस ने अपने स्वामी सिकंदर की नक़ल करके सिंधु नदी को पार किया और भारत-सम्राट् से पंजाब का ग्रीक प्रांत वापस लेने

का प्रयत्न किया। पर युद्ध में वह मगध-सम्राट् से बुरी तरह हारा। संधि में सिंधु नदी के पश्चिमी भाग, बलूचिस्तान और अफ़गानिस्तान चंद्रगुप्त को मिले। सेल्यूकस ने अपनी कन्या का विवाह चंद्रगुप्त से किया और चंद्रगुप्त ने आदर-पूर्वक उसे ५०० हाथी भेंट किए। मैगेस्थनीज़ को सेल्यूकस ने अपना राजदूत बनाकर चंद्रगुप्त के दरबार में भेजा। वह बड़ा विद्वान् था और उसने अपने समय के मगध का पूर्ण विवरण लिखा है, जिसे सब इतिहासज्ञ विश्वसनीय मानते हैं। मगध का गौरव इस वृत्तांत के एक-एक पृष्ठ से चमकता है।

मेनेंडर:—ग्रीस के एथेंस नगर-राष्ट्र का नए सुखांत नाटकों का प्रसिद्ध नाटककार और कवि। इसका जन्म ३४२ ई० पू० में हुआ था और २६१ ई० पू० में यह पाइरियस के बंदरगाह के पास के समुद्र में तैरता हुआ डूब गया।

यूरीपिडीज़:—ग्रीस देश का एक प्रसिद्ध दुखांत नाटककार और कवि। इसका जन्म ४८० ई० पू० में सलामिस में उसी दिन हुआ था, जिस दिन ईरानी उसी द्वीप के पास ग्रीसवालों से युद्ध में हारे थे। इसने अनाक्जागोरस से वेदांत और प्राडीकस से व्याख्यान-कला का अध्ययन किया था। यह प्रसिद्ध वेदांती, साक्रेटीज़, का बड़ा मित्र था। ४४१ ई० पू० में इसे पुरस्कार मिला था और उसके नाटकों का प्रदर्शन ४०८ ई० पू० तक होता रहा। फिर वह एथेंस से मैसीडोनिया के राज-दरबार में चला गया और वहीं पर ४०६ ई० पू० में उसकी मृत्यु हो गई। यूरीपिडीज़ ने अपने नाटकों में पुराने योद्धाओं और नायिकाओं का वर्णन न करके समकालीन नायक-नायिकाओं के चित्रण की प्रथा प्रचलित की। उसका कथन था कि व्यक्तियों का चित्रण "ऐसा होना चाहिए जैसे वे हों न कि ऐसा जैसे उन्हें होना चाहिए।" यानी नाटक में वास्तविकता होना चाहिए, आदर्श नहीं। उसका ध्येय तत्कालीन धर्म का मखौल उड़ाना था। उसकी कविता बड़ी अच्छी है।

लाओ-ज़े—छठी शताब्दी ई० पू० का प्रसिद्ध चीनी वेदांती और धर्म-प्रवर्तक। यह कनफ्यूशियस का समकालीन और विरोधी था। यह चू-राजवंश के एक कुमार का पुस्तकाध्यक्ष था और बुढ़ापे में एक कुटिया में रहा करता था। वहाँ पर इसने ताओटेह किङ-नामक धर्म-पुस्तक लिखी, जिसमें ज्ञान और सदाचार के नियमों का प्रतिपादन है। इसके सिद्धांत छायावाद और रहस्यवाद से परिपूर्ण थे। इसने संसार के सुखों और अधिकारों से विरक्त होकर सीधा-सादा जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया है। इसकी रचनाएँ पहेलियाँ जैसी हैं; और इसीलिए, बौद्ध धर्म की भाँति, इसकी मृत्यु के उपरांत इसके मत में न जाने क्या-क्या भर दिया गया।

लीडिया:—यह एशिया माइनर का एक प्राचीन देश था, जिसके पूर्व में फ्रीजिया का देश, पश्चिम में एजियन सागर, उत्तर में माइसिया का प्रांत और दक्षिण में कोरिया का प्रदेश था। होमर के समय में इस देश का नाम मामोनिया था, पर ईसा से लगभग ७०० वर्ष पूर्व, जब गाइजेज़ सिंहासनारूढ़ हुआ, तब यह नाम लुप्त हो गया। इसके राजवंश ने यहाँ पर

१५० वर्ष तक राज्य किया और उस काल में यह एक समृद्धिशाली राज्य बन गया। यह राज्य अपने संपूर्ण गौरव पर सम्राट् क्रोसस के समय में पहुँचा। उस समय लोडियन साम्राज्य एजियन सागर से लगाकर हैलीज नदी तक फैला हुआ था और एशिया माइनर के ग्रीक नगर भी उसका आधिपत्य स्वीकार करते थे। उसकी राजधानी सार्डिस थी। ५४६ ई० पू० में यह देश ईरानी सम्राट् साइरस के आधिपत्य में चला गया। लगभग ३३४ ई० पू० में लोडिया फिर एक स्वतंत्र राज्य हुआ, पर बाद में वह सीरिया के अधिकार में चला गया। १३३ ई० पू० में अट्टालस तृतीय की वसीयत से यह देश रोमन साम्राज्य को मिला और उस साम्राज्य के एशिया प्रांत में जोड़ दिया गया।

शार्लेमन:—अथवा चार्ल्स महान्, पवित्र रोमन-सम्राट् और फ्रैंक जाति का नरेश था। इसका जन्म सन् ७४२ ई० प० में हुआ था। यह फ्रैंकों के नरेश, पेपिन, का पुत्र था। ७७१ ई० प० में यह फ्रैंक-नरेश हुआ और ८०० ई० प० में इसने पवित्र रोमन साम्राज्य स्थापित किया। इसके साम्राज्य में लगभग संपूर्ण पश्चिमी योरप था। इसकी मृत्यु जनवरी २८, ८१४ ई० प० को हुई। इसकी क़ब्र ए-ला-चैपेली नामक स्थान पर है।

समरकंद:—मध्य एशिया का एक प्रसिद्ध नगर। यह ज़रफ़शाँ-नामक नदी के पास बसा है। इसका प्राचीन नाम माराकंडा है और यह सोग्डियाना प्रांत की राजधानी थी। चौदहवीं शताब्दी में यह तैमूर के साम्राज्य की राजधानी बनी। उस समय यह नगर मुसलमानी एशिया का सांस्कृतिक केंद्र था। अब भी यह उज़बेगिस्तान के सोवियट प्रजातंत्र की राजधानी है और इसकी आबादी १०१,४०० के लगभग है।

सलामिस:—ग्रीस का एक प्रसिद्ध द्वीप। इसके पास ४८० ई० पू० में ग्रीस और ईरान की जलसेना की बड़ी प्रसिद्ध लड़ाई हुई थी।

साइरस:—यह सम्राट् ईरानी साम्राज्य का प्रवर्त्तक था। इसका काल ६०० ई० पू० से लगा कर लगभग ५२९ ई० पू० तक है। यह बड़ा प्रतापी सम्राट् था और इसी कारण इसकी उपाधि "महान्" थी। इस सम्राट् के विषय में कई कथाएं प्रचलित हैं। पहली कथा का उल्लेख ग्रीक इतिहासज्ञ, हेरोडोटस ने किया है, जिसके अनुसार साइरस एक कुलीन ईरानी, कांबेसीज़, और मीडियन सम्राट् अस्टाइजीज की पुत्री, मांडेन, का पुत्र था। बड़ा होने पर साइरस ने पहाड़ी ईरानियों को अपने नेतृत्व में करके अपने नाना पर चढ़ाई कर दी। सम्राट् अस्टाइज़ीज़ परास्त हुए और बंदी बना लिए गए। यह घटना ईसा से लगभग ५५९ ई० पू० की है। मीडों ने साइरस को अपना सम्राट् मान लिया और वह मीडिया और ईरान के संमिलित राज्य का शासक हुआ। सम्राट् साइरस ने अब एशिया के अन्य भागों की ओर अपनी दृष्टि उठाई। ५४६ ई० पू० में उसने लीडियन राज्य को जीता और उसके सेनापति, हार्पागस, ने एशिया माइनर के ग्रीक नगरों पर विजय प्राप्त की। इसके बाद साइरस ने बैबीलोनियन साम्राज्य पर विजय पाई और यूफ्रेटीज़ नदी की धारा को दूसरी ओर प्रवाहित करके, ५३८ ई०

पू० में, बैबीलन को जीत लिया। इसके अनंतर उसने सोथियन जाति की मसाजेटाई-नामक शाखा पर आक्रमण किया। पर वहाँ वह परास्त हुआ और मारा गया। कहते हैं, मसाजेटाइयों की रानी, टोमिरिस, ने उसका सिर काट कर नर-रक्त से भरे हुए एक थैले में डाल दिया था ताकि वहाँ वह रक्त से तृप्त हो ले। यह घटना ५२९ ई० पू० की है।

साक्रेटीज़:—ग्रीस देश के एथेंस नगर-राष्ट्र का प्रसिद्ध वेदांती। इसका जन्म ४७१ ई० पू० में हुआ था। इसके मित्र चाइरेफ़ोन ने डेल्फ़ी के भविष्यद्वाणी करनेवाले से पूछा कि "क्या साक्रेटीज़ से भी अधिक विद्वान् कोई है"? उत्तर मिला, "नहीं।" इसका अर्थ साक्रेटीज़ ने यह लगाया कि उसकी मूढ़ता का परिचय उसे छोड़ कर और किसी को नहीं है और उसका कर्तव्य है कि यही सीख वह सब को दे। इसीलिए वह विशेष कर नौजवानों से वादविवाद करने लगा और प्रश्नोत्तरों के रूप में तत्कालीन धार्मिक और राजनीतिक विचारों का खंडन करने लगा। ३६६ ई० पू० में उस पर नौजवानों को बिगाड़ने और दूसरे देवताओं को राष्ट्र में स्थापित करने का अभियोग लगाया गया। पर यह तो नाम के लिए था। वास्तविक कारण राजनीतिक था। उसके पक्ष में २२० वोट थे, और विपक्ष में २८०। वोटों की अधिकता से उसे प्राणदंड मिला और महीने भर बाद उसने बंदीगृह में जहर पी लिया। अंतिम क्षणों तक वह अपने शिष्य प्लेटो और अन्य शिष्यों से आत्मा के अमरत्व की चर्चा करता रहा। वह बड़ी असाधारण प्रतिभा का विद्वान् था।

साफ़ोक्लीज़:—ग्रीस देश का प्रसिद्ध दुखांत नाटक-कार और कवि। इसका काल ४९५ से ४०५ ई० पू० है। इसका जन्म एथेंस नगर के पास के कोलोनस-नामक स्थान में हुआ था। जब ग्रीकों की सलामिस के युद्ध में विजय हुई तब उसके विजयोल्लास का नेता साफ़ोक्लीज़ बनाया गया और वह बाजा लेकर गाते हुए नंगा नाचा था। ४६८ ई० पू० में उसने अपने प्रतिद्वंदी, कवि-सम्राट् एस्किलस, को हराकर पारितोषक पाया। तब से ४४१ ई० पू० तक वह ग्रीस का कवि-सम्राट् रहा।

साल:—इसराइल अथवा यहूदी-देश का प्रथम नरेश। इसका काल लगभग १०१० वर्ष ईसा से पूर्व है। इसने फ़िलीस्तीन जाति को गिबिया-नामक स्थान पर हराया और अमालेकाइट जाति का दमन किया। पर अपने पैगंबर सैमुअल की अमालेकाइटों का समूल नष्ट कर देने की आज्ञा का इसने उल्लंघन किया और उसके फलस्वरूप इसे संदेशा मिला कि तुम्हें परमात्मा, जेहोवा, ने तिरस्कृत कर दिया है। इसके बाद ही गिलबोआ पहाड़ पर फ़िलीस्तीनों से वह हार गया और आत्मग्लानि में अपनी ही तलवार पर गिरकर इसने आत्महत्या कर ली।

सालोमन:—अथवा सुलेमाँ, यहूदियों के देश इसराइल का तृतीय नरेश था। यह द्वितीय नरेश, डेविड, का छोटा लड़का था। इसने अपनी सत्ता का विकास मैत्रियों और संधियों से किया। इसके पास बहुत धन था और इसीलिए इसका राज्य

शान-शौक़त के लिए प्राचीन इतिहास में प्रसिद्ध है। इसके गीत और इसकी कविताएँ भी प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि यह बड़ा न्यायी शासक था।

सेल्यूक़स निकेटर:—ग्रीक विजेता, सिकंदर का एक सेनापति और उसकी मृत्यु के पश्चात् सीरिया का सम्राट्। इसने लगभग ३१२ ई० पू० में सेल्यूकाइड-नामक राजवंश अपने नाम पर स्थापित किया था। उसने भारत पर, पंजाब प्रांत को वापस लेने के लिए, चढ़ाई की थी, पर मगध-सम्राट्, चंद्रगुप्त मौर्य, से वह हारा। पंजाब, अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान और अपनी कन्या, ये सब उसे मौर्य-सम्राट् को देने पड़े और चंद्रगुप्त ने अपने श्वसुर को ५०० हाथी भेंट किए। इसका राजदूत मैगैस्थनीज़ मौर्य सम्राट् के दरबार में रहता था।

सैफ़ो:—ग्रीस की प्रसिद्ध कवियत्री। यह मिटाइलीनी की निवासिनी थी। इसका काल लगभग ५८० ई० पू० है। इसकी कविता अपने समय की सबसे अच्छी कविताओं में है। कविता, फ़ैशन और प्रेम की यह अपने समय की रानी थी। इसकी लिरिक कविताओं के ६ ग्रंथ थे; पर अब उनके टुकड़े ही बच रहे हैं।

स्फिंक्स:—इस शब्द का अर्थ होता है—"गला घोटनेवाली।" यह एक दानवी का नाम है। ग्रीक दंतकथा के अनुसार इसका जन्म अरीमियों के देश में हुआ था। इसका पिता टाइफ़न-नामक दैत्य था, जिसके १०० सिर थे, और माता शिमेरा नाम्नी राक्षसी थी, जिसका शरीर ऊपर की ओर शेर का, बीच में बकरे का और नीचे की ओर साँप का था, और जिसकी साँस से आग की लपटें निकलती थीं। यह दानवी थीव्स नगर के निवासियों से एक पहेली पूछा करती थी; और जो कोई भी उसको ठीक जवाब न दे पाता था, उसे वह गला घोटकर मार डालती थी। ओडीपस ने उस पहेली का सही जवाब दे दिया, और सही जवाब मिलते ही स्फिंक्स ने आत्महत्या कर डाली। ग्रीस में स्फिंक्स की शकल एक ऐसे शेर की-सी बनाई गई है, जिसके पर लगे हैं और जिसका ऊपर का धड़ स्त्री का है। मिस्र में भी गिज़ेह-नामक स्थान पर, पिरेमिडों के निकट, स्फिंक्स की एक कथित मूर्ति है। पर उसमें उसकी शकल लेटे हुए शेर जैसी है, जिसके पर नहीं हैं और जिसका ऊपर का धड़ स्त्री का है। वह मूर्ति बड़ी भीमकाय है। उसकी लंबाई १८७ फ़ीट और ऊँचाई ६६ फ़ीट है। उसका केवल सिर ही ३० फ़ीट लंबा है, और मुँह की चौड़ाई १४ फ़ीट है।

हरप्पा:—यह पंजाब प्रांत के मोंटगोमरी ज़िले का एक अति प्राचीन ग्राम है, जो अक्षांश ३०°४० उत्तर तथा देशांतर ७२°५३ पूर्व के मध्य, रावी नदी के दक्षिण तट पर, कोट-कमालिया से १६ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित है। अभी हाल में यहाँ से प्राग्वैदिक युग के ध्वंसावशेष खोद कर निकाले गए हैं, जिनसे पता चलता है कि उस काल में भी भारत की सभ्यता कितनी ऊँची उठी हुई थी।

हेलेनीज़—पहले-पहल ग्रीस के थेसेली-नामक प्रांत का एक छोटा-सा ज़िला था, जिसमें दंतकथा के अनुसार एक नरेश, हेलेन के

वंशज हेलेनीज़ रहते थे। बाद में यह नाम ग्रीस-निवासियों ने अपना लिया। तब से प्रत्येक ग्रीस-निवासी हेलेनीज़ कहलाने लगा और ग्रीक सभ्यता हेलेनिक सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध हुई।

हेराडोटस:-प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकार। इसका काल लगभग ४८४ से ४२४ ई० पू० था। इसका जन्म एशिया माइनर के हालीकार्नासस नगर में हुआ था और अपनी अधेड़ अवस्था में इसने ईरान, मिस्र, इटली, सिसिली और काले सागर के उत्तरी तट का भ्रमण किया था। इसके इतिहास का मुख्य विषय ईरान और ग्रीस की लंबी लड़ाई थी। इसके इतिहास में तत्कालीन जगत् का अच्छा चित्रण है। हेराडोटस इतिहास का पिता अथवा जन्मदाता कहा जाता है।

हुयान शांग—यह एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुक और चीनी यात्री था। इसका काल ६०५ से ६६४ ई० प० के लगभग माना जाता है। इसका जन्म होनान-फू के निकट हुआ था। बौद्ध भिक्षुक हो जाने पर इसके हृदय में अपने धर्म की जन्म-भूमि देखने की भावना बड़ी प्रबल हो उठी। ६२६ ई० प० में वह सियान-फू से भारत के लिए चल पड़ा। उन दिनों चीन में एक शाही फ़र्मान जारी था, जिसके अनुसार विदेश-यात्रा निषिद्ध था। जब अधिकारियों को पता चला कि हुयान शांग विदेश जाने के लिए निकला है तब उन्होंने उसे पकड़ने के लिए बड़े प्रयत्न किए। बड़ी कठिनाइयों से वह वहाँ से निकलकर भागा। मार्ग में भी उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसने आदमियों और जानवरों की हड्डियों के पड़े हुए ढेरों के सहारे रेगिस्तान को पार किया। इस यात्रा में, उसे मृगतृष्णा तक देखने की नौबत आ गई। दो बार बाण उसके बदन को छूते हुए निकल गए। गोबी के रेगिस्तान में वह मार्ग भूल गया और चार दिन और पाँच रात तक पानी के लिए तरसता रहा। पहाड़ों में पहुँचकर उसके बारह साथी बर्फ़ में जम कर मर गए। इस भाँति उसने तरह-तरह की कठिनाइयों को झेला, पर हताश न हुआ। उसकी यात्रा बड़ी लंबी थी। वह पामीर के पठार के रास्ते आया था और उसी ओर से वापस लौटा। पर आते समय वह उत्तरी रास्ते से आया था, जो गोबी का रेगिस्तान पार करके, थियान-शान पहाड़ों के साथ-साथ, ताशकंद और समरकंद होता हुआ खैबर की राह से भारत में आता है। उसने चीन, मध्य एशिया और भारत की तत्कालीन स्थिति का बड़ा ही रोचक वर्णन लिखा है। उसकी इस १६ वर्ष की यात्रा का हाल उसकी पुस्तक में है। पर उसके वर्णन में एक बड़ा दोष है। जो भी कथा-कहानी उसने कहीं सुनी, उसी को उसने सत्य मान लिया और जो भी खंडहर उसके सामने पड़ा उसकी दंतकथा को उसने इतिहास के रूप में लिख डाला है।

विषय-सूची

(४३)

हर्षवर्धन और ह्युयान शाङ

मई ११, १६३२

आओ, हम भारत को फिर लौट चलें। हूण परास्त हो चुके थे, और देश से निकाल दिए गए थे। किंतु बहुत-से हूण कोने-अतरों में अभी तक पड़े थे। बालादित्य के बाद गुप्तों का प्रतापी राजवंश विलीन हो गया और उत्तरीय भारत में बहुत-सी रियासतें एवं रजवाड़े स्थापित हो गए। दक्षिण में पुलकेशिन ने चालुक्य साम्राज्य का संस्थापन किया।

कानपुर से थोड़ी दूर पर कन्नौज एक छोटा क़स्बा है। आज दिन कानपुर एक महानगर हो गया है, लेकिन पुतलीघरों और चिमनियों के कारण गंदा एवं भद्दा है; और कन्नौज एक छोटा-सा स्थान है। शायद ही गाँव मे वह कुछ बड़ा हो। परंतु जिन दिनों का मैं ज़िक्र कर रहा हूँ, तब कन्नौज एक विशाल साम्राज्य का केंद्र, और अपने कवियों, कलाविदों एवं पंडितों के कारण बहुत प्रसिद्ध था। उस समय तो कानपुर का जन्म भी नहीं हुआ था, और न भविष्य ही में कई सौ वर्षों तक उसके जन्म लेने की कोई संभावना दिखाई देती थी।

कन्नौज आधुनिक नाम है। उसका असली नाम कान्यकुब्ज या "कन्या-कुब्ज" है। एक किंवदंती है कि प्राचीन काल में कोई महात्मा या ऋषि एक राजा की एक सौ कन्याओं से रुष्ट हो गए। उन्होंने उनको शाप दिया, जिससे वे कुबड़ी हो गई थीं। तभी से वह नगर, जहाँ वे रहती थीं, "कुबड़ी कन्याओं का नगर" या कान्यकुब्ज* कहलाने लगा।

किंतु, संक्षेप के लिए, कन्नौज के नाम ही से हम उसका उल्लेख करेंगे। हूणों ने कन्नौज के राजा को मार डाला और उसकी धर्मपत्नी, राजश्री, को बंदी बना लिया। इस पर राजश्री के भाई, राजवर्धन, ने अपनी बहन को छुड़ाने के लिए हूणों पर चढ़ाई की। उसने उन्हें लड़ाई में बुरी तरह हराया, किंतु किसी ने विश्वासघातपूर्वक उसे मार डाला। तब राजश्री का छोटा भाई, हर्षवर्धन, अपनी बहन की तलाश में निकला। वह अभागिनी किसी तरह भागकर पहाड़ों में जा पहुँची थी। विपदाओं को झेलते-झेलते वह इतनी कातर हो गई थी कि उसने मर

---

* आधुनिक कन्नौज। संस्कृत में इसके और भी कई नाम हैं, यथा गाधिपुर, कुशस्थल, कन्याकुब्ज, इत्यादि। कान्यकुब्ज शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में वाल्मीकीय रामायण में एक रोचक किंवदंती का उल्लेख मिलता है। कहते हैं, राजर्षि कुशनाभ को औरस और घृताची-नामक अप्सराओं से १०० कन्याएँ उत्पन्न हुईं। इन कन्याओं का रूप देखकर वायुदेव कामातुर हुए और उन्होंने सहवास के लिए प्रस्ताव किया। जब कन्याओं ने पिता की आज्ञा के बिना राज़ी होने से इनकार कर दिया तब वायु देवता ने शाप देकर उन्हें कुबड़ी बना दिया। पिता ने कन्याओं की वीरता पर मुग्ध होकर कांपिल्ल नगर के राजा, ब्रह्मदत्त, के साथ उनका विवाह कर दिया। ब्रह्मदत्त चुलीय ऋषि के पुत्र थे और उनके छूने से इनका कुबड़ापन जाता रहा। तब से वह प्रदेश और नगर, जहां ये रहती थीं, कन्याकुब्ज या कान्यकुब्ज कहलाने लगा। विशेष विवरण के लिये परिशिष्ट (अ) में कान्यकुब्ज-शीर्षक टिप्पणी देखिए।—सं०

जाने का पूरा संकल्प कर लिया। कहा जाता है कि जिस समय वह सती होने जा रही थी, उसी समय हर्षवर्धन वहाँ पहुँच गया और उसने उसे बचा लिया।

अपनी भगिनी को पा जाने और उसे बचा लेने के बाद हर्ष ने जो दूसरा काम किया, वह उस नीच राजा को दंड देना था जिसने विश्वासघात-पूर्वक उसके भाई की हत्या की थी। हर्ष ने केवल उस राजा को दंड ही नहीं दिया बल्कि धीरे-धीरे एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक और दक्षिण में विंध्य पर्वतमाला पर्यंत सारे उत्तरीय भारत को विजय करने में भी सफलता प्राप्त की। विंध्य के उस पार चालुक्य साम्राज्य था। अतएव हर्ष इससे आगे नहीं बढ़ पाया।

हर्षवर्धन ने क़न्नौज को अपनी राजधानी बनाया। वह स्वयमेव कवि और नाटककार था। अतएव उसने अपनी राजसभा में बहुत से कवियों और चित्रकारों को बुलाकर रक्खा था। कन्नौज की ख्याति चारो ओर फैल गई। हर्ष बड़ा उत्साही बौद्ध था। बौद्ध धर्म—एक विशिष्ट धर्म्म के रूप में– इन दिनों भारत में बहुत क्षीण हो गया था। धीरे-धीरे ब्राह्मण उसे हड़प रहे थे। ऐसा मालूम होता है कि भारत का अंतिम बौद्ध महासम्राट् हर्ष ही था।

हर्ष के राजकाल ही में हमारा चिरपरिचित मित्र ह्युयान शाङ् भारत में आया। चीन लौट जाने के बाद उसने अपनी यात्रा का जो विवरण लिखा है, उससे हमें भारत का और मध्य-एशिया के उन देशों का, जिनको पार कर वह भारत में आया था, बहुत-सा हाल मालूम होता है। वह बड़ा श्रद्धालु बौद्ध था। बौद्ध धर्म्म के तीर्थस्थानों का दर्शन करने और धर्म्म-ग्रंथों को अपने साथ ले जाने के अभिप्राय से वह यहाँ आया था। उसने समूचे गोबी रेगिस्तान को पार किया; और रास्ते में ताशकंद, समरकंद, बल्ख, खोतान और यारकंद, आदि, जो भी प्रसिद्ध नगर पड़े, उन सबको उसने देखा। उसने सारे भारत का भ्रमण किया। संभवतः वह लंका भी गया था। उसकी किताब बड़ी विचित्र और मनोहारिणी है। उसमें सब तरह की बातों का अनियमित रूप से उल्लेख है। वह जिन-जिन देशों में गया उनका बहुत शुद्ध विवरण उसमें मिलता है। भारत के विभिन्न प्रांतों के निवासियों के आचार-विचारों के इतने आश्चर्य्यजनक चित्र उसने खींचे हैं कि वे आज दिन भी सत्य मालूम होते हैं। उसने जिन अद्भुत कहानियों को कहीं सुना उन्हें भी लिख दिया है। बुद्ध और बोधिसत्त्वों के चमत्कारों की अनेक कथाएँ भी इस पुस्तक में संगृहीत हैं। उसने उस बहुत बड़े बुद्धिमान् पुरुष की मोद-भरी कहानी भी, जो अपने पेट के चारों ओर ताम्रपत्र लपेटे रहता था, लिखी है। मैं तुम्हें बहुत पहले ही यह बता चुका हूँ कि उसने भारत में अनेक वर्ष, विशेषकर पाटलिपुत्र के पास नालंद के महाविश्वविद्यालय में, बिताए थे। कहा जाता है कि नालंद में विहार और विश्वविद्यालय दोनों ही थे। वहाँ दस सहस्र विद्यार्थी और भिक्षु रहा करते थे। यह स्थान विद्या का केंद्र था, और हिंदू पांडित्य के गढ़ काशी से होड़ लेता था। मैं तुम्हें एक बार बता चुका हूँ कि प्राचीन समय में भारत इंदु-भूमि—चंद्रमा का लोक—के नाम से प्रसिद्ध था। ह्युयान शाङ् भी इसका ज़िक्र करता है। वह अपने इस मत के समर्थन में कई कारण देता है कि भारत के लिए यह नाम कितना उपयुक्त है। संभवतः चीनी भाषा में इन-तु चंद्रमा को कहते हैं। इसलिए तुम आसानी से अपना चीनी नाम भी रख सकती हो।*

* इंदिरा का प्यार का नाम इंदु है

ह्युयान शाङ ६२९ ई० प० में भारतवर्ष में आया था। जब वह यात्रा के लिए चीन से रवाना हुआ, तब उसकी अवस्था केवल २६ वर्ष की थी। एक प्राचीन चीनी लेख से यह पता चलता है कि वह लंबे क़द का और रूपवान था। "उसका वर्ण सौम्य था, उसकी आँखें ओजपूर्ण, और उसकी मुद्रा गंभीर और गौरवयुक्त थी। उसकी आकृति से आभा और लावण्य टपकता था। उसमें पृथ्वी को वेष्टित करनेवाले समुद्र का ऐश्वर्य और सरसिज की प्रशांत कांति थी।"

अकेले और बौद्ध भिक्षु के पीत चीवर को पहने हुए, वह अपनी इस महायात्रा के लिए रवाना हुआ। यद्यपि चीनी सम्राट् ने उसे इस यात्रा पर जाने से रोका, परंतु उसने मरते-जीते गोबी रेगिस्तान को पार किया और इस मरुस्थल की सीमा पर स्थित तुर्फ़ान के राज्य में वह जा पहुँचा। यह मरुराज्य एक विचित्र छोटा-सा मरुद्यान था। अब यह स्थान विनष्ट हो गया है। पुरातत्त्व-वेत्ता प्राचीन अवशेषों के लिए उसे खोद रहे हैं। लेकिन सातवीं शताब्दी में, जब ह्युयान शाङ इसमें से होकर गुज़रा था, यह देश जीवन के उच्छ्वास से उल्लसित और उच्च कोटि की संस्कृति से परिपूर्ण था। उसकी इस संस्कृति में भारत, चीन, ईरान और योरप की संस्कृतियों के कुछ अंशों का उल्लेखनीय संमिश्रण था। यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार था और संस्कृत के द्वारा भारतीय प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता था; लेकिन जीवनचर्य्या पर अधिकांश में चीनी और ईरानी रंग चढ़ा था। उनकी भाषा मंगोल जाति की न थी, यद्यपि लोगों को इसके होने की अधिक संभावना प्रतीत होगी। वह इंडो-योरपीय जाति की एक भाषा थी, जो योरप की केल्टिक भाषाओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। सब से अचरज की बात तो यह है कि पत्थर के मंडोदक चित्रों में जो आकृतियाँ अंकित हैं, वे योरपीय सूरतों से बिलकुल मिलती हैं। इन मंडोदक चित्रों में अंकित बुद्ध और बोधिसत्त्व, देवियाँ और देवता, बड़े ही सुंदर हैं। बहुत-सी देवियाँ भारतीय परिधान पहने हैं या ग्रीक वेश-भूषा और वस्त्रों से अलंकृत हैं। फ्रेंच समालोचक, एम० ग्रूशो, का कहना है कि "इन चित्रों में हिंदू सुकुमारता, ग्रीक भाव-व्यंजकता और चीनी कमनीयता का परम सुखकारी संमिश्रण है।"

तुर्फ़ान आज दिन भी विद्यमान है। नक़्शे में तुम उसे देख सकती हो। लेकिन अब उसका महत्त्व बहुत कम है। यह बात कितनी आश्चर्यजनक है कि सुदूर सातवीं शताब्दी में संस्कृतियों की समृद्धिशालिनी धाराएँ दूर देशों से आकर यहाँ पर मिल जाती थीं; और यहाँ पर एक में मिलकर सुखद एवं संपूर्ण सामंजस्य स्थापित करती थीं।

ह्युयान शाङ तुर्फ़ान से कूचा पहुँचा। यह भी मध्यएशिया का एक प्रसिद्ध केंद्र-स्थान था। इसकी सभ्यता कांतिमयी और समृद्धिपूर्ण थी। यहाँ के संगीताचार्य्यों का बड़ा नाम था। यहाँ की रमणियाँ अपने लावण्य के लिए प्रसिद्ध थीं। धर्म और कला में यह भारत का अनुयायी था। ईरान ने इसे अपनी संस्कृति दी। यहाँ ईरान से प्रचुर मात्रा में माल भी मंगाया जाता था। इसकी भाषा संस्कृत, प्राचीन ईरानी, लैटिन और केल्टिक भाषाओं से संबंधित है। विस्मयोत्पादक संमिश्रण का यह एक दूसरा उदाहरण है!

इस तरह ह्युयान शाङ बहुत-से देशों में गया। वह तुर्कों के देश में भी गया, जहाँ एक प्रभावशाली खान, जो बौद्ध था, मध्य-एशिया के बहुत बड़े भाग पर शासन करता था। वह समरकंद

भी गया था, जो उस युग में भी एक प्राचीन नगर माना जाता था और जिसे देखकर सिकंदर की स्मृतियाँ जाग्रत हो उठती थीं। सिकंदर, ह्युयान शाङ से एक हज़ार वर्ष पहले, समरकंद के पास से गुज़रा था। वहाँ से ह्युयान शाङ बल्ख़ आया। बल्ख़ से काबुल की घाटी द्वारा काश्मीर होता हुआ वह भारत पहुँचा।

इन्हीं दिनों चीन में टाङ राजवंश का शासन-काल आरंभ हुआ था। उस समय चीन की राजधानी, सी-आन-फ़ू, कला और विद्या की केंद्र थी; और चीन सभ्यता में संसार का पथ-प्रदर्शक था। अतएव तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि ह्युयान शाङ एक बहुत ही सभ्य देश से आया था। ऐसी दशा में, वह किसी देश या संस्था की अच्छाई-बुराई को बहुत कस कर परखता रहा होगा। अतएव उसने भारत की दशा के संबंध में जो कुछ लिखा है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अनमोल है। उसने भारतीय जनता और यहां की शासन-प्रणाली की बड़ी प्रशंसा की है। वह कहता है कि "यद्यपि मामूली आदमी स्वभाव से मनचले हैं, परंतु वे सत्यवादी और विश्वास-पात्र हैं। रुपए-पैसे के मामले में वे निष्कपट और न्याय में दयाशील हैं। व्यवहार में वे न धोखेबाज़ हैं और न विश्वासघाती। वे अपनी शपथ और वचन के बड़े धनी हैं। इन लोगों के शासन-विधान विशेष रूप से धर्म-संगत हैं। उनका आचरण बहुत ही मृदुल और मधुर है। अपराधियों या विद्रोहियों की संख्या बहुत न्यून है। इनमें से इने-गिने ही उद्दंड होते हैं।"

वह आगे चलकर लिखता है, "राज-व्यवस्था धर्मयुक्त और करुणामयी है, इसीलिए शासन का संचालन बहुत सुगम है......लोगों से बेगार नहीं ली जाती।" "इस प्रकार जनता पर राज-कर का बोझ बहुत हलका है, और उनसे जो काम कराया जाता है वह भी अधिक नहीं होता। सब का योग-क्षेम सुरक्षित रहता है। जीविका के लिए सब लोग खेती करते हैं। जो सरकारी भूमि जोतते हैं, उन्हें राजकर के रूप में पैदावार का छठा अंश राजा को देना पड़ता है। व्यापारी अपने कामकाज के लिए स्वच्छंदता से विचरते हैं, इत्यादि, इत्यादि।"

लोगों की शिक्षा का समुचित प्रबंध था। छोटी उम्र ही से पठन-पाठन शुरू हो जाता था। वर्ण-माला को सीख जाने पर सात वर्ष की अवस्था से लड़के-लड़कियों को पंचशास्त्रों का अध्ययन करना पड़ता था। कम से कम नियम तो ऐसा ही था। आज दिन हमें शास्त्र शब्द से विशुद्ध धार्मिक ग्रंथों ही का बोध होता है। लेकिन उन दिनों उसके अंतर्गत सब प्रकार का ज्ञान समझा जाता था। जैसे, पंचशास्त्र निम्न थे—(१) व्याकरण, (२) कला-कौशल का शास्त्र, (३) आयुर्वेद, (४) न्याय (५) और दर्शनशास्त्र। विश्वविद्यालयों में इन विषयों का अध्ययन कराया जाता था, और तीस वर्ष की अवस्था में पढ़ाई समाप्त होती थी। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि प्रारंभिक शिक्षा का काफ़ी प्रचार था, क्योंकि सभी भिक्षु और पुरोहित शिक्षकों का काम करते थे; और न तो भिक्षुओं की कमी थी और न पुरोहितों की।

ज्ञानोपार्जन के प्रति भारतीय जनता के प्रेम का ह्युयान शाङ पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। बारंबार उसने अपनी किताब में इस बात का उल्लेख किया है।

ह्युयान ने अपनी किताब में प्रयाग के कुंभ मेले का भी वर्णन दिया है। अब, जब कभी तुम इस मेले को देखना तब तेरह सौ वर्ष पहले इस मेले में ह्युयान के संमिलित होने की बात को ध्यान

में लाना और यह भी याद रखना कि वैदिक समय से प्रचलित होने के कारण यह मेला उन दिनों भी बहुत प्राचीन समझा जाता था। अतीत के वंशज, इस प्राचीन नगर—प्रयाग—की तुलना में इलाहाबाद का हमारा शहर अभी कल का बच्चा है। चार सौ से कम वर्ष हुए, अकबर ने इसे बसाया था। प्रयाग इससे कहीं प्राचीन है। लेकिन प्रयाग से भी पुरातन है वह आकर्षण जो हजारों वर्षों से लाखों यात्रियों को गंगा और यमुना के संगम पर प्रतिवर्ष खींच लाता है।

ह्युयान शाङ ने लिखा है कि बौद्ध होते हुए भी हर्ष कैसे इस ठेठ हिंदू मेले में गया था। जाने के पहले, हर्ष ने एक राज-घोषणा निकाली, जिसमें उसने पंच-हिंद के सब गरीबों और भुक्खड़ों को मेले में आने और उसके आतिथ्य-सत्कार को स्वीकार करने के लिए आमंत्रित किया। किसी सम्राट् के लिए भी इस तरह का निमंत्रण देना बड़े साहस का काम था। कहने की जरूरत नहीं कि बहुत-से लोग आए। कहा जाता है कि प्रतिदिन एक लाख आदमी राजा के अतिथि के रूप में, राजभंडारे से, भोजन पाते थे। हर पाँचवें साल मेले में हर्ष अपने राजकोष की समस्त संचित संपत्ति को—सुवर्ण, आभूषणों, रेशमी परिधानों, उसके पास जो कुछ होता उस सब को—बाँट देता था। उसने अपने राजमुकुट और मूल्यवान् परिधानों तक को दान कर दिया, और अपनी बहन, राजश्री, से एक मामूली कपड़ा, जो पहले का पहना हुआ था, लेकर धारण किया।

श्रद्धालु बौद्ध होने के कारण, हर्ष ने भोजन के लिए जीवों की हत्या बंद कर दी थी। संभवतः इस आज्ञा का अधिक विरोध ब्राह्मणों ने नहीं किया, क्योंकि बुद्ध के समय से उन लोगों में भी निरामिष-भोजन का अधिकाधिक प्रचार हो गया था।

ह्युयान की किताब में एक चटपटी बात का उल्लेख है, जो तुम्हें संभवतः रोचक मालूम हो। वह लिखता है कि भारत में कोई बीमार पड़ा नहीं कि तुरंत उसने सात दिन का लंघन कर डाला। यदि इस पर भी रोग न गया तो वह दवा करता था। उन दिनों बीमार पड़ना अच्छी बात न समझी जाती होगी, और न वैद्यों ही की बहुत माँग रही होगी।

उन दिनों के भारत की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि राजे-महाराजे और दूसरे क्षत्रिय विद्वानों का बड़ा आदर करते थे। भारत और चीन में इस बात का विधिवत् प्रयत्न किया गया था—इसमें बड़ी सफलता भी हुई—कि विद्या और संस्कृति को मान का आसन मिलना चाहिए, न कि पाशविक बल या धन-दौलत को।

भारत में अनेक वर्ष बिताने के बाद, ह्युयान शाङ अपने घर की ओर लौट पड़ा। इस बार फिर उसे उत्तरीय पर्वतमाला पार करनी पड़ी। सिंधु में वह डूबते-डूबते बचा। उसकी बहुत-सी अनमोल किताबें बह गईं। इस पर भी वह अपने साथ अनेक ग्रंथों की पांडुलिपियाँ किसी न किसी तरह ले गया। इन ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करने में उसके कई साल लगे। सी-आन-फू की राजधानी में टाङ-सम्राट् ने उसका बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया। यह वही सम्राट् था, जिसके कहने पर ह्युयान ने अपनी यात्रा का विवरण लिखा था।

ह्युयान ने मध्य एशिया के उन तुर्कों का भी जिक्र किया है, जिन्होंने आगामी शताब्दियों में पश्चिम जाकर अनेक राज-सिंहासनों को उलट-पुलट दिया। उसने मध्य एशिया के सभी स्थानों

में स्थापित बौद्ध विहारों का वर्णन किया है। सच तो यह है कि उन दिनों बौद्ध भिक्षुओं के विहार ईरान, इराक़, खुरासान और मोसल में तथा सीरिया की सीमा तक मिलते थे।

ईरानियों की बावत ह्युयान का कहना है कि उन्हें विद्योपार्जन का तो बिलकुल चाव न था, लेकिन कला के पीछे वे रात-दिन पागल रहते थे। जो कुछ वे रचते थे, उसकी उनके पड़ोसी बड़ी क़द्र करते थे।

उन दिनों के यात्री बड़े अद्भुत होते थे। प्राचीन काल की बड़ी-बड़ी यात्राओं की तुलना में आज दिन की अफ़्रीका के अंतस्तल, उत्तरीय ध्रुव या दक्षिणी ध्रुव की यात्राएँ बहुत ही छिछली जंचती हैं। वर्षों तक चलते-चलते वे पर्वतों और मरुस्थलों को पार करते थे। उन यात्रियों का अपने स्वजनों और मित्रों से एक दम संबंध-विच्छेद हो जाता था। न उनको इनकी खबर और न इनको उनकी कुछ खबर मिलती थी। कभी-कभी, संभव है, उन्हें थोड़ी-बहुत घर की याद आती रही हो, लेकिन उनमें इतनी आत्म-प्रतिष्ठा होती थी कि वे उसको ज़बान पर भी नहीं लाते थे। इनमें से एक यात्री से हमें इस बात की झलक मिलती है कि किस तरह वह किसी दूर देश की भूमि पर खड़ा-खड़ा स्वदेश की याद करता और उसे देखने के लिए कातर हो जाता था। इस यात्री का नाम शुङ युन था। वह ह्यान शाङ से एक सौ वर्ष पूर्व भारत में आया था। वह भारत के पश्चिम में स्थित पहाड़ी प्रदेश, गांधार, में आकर निवास करने लगा। वह कहता है, "सुंदर मंद समीर, पक्षियों के मधुर गीत, वृक्षों की वसंत-कालीन सुंदरता, विभिन्न पुष्पों पर मंडराती तितलियाँ—इन सब को देखते-देखते शुङ-युन को अपने देश की सुध हो आई; और इससे उसको इतना दुस्सह दुःख हुआ कि उसकी दशा बिगड़ने लगी और वह बुरी तरह बीमार पड़ गया।"

(४४)

अनेक राजाओं, शूरवीरों और एक महापुरुष की जननी—दक्षिण भारत-भूमि

मई १३, १६३२

सम्राट् हर्ष का निधन ६४८ ई० प० में हुआ। लेकिन उसकी मृत्यु के पूर्व ही भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर, बलूचिस्तान में, एक छोटा-सा बादल दिखाई देने लगा था—एक छोटा-सा बादल, जो उस प्रलयंकर विप्लव का अग्रगामी था, जो पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रिका और दक्षिणी योरप में उठनेवाला था। अरब देश में एक नए पैग़ंबर का आविर्भाव हो चुका था। मुहम्मद उनका नाम था, और इस्लाम-नामक एक नवीन मत का प्रवर्तन वह कर चुके थे। अपने नव-जात धर्म के प्रति उत्साह से उत्तेजित और अपनी शक्ति का पूरा भरोसा करते हुए, अरब के निवासी महाद्वीपों के एक कोने से दूसरे कोने तक दौड़ पड़े; और उनके रास्ते में जो आया उसी को उन्होंने धराशायी कर दिया। यह एक आश्चर्यजनक काम था, और हमें इस नई शक्ति की विचार-पूर्वक जाँच करना चाहिए, जिसने संसार में आकर इतना उथल-पुथल मचा दिया। लेकिन इसके पूर्व कि हम उसके विषय में विचार करें, हमें दक्षिणी भारत की एक यात्रा कर आना और इस बात का पता लगाना चाहिए कि उन दिनों उसकी क्या दशा थी। हर्ष के समय में मुसलिम अरब बलूचिस्तान में पहुँच चुके थे, और थोड़े ही समय में उन्होंने सिंध पर अधिकार जमा लिया था। वहीं वे टिक गए, और अगले तीन सौ वर्षों तक भारत पर फिर कोई दूसरा मुसलिम आक्रमण नहीं हुआ; और जब यह दूसरा आक्रमण हुआ, तब उसके संचालक अरब-निवासी नहीं किंतु मध्य-एशिया के वे क़बीले थे, जिन्होंने इस्लाम को अंगीकार कर लिया था।

अतएव, हम दक्षिण की ओर चलते हैं। पश्चिम और मध्य भारत में चालुक्य साम्राज्य था, जिसका अधिकांश भाग महाराष्ट्र प्रदेश में था। इसकी राजधानी बदामी में थी। ह्युयान शाङ ने महाराष्ट्रों की प्रशंसा की है, और उनके साहस का उच्च स्वर में बखान किया है। वे "शूरवीर और स्वाभिमानी, उदारता के प्रति कृतज्ञ और अपकार का बदला लेने में सतर्क होते हैं।" चालुक्यों को उत्तर में हर्ष के, दक्षिण में पल्लवों के, और पूर्व में कलिंग (उड़ीसा) के, वेग को रोकना पड़ता था। उनकी शक्ति बढ़ती गई और वे एक समुद्र-तट से दूसरे समुद्र-तट तक फैल गए। लेकिन बाद में राष्ट्रकूटों ने उन्हें पीछे ढकेल दिया।

इस प्रकार बड़े-बड़े राज्य और साम्राज्य दक्षिण में फलते-फूलते रहे। कभी वे एक-दूसरे के वेग को रोकते; कभी उनमें से एक अधिक शक्तिशाली हो जाता और दूसरों के ऊपर शासन करने लगता था। पंड्या-राजवंश के समय में मदुरा संस्कृति का एक बड़ा केंद्र हो गया था। वहाँ तामिल भाषा के अनेक कवि और सुलेखक आकर जमा हो गए थे। तामिल वाङ्मय के अनेक ग्रंथ ईसवी संवत् के आरंभ में रचे गए थे। पल्लवों का भी कुछ समय के लिए सितारा चमक उठा

था। मलयेशिया के उपनिवेशीकरण का श्रेय अधिकांश में उन्हीं को प्राप्त है। उनकी राजधानी कांचीपुर—आधुनिक कांजीवरम्—में थी।

बाद में चोला-साम्राज्य शक्ति-संपन्न हुआ और नवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण-भारत में उसी का दबदबा छाया था। वह एक सामुद्रिक राष्ट्र था। उसके पास बहुत बड़ी नौ-सेना थी, जिसके कारण बंगाल की खाड़ी और अरब-सागर में उसी का बोलबाला था। चोलों का सबसे बड़ा बंदरगाह कावेरी नदी के मुहाने पर कावीरीपट्टीनम् था। चोला का प्रथम महासम्राट् विजयालय था। चोला-सम्राट् उत्तर की ओर अपने राज्य का विस्तार तब तक बढ़ाते चले गए जब तक अकस्मात् राष्ट्रकूटों ने उन्हें परास्त नहीं कर दिया। लेकिन इसके कुछ ही समय बाद, राजराजा के शासन में, चोला फिर पनप उठा। राजराजा के राजकाल में चोला-राजवंश की भाग्यश्री फिर लौटी। यह दसवीं शताब्दी के अंत की बात है—ठीक उस समय की जब उत्तरी भारत में मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। राजराजा के ऊपर सुदूर उत्तरीय भारत में होनेवाली घटनाओं का कुछ नहीं के बराबर प्रभाव पड़ा। वह अपने साम्राज्य को बढ़ाने के प्रयत्न में निरंतर लगा रहा। उसने लंका जीती और चोलों ने वहाँ सत्तर वर्ष तक राज्य किया। उसका पुत्र, राजेंद्र, उसी के समान वीर था। अपने युद्ध के हाथियों को जहाजों में ले जाकर उसने दक्षिणी बर्मा को जीता। उसने उत्तरी भारत पर भी चढ़ाई की और बंगाल के राजा को परास्त किया। इस समय चोला-साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया था। गुप्तों के समय के बाद इस साम्राज्य का विस्तार सब से बड़ा था। राजेंद्र योद्धा तो बड़ा था, लेकिन ऐसा मालूम होता है कि वह क्रूर भी था; और जिन रियासतों को उसने जीता, उनको अपने प्रति राजभक्त बनाने की उसने कुछ भी चेष्टा न की। उसने १०१३ से १०४४ ई० प० तक शासन किया। उसकी मृत्यु के बाद बहुत-से अधीन रजवाड़ों ने बग़ावत की और चोला-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

युद्ध में विजय पाने के अतिरिक्त, चोला-निवासी अपने सामुद्रिक व्यापार के लिए भी प्रसिद्ध थे। उनके बनाए हुए सुंदर सूती कपड़ों की बड़ी मांग थी; और उनका बंदरगाह, कावीरीपट्टीनम्, बड़ी चहलपहल का स्थान था, जहाँ से सुदूर देशों को माल भर कर जहाज़ जाया करते थे। मैंने दक्षिणी भारत के इतिहास के कई सौ वर्षों का हाल यथासंभव संक्षेप में बताने का प्रयत्न किया है। संभव है कि संक्षिप्त वर्णन की चेष्टा तुम्हें भ्रम में डाल दे। लेकिन हमें विभिन्न राष्ट्रों और राजवंशों की भूलभुलैयां में तो भटकना नहीं है। हमें तो सारे संसार का सिंहावलोकन करना है, और यदि उसका कोई भी क्षुद्र अंश—चाहे वह अंश वही भूखंड क्यों न हो जहाँ हम रहते हैं—हमारा बहुत अधिक समय ले लेगा तो फिर शेष भाग के विषय में हम कुछ भी न कह पाएंगे।

लेकिन राजाओं और उनकी विजयों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है उन दिनों का सांस्कृतिक और कला-संबंधी विवरण। कला की दृष्टि से दक्षिण में उत्तर की अपेक्षा हमें कहीं अधिक तत्कालीन अवशेष मिलते हैं। उत्तर के बहुत से स्मारक, प्रासाद और मूर्तियां लड़ाइयों और मुसलिम आक्रमणों में विनष्ट हो गई थीं। दक्षिण में इस प्रकार की चीज़ें उस समय भी बच गईं, जब मुसलमान वहाँ पहुँचे। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उत्तर के अनेक सुंदर स्मारक तोड़-फोड़ डाले गए। जो मुसलमान यहां आए—और यह याद रक्खो कि वे मध्य-एशिया के

निवासी थे, न कि अरब के—उनमें इस नए मत के प्रति उत्साह भरा था, और प्रतिमाओं को तोड़-फोड़ डालने को वे चटपटा रहे थे। लेकिन इन मंदिरों के विनाश का एक और भी कारण था। संभवतः, प्राचीन मंदिर क़िलों और गढ़ों का काम देते थे। वहाँ सैनिक आसानी से जमा हो सकते थे। दक्षिण के बहुत-से मंदिर आज दिन भी गढ़-से मालूम होते हैं, जहाँ लोग आक्रमणों से अपनी रक्षा सुविधा के साथ कर सकते हैं। अतएव, ये मंदिर, पूजा-उपासना के अतिरिक्त, दूसरे कामों में भी आते थे। मंदिर ही ग्राम-पाठशालाएँ और ग्राम-निवासियों के पंचायतघर थे; और अंत में, आवश्यकता पड़ने पर, शत्रु से रक्षा करने के लिए ग्राम-गढ़ का भी काम देते थे। इस प्रकार, देहातों के जीवन के केंद्र ये ही मंदिर होते थे। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक था कि मंदिरों के पुजारी और ब्राह्मण दूसरों पर रोब गाँठें। लेकिन इस बात से कि मंदिर कभी-कभी क़िलों का काम देते थे, यह बात समझ में आ जाती है कि क्यों मुसलिम आक्रमणकारियों ने उन्हें विनष्ट कर डाला। इस युग का एक सुंदर मंदिर तंजौर में है, जिसे चोला-सम्राट् राजराजा ने बनवाया था। बदामी और कांजीवरम् में भी अनेक सुंदर मंदिर हैं। लेकिन इस युग में जितने मंदिर बने, उनमें सबसे अधिक अद्भुत है एलोरा का कैलाश-मंदिर। एक ठोस पर्वत-शिला को काट कर इस अपूर्व चमत्कार की सृष्टि हुई है।

इस युग की बहुत-सी सुंदर ताम्र-प्रतिमाएँ भी मिलती हैं। इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय है नटराज की, अर्थात् शिव के जीवन-तांडव की, प्रसिद्ध प्रतिमा।

चोला-सम्राट्, राजेंद्र प्रथम, ने चोलापुरम् में सिंचाई के लिए अपूर्व बांध बनवाए थे। इनमें से एक बांध सोलह मील लंबा, पक्का और ठोस था। इन बांधों के बनने के सौ वर्ष बाद, एक अरब यात्री (अलबरूनी) इन्हें देखने गया, और जो कुछ उसने देखा उससे वह स्तंभित हो गया। उनके संबंध में वह लिखता है कि "हमारे भाई-बंधु उन्हें देखकर चकित हो जाते हैं। उनके समान दूसरे बांधों का निर्माण करना तो दूर रहा, उनका वर्णन करना भी उनकी शक्ति के बाहर है।"

मैंने इस पत्र में उन राजाओं और राजवंशों के कुछ नामों का उल्लेख किया है, जो कुछ दिन प्रभुता करने के बाद मिट गए और जिनका कोई नाम तक नहीं लेता। लेकिन दक्षिणी भारत में एक बहुत ही प्रसिद्ध महापुरुष का इसी काल में जन्म हुआ, जिनको राजाओं और सम्राटों की अपेक्षा, व्यापक रूप से भारतीय जीवन को प्रभावित करने का कहीं अधिक श्रेय बदा था। यह नवयुवक शंकराचार्य्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। संभवतः, आठवीं शताब्दी के अंत के लगभग उनका जन्म हुआ। शंकर अपूर्व प्रतिभाशाली महापुरुष थे। वह हिंदू-धर्म—अथवा हिंदू-धर्म के शैव धर्म-नामक एक विशिष्ट दार्शनिक रूपांतर—के पुनरुत्थान का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने अपनी प्रतिभा और तर्कों द्वारा बौद्ध धर्म का खंडन किया। उन्होंने बौद्ध-संघ के समान संन्यासियों का एक आश्रम स्थापित किया, जिसमें सब जातियों के लोग प्रविष्ट हो सकते थे। संन्यासियों के इस आश्रम के लिए उन्होंने भारत के चार कोनों पर—उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व में—चार मठ स्थापित किए। उन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया; और जहाँ वह गए, वहीं वह विजयी हुए। विजेता के रूप में- यद्यपि बुद्धि के ऊपर और तर्क द्वारा विजेता के रूप में—वह काशी आए। अंत में वह हिमालय पर स्थित केदारनाथ को गए, जहाँ से अक्षय हिम का आरंभ

होता है; और वहीं से वह सुरपुर को सिधारे। जब उनकी मृत्यु हुई तब उनकी आयु केवल वत्तीस या उससे कुछ ही अधिक वर्षों की थी।

शंकराचार्य्य की जीवन-लीला बड़ी ही अपूर्व है। बौद्ध धर्म्म, जो उत्तर से हटकर दक्षिण में चला गया था, अब भारत से प्रायः उठ ही सा गया। हिंदू धर्म्म और उसका शैव संप्रदाय अब देश में सबसे अधिक प्रभावशाली हो गए। शंकर के ग्रंथों, भाष्यों और तर्क-शैली ने सारे देश में मानसिक हलचल मचा दी। न केवल वह ब्राह्मण-जाति के प्रमुख नेता हो गए, किंतु जन-साधारण भी उन्हें पूजने लगा। किसी व्यक्ति का केवलमात्र अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा के वल पर इतना भारी नेता हो जाना, या लाखों-करोड़ों आदमियों और इतिहास पर अपनी छाप लगा देना, एक असाधारण बात है। जान पड़ता है कि वड़े-वड़े योद्धा और विजेता तो आसानी से इतिहास में विशिष्टता का पद प्राप्त कर लेते हैं। वे या तो लोकप्रिय हो जाते या लोग उनसे घृणा करने लगते हैं। कभी-कभी वे इतिहास के विकास-क्रम को भी प्रभावित कर देते हैं। विभिन्न धर्म्मों के महाप्रवर्त्तक भी असंख्य नर-नारियों को विचलित और उत्साह से उत्तेजित करने में समर्थ हुए हैं; लेकिन यह सफलता सर्वत्र और सर्वदा श्रद्धा की आश्रित रही है। भावुकता को उत्तेजित करने की चेष्टा की जाती है; और वह उत्तेजित हो उठती है।

बुद्धि और मस्तिष्क की दुहाई देकर वहुत वड़ी सफलता का भाजन होना कठिन है। दुर्भाग्य से, अधिकतर मनुष्य सोचा-विचारा नहीं करते। उन्हें हृदय-गत अनुभव होता है, और वे अपनी भावनाओं के अनुकूल आचरण किया करते हैं। परंतु शंकर तो मन, मस्तिष्क और विवेक की दुहाई देते थे। उनकी उक्ति किसी प्राचीन शास्त्र के कथन की पुनरुक्तिमात्र न थी। यहां पर इस बात का विचार करना कि उनकी तर्कशैली सही या ग़लत थी निरर्थक है। उनके संबंध में यह बात कहीं अधिक रोचक मालूम होती है कि उन्होंने धार्मिक विषयों का विवेचन मानसिक दृष्टिकोण से किया; और इससे भी अधिक रोचक यह है कि इस प्रकार के दृष्टिकोण के होते हुए भी उन्हें इतनी अधिक सफलता मिली। इससे हमें उन दिनों के शासक-वर्ग की मनोवृत्ति की एक झलक मिल जाती है। तुम्हें यह बात शायद मनोरंजक मालूम हो कि हिंदू दार्शनिकों में चार्वाक-नामक एक व्यक्ति हुआ है, जो अनीश्वरवाद का प्रचार करता था, अर्थात् जो कहता था कि ईश्वर नहीं है। आज दिन, विशेषकर रूस में, ऐसे वहुत-से लोग हैं, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। यहां पर इस प्रश्न को छेड़ने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन प्राचीन काल के भारतवर्ष में विचार और प्रचार की स्वतंत्रता का उल्लेख अवश्यमेव रोचक है। जिसे हम आज दिन अंतःकरण की स्वाधीनता कहते हैं, वह उस युग के भारत में सब लोगों के लिए सुलभ थी। कुछ दिनों पहले योरप में ऐसी बात न थी। आज दिन भी वहां इसके मार्ग में कुछ बाधाएं हैं।

शंकर के अल्पकालिक, किंतु क्रियाशील, जीवन से एक और भी वात का पता चलता है; और वह है भारत की सांस्कृतिक एकता। प्राचीन युगों के इतिहास में इस बात को सदैव लोग माना करते थे कि भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष, कम या अधिक मात्रा में, एक संपूर्ण देश है—वह किसी दूसरे देश का छोटा या वड़ा अंश नहीं है। राजनीतिक दृष्टि से वह वहुधा विभिन्न भागों में

विभक्त रहा है, यद्यपि कभी-कभी, जैसा हमने देखा है, उस पर प्रायः एकमात्र केंद्रीय शासन का आधिपत्य भी रहा है। लेकिन आरंभ ही से उसकी सांस्कृतिक एकता निर्विवाद रही है, क्योंकि सदा से उसकी वस्तुस्थिति, उसकी अनुश्रुतियाँ और प्राचीन गाथाएँ, उसके मत-मतांतर और वीर-वीरांगनाएँ, उसकी शास्त्रिय भाषा (संस्कृत), देशभर में फैले हुए उसक तीर्थस्थान और ग्राम-संघ (पंचायत) तथा उसकी विचार-पद्धति और रीति-नीति सदा से एक-सी चली आई हैं। एक साधारण भारतीय की दृष्टि में, समस्त भारत-भूमि पुण्य-भूमि—पवित्र भूमि—थी; और भारत को छोड़कर बाक़ी दुनिया के निवासी म्लेच्छ और वर्बर थे। इस तरह, एक सर्वमान्य भारतीय संस्कृति का उदय हुआ, जिसने देश के राजनीतिक विभागों के ऊपर विजय प्राप्त की और किसी अंश में उनकी उपेक्षा भी की। लेकिन राज्यों और साम्राज्यों में उथल-पुथल होते हुए भी जब तक पंचायती-शासन की ग्राम-प्रणाली प्रचलित रही तब तक विशेष रूप से भारतवर्ष की सांस्कृतिक दशा वैसी ही बनी रही जैसी हम ऊपर बता आए हैं।

अपने संप्रदाय के संन्यासियों के मठों के लिए भारत के चार कोनों का शंकर द्वारा चुना जाना इस बात को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है कि भारत की सांस्कृतिक एकता के प्रति उनका कैसा भाव था। थोड़े ही समय में उनके आंदोलन को सारे भारतवर्ष में जो अपूर्व सफलता मिली, वह भी इस बात को प्रतिपादित करती है कि उन दिनों कैसे मानसिक और सांस्कृतिक धाराएं देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जल्दी से पहुँच जाती थीं।

शंकर ने शैवमत का प्रचार किया। यह मत दक्षिण में विशेष रूप से फैला। वहाँ के अधिकांश मंदिर शिवालय हैं। उत्तर में, गुप्तों के राजकाल में, वैष्णव धर्म्म और कृष्णोपासना की बड़ी धूम थी। शैव और वैष्णव संप्रदायों के देवालय एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

यह पत्र बहुत बड़ा हो गया है। लेकिन मध्ययुग के भारत के विषय में मुझे अभी बहुत कुछ कहना है। अगले पत्र तक उसे स्थागीत रखना पड़ेगा।

१८०९

(४५)

मध्यकालीन भारत

मई १४, १९३२

तुम्हें याद होगा कि अर्थशास्त्र-नामक ग्रंथ के विषय में मैंने तुम्हें एक बार लिखा था*। इस ग्रंथ के लेखक का नाम चाणक्य या कौटिल्य था। वह अशोक के पितामह, चंद्रगुप्त मौर्य्य, का महामात्य था। उसने इस पुस्तक में उस समय के लोगों और शासन-पद्धतियों के विषय में अनेक बातें लिखी हैं। ऐसा मालूम होता है कि, मानो, एक खिड़की खोल दी गई हो, जिसके द्वारा चतुर्थ शताब्दी ई० पू० के भारत की एक झलक हमें मिल जाती है। राजाओं और उनकी विजयों के अतिरंजित विवरणों की अपेक्षा ऐसी पुस्तकें, जिनमें शासन-संबंधी छोटी-छोटी बातों का विशद वर्णन रहता है, कहीं अधिक उपयोगी होती हैं।

हमें एक दूसरी पुस्तक भी उपलब्ध है, जो हमें मध्यकालीन भारत के विषय में अपनी धारणा स्थिर करने में थोड़ी-बहुत मदद देती है। यह ग्रंथ शुक्राचार्य का 'नीतिसार' है। यह न तो उतना अच्छा और न उतना उपयोगी है, जितना अच्छा और उपयोगी अर्थशास्त्र है। लेकिन इसकी तथा कुछ आलेखों और दूसरे वृत्तांतों की सहायता से हम ईसा के बाद की नवीं और दसवीं शताब्दियों को देखने के लिए एक खिड़की खोलने का प्रयत्न करेंगे।

नीतिसार हमें बताता है कि न तो वर्ण से और न पूर्वजों ही के बल पर कोई व्यक्ति ब्राह्मण हो सकता है। इस प्रकार, नीतिसार के अनुसार, जाति-भेद जन्म से नहीं किंतु कर्म्म से माना जाना चाहिए। फिर, उसमें कहा है, "राजपदों पर किसी की नियुक्ति करते समय उसके गुणों, आचरण और योग्यता का विचार करना चाहिए, न कि उसकी जाति या कुल का।" "राजा को अपनी स्वेच्छा से नहीं, किंतु बहुमत के अनुसार, काम करना चाहिए।" "लोकमत राजा से उसी प्रकार अधिक शक्तिशाली होता है, जैसे अनेक तंतुओं से निर्मित रस्से में सिंह को घसीट लाने की शक्ति होती है।"

ये सब बड़ी ही सुंदर उक्तियाँ हैं। सिद्धांत-रूप से आज दिन भी ये ठीक जँचती हैं। लेकिन यथार्थ बात तो यह है कि उनसे हमें व्यवहार में अधिक सहायता नहीं मिलती। मनुष्य योग्यता और गुणों के बल पर उन्नति कर सकता है। लेकिन गुण और क्षमता को वह कैसे प्राप्त करे? कोई बालक या कन्या बहुत ही कुशाग्र-बुद्धि हो और यदि उसका समुचित शिक्षण हो तो संभव है कि वह योग्य और चतुर भी हो जाय। लेकिन यदि शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं है तो बेचारा लड़का या लड़की क्या करे?

इसी तरह, लोकमत क्या है? किसके या किनके मत को जनता का मत मानना

* पत्र नं० (१८) देखिए।

चाहिए ? संभव है कि नीतिसार के लेखक ने उन बहु-संख्यक शूद्र श्रमिकों—मजदूरों—को किसी भी प्रकार की संमति देने का अधिकारी नहीं समझा। वे बेचारे किस गिनती में थे। केवलमात्र उच्च वर्गों और शासक-मंडलियों ही का मत लोकमत था।

तो भी यह रोचक बात है कि मध्यकाल में, जैसे पूर्व युगों में, निरंकुश सत्ता या राजाओं के ईश्वरदत्त अधिकारों के लिए भारतीय शासन-पद्धति में कोई स्थान न था।

इसके अतिरिक्त नीतिसार में राजपरिषद् का, उद्यान, वन और शिल्प के विभागों के महाध्यक्षों का, नागरिक और ग्रामीण जीवन के संघटन का, तथा पुलों, घाटों, धर्मशालाओं, राजपथों और देहात एवं नगरों के लिए परम महत्वपूर्ण नाले-नालियों का, वर्णन है।

ग्राम-पंचायतों को ग्राम के सब मामलों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। राज्यकर्मचारी पंचों का बहुत संमान करते थे। पंचायतें ही खेतों का बटवारा करतीं और लगान वसूल कर सरकार को गाँव की मालगुज़ारी देती थीं। ऐसा मालूम होता है कि इन पंचायतों के ऊपर एक बड़ी पंचायत होती थी, जो ग्राम-पंचायतों की निगरानी करती और आवश्यकता पड़ने पर उनके कार्यों में हस्तक्षेप भी कर सकती थी। इन पंचायतों को मुक़दमों के सुनने और उनका फ़ैसला करने का भी अधिकार प्राप्त था। पंच ही न्यायाधीश होते थे और दंड देने का उन्हें अधिकार रहता था।

दक्षिणी भारत के कुछ अभिलेखों से पता चलता है कि पंच किस तरह चुने जाते थे, पंच होने के लिए किस प्रकार की योग्यता का होना अनिवार्य्य माना जाता था, और किन त्रुटियों के कारण कोई व्यक्ति पंच होने के लिए अयोग्य समझा जाता था। यदि कोई पंच सार्वजनिक धन का हिसाब न देता था तो वह अपने पद से हटा दिया जाता था। एक बहुत रोचक नियम यह भी था कि पंचों के निकट संबंधी कर्म्मचारी नहीं हो सकते थे। क्या ही अच्छा हो, यदि हमारी सब कौंसिलों, एसेंबलियों और म्यूनिसिपैलिटियों में भी इस नियम का सख्ती के साथ पालन होने लगे।

इसका भी उल्लेख मिलता है कि एक स्त्री किसी कमेटी की सदस्या थी। इससे मालूम होता है कि स्त्रियाँ भी इन पंचायतों या उनकी उप-समितियों की सदस्या हो सकती थीं।

पंचायतों के निर्वाचित सदस्यों की उप-समितियाँ बनाई जाती थीं। यदि कोई सदस्य अनुचित काम करता था तो वह तुरंत निकाल दिया जाता था।

ग्राम-संघों की यह प्रणाली आर्य्य राज्य-व्यवस्था की आधार थी। इसीसे उसको बल मिलता था। ग्राम-संघ अपनी स्वतंत्रता और अपने अधिकारों का इतना अधिक ध्यान रखते थे कि यह नियम बना दिया गया था कि राजाज्ञा के बिना कोई सैनिक गांव में पैर न रक्खे। नीतिसार में लिखा है कि जब जनता किसी राजकर्म्मचारी की शिकायत करे तब राजा को प्रजा का, न कि कर्म्मचारी का, पक्ष लेना चाहिए; और यदि बहुत-से लोग उसकी शिकायत करते हों तो उसे तुरंत निकाल देना चाहिए, क्योंकि, जैसा नीतिसार में कहा है, "प्रभुता के मद से कौन अंधा नहीं हो जाता है।" कितनी सत्य उक्तियाँ हैं, जो विशेष रूप से उन बहुतेरे कर्म्मचारियों पर लागू हो सकती हैं, जो आज दिन इस देश में अनाचार और कुशासन कर रहे हैं।

बड़े-बड़े नगरों में, जहाँ बहुत-से व्यापारी और कारीगर रहते थे, संघ स्थापित किए जाते थे। इस प्रकार, उस समय कारीगरों के संघ थे, साहूकारों के मंडल थे, और वैश्यों की समितियाँ थीं। धार्मिक संघ भी थे। इन सब संघों को निजी मामलों में पूर्ण अधिकार प्राप्त थे।

राजा के लिए यह निर्देश था कि वह प्रजा से, राज-कर के रूप में, बहुत थोड़ा धन ले, जिसमें उन्हें न तो क्षति पहुँचे और न कर का बोझ उनके लिए बहुत भारी ही हो जाय। उसे उसी तरह राज-कर लेना चाहिए, जैसे माली वन में पेड़ों से पत्तियों और पुष्पों का चयन करता है; उस तरह से नहीं, जैसे लकड़ी का कोयला बनानेवाला जंगल से लकड़ी जमा करता है।

भारत के मध्ययुग के विषय में जो टूटी-फूटी सूचनाएं हमें मिलती हैं, उनका सारांश हमने ऊपर दे दिया है। इसका पता लगाना कुछ कठिन है कि ग्रंथों में प्रतिपादित नियमों का व्यवहार में कहाँ तक पालन होता था, या कहाँ तक सिद्धांत और व्यवहार में सामंजस्य था। किताबों में उत्तमोत्तम सिद्धांतों और आदेशों का निरूपण बहुत ही सरल है, लेकिन उनके अनुरूप आचरण करना प्रायः कठिन ही होता है। तो भी, किसी युग-विशेष की जनता के भावों या मानसिक दृष्टिकोण को समझने में किताबों से हमें बहुत बड़ी सहायता मिलती है। यह दूसरी बात है कि उनके अनुकूल व्यवहार न किया जाता रहा हो। पर हमें इस बात का पता मिलता है कि मध्यकालीन राजा और शासक एकदम निरंकुश और स्वेच्छाचारी न होते थे। निर्वाचित पंचायतें उनकी शक्ति का नियंत्रण और नियमन किया करती थीं। हमें इस बात का भी पता लगता है कि गाँवों और नगरों में स्वराज्य की बहुत-कुछ समुन्नत प्रणाली के अनुसार काम होता था, तथा ग्राम-संघों की कार्य्यवाही में केंद्रीय शासन द्वारा बहुत ही कम हस्तक्षेप होता था।

लेकिन जब मैं जनता की विचार-शैली या स्वराज्य की बात कहता हूँ तब मेरा क्या आशय होता है? भारतवर्ष की संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था जाति-पाँति के आधार पर स्थित थी। सिद्धांत-रूप से वह बहुत जटिल और जकड़ी हुई न रही हो, या संभव है—जैसा नीतिसार में कहा है—कि सामाजिक व्यवस्था में गुण और कर्म्म का भी यथोचित मान था। लेकिन, वास्तव में, इसका कुछ भी अर्थ नहीं है। ब्राह्मण या क्षत्रियों के वर्ग शासक-वर्ग थे। कभी-कभी इन दोनों में प्रभुता के लिए संघर्ष हो जाते थे। बहुधा वे मिलकर राजकाज करते और एक दूसरे की सुविधा का ध्यान रखते थे। दूसरों को वे पैर के नीचे दबाए रखते थे। ज्यों-ज्यों वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति होती गई त्यों-त्यों धीरे-धीरे वैश्य लोग धनी होने लगे और उनका महत्व बढ़ने लगा। जैसे-जैसे उनका महत्व बढ़ता गया, वैसे-वैसे उन्हें कुछ विशेष अधिकार मिलते गए, और उनके संघों को अपने निजी मामलों का स्वेच्छानुसार प्रबंध करने की आजादी मिल गई। जहां तक बेचारे शुद्रों का संबंध है, वे निरंतर पैरों की जूतियां ही बने रहे। और उनके भी नीचे दूसरे लोग थे।

कभी-कभी निम्नतम जाति वाले मनुष्य ऊपर उठ जाते थे; यहाँ तक कि शुद्र राजा भी हुए हैं। लेकिन यह तो एक महापवाद है। बहुधा यह होता था कि कोई छोटी उपजाति अपने को सामाजिक व्यवस्था में प्रायः दो-एक पद ऊपर उठा लेती थी। नई-नई जातियां जब हिंदू

समाज में मिलाई जातीं थीं तब निम्नतर जाति में उनकी गणना की जाती थी। धीरे-धीरे वे ऊपर उठती थीं।

इसलिए तुम देखोगी कि यद्यपि भारत में, योरप की तरह, श्रमोपजीवी दासों की कोई श्रेणी न थी, परंतु हमारी सामाजिक व्यवस्था क्रमगत थी—एक श्रेणी के ऊपर दूसरी श्रेणी। लाखो-करोड़ों आदमियों को, जो सब से नीचे थे, ऊपरवाले अपने स्वार्थ के लिए चूसते थे। निम्न जातियों को उच्च जातियों का बोझ संभालना पड़ता था। उच्च जातिवाले इसी व्यवस्था को चिर-स्थायी बनाए रखने के लिए सदैव सतर्क रहते थे। इस उद्देश से कि उनके हाथ से शक्ति निकलने न पाए, उच्च श्रेणी के लोगों ने बेचारे ग़रीबों को, जो सामाजिक विधान में निम्नतम माने जाते थे, शिक्षा प्राप्त करने के सब साधनों से वंचित कर रक्खा था। ग्राम-संघों में, संभवतः, किसानों को कुछ-कुछ अधिकार प्राप्त थे। शायद उनकी उपेक्षा करना असंभव था। लेकिन यह बहुत संभव है कि इने-गिने चतुर ब्राह्मण इन पंचायतों पर भी अपनी धाक जमाए रहते थे।

प्राचीन आर्य्य शासन-पद्धति—राजनीति—उन दिनों से लेकर, जब आर्य्य भारतवर्ष में आए और उनका द्रविडों से संस्पर्श हुआ, मध्य युग तक, जिसका इस समय हम उल्लेख कर रहे हैं, निरंतर जारी रही। लेकिन समय की गति के साथ-साथ यह पद्धति, मालूम होता है, क्रमशः अधःपतित और दोषपूरित होती गई। संभव है, वह वृद्ध हो चली थी। संभव है, बार-बार के विदेशी हमलों ने उसे धीरे-धीरे क्षीण और जर्जर बना दिया था।

शायद यह बात तुम्हें रोचक जान पड़े कि प्राचीन काल में भारतवर्ष का गणित-शास्त्र में बड़ा नाम था, और इस शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वानों में एक विदुषी—लीलावती—की भी गणना होती है। यह कहा जाता है कि लीलावती तथा उसके पिता, भास्कराचार्य, और संभवतः ब्रह्मगुप्त-नामक एक दूसरे व्यक्ति ने दशमलव-प्रणाली का पहले-पहल आविष्कार किया। बीजगणित का जन्म-स्थान भी भारतवर्ष ही कहा जाता है। भारत से वह अरब देश और वहां से योरप पहुंचा। अंग्रेज़ी में बीजगणित को "एलजेबरा" कहते हैं। "एलजेबरा" शब्द अरबी भाषा के एक शब्द से बना है।

(४६)

वैभवशाली अंगकोर और श्रीविजय

मई १७, १९३२

आओ, हम अब बृहत्तर भारत—मलयेशिया और हिंदी चीन में दक्षिणी भारतीयों के उपनिवेशों और बस्तियों—की संक्षिप्त यात्रा को चलें। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि किस प्रकार ये बस्तियाँ विचार-पूर्वक संघटित और आबाद की गई थीं*। वे अनायास ही, येन-केन प्रकारेण, नहीं बस गई थीं। उन दिनों भारत के निवासी प्रायः समुद्र-यात्राएँ करते रहे होंगे, और भारतीय नाविक समुद्र पर जहाज़ चलाने में काफ़ी निपुण हो गए होंगे। तभी तो अनेक स्थानों में एक ही समय पर अनेक उपनिवेश बसाए जा सके। मैंने तुम्हें बताया है कि ईसवी संवत् की पहली और दूसरी सदियों में पहले-पहल इन उपनिवेशों का आरंभ हुआ था। वे दक्षिणी भारत के हिंदू उपनिवेश थे। कुछ शताब्दियों के बाद भारत से उनमें बौद्ध धर्म्म धीरे-धीरे फैलने लगा, और वह यहां तक फैला कि प्रायः समस्त हिंदू-मतावलंबी मलयेशिया बौद्ध हो गया।

आओ, पहले हिंदी चीन को चलें। सबसे प्रथम उपनिवेश का नाम चंपा था। वह अनम देश में था। यहां पर हम तीसरी सदी में पांडुरंगम्-नामक नगर को बढ़ता हुआ देखते हैं। इसके दो सौ वर्ष बाद कंबोज का महानगर फलने-फूलने लगा। उसमें बड़े-बड़े प्रासाद और पत्थर के मंदिर थे। इन सबी भारतीय उपनिवेशों में तुम विशाल प्रासादों को निर्मित होते देखोगी। शिल्पियों और निपुण निर्माताओं को समुद्र-पार भारत से अवश्य ही वहां ले गए होंगे। वहां पर जो इमारतें उन्होंने बनाईं, उनमें भारतीय शिल्प-शैली का अनुसरण उन्होंने किया। विभिन्न राष्ट्रों और द्वीपों में, शिल्प के विषय में, बहुत होड़ा-होड़ी थी। इस पारस्परिक स्पर्धा के कारण, उन प्रदेशों में उच्च कोटि की कला का विकास हुआ।

इन बस्तियों के निवासी, स्वभावतः, समुद्र-यात्री होते थे। वे या उनके पूर्वज समुद्र को पार कर इन देशों में पहुँचे थे, और उनके चारों ओर समुद्र ही समुद्र था। जो लोग समुद्र-यात्री होते हैं, वे बड़ी आसानी से व्यापार भी करने लगते हैं। अतएव, ये लोग व्यापारी और व्यवसायी बन गए। अपना माल वे समुद्र पार कर भिन्न-भिन्न द्वीपों को, पश्चिम में भारत और पूर्व में चीन को, ले जाते थे। ऐसी दशा में मलयेशिया के भिन्न राष्ट्रों का नियंत्रण, अधिकांश में, ये ही व्यापारी करने लगे। बहुधा इन राष्ट्रों में आपसी लड़ाई-झगड़े हुआ करते, घोर संग्राम छिड़ते और बड़ी संख्या में लोग मारे जाते थे। कभी-कभी हिंदू राष्ट्र बौद्ध राष्ट्र से भिड़ जाते थे। लेकिन उन दिनों जो लड़ाइयां हुईं उनमें से अधिकतर का असली कारण था व्यापारी लाग-

* पत्र नं० (३६) देखिए।

डांट; वैसे ही, जैसे अपने-अपने पक्के माल को खपाने के लिए मंडियों के पीछे आज दिन बड़ी-बड़ी शक्तियां आपस में लड़ा करती हैं।

लगभग तीन सौ साल तक—अर्थात् आठवीं सदी तक—हिंदी चीन में तीन हिंदू रियासतें थीं। नवीं शताब्दी में एक प्रतापी राजा उत्पन्न हुआ। उसका नाम जयवर्म्मन् था। उसने इन तीनों रियासतों को मिलाकर एक किया, और एक विशाल साम्राज्य की संस्थापना की। संभवतः वह बौद्ध था। उसने अंगकोर में अपनी राजधानी बनवाना आरंभ किया, जो उसके उत्तराधिकारी, यशोवर्म्मन्, के समय में बनकर तैयार हुई। कंबोडिया का यह साम्राज्य लगभग चार सौ वर्ष तक स्थायी रहा। साम्राज्यों की तुलना में, यह साम्राज्य भी गौरवपूर्ण और शक्तिशाली माना जाता था। अंगकोर थाम का राजनगर सभी पूर्वीय देशों में "वैभवशाली अंगकोर" के नाम से प्रसिद्ध था। उसके निकट अंगकोर वाट का विस्मयोत्पादक मंदिर था। १३वीं शताब्दी में कंबोडिया पर चारों ओर से हमले हुए। पूर्व से अनम-निवासियों ने हमला किया, और पश्चिम से आदिम निवासियों ने। उत्तर में शान जातिवालों को चीनियों ने दक्षिण की ओर खदेड़ भगाया था। बचाव का और कोई मार्ग न देखकर, उन्होंने कंबोडिया ही पर हमला कर दिया। आत्म-रक्षा में निरंतर लड़ते-लड़ते साम्राज्य निःशक्त हो गया। इस पर भी अंगकोर नगर पूर्वीय देशों में सब से अधिक वैभवशाली बना रहा। एक चीनी राजदूत ने, जो १२९७ ई० प० में कंबोडिया की राज सभा में गया था, अंगकोर के अद्भुत प्रासादों का फड़कता हुआ विवरण लिखा है।

लेकिन अनायास अंगकोर पर एक भीषण विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। १३०० ई० प० के लगभग मेकाङ नदी का मुहाना, कीचड़ के जमा हो जाने के कारण, भर गया। इसलिए नदी की धारा का समुद्र की ओर बहना असंभव हो गया और वह उलटी बहने लगी। इससे महानगर के आसपास के सारे प्रदेश में बाढ़ आ गई। उपजाऊ खेत, इसके कारण, निकम्मे दलदलों में परिवर्तित हो गए। नगर का विशाल जन-समुदाय भूखों मरने लगा। वहाँ उनका टिकना असंभव हो गया। वे उसे छोड़-छोड़कर दूसरे स्थानों में बसने लगे। इस तरह "वैभवशाली अंगकोर" ऊजाड़ हो गया। घने जंगल लग गए; और नगर के भूमिस्थल पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया। उसके अपूर्व प्रासादों में जंगली जानवरों ने कुछ दिनों के लिए अपना घर बनाया। लेकिन वे भी उनमें अधिक काल तक न टिक सके, क्योंकि कुछ समय के बाद जंगलों ने राज-प्रासादों को मिट्टी में मिला दिया। तब से वहां वन-देवता का निष्कंटक राज्य स्थापित हो गया।

इस दुर्घटना के बाद कंबोडिया का राष्ट्र अधिक दिनों तक न चल सका। धीरे-धीरे वह बिलकुल क्षीण हो गया। वह एक प्रांत-मात्र रह गया, जिस पर कभी स्याम और कभी अनम का शासन रहता था। लेकिन आज दिन भी अंगकोर वाट के विशाल मंदिर के भग्नावशेषों से उन दिनों की हमें कुछ-कुछ झलक मिलती है, जिन दिनों मंदिर के निकट एक वैभवशाली नगर खड़ा था, जहां दूर-दूर से व्यापारी अपने-अपने माल को लेकर आते थे और जहां से दूर-दूर देशों को उसके नागरिकों और कारीगरों का तैयार किया हुआ माल रवाना होता था।

(४६)

वैभवशाली अंगकोर और श्रीविजय

मई १७, १९३२

आओ, हम अब बृहत्तर भारत—मलयेशिया और हिंदी चीन में दाक्षिणी भारतीयों के उपनिवेशों और बास्तियों—की संक्षिप्त यात्रा को चलें। मैं तुम्हें पहले ही वता चुका हूँ कि किस प्रकार ये बस्तियाँ विचार-पूर्वक संघटित और आवाद की गई थीं*। वे अनायास ही, येन-केन प्रकारेण, नहीं वस गई थीं। उन दिनों भारत के निवासी प्रायः समुद्र-यात्राएँ करते रहे होगें, और भारतीय नाविक समुद्र पर जहाज़ चलाने में काफ़ी निपुण हो गए होंगे। तभी तो अनेक स्थानों में एक ही समय पर अनेक उपनिवेश वसाए जा सके। मैंने तुम्हें बताया है कि ईसवी संवत् की पहली और दूसरी सदियों में पहले-पहल इन उपनिवेशों का आरंभ हुआ था। वे दक्षिणी भारत के हिंदू उपनिवेश थे। कुछ शताब्दियों के बाद भारत से उनमें बौद्ध धर्म्म धीरे-धीरे फैलने लगा, और वह यहां तक फैला कि प्रायः समस्त हिंदू-मतावलंबी मलयेशिया बौद्ध हो गया।

आओ, पहले हिंदी चीन को चलें। सबसे प्रथम उपनिवेश का नाम चंपा था। वह अनम देश में था। यहां पर हम तीसरी सदी में पांडुरंगम्-नामक नगर को बढ़ता हुआ देखते हैं। इसके दो सौ वर्ष वाद कंबोज का महानगर फलने-फूलने लगा। उसमें बड़े-बड़े प्रासाद और पत्थर के मंदिर थे। इन सवी भारतीय उपनिवेशों में तुम विशाल प्रासादों को निर्मित होते देखोगी। शिल्पियों और निपुण निर्माताओं को समुद्र-पार भारत से अवश्य ही वहां ले गए होंगे। वहां पर जो इमारतें उन्होंने बनाईं, उनमें भारतीय शिल्प-शैली का अनुसरण उन्होंने किया। विभिन्न राष्ट्रों और द्वीपों में, शिल्प के विषय में, बहुत होड़ा-होड़ी थी। इस पारस्परिक स्पर्धा के कारण, उन प्रदेशों में उच्च कोटि की कला का विकास हुआ।

इन बस्तियों के निवासी, स्वभावतः, समुद्र-यात्री होते थे। वे या उनके पूर्वज समुद्र को पार कर इन देशों में पहुँचे थे, और उनके चारों ओर समुद्र ही समुद्र था। जो लोग समुद्र-यात्री होते हैं, वे बड़ी आसानी से व्यापार भी करने लगते हैं। अतएव, ये लोग व्यापारी और व्यवसायी वन गए। अपना माल वे समुद्र पार कर भिन्न-भिन्न द्वीपों को, पश्चिम में भारत और पूर्व में चीन को, ले जाते थे। ऐसी दशा में मलयेशिया के भिन्न राष्ट्रों का नियंत्रण, अधिकांश में, ये ही व्यापारी करने लगे। बहुधा इन राष्ट्रों में आपसी लड़ाई-झगड़े हुआ करते, घोर संग्राम छिड़ते और बड़ी संख्या में लोग मारे जाते थे। कभी-कभी हिंदू राष्ट्र बौद्ध राष्ट्र से भिड़ जाते थे। लेकिन उन दिनों जो लड़ाइयां हुईं उनमें से अधिकतर का असली कारण था व्यापारी लाग-

* पत्र नं० (३६) देखिए।

डांट; वैसे ही, जैसे अपने-अपने पक्के माल को खपाने के लिए मंडियों के पीछे आज दिन बड़ी-बड़ी शक्तियां आपस में लड़ा करती हैं।

लगभग तीन सौ साल तक—अर्थात् आठवीं सदी तक—हिंदी चीन में तीन हिंदू रियासतें थीं। नवीं शताब्दी में एक प्रतापी राजा उत्पन्न हुआ। उसका नाम जयवर्म्मन् था। उसने इन तीनों रियासतों को मिलाकर एक किया, और एक विशाल साम्राज्य की संस्थापना की। संभवतः, वह बौद्ध था। उसने अंगकोर में अपनी राजधानी बनवाना आरंभ किया, जो उसके उत्तराधिकारी, यशोवर्म्मन्, के समय में बनकर तैयार हुई। कंबोडिया का यह साम्राज्य लगभग चार सौ वर्ष तक स्थायी रहा। साम्राज्यों की तुलना में, यह साम्राज्य भी गौरवपूर्ण और शक्तिशाली माना जाता था। अंगकोर थाम का राजनगर सभी पूर्वीय देशों में "वैभवशाली अंगकोर" के नाम से प्रसिद्ध था। उसके निकट अंगकोर वाट का विस्मयोत्पादक मंदिर था। १३वीं शताब्दी में कंबोडिया पर चारों ओर से हमले हुए। पूर्व से अनम-निवासियों ने हमला किया, और पश्चिम से आदिम निवासियों ने। उत्तर में शान जातिवालों को चीनियों ने दक्षिण की ओर खदेड़ भगाया था। बचाव का और कोई मार्ग न देखकर, उन्होंने कंबोडिया ही पर हमला कर दिया। आत्म-रक्षा में निरंतर लड़ते-लड़ते साम्राज्य निःशक्त हो गया। इस पर भी अंगकोर नगर पूर्वीय देशों में सब से अधिक वैभवशाली बना रहा। एक चीनी राजदूत ने, जो १२९७ ई० प० में कंबोडिया की राज सभा में गया था, अंगकोर के अद्भुत प्रासादों का फड़कता हुआ विवरण लिखा है।

लेकिन अनायास अंगकोर पर एक भीषण विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। १३०० ई० प० के लगभग मेकाङ नदी का मुहाना, कीचड़ के जमा हो जाने के कारण, भर गया। इस लिए नदी की धारा का समुद्र की ओर बहना असंभव हो गया और वह उलटी बहने लगी। इससे महानगर के आसपास के सारे प्रदेश में बाढ़ आ गई। उपजाऊ खेत, इसके कारण, निकम्मे दलदलों में परिवर्तित हो गए। नगर का विशाल जन-समुदाय भूखों मरने लगा। वहाँ उनका टिकना असंभव हो गया। वे उसे छोड़-छोड़कर दूसरे स्थानों में बसने लगे। इस तरह "वैभवशाली अंगकोर" ऊजाड़ हो गया। घने जंगल लग गए; और नगर के भूमिस्थल पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया। उसके अपूर्व प्रासादों में जंगली जानवरों ने कुछ दिनों के लिए अपना घर बनाया। लेकिन वे भी उनमें अधिक काल तक न टिक सके, क्योंकि कुछ समय के बाद जंगलों ने राज-प्रासादों को मिट्टी में मिला दिया। तब से वहां वन-देवता का निष्कंटक राज्य स्थापित हो गया।

इस दुर्घटना के बाद कंबोडिया का राष्ट्र अधिक दिनों तक न चल सका। धीरे-धीरे वह बिलकुल क्षीण हो गया। वह एक प्रांत-मात्र रह गया, जिस पर कभी स्याम और कभी अनम का शासन रहता था। लेकिन आज दिन भी अंगकोर वाट के विशाल मंदिर के भग्नावशेषों से उन दिनों की हमें कुछ-कुछ झलक मिलती है, जिन दिनों मंदिर के निकट एक वैभवशाली नगर खड़ा था, जहां दूर-दूर से व्यापारी अपने-अपने माल को लेकर आते थे और जहां से दूर-दूर देशों को उसके नागरिकों और कारीगरों का तैयार किया हुआ माल रवाना होता था।

हिंदी चीन से अनतिदूर, समुद्र के उस पार, सुमात्रा का द्वीप था। यहाँ पर भी दक्षिणी भारत के पल्लवों ने, पहली या दूसरी सदी ई० प० में, अपने प्राथमिक उपनिवेशों को स्थापित किया था। धीरे-धीरे ये उपनिवेश बढ़ते गए। मलय प्रायद्वीप बहुत पहले ही सुमात्रा के राष्ट्र का अंग बन गया था। इसके बहुत बाद तक सुमात्रा और मलय प्रायद्वीप के बीच घनिष्ठ संबंध रहा। राष्ट्र की राजधानी श्रीविजय के महानगर में थी, जो सुमात्रा की पर्वतमाला के मध्य में स्थित था। पालैवाङ नदी के मुहाने पर उसका बंदरगाह था। पाँचवीं या छठीं सदी के लगभग सुमात्रा में बौद्ध धर्म्म का सबसे अधिक जोर था। वास्तव में, सुमात्रा बौद्ध धर्म्म के प्रचार-कार्य्य में अग्रसर हुआ और अंत में हिंदू-मतावलंबी मलयेशिया को बौद्ध धर्म्म का अनुयायी बनाने में उसने सफलता प्राप्त की। इसीलिए सुमात्रा का साम्राज्य श्रीविजय के बौद्ध साम्राज्य के नाम से विख्यात है।

श्रीविजय का साम्राज्य अधिकाधिक बढ़ता गया। वह यहाँ तक बढ़ा कि उसके अंतर्गत न केवल सुमात्रा और मलय ही हो गए; किंतु बोर्नियो, फिलिपाइन, सैलबीज़, जावा के अधिकांश भाग, फारमोसा द्वीप (जो जापान के अधीन है) के आधे हिस्से, लंका और कैंटन नगर के पास चीनी बंदरगाह पर भी उसका आधिपत्य हो गया। संभवतः, लंका के सामने भारत की दक्षिणी नोक पर जो बंदरगाह है, वह भी श्रीविजय के राज्य में था। इस प्रकार तुम देखोगी कि वह एक बहुत ही सुविस्तृत साम्राज्य था, जो समस्त मलयेशिया में फैला था। इन भारतीय उपनिवेशों के प्रधान उद्योग-धंधे थे वाणिज्य-व्यापार और नौका-निर्माण। अरब लेखकों ने उन बंदरगाहों और नए उपनिवेशों की लंबी-लंबी फेहरिस्तें दी हैं, जो सुमात्रा के साम्राज्य के विजित में थे। ये तालिकाएँ बढ़ती ही चली गई हैं।

ब्रिटिश साम्राज्य आज दिन संसार भर में फैल रहा है। सब जगह उसके बंदरगाह और (जहाज़ों के लिए) कोयले के अड्डे हैं, जैसे जिबरालटर, स्वेज़-नहर (जो अधिकतर ब्रिटिश नियंत्रण में हैं), अदन, कोलंबो, सिंगापुर, हाँग काँग, आदि, आदि। विगत तीन सौ वर्षों से ब्रिटिश जाति व्यापारियों की जाति हो गई है, और उनका बल और व्यापार नाविक शक्ति का आश्रित रहा है। अतएव, उन्हें बंदरगाहों और कोयले के अड्डों के लिए संसार के सभी भागों में सुविधाजनक स्थानों की आवश्यकता पड़ी। श्रीविजय-साम्राज्य भी व्यापार पर आश्रित एक नौ-शक्ति थी। अतएव, जहां कहीं पैर रखने को उसे जगह मिली, वहीं पर तुम उसके बंदरगाह पाओगी। सुमात्रा के साम्राज्य के अड्डों की उल्लेखनीय विशेषता थी उनका युद्ध-संबंधी महत्व। अर्थात्, वे बहुत विचारपूर्वक ऐसे स्थानों में बसाए गए थे, जहाँ से पड़ोसी समुद्रों का नियंत्रण किया जा सकता था। प्रायः बस्तियां जोड़ों में बसाई जाती थीं, ताकि वे समुद्रों पर अपने आधिपत्य को अक्षुण्ण बनाए रखने में एक दूसरे की मदद कर सकें।

उदाहरणार्थ, सिंगापुर—जो आज भी एक बड़ा नगर है—वास्तव में सुमात्रा के उपनिवेशकों की बस्ती थी। उसका नाम—सिंहपुर—तुम देखती हो, ठेठ भारतीय नाम है। मलय-जल-डमरूमध्य के दूसरे तट पर, ठीक सिंगापुर के सामने, सुमात्रावालों की एक दूसरी बस्ती थी। कभी-कभी वे जलडमरूमध्य के एक तट से दूसरे तट तक लोहे की जंजीर डाल देते थे और

दूसरों के जहाज़ों का तब तक के लिए आना-जाना रोक देते थे जब तक चुंगी की भारी रक़में न अदा कर दी जाती थीं।

इस दृष्टि से श्रीविजय का साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्य ही के ढंग का एक साम्राज्य था। यह ठीक है कि वह विस्तार में बहुत छोटा था। लेकिन जितने दिनों तक ब्रिटिश साम्राज्य के चलने की संभावना है, उससे कहीं अधिक दिनों तक वह स्थायी रहा। उसका चरम विकास ग्यारहवीं सदी में हुआ—ठीक उन्हीं दिनों, जब चोला साम्राज्य अपनी उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर था। लेकिन श्रीविजय का साम्राज्य चोला साम्राज्य के अस्त होजाने के बाद भी बहुत समय तक बना रहा। चोला और श्रीविजय के साम्राज्यों के पारस्परिक संबंध का पता लगाना रोचक होगा। दोनों ही उग्र और समुद्र-गामी थे। दोनों अपने-अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रयत्नशील थे। दोनों के पास शक्तिशालिनी नौ-सेनाएँ थीं, और दोनों व्यापार-वाणिज्य में प्रवृत्त रहते थे। अतएव, दोनों का अनेक बार संस्पर्श हुआ होगा। लेकिन यह संस्पर्श मित्रों का संस्पर्श था या शत्रुओं का, मुझे नहीं मालूम। संभवतः, इसका उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिल सकता है।

ग्यारहवीं सदी के आरंभ में, चीनी सम्राट् ने सुमात्रा के सम्राट् को तांबे के घंटे उपहार में भेजे। बदले में, सुमात्रा के सम्राट् ने हाथी-दांत, मोती और संस्कृत के ग्रंथ चीन के सम्राट् को भेंट दिए। इसके साथ सुवर्ण-पत्र पर अंकित एक पत्र भी भेजा गया था। कहते हैं कि यह भारतीय अक्षरों में लिखा था। मुझे नहीं मालूम कि ये अक्षर देवनागरी अक्षर थे अथवा किसी द्राविड़ भाषा के। संभवतः पत्र की भाषा संस्कृत या पाली रही हो।

श्रीविजय बहुत काफ़ी दिनों तक स्थायी रहा—दूसरी सदी के आरंभ से पाँचवीं या छठीं शताब्दी तक, जब वह बौद्ध मत का अनुयायी हो गया। इसके बाद ग्यारहवीं सदी तक उसकी क्रमिक और अविरल वृद्धि होती गई। तत्पश्चात् मलयेशिया के वाणिज्य-व्यवसाय को नियंत्रित करता हुआ वह एक विशाल साम्राज्य के पद पर आसीन रहा। १३७७ ई० प० में वह समूल नष्ट हो गया।

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि श्रीविजय का साम्राज्य लंका से चीन के कैंटन नगर तक फैला हुआ था। इन दोनों के मध्य में जो टापू थे, उनमें से अधिकांश उसी के अधीन थे। लेकिन वह एक छोटे-से टुकड़े पर अपना अधिकार न जमा सका। यह था जावा-द्वीप का पूर्वीय भाग, जो स्वतंत्र राज्य ही बना रहा। इसने हिंदू-धर्म को छोड़कर बौद्धमत को ग्रहण करने से इनकार कर दिया। जावा-द्वीप का पश्चिमी भाग श्रीविजय के अधीन था; पूर्वीय जावा स्वाधीन बना रहा। पूर्वीय जावा का हिंदू राष्ट्र भी व्यापारी राष्ट्र था, और वाणिज्य-व्यवसाय ही की उन्नति पर उसकी समृद्धि निर्भर थी। वह सिंगापूर की ओर ललचाई आँखों से देखा करता होगा, क्योंकि अपनी अनुपम स्थिति के कारण यह व्यापार का एक बहुत बड़ा केंद्र हो गया था। ऐसी दशा में श्रीविजय और जावा में लाग-डाँट रहती थी, और यह बढ़ते-बढ़ते घोर वैमनस्य में परिणत हो गई। बारहवीं सदी से जावा श्रीविजय के साम्राज्य के आश्रित भागों पर धीरे-धीरे अधिकार जमाता हुआ बढ़ने लगा; और, जैसा मैं कह चुका हूँ, चौदहवीं सदी, १३७७ ई० पू०, में उसने श्रीविजय को पूर्ण रूप से परास्त कर दिया। यह संग्राम बहुत ही

क्रूरता-पूर्ण और विनाशकारी था। श्रीविजय और सिंगापुर के नगर विध्वंस कर दिए गए। इस प्रकार मलयेशिया के साम्राज्यों में से द्वितीय—श्रीविजय के—साम्राज्य का अंत हो गया। उसके खंडहरों पर तीसरे, अर्थात् मद्जापहित के, साम्राज्य का उत्थान हुआ।

श्रीविजय के साथ लड़ाई में पूर्वीय जावावालों ने जो क्रूरता और बर्बरता दिखाई, उस सब के होते हुए भी, ऐसा मालूम होता है कि इस हिंदू राष्ट्र में उत्कृष्ट कोटि की सभ्यता विद्यमान थी। जावा में हमें इस काल के अनेक ग्रंथ मिलते हैं। लेकिन उसने, और बातों की अपेक्षा, शिल्प—विशेषकर मंदिरों के निर्माण—में, अपूर्व उन्नति की थी। वहाँ पाँच सौ से अधिक मंदिर थे। कहा जाता है कि इनमें से कुछ तो बहुत ही अद्भुत हैं। संसार में प्रस्तर-शिल्प के जो सर्वश्रेष्ठ और उच्च भावमय नमूने हैं, उनमें जावा के कतिपय विशिष्ट मंदिरों की भी गिनती होती है। इन अनुपम मंदिरों में अधिकांश की रचना सातवीं सदी के मध्य से दसवीं शताब्दी के मध्य तक, अर्थात् ६५० और ६५० ई० प० के बीच में, हुई थी। जावावालों ने भारत और पड़ोस के देशों से बहुत-से शिल्पकार और चतुर कारीगर इन विशाल मंदिरों के बनवाने में सहायता करने के लिए बुलाए होंगे। मैं जावा और मद्जापहित के उत्कर्ष और अपकर्ष का वृत्तांत आगे किसी पत्र में लिखूँगा।

यहाँ पर मैं यह कह दूँ कि इन आदिकालीन पल्लव उपनिवेशों की सहायता से, बोर्निओ और फिलीपाईन दोनों ही ने भारत से लेखन-कला सीखी। फिलीपाइन की अनेक प्राचीन पांडु-लिपियों को, दुर्भाग्यवश, स्पेनवालों ने नष्ट कर डाला।

यह भी याद रक्खो कि बहुत प्राचीन काल से, इस्लाम के अभ्युदय के बहुत पूर्व से, इन द्वीपों में अरबों के उपनिवेश विद्यमान थे। ये अरब बड़े व्यापारी होते थे। जहाँ कहीं भी व्यापार होता था, वहीं अरब-निवासी पहुँच जाते थे।

(४७)

रोम में फिर अंधकार

मई १६, १९३२

मैं बहुधा यह अनुभव करता हूँ कि तुम्हें विगत युगों के इतिहास की भूलभुलैया की सैर कराने के लिए मैं बिलकुल ही अयोग्य पथप्रदर्शक हूँ। मैं स्वयं भटक जाता हूँ। तो फिर मैं कैसे तुम्हें ठीक-ठीक मार्ग से ले जा सकता हूँ? लेकिन फिर मैं सोचता हूँ कि शायद मैं तुम्हें कुछ सहायता दे सकूँ। इसीलिए मैं इन पत्रों को लिखता जाता हूँ। मुझे तो, वास्तव में, इन पत्रों से बड़ी सहायता मिलती है। जब मैं इन्हें लिखता और, प्यारी बेटी, तुम्हारी याद करता हूँ तब मैं भूल जाता हूँ कि उस स्थान का, जहाँ मैं बैठता हूँ, छाया में तापमान ११२ डिगरी है, या गर्म लू चल रही है। और कभी-कभी तो मैं यह भी भूल जाता हूँ कि मैं बरेली के डिस्ट्रिक्ट जेल में हूँ।

मेरे पिछले पत्र ने मलयेशिया की कहानी चौदहवीं सदी के अंत तक पहुँचा दी थी। लेकिन अभी तक उत्तरीय भारत में हम सम्राट् हर्ष के समय—सातवीं सदी—के आगे नहीं बढ़ पाए हैं। योरप में तो हम बहुत ज्यादा पिछड़ गए हैं। सब देशों के विषय में समान कालक्रम के अनुसार घटनाओं का वर्णन करना बहुत कठिन है। ऐसा करने की मैं चेष्टा तो करता हूँ, लेकिन कभी-कभी, जैसे अंगकोर और श्रीविजय के संबंध में, मैं कई सौ वर्ष आगे भी बढ़ जाता हूँ, जिसमें मैं उनकी पूरी कथा कह दूँ। लेकिन याद रखना कि जिस समय कंबोडिया और श्रीविजय के साम्राज्य फल-फूल रहे थे, तब भारत, चीन और योरप में तरह-तरह के परिवर्तनों की धूम मची थी। यह भी याद रखना कि मेरा पिछला पत्र थोड़े से पृष्ठों में हिंदी चीन और मलयेशिया के एक हजार वर्ष के इतिहास को निपटा देता है। एशियाई और योरपीय इतिहास की प्रमुख धाराओं से इन देशों का कुछ भी संबंध न था। इसलिए लोगों को अब उनका बहुत कम ध्यान है। लेकिन उनका इतिहास लंबा और रोचक घटनाओं से परिपूर्ण है। सफल पराक्रम, वाणिज्य-व्यवसाय, कला—विशेष रूप से शिल्प कला—की दृष्टि से उनका इतिहास महत्त्वपूर्ण और चिरस्मरणीय है। उसका अनुशीलन करना चाहिए। भारतीयों के लिए तो उनकी कथा विशेष रूप से चित्ताकर्षक होनी चाहिए, क्योंकि वे तो एक तरह से भारत ही के अंग थे। भारत के निवासी ही पूर्वीय समुद्रों को पार कर वहाँ पहुँचे और अपने साथ भारतीय संस्कृति, सभ्यता, कला और धर्म्म को लेते गए थे।

अतएव, यद्यपि हम मलयेशिया में बहुत आगे बढ़ गए हैं, तथापि अभी हम सातवीं सदी ही में हैं। अभी हमें अरब देश की यात्रा करनी पड़ेगी। वहाँ इस्लाम के अभ्युदय तथा उस अभ्युदय के कारण योरप और एशिया में जो बड़े-बड़े परिवर्तन हुए उनका विचार हमें करना है। योरप में भी अभी हमें घटना-क्रम का अनुसरण करना है।

आओ, योरप पर एक और नज़र डालें; और इस उद्देश से पीछे लौट चलें। तुम्हें याद होगा कि कानस्टैंटाइन-नामक रोमन सम्राट् ने वास्फरस-जलडमरूमध्य के योरपीय तट पर, बिजैंटियम नगर के पास, कानस्टैंटिनोपल को वसाया था। वह अपनी राजधानी को पुराने रोम से हटाकर, इस नए नगर, नवीन रोम, में ले गया। इस घटना के थोड़े ही दिनों वाद, रोमन साम्राज्य के दो टुकड़े हो गए—पश्चिमी साम्राज्य, जिसकी राजधानी रोम में थी, और पूर्वीय साम्राज्य, जिसकी राजधानी कानस्टैंटिनोपल में थो। पूर्वीय साम्राज्य को वहुत-सी कठिनाइओं का सामना करना पड़ा, और उसके शत्रु भी वहुत थे। लेकिन कहते अचरज होता है कि इस सबके होते हुए भी वह ग्यारह सदियों तक, शताब्दो के वाद शताब्दी को पार करता, जीवित वना रहा। अंत में तुर्कों ने उसका अंत कर दिया।

पश्चिमी सामाज्य का जीवन-क्रम इस पूर्वीय साम्राज्य की जीवन-लीला से भिन्न था। रोमन नाम के प्रताप और रोम के चक्रवर्ती नगर की—जिसने इतने अधिक काल तक पश्चिमी जगत् पर धाक जमा रक्खी थी—महिमा के होते हुए भी, उसका बड़ा तेजी के साथ विनाश हुआ। किसी भी उत्तरीय जाति के आक्रमणों का वह सामना न कर सका। ४१० ई० प० में ऐलरिक, जो गाथ जाति का नेता था, इटली में सेना-सहित आ धमका, और रोम पर उसने अधिकार जमा लिया। वाद में, वैंडाल आए, जिन्होंने रोम को लूटा। वैंडाल जर्मन जाति के थे। फ्रांस और स्पेन को पार कर, वे अफ्रीका में पहुँचे और वहाँ उन्होंने कारथैज के भग्नावशेषों पर एक नवीन राज्य स्थापित किया। प्राचीन कारथैज से समुद्र पार कर उन्होंने रोम पर क़ब्जा कर लिया। मानो, वैंडालों ने इस आक्रमण द्वारा रोम से वहुत दिनों वाद प्युनिक युद्ध का वदला-सा लिया।

इसी समय के आसपास हूण, जिनका आदिस्थान मध्य एशिया या मंगोलिया था, शक्तिशाली हो गए। ये लोग वनचर थे; और डैन्यूब नदी के पूर्व में और पूर्वीय रोमन साम्राज्य के पश्चिम में बस गए थे। अपने सरदार, ऐटिला, के नेतृत्व में उन लोगों ने बड़ा उग्र रूप धारण कर लिया। कानस्टैंटिनोपल की सरकार और सम्राट् उनके भय से वरावर कांपा करते थे। ऐटिला उन्हें धमकाया करता और उनसे वड़ी-वड़ी रक़में वसूल करता था। पूर्वीय रोमन साम्राज्य को इस तरह अपमानित करने के वाद, ऐटिला ने पश्चिमी साम्राज्य पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसने गाल-नामक प्रांत पर हमला किया और दक्षिणी फ्रांस के अनेक नगरों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। शाही फौजें उससे मोर्चा नहीं ले सकतीं थीं, लेकिन हूणों के इस आक्रमण से जर्मन जातियाँ, जिन्हें रोमन "वर्वर" कहते थे, घवड़ा उठीं। इस तरह फ्रैंक और गाथ जातियों के सैनिक शाही फौज के साथ होगए और तीनों का संमिलित दल, ट्राय के घमासान युद्ध में, ऐटिला और उसके अनुगामी हूणों पर टूट पड़ा। कहा जाता है कि १ लाख और ५० हज़ार योद्धा इस लड़ाई में काम आए। ऐटिला परास्त हो गया, और मंगोल जाति के हूण पीछे खदेड़ दिए गए। यह ४५१ ई० प० में हुआ। लेकिन ऐटिला पराजित होकर भी लड़ने के लिए ताल ठोकता रहा। उसने फिर इटली पर धावा किया और उस देश के उत्तरीय भाग के वहुत-से नगरों को लूटा और जलाया। इसके थोड़े

दिनों बाद वह चल बसा, लेकिन अपने पीछे क्रूरता और नृशंसता की चिरस्थायी अपकीर्ति छोड़ गया। आज दिन भी हूण ऐटिला नृशंस विनाश का प्रायः साकार स्वरूप माना जाता है। उसकी मृत्यु के बाद, हूण ठंडे पड़ गए और शांतिपूर्वक बसने लगे। अन्य अनेक जातियों के साथ उनका संमिश्रण होता गया और अंत में वे उन्हीं में खप गए। तुम्हें शायद याद हो कि भारत में भी श्वेत हूण लगभग इन्हीं दिनों आए थे।

चालीस साल बाद थियोडेरिक-नामक गाथ रोम का राजा हुआ। इसी के शासन-काल से पश्चिमी रोमन साम्राज्य का प्रायः अंत होने लगा। कुछ दिनों बाद पूर्वीय रोमन साम्राज्य के सम्राट्, जस्टीनियन, ने इटली को अपने राज्य में मिलाने का सफल प्रयत्न किया। उसने इटली और सिसली दोनों ही को जीत लिया। लेकिन थोड़े ही समय में वे दोनों फिर स्वतंत्र हो गए। इधर पूर्वीय साम्राज्य को अपनी ही जान बचाने की पड़ी थी।

क्या यह विचित्र बात नहीं है कि प्रायः जिस किसी जाति ने रोम पर हमला करने की ठान ली उसीके मुक़ाबले में शाही रोम और उसका साम्राज्य इतनी जल्दी और इतनी आसानी से पराजित हो जाता था। ऐसा मालूम होता है कि या तो रोम के अंजड़-पंजड़ ढीले हो गए थे या वह बिलकुल ही खोखला हो गया था। शायद यही बात ठीक रही हो। बहुत दिनों तक तो रोम अपनी धाक के कारण शक्तिशाली बना रहा। उसके प्राचीन इतिहास को देख कर लोग यह समझते थे कि वही संसार का अधिनेता है। इस कारण वे उसका आदर-सत्कार करते और उससे बेतरह डरते थे। इस तरह रोम ऊपर से तो एक साम्राज्य का शक्तिशाली महाप्रभू बना रहा, लेकिन, वास्तव में, वह निस्तेज और शक्तिहीन हो चुका था। उसके राज्य में ऊपर से तो शांति दिखाई देती थी, और उसके थिएटर, बाज़ार और खेल-तमाशों के अड्डे आदमियों से खचाखच भरे रहते थे; लेकिन वह निस्संदेह और अनिवार्य रूप से विनाश की ओर बढ़ रहा था। न सिर्फ इसलिए कि वह कमज़ोर था, बल्कि इसलिए कि उसने जनता के दुःख-दैन्य और दासत्व पर धनिकों की सभ्यता का महल खड़ा किया था। मैंने तुम्हें अपने एक पत्र में ग़रीबों के विद्रोह का हाल बताया था और दासों के उस महाविद्रोह की भी बात कही थी, जो बड़ी नृशंसता के साथ कुचल दिया गया था। इन बलवों से हमें पता चलता है कि रोम का सामाजिक संघटन कितना सड़ा-गला था। वह आप ही छिन्न-भिन्न हो रहा था। उत्तर से गाथ और दूसरी जातियों के हमलों ने इस विनाश-क्रम को मदद पहुँचाई; इसीलिए उन्हें विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। रोमन किसान मुसीबतों को सहते-सहते पक उठे थे। वे हर तरह के परिवर्तन का स्वागत करने को उत्सुक थे। ग़रीब मजदूर और दासों की दशा तो इनसे भी अधिक शोचनीय थी।

पश्चिमी रोमन साम्राज्य के अंत के साथ-साथ हमें पश्चिम की नई-नई जातियां आगे बढ़ती हुई दिखाई देती हैं। इनमें गाथ थे, फ्रैंक थे और दूसरी जातियाँ भी थीं, जिनके नाम बता कर मैं तुम्हें कष्ट नहीं देना चाहता। इन्हीं जातियों से पश्चिमी योरप की आधुनिक जातियाँ—जर्मन, फ्रैंच, आदि—उत्पन्न हुई हैं। हम इन देशों के व्यक्तित्व-विशेष को धीरे-धीरे विकसित होता देखते हैं। शाही रोम के विनाश के साथ रोम के ठाठ-बाट और उसकी

विलासिता का भी अंत हो गया। जो शिथली और निस्सार सभ्यता अभी तक रोम में चली आती थी, वह पल भर में विलीन हो गई। उसकी जड़ें तो बहुत पहले ही सूख गईं थीं। इस प्रकार हम अनेक विचित्र अवसरों में से एक ऐसे अवसर को प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं, जब मानव-जाति हमारी आँखों के सामने पीछे—अवनति की ओर—लौटने लगती है। यही बात भारत, मिस्र, चीन, ग्रीस, रोम और दूसरे देशों में भी हमें दिखाई देती है। बड़े परिश्रम से ज्ञान और अनुभूति बटोरने और एक प्रकार की सभ्यता और संस्कृति की रचना करने के बाद, सब काम स्थगित हो जाता है—जाति या देश अपने प्रयत्नों को रोक कर विराम करने लगता है। लोग सिर्फ़ विराम ही नहीं करने लगते हैं, किंतु प्रत्यावर्तन—पीछे की ओर लौटने—का आरंभ होजाता है। भूत का मुखड़ा घूँघट से ढक जाता है, और यद्यपि हमें उसकी झलक मिलती रहती है, परंतु ज्ञान और अनुभूति के शिखरों पर फिर से चढ़ने की आवश्यकता हो जाती है। जैसे गौरीशंकर—माउंट ऐवरैस्ट—की चढ़ाई लोग बार-बार करते हैं, वैसे ही मानव-जाति को संस्कृति के शृंगों की बार-बार चढ़ाई करनी पड़ती है। संभव है कि चढ़नेवाला हर बार पहले से अधिक ऊँचा चढ़ जाय और आगामी चढ़ाई को अधिक सुगम बना दे। प्रत्येक बार चढ़नेवाला पहले की अपेक्षा चोटी के अधिक निकट पहुँच जाता है। संभव है कि अनतिदूर भविष्य में सब से ऊँची चोटी पर मनुष्य को विजय प्राप्त हो जाय।

इस तरह, हम योरप को अंधकार में पाते हैं। तमोमय युग का आरंभ हुआ, और जीवन असभ्य और उद्धत हो गया। शिक्षा प्रायः उठ गई, और लड़ना ही एकमात्र पेशा हो गया। न सिर्फ़ यही एक धंधा रह गया, किंतु मनोरंजन का भी यही अकेला साधन माना जाने लगा। सुकरात और प्लेटो के दिन अब बहुत दूर मालूम होते थे।

इतना पश्चिमी योरप के संबंध में। आओ, पूर्वीय रोमन साम्राज्य पर भी एक नजर डाल लें। कानस्टैंटाइन ने, तुम्हें याद होगा, ईसाई मत को राजकीय धर्म्म बनाया था। उसके एक उत्तराधिकारी, सम्राट् जूलियन, ने ईसाई मत को अंगीकार करने से इनकार कर दिया। वह पुराने देवी-देवताओं की पूजा फिर से चलाना चाहता था। लेकिन वह सफल न हो सका। प्राचीन देवी-देवताओं के दिन बीत गए थे; और उनकी अपेक्षा ईसाई मत कहीं अधिक सबल सिद्ध हुआ। जूलियन को ईसाई धर्म्मभ्रष्ट जूलियन कहते थे। इसी उपाधि से वह इतिहास में प्रसिद्ध है।

जूलियन के थोड़े दिनों बाद एक दूसरा सम्राट् गद्दी पर बैठा, जो उससे बिलकुल ही भिन्न था। उसका नाम थियोडोसियस था। उसे लोग महान् कहते हैं। मेरा अनुमान है, यह नाम उसे शायद इसलिए दिया गया कि वह प्राचीन मंदिरों और देवी-देवताओं की पुरानी प्रतिमाओं को नष्ट-भ्रष्ट करने में महान् था। वह न केवल उन लोगों का प्रबल विरोधी था, जो ईसाई न थे; प्रत्युत उन ईसाईयों का भी घोर शत्रु था, जो उसकी दृष्टि में कट्टर ईसाई न थे। वह किसी धर्म्म या विचार के प्रति, जो उसे पसंद न हो, सदय व्यवहार नहीं करना चाहता था। थियोडोसियस ने थोड़े समय के लिए पूर्वीय और पश्चिमी रोमन साम्राज्यों को एक में मिलाया, और दोनों का वह सम्राट् रहा। यह ३९२ ई० प०, अर्थात् रोम पर बर्बर जातियों के आक्रमणों के पहले, की बात है।

ईसाई धर्म फैलता गया, परंतु अपने विरोधियों के कारण उसे कुछ भी संकट न झेलना पड़ा। जो भी संघर्ष हुए, वे सब ईसाई संप्रदायों ही के बीच हुए। उन्होंने जो असहिष्णुता दिखाई, उसका परिमाण विस्मयोत्पादक है। उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी एशिया और योरप में बहुत-से रण-क्षेत्र थे, जिनमें ईसाईयों ने घूंसे-मुक्कों और इसी तरह के अन्य साधु प्रयोगों द्वारा सद्धर्म्म में अपने भाइयों की श्रद्धा को जाग्रत कराने का प्रयत्न किया!

५२७ से ५६५ ई० प० तक जस्टीनियन ने कानस्टैंटिनोपल में राज्य किया। जैसा मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ, उसने इटली से गाथों को मार भगाया और कुछ दिनों के लिए इटली और सिसली पूर्वीय रोमन साम्राज्य में संमिलित रहे। पश्चात्, गाथों ने इटली पर फिर अधिकार कर लिया।

जस्टीनियन ने कानस्टैंटिनोपल में सैंक्टा सोफ़िया का सुंदर गिरजा बनवाया। यह आज दिन भी बिज़ैंटियन शैली का एक सर्वोत्तम गिरजा माना जाता है। इस सम्राट् ने साधिकारी स्मृतिज्ञों से तात्कालिक विधानों का संकलन और संपादन कराया। इसके बहुत पहले कि मुझे रोमन साम्राज्य और सम्राटों का कुछ भी हाल मालूम हो, 'जस्टीनियन के विधान'-नामक स्मृति-ग्रंथ से जस्टीनियन के नाम का मुझे पता था। मुझे इस ग्रंथ को पढ़ना पड़ा था। उसने कानस्टैंटिनोपल में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया, लेकिन उन ऐकैडेमियों या प्राचीन पाठशालाओं को, जिनमें एथेंस के दर्शन-शास्त्र पढ़ाए जाते थे, उसने बंद कर दिया। इन पाठशालाओं को प्लेटो ने स्थापित किया था। तब से एक हजार साल तक वे निरंतर जारी रहीं। जो भी धर्म या मत श्रद्धा का आश्रित है, उसके लिए दर्शन-शास्त्र भयंकर वस्तु है।

इस तरह हम ईसवी संवत् की छठी शताब्दी में पहुँच जाते हैं। हम रोम और कानस्टैंटिनोपल का एक दूसरे से धीरे-धीरे विलग होना देखते हैं। हम रोम पर जर्मन जातियों के अधिकार का जमना देखते हैं। यद्यपि ग्रीक साम्राज्य रोमन कहलाता था, हम कानस्टैंटिनोपल को उसका केंद्र हो जाना देखते हैं; और देखते हैं हम रोम का छिन्न-भिन्न होना। हम देखते हैं कि जिन जातियों को रोम अपने वैभव के दिनों में बर्बर कहता था, उन्होंने जब उसे जीत लिया तब वह उनकी निकृष्ट सभ्यता का अनुगामी बन गया। कानस्टैंटिनोपल एक प्रकार से पुरानी लकीर पीटता रहा, लेकिन वह भी सभ्यता की दृष्टि से बहुत गिर गया था। ईसाई संप्रदाय प्रभुता के लिए आपस में लड़-भिड़ रहे थे। जो पूर्वीय ईसाई संप्रदाय तुर्किस्तान, चीन और अबीसीनिया तक फैला हुआ था, उसका रोम और कानस्टैंटिनोपल दोनों से संबंध-विच्छेद हो गया था। इस समय तक उपर्युक्त सब बातें हो चुकी थीं। अब तमोयुग का आरंभ हुआ। अभी तक विद्याध्ययन का अर्थ माना जाता था प्राचीन, अर्थात् प्राचीन ग्रीक या लैटिन, वाङ्मय का अध्ययन। इस वाङ्मय के पंडितों को जो स्फूर्ति मिलती थी उसका श्रोत प्राचीन ग्रीस था। लेकिन प्राचीन ग्रीक ग्रंथों के प्रतिपाद्य विषय थे देवी-देवता और दार्शनिक विवेचन। इन आरंभिक दिनों के श्रद्धालु किंतु धर्म्मभीरु और पक्षपातपूर्ण ईसाई इस प्रकार के वाङ्मय को सर्वथा अनुपयोगी समझते थे। अतएव उनके अध्ययन को प्रोत्साहन देना बंद होगया। इससे विद्याध्ययन को बड़ा धक्का पहुँचा। अनेक प्रकार की कलाओं की भी उपेक्षा की जाने लगी।

लेकिन ईसाई मत ने भी कला और पांडित्य की रक्षा के लिए थोड़ा-बहुत उद्योग किया। बौद्ध संघों की तरह, ईसाई भिक्षुओं के विहार स्थापित किए गए। इन्हें "मोनैस्ट्री" कहते हैं। ये बहुत जल्द फैल गए। इन मोनेस्ट्रियों में प्रायः प्राचीन विद्या के अनुशीलन को आश्रय मिल जाता था। इन आश्रमों में उस नवीन कला का आविर्भाव हुआ, जो कई शताब्दियों के बीतने पर कुसुमित होने को थी। इन ईसाई साधु-संन्यासियों ने विद्या और कला को दीपक की तरह मंद-मंद जलाए रक्खा। उन्होंने जो सेवा की—और उसके द्वारा जो उपकार किया—उससे यह दीपक बुझने न पाया। लेकिन इस दीपक का प्रकाश संकुचित स्थान ही को आलोकित करता था; बाहर अंधकार ही अंधकार था।

ईसाई मत के इस आदि-काल में एक और विचित्र प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती थी। धर्म-प्रेरणा के वशीभूत होकर बहुत-से लोग जंगलों या निर्जन स्थानों में जाकर बस जाते और वहाँ जंगली जीवन बिताते थे। वे अपने को तरह-तरह के कष्ट देते, स्नान न करते और अपने को नाना प्रकार से पीड़ित करते थे। यह सब विशेष रूप से मिस्र में होता था, जहाँ इस तरह के बहुत-से ईसाई संन्यासी रहते थे। मालूम होता है कि उनकी यह धारणा थी कि जितना ही अधिक कष्ट वे भोगेंगे, और यदा-कदा स्नान करने के कारण जितने अधिक वे मैले-कुचले रहेंगे, उतने ही अधिक पवित्र वे होते जाएँगे। एक संन्यासी तो कई वर्षों तक एक खंभे के ऊपर बैठा रहा! धीरे-धीरे इस प्रकार के संन्यासियों का अंत हो गया, लेकिन बहुत दिनों तक धर्म्मभीरु ईसाइयों की यह धारणा बनी रही कि किसी वस्तु का भोग पाप करने के समान है। आत्म-पीड़न के इस भाव से ईसाई दृष्टि-कोण रंग गया था। आज दिन योरप में यह धारणा बहुत कम दिखाई देती है। आज तो वहाँ जिसे देखो वही पागलों की तरह इधर-उधर भागता और सुखमय जीवन के उपभोग में निरत मालूम होता है।

लेकिन भारत में हमें आज दिन भी कभी-कभी ऐसे व्यक्ति दिखाई देते हैं, जो अब तक वैसे ही काम करते हैं जैसे मिस्र के ईसाई संन्यासी किया करते थे। उनमें से कई एक हाथ को रात-दिन उठाए रहते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि वह अंग सूख कर लकड़ी बन जाता और उसका हिलना-डुलना बंद हो जाता है। अथवा वे नोकदार कीलों पर बैठे रहते या इसी प्रकार की अन्य बहुत-सी अनोखी और निरर्थक बातें किया करते हैं। मेरा अनुमान है कि कुछ लोग तो इस तरह की बातें केवल इसी नीयत से करते हैं कि भोली-भाली जनता पर प्रभाव डालकर उससे रुपया ऐंठा जाय। कोई-कोई, संभवतः, ऐसा इसलिए किया करते हैं क्योंकि उनका यह विश्वास है कि ऐसा करने से वे अधिक पुण्यात्मा हो जाएँगे। मानो, अपने तन को समुचित कार्य्यों के संपादन के लिए असमर्थ बना लेना किसी अवस्था में भी वांछनीय हो सकता है!

मुझे बुद्ध की एक कहानी याद आ गई है। इसके लिए भी मुझे अपने पुराने मित्र, ह्युयान शाङ, का हवाला देना पड़ता है। बुद्ध का एक नवयुवक शिष्य तप कर रहा था। बुद्ध ने उससे पूछा, "हे भद्र! जब तुम गृहस्थ थे तब क्या तुम्हें वीणा बजाना आता था?" उसने उत्तर दिया, "हां, आता था।" बुद्ध ने कहा, "बहुत अच्छा। इस बात को लेकर

में तुम्हें एक तुलनात्मक उदाहरण सुनाऊंगा। उस वीणा के तार बहुत अधिक कस दिए गए थे, इसलिए उसका स्वर बिगड़ गया। जब तार अधिक ढीले कर दिए गए तब स्वरों में न तो लय रह गया और न आकर्षण। लेकिन जब तार न तो बहुत कसे और न बहुत ढीले थे तब लय और आकर्षण दोनों ही ठीक थे।" इसके आगे बुद्ध बोले, "यही हाल तन का भी है। यदि उसे कष्ट दिया जाता है, तो वह सुस्त होता जाता है और किसी बात में जी नहीं लगता; और यदि उसका बहुत ज्यादा लाड़-प्यार होता है तो मन चंचल और आत्म-संयम क्षीण हो जाता है।"

(४८)

इस्लाम का आगमन

मई २१, १९३२

हम अनेक देशों का इतिहास और बहुत-से राष्ट्रों और साम्राज्यों के उत्थान-पतन का निरीक्षण कर चुके हैं। लेकिन अरब देश के संबंध में, इस बात के अतिरिक्त कि यह एक देश था, जहाँ के नाविक और व्यापारी संसार के दूर दूर भूखंडों को जाया करते थे, अभी तक कोई ज़िक्र हमारी कहानी में नहीं आया है। नक़शे को देखो! अरब देश के पश्चिम में मिस्र है, उत्तर में सीरिया और ईराक़; इससे कुछ पूर्व में ईरान; और कुछ हटकर उत्तर-पश्चिम में एशिया-माइनर और कानस्टैंटिनोपल हैं। ग्रीस भी दूर नहीं है; और भारत भी समुद्र के दूसरे तट पर स्थित है। चीन और पूर्वतम देशों को छोड़कर, अरब देश प्राचीन सभ्यताओं की विस्तृत-सीमाओं के विचार से केंद्र में था। इराक़ में फ़रात (यूफ़्रैटीज़) और दजला (टाइग्रस) नदियों के तटों पर बड़े-बड़े नगर खड़े थे; मिस्र में एलैक्ज़ैंड्रिया था; सीरिया में दमिश्क; एशिया माइनर में ऐंटिओक। अरब-निवासी स्वभाव से यात्री और व्यापारी होते थे। वे अवश्य ही इन शहरों में बहुधा आते-जाते रहे होंगे। इस पर भी अरब देश ने इतिहास में अभी तक कोई उल्लेखनीय काम नहीं किया था। ऐसा नहीं मालूम होता है कि वहां पड़ोसी देशों की-सी उच्च कोटि की सभ्यता थी। न तो अरब ने दूसरे देशों को जीतने की चेष्टा की; और न उसीको जीतना किसी के लिए आसान था।

वह एक रेगिस्तान है। रेगिस्तानों और पहाड़ों में जो लोग पैदा होते हैं, उन्हें अपनी स्वाधीनता प्यारी होती है। वे आसानी से दबाए नहीं जा सकते। अरब धनी भी न था, और न वहाँ कोई ऐसी वस्तुएँ ही थीं, जो विदेशी विजेताओं और साम्राज्य-पंथियों को अपनी ओर आकृष्ट करतीं। वहाँ केवल दो छोटे-से शहर थे—मक्का और समुद्र के पास यथरिब। इनको छोड़कर, रेगिस्तान में कुछ बस्तियाँ थीं। देश के अधिकांश निवासी बद्दू—अर्थात् रेगिस्तान के रहनेवाले—थे, जिनके आठ पहर के साथी थे उनके तेज़ ऊँट और सुंदर घोड़े, तथा गदहे जो अपनी अपूर्व सहन-शक्ति के कारण बड़े अनमोल और सच्चे दोस्त माने जाते थे। दूसरे देशों की प्रथा के विपरीत, अरब में किसी की गदहे से तुलना करना प्रशंसात्मक, न कि निंदात्मक, समझा जाता था। क्योंकि मरुभूमि में जीवन कठोर होता है, और दूसरे स्थानों की अपेक्षा वहाँ बल और सहनशीलता का अधिक मोल है।

रेगिस्तान के ये निवासी अभिमानी, भावुक और युद्धप्रेमी थे। उनका संसार अपनी जाति-बिरादरी और परिवारों की संकीर्ण परिधि तक सीमित था। उनके कुनबे और कबीले आपस में प्रायः लड़ा करते थे। साल में एक बार जब वे मक्के के तीर्थस्थान को देवताओं के दर्शनार्थ जाते थे, उनमें मेल हो जाता था। वहाँ अरब-निवासियों के देवताओं की प्रतिमाएँ

थीं। इन मूर्तियों में कावा-नामक एक काला पाषाण था, जिसकी वे सबसे अधिक पूजा करते थे।

अरव-निवासियों का जीवन वनचर जातियों का जीवन था। कुलपति या जाति का सबसे वयोवृद्ध सरदार उनका शासन करता था। मध्य एशिया या दूसरे स्थानों की आदिम जातियाँ, नगरों में आकर सभ्य वन जाने के पूर्व, जिस तरह से रहा करती थीं, उसी प्रकार अरववाले भी रहते थे। इस देश के चारो ओर बड़े-बड़े साम्राज्यों का अभ्युदय हो चुका था। उनके विजित का अंग भी वह कई वार रह चुका था; लेकिन केवल नामचार के लिए वह उनकी अधीनता में रहा। उस पर उनका शासन यथार्थ में नहीं के वरावर समझना चाहिए। रेगिस्तान की वनचर जाति को वश में लाना या उस पर शासन करना कुछ खेल-तमाशा तो था नहीं।

एक वार, जैसा तुम्हें याद होगा, सीरिया-नामक देश के पैलमाइर-नामक स्थान में अरवों का एक छोटा-सा राज्य था। तीसरी शताब्दी ई० प० में कुछ समय के लिए उसका वड़ा नाम था। लेकिन यह भी असली अरव देश के वाहर की वात थी। अतएव वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी रेगिस्तानियों का-सा जीवन व्यतीत करते रहे। अरव के जहाज़ व्यापार करने के लिए दूसरे देशों में जाया करते थे; पर अरव स्वयं ज्यों का त्यों वना रहा, उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ लोग ईसाई हो गए, और कुछ ने यहूदी धर्म्म ग्रहण कर लिया। लेकिन उनमें से अधिकांश मक्के की तीन सौ साठ प्रतिमाओं और काले पत्थर ही के उपासक वने रहे।

यह एक विचित्र वात है कि जो अरव-निवासी सदियों तक सोते रहे और जिनका दुनिया के दूसरे हिस्सों में होनेवाली घटनाओं से, कम से कम देखने में, कुछ भी सरोकार नहीं रहा, वे ही एकाएक जाग पड़े और ऐसा अद्भुत पराक्रम दिखाने लगे कि संसार चकित और स्तंभित हो उठे। अरवों का कहानी—इसकी कथा कि कैसे वे लोग थोड़े ही समय में एशिया, योरप और अफ़्रीका में फैल गए, और उनकी उच्च संस्कृति और सभ्यता की कहानी—इतिहास का एक अचंभा है।

इस्लाम वह नवीन शक्ति या भाव था, जिसने अरवों को सोते से जगाया, और उनमें आत्म-विश्वास और पराक्रम की भावना भर दी। यह एक नवीन धर्म्म था, जिसका प्रवर्तन एक नए पैग़ंवर ने किया था। उनका नाम मुहम्मद था, जो ५७० ई० प० में मक्का में पैदा हुए। किसी नए धर्म को चलाने की उन्हें कोई उतावली न थी। उनका जीवन शांतिमय था। वह अपने नगर-निवासियों के स्नेह-भाजन और विश्वास-पात्र थे। वास्तव में, उन्हें लोग "अल-अमीन"—विश्वसनीय—कहते थे। लेकिन जव से उन्होंने अपने नए धर्म का प्रचार करना शुरू किया और विशेषकर जव से वह मक्के की मूर्तियों की पूजा का खंडन करने लगे, तव से चारो ओर से उनका घोर विरोध होने लगा। अंत में जान वचाकर उन्हें मक्का से भागना पड़ा। उन्होंने सव से अधिक इस वात पर ज़ोर दिया कि ईश्वर एक है; और अपने आपको उन्होंने ईश्वर का पैग़ंवर वताया।

अपने ही भाइयों द्वारा मक्के से निकाल दिए जाने पर वह यथरिब चले गए और वहीं अपने कुछ दोस्तों और सहायकों के आश्रय में रहने लगे। मक्के से इस पलायन को अरबी भाषा में हिजरत कहते हैं, और मुस्लिम संवत् इसी तिथि—६२२ ई० प०—से आरंभ होता है। हिजरी संवत् चांद्र संवत् है, अर्थात् उसकी तिथि-गणना चंद्रमा की गति के अनुसार होती है। अतएव जिस सौर संवत् को हम मानते हैं, उससे इस हिजरी संवत् में ५ या ६ दिन कम होते हैं। ऐसी दशा में हिजरी संवत् का एक ही मास इस वर्ष तो जाड़े में और कुछ वर्षों बाद बीच-गर्मी में पड़ सकता है।

इस्लाम का आरंभ ६२२ ई० प० में हिजरत से माना जा सकता है। यथरिब के नगर ने पैग़ंबर का स्वागत किया, और उनके आगमन के उपलक्ष्य में उस नगर के निवासियों ने उसका नाम बदलकर "मदीनत-उन-नबी"—पैग़ंबर का नगर—या संक्षेप में मदीना (इसी नाम से वह अब प्रसिद्ध है) रक्खा। मदीने के जिन लोगों ने मुहम्मद को सहायता दी, वे अंसार—सहायक—कहलाते थे। इन "सहायकों" के वंशधरों को इस उपाधि का गर्व था, और आज दिन भी वे इस उपाधि को अपने नाम के साथ जोड़ते हैं। तुम कम से कम उनमें से एक को तो जानती ही हो। वह हम लोगों के बड़े संमानित मित्र, डाक्टर एम० ए० अंसारी साहब, हैं।

इसके पूर्व कि हम इस्लाम और अरब-निवासियों की विजय-वार्त्ता छेड़ें, आओ, पहले अपने चारों ओर एक नज़र डाल लें। हम अभी देख चुके हैं कि रोम का अंत हो चुका था। ग्रीक-रोमन सभ्यता मिट गई थी, और जिस सामाजिक प्रासाद को उसने निर्मित किया था, वह तहस-नहस हो चुका था। उत्तरीय योरप की जातियों और कबीलों का महत्त्व अब कुछ-कुछ बढ़ने लगा था। यद्यपि उन जातियों ने रोम से थोड़ा-बहुत सीखने की चेष्टा की थी, परंतु वास्तव में एक बिलकुल ही नए ढंग की सभ्यता का वे निर्माण कर रही थीं। लेकिन यह तो केवल-मात्र उसका श्रीगणेश ही था। उसके वास्तविक लक्षण बहुत कम दिखाई देते थे। इस तरह प्राचीन तो मिट चुका था किंतु नवीन अभी उसका स्थान नहीं ले पाया था। अतएव योरप में सर्वत्र अंधकार छाया था। यह सत्य है कि उस महाद्वीप के पूर्वीय भाग में पूर्वीय रोमन साम्राज्य था, जो अभी तक चल रहा था। उन दिनों भी कानस्टेंटिनोपल एक भव्य महानगर—योरप का सबसे बड़ा नगर—था। उसके क्रीडालयों में खेल-तमाशे हुआ करते थे, और वहां बहुत तड़क-भड़क दिखाई देती थी। लेकिन इस सबके होते हुए भी, रोमन साम्राज्य निर्बल होता जाता था। ईरान के सासान सम्राटों से उसकी बराबर लड़ाई होती रहती थी। ख़ुसरो द्वितीय ने कानस्टेंटिनोपल के एक भाग पर अपना अधिकार कर लिया था। वह अरब देश पर भी नाममात्र के आधिपत्य का दावा करता था। ख़ुसरो ने मिस्र को जीत लिया और वह कानस्टेंटिनोपल तक जा पहुँचा, लेकिन वहां से हैरैक्लिज़-नामक ग्रीक सम्राट् ने उसे मार भगाया। बाद में ख़ुसरो को उसी के पुत्र, क़ावाद, ने मार डाला।

उपर्युक्त बातों से तुम्हें पता चलेगा कि पश्चिम में योरप और पूर्व में ईरान, दोनों ही, बिगड़ी हुई दशा में थे। साथ ही, यह भी याद रक्खो कि ईसाई संप्रदायों में आपसी झगड़े

चल रहे थे, जिनका अंत ही न हो पाता था। सबसे अधिक भ्रष्ट और झगड़ालू ईसाई-धर्म्म पश्चिम और अफ़्रीका में फैला हुआ था। ज़रतुश्त्र का मत ईरान का राजधर्म्म था और उसे मानने को लोग वाध्य किए जाते थे। ऐसी दशा में क्या योरप या अफ़्रीका में, और क्या ईरान में, जनसाधारण प्रचलित धर्म्मों से ऊब उठे थे। ठीक इसी समय, ७ वीं सदी के आरंभ में, सारे योरप में भयंकर महामारियों का प्रकोप हुआ और लाखों आदमी अकाल ही मौत के शिकार हुए।

इन दिनों भारत में हर्षवर्धन राज्य कर रहा था और इसी समय ह्युयान शाङ ने भारत की यात्रा की थी। लेकिन थोड़े ही दिनों वाद, उत्तरीय भारत छिन्न-भिन्न होकर दुर्बल हो गया। हर्ष के राज्यकाल में भारत एक शक्तिशाली राष्ट्र था। उधर सुदूर पूर्व में चीन के टाङ-राजवंश का शासन आरंभ हुआ था। ६२७ ई० प० में टाई शुङ, जिसकी चीन के परम प्रसिद्ध सम्राटों में गिनती की जाती है, राजगद्दी पर वैठा। उसके शासन-काल में चीनी साम्राज्य पश्चिम की ओर कैस्पियन सागर तक फैल गया। मध्य एशिया की वहुत-सी जातियाँ उसको अपना अधीश्वर स्वीकार करतीं और उसको कर देती थीं। संभवतः, इस विशाल साम्राज्य में केंद्रित शासन की व्यवस्था न थी।

यह थी एशियाई और योरपीय जगत् की दशा, जव इस्लाम का जन्म हुआ। चीन सवल और शक्तिशाली अवश्य था, लेकिन था दूर। भारत भी, कम से कम कुछ समय तक, सवल वना रहा, लेकिन हम आगे चल कर देखेंगे कि वहुत दिनों तक उसके साथ कोई झगड़ा नहीं हुआ। योरप और अफ़्रीका कमजोर और असमर्थ हो गए थे।

हिजरत से साल भर के अंदर ही मुहम्मद मक्के को उसके स्वामी होकर लौटे। इसके पहले भी उन्होंने मदीने से संसार भर के राजाओं और शासकों के पास यह संदेश भेजा था कि वे एक ईश्वर और उसके पैग़ंवर को अंगीकार करें। कानस्टेंटिनोपल के सम्राट्, हैरैक्लिज़, को यह संदेश उस समय मिला, जव वह सीरिया में ईरानियों के साथ लड़ रहा था। ईरानी सम्राट् के भी पास वह संदेश पहुँचा; और ऐसा कहा जाता है कि चीन में टाइ शुङ के पास भी वह भेजा गया था। इन राजाओं और शासकों को अवश्य ही अचरज हुआ होगा कि यह कौन अज्ञात आदमी है जो इस प्रकार उन्हें आज्ञा देने का साहस करता है। इन संदेशों के भेजने से हमें इस वात का कुछ-कुछ आभास मिलता है कि मुहम्मद को अपने में और अपने जीवनोद्देश में कितना अधिक अटल विश्वास रहा होगा।

आत्मविश्वास और श्रद्धा स्वतः वहुत वड़ी शक्तियाँ होती हैं। फिर इस्लाम ने तो उन लोगों को भ्रातृत्व का—जो मुसलमान हों, उन सव की वरावरी का—संदेश भी दिया। इस प्रकार अरव जनता के सामने प्रजासत्ता का विधान रख दिया गया। तत्कालीन भ्रष्ट ईसाई धर्म की अपेक्षा, भ्रातृत्व के इस नव संदेश का न केवल अरवों वल्कि उन अनेक देशों के निवासियों पर भी वहुत वड़ा असर पड़ा होगा, जहाँ अरव-निवासी पहुँचे।

मुहम्मद हिजरत के दश वर्ष वाद, ६३२ ई० प० में, मर गए। अरविस्तान की वहुत-सी झगड़ालू जातियों को मिलाकर एक जाति वनाने और उनको एक उद्देश-विशेष के प्रति अपूर्व

उत्साह के साथ प्रेरित करने में वह पूर्ण रूप से सफल हुए। उनके बाद अबू बकर, जो पैगंबर के एक कुटुंबी थे, खलीफ़ा या सरदार चुने गए। इस पद के लिए उत्तराधिकारी का चुनाव सार्वजनिक सभा में अनियमित ढंग से होता था। दो साल बाद, अबू बकर का देहांत हो गया, और उनके स्थान पर ओमर चुने गए जो दस साल तक खलीफ़ा रहे।

अबू बकर और ओमर महापुरुष थे, जिन्होंने अरबी और इस्लामी महत्ता की नींव डाली। खलीफ़ा होने के कारण वे धार्मिक महाचार्य और राजनीतिक अधिनायक—राजा और पोप—दोनों ही थे। यद्यपि उनके पद की महिमा और उनके राष्ट्र की शक्ति बढ़ती जाती थी, परंतु उन्होंने अपने रहन-सहन में सादगी को न त्यागा, और विलासिता एवं तड़क-भड़क को हमेशा त्याज्य माना। इस्लाम की प्रजा-सत्ता उनके लिए एक जीती-जागती विभूति थी। लेकिन थोड़े ही दिनों में उन्हीं के सरदार और अमीर रेशम पहनने और विलास का जीवन बिताने लगे। ऐसी बहुत-सी कथाएं प्रचलित हैं जिनमें इस बात का ज़िक्र है कि अबू बकर और ओमर ने विलास-प्रेमी सरदारों की भर्त्सना की और उन्हें दंड दिया। उनके अपव्यय पर वे रो भी देते थे। उनकी धारणा थी कि उनकी शक्ति सादी और कठोर जीवनचर्य्या की आश्रित है, और यदि अरब-निवासी ईरान या कानस्टेंटिनोपल के राज-दरबारों के भोग-विलास को अपनाने लगेंगे तो वे भी भ्रष्ट और पतित हो जाएँगे।

इन बारह वर्षों के अल्पावधि ही में, जिसके अंतर्गत अबू बकर और ओमर ने शासन किया, अरबों ने पूर्वीय रोमन साम्राज्य और ईरान के शासक को पराजित कर दिया। जैरूसलम पर भी, जो यहूदियों और ईसाइयों का तीर्थस्थान है, अरबों ने अधिकार जमाया और समस्त सीरिया, इराक़ एवम् ईरान नवीन अरब साम्राज्य के अंग बन गए।

(४९)

अरब-निवासियों की स्पेन से मंगोलिया तक के प्रदेशों पर विजय

मई २३, १९३२

कुछ अन्य धर्म-प्रवर्तकों की भांति, मुहम्मद ने भी तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं का विरोध किया। उन्होंने जिस धर्म की शिक्षा दी, उसके आडंबर-रहित, संगठित, प्रजासत्तात्मक एवं समानतावादी विचारों ने आसपास के देशों के निवासियों पर गहरी छाप डाली। उन लोगों को निरंकुश राजाओं और उतने ही निरंकुश तथा प्रबल धर्मपंडितों ने अपने आतंक द्वारा दबा रक्खा था। पुरानी व्यवस्थाओं से ये लोग उकता उठे और किसी न किसी प्रकार के परिवर्तन के लिए तैयार बैठे थे। इस्लाम ने उनके लिए इस प्रकार के परिवर्तन का एक रास्ता खोल दिया, अतः उन लोगों ने उसका हृदय से स्वागत किया। कई बातों में उसके द्वारा उनकी हालत में सुधार भी हुआ। उसने उनकी बहुत-सी पुरानी बुराइयों का अंत कर दिया। यह सच है कि इस्लाम के द्वारा कोई ऐसी भारी सामाजिक क्रांति नहीं हुई, जिससे जनता का शोषण बहुत कम हो जाय। लेकिन जहाँ तक मुसलमानों का संबंध था, उसने इस शोषण की मात्रा को कम जरूर कर दिया। उसने लोगों में एक प्रकार के भ्रातृत्व की भावना जाग्रत् कर दी।

इस प्रकार अरब-निवासियों की विजय पर विजय होती गई। बहुधा वे बिना लड़े ही विजय प्राप्त कर लेते थे। क्योंकि उनके शत्रु दुर्बल थे, जो अपने ही आदमियों के विश्वासघात द्वारा छले जाते थे। मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात्, २५ वर्षों के भीतर ही अरब-निवासियों ने एक ओर सारे ईरान, सीरिया, आरमीनिया और अंशतः मध्य एशिया पर, तथा दूसरी ओर पश्चिम में मिस्र तथा उत्तरीय अफ्रीका के कुछ हिस्से पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया। मिस्र पर बड़ी आसानी से उन्होंने अपना अधिकार जमाया, क्योंकि वह रोमन साम्राज्य की शोषण-नीति और ईसाई धर्म के विभिन्न संप्रदायों की पारस्परिक लाग-डांट के कारण शक्तिहीन हो चुका था। किंवदंती है कि अरब-निवासियों ने एलैक़्ज़ेंड्रिया के प्रसिद्ध पुस्तकालय को जला डाला। लेकिन अब लोग इस बात को सत्य नहीं मानते। क्योंकि पुस्तकों के प्रति अरब-निवासियों की इतनी रुचि थी कि इस प्रकार की बर्बरता के आचरण की उनसे आशा नहीं की जा सकती थी। संभवतः, कानस्टेंटिनोपल के सम्राट् थिओडोसियस पर, जिसका कुछ हाल मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ, इसके विनाश के लिए, पूर्ण रूप से या अंशतः दोष लगाया जा सकता है। पुस्तकालय का कुछ भाग, बहुत पहले, उसी समय नष्ट कर दिया गया था जब जूलियस सीजर के काल में एलैक़्ज़ेंड्रिया पर घेरा डाला गया था। थिओडोसियस ग्रीक गाथाओं और दर्शनशास्त्र का विवेचन करनेवाली पुस्तकों को पसंद नहीं

करता था। वह कट्टर ईसाई था। कहा जाता है कि उसके स्नान के लिए पानी गरम करने में ये पुस्तकें ईंधन का काम देती थीं।

अरब-निवासी क्रमशः पूर्व और पश्चिम दोनों ओर बढ़ते गए। पूर्व में हिरात, काबुल और बल्ख पर उन्होंने अपना अधिकार कर लिया, यहाँ तक कि वे सिंधु नदी और सिंध के प्रांत तक पहुँच गए। लेकिन भारत में वे इससे आगे नहीं बढ़ पाए। आगामी सैकड़ों वर्षों तक भारतीय शासकों के साथ उनका मैत्री का व्यवहार रहा। हाँ, पश्चिम की ओर वे बढ़ते चले गए; और कहा जाता है कि उनका सरदार, ओक्का, अफ्रीका में प्रवेश कर महासागर के उस किनारे तक चला गया, जो आजकल मरक्को का पश्चिमी तट कहलाता है। जब वह समुद्र के आ जाने के कारण आगे न बढ़ सका तब उसे बड़ी निराशा हुई। वह पानी के भीतर घोड़े पर जितनी दूर जा सका चला गया, और ईश्वर को संबोधन करते हुए, उसने इस बात के लिए खेद प्रकट किया कि इसके बाद जीतने के लिए कोई प्रदेश नहीं बचा है।

मरक्को और अफ्रीका से अरब-वासी तंग जलडमरूमध्य को पार कर स्पेन और योरप में पहुँचे। पानी के इन तंग रास्तों को प्राचीन ग्रीक हरक्यूलीज़ के स्तंभ कहा करते थे। अरबों का जो सरदार योरप गया, वह पहले जिब्राल्टर पर उतरा था, और उस स्थान का यह नाम उसी का स्मारक है। इस सरदार का नाम था तारीक़ और जिब्राल्टर का मूल अरबी रूप है जबल-उत-तारीक़, जिसका अर्थ है तारीक़ की चट्टान।

स्पेन को अरबवालों ने बहुत शीघ्र जीत लिया। इसके बाद वे दक्षिणी फ्रांस की ओर बढ़े। इस प्रकार मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात्, लगभग सौ वर्षों के भीतर अरब-साम्राज्य स्पेन और दक्षिणी फ्रांस से लगाकर मंगोलिया की सरहद तक फैल गया। इन दोनों सीमाओं के बीच में जो विस्तृत प्रदेश था, उसमें स्वेज़ तक सारा उत्तरीय अफ्रीका, अरब, ईरान और मध्य एशिया के देश शामिल थे। सिंध को छोड़कर भारत के शेष भाग अभी तक इस साम्राज्य के बाहर थे। योरप पर अरब-वासियों ने दो दिशाओं से धावा किया; एक ओर से सीधे कानस्टेंटिनोपल पर, और दूसरी ओर अफ्रीका से होकर दक्षिणी फ्रांस पर। दक्षिणी फ्रांस में जो अरब पहुँच सके थे, उनकी संख्या बहुत थोड़ी थी; और वे अपने स्वदेश से बहुत दूर निकल आए थे। अतएव उन्हें अपने मुल्क से अधिक सहायता नहीं मिल सकती थी। इसके अलावा, अरब के निवासी उधर मध्य एशिया के प्रदेश को जीतने में भी व्यस्त थे। फिर भी फ्रांस पर चढ़ाई करनेवाले अरबों ने पश्चिमी योरपवालों के मन में आशंका पैदा कर दी। उनका विरोध करने के लिए एक विशाल संघ का निर्माण हुआ। इस संघ का अगुआ चार्ल्स मारतेल था। ७३२ ई० प० में उसने टूअर्स के युद्ध में अरबों को परास्त किया। अरबों की इस पराजय से योरप उनके चंगुल से बच गया। एक ऐतिहासिक लेखक का कहना है कि "टूअर्स के मैदान में अरब-वासियों ने हाथ में आए हुए विश्व-साम्राज्य को खो दिया।" इसमें संदेह नहीं कि यदि टूअर्स के युद्ध

में अरबवाले जीत जाते तो योरप का इतिहास कुछ और ही होता। फिर योरप में उनकी प्रगति को रोकनेवाला कोई न रह जाता; और उनके मार्ग में जो राज्य पड़ते उनको क़ाबू में करते हुए वे सीधे कानस्टेंटिनोपल पहुँच सकते थे। इस तरह पूर्वीय रोमन साम्राज्य का भी वे अंत कर देते। उस अवस्था में योरप में ईसाई मत के स्थान पर इस्लाम का बोलबाला होता; और तब न जाने क्या-क्या रद्दोबदल हुई होती। लेकिन यह तो सिर्फ़ कल्पना की एक उड़ान है। वास्तव में अरबवाले फ्रांस ही में आगे बढ़ने से रोक दिए गए। हाँ, स्पेन पर कई सौ वर्षों तक उन्होंने शासन किया।

स्पेन से मंगोलिया तक जहाँ-कहीं भी अरब गए वहीं उनकी विजय हुई। रेगिस्तान के इन खानाबदोश लोगों को एक शक्तिशाली साम्राज्य के शासक होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ये लोग 'सारसीन' के नाम से पुकारे जाते थे। संभवतः यह शब्द 'सहारा' और 'नशीन' इन दो शब्दों के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है मरुभूमि के निवासी। लेकिन रेगिस्तान के ये निवासी शीघ्र ही शहर के विलासपूर्ण जीवन में रंग गए; और जहाँ कहीं वे बसे वहीं उनके बड़े-बड़े आलीशान महल खड़े हो गए। किंतु सुदूरवर्त्ती प्रदेशों पर विजय पाकर भी वे आपस में लड़ने की अपनी प्रवृत्ति को न भुला सके। अब तो लड़ने के लिए उनके सामने एक प्रलोभन भी था, क्योंकि अरब पर प्रभुता का अर्थ था एक विशाल साम्राज्य का अधिपति होना। प्रायः खलीफ़ा के पद के लिए झगड़े हुआ करते थे। ये झगड़े पहले तो मामूली कुटुंब ही तक परिमित थे। परंतु बाद में वे बढ़कर घरेलू युद्ध में परिणत हो गए। इन झगड़ों के कारण इस्लाम में एक बहुत बड़ा मतभेद पैदा होगया। उसमें शिया और सुन्नी नाम के दो संप्रदाय बन गए, जो अब तक विद्यमान हैं।

प्रथम दो खलीफ़ाओं, अबू बकर और ओमर, के बाद ही से अड़चनें शुरू हो गईं। हज़रत मुहम्मद की लड़की, फ़ातिमा, के पति अली कुछ काल के लिए खलीफ़ा बनाए गए। लेकिन झगड़ा पूर्ववत ही बना रहा। अली मार डाले गए, और कुछ ही दिनों बाद उनके पुत्र हुसेन भी अपने कुटुंब-सहित करबला के मैदान में मारे गए। करबला की इसी दुःखद घटना का शोक हर वर्ष मुसलमान, विशेषतया शिया लोग, मोहर्रम के महीने में मनाते हैं।

अब खलीफ़ा बिलकुल निरंकुश शासक हो गए। उनमें चुनाव या प्रजासत्तात्मक शासन के कुछ भी चिह्न नहीं दिखाई देते थे। वे अपने समय के अन्य निरंकुश राजाओं के समान ही स्वेच्छाचारी थे। सिद्धांत रूप से खलीफ़ा मुसलमानों का धार्मिक नेता माना जाता था। लेकिन इन शासकों में से कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने उसी इस्लाम का अपमान किया, जिसके वे प्रमुख संरक्षक माने जाते थे। एक ने तो मदीने की सार्वजनिक मसजिद को तुड़वाकर उसके स्थान पर अस्तबल तक बनवा डाला!

लगभग १०० वर्ष तक हज़रत मुहम्मद ही के वंशज खलीफ़ा होते रहे। उन्होंने दमिश्क में अपनी राजधानी स्थापित की और उनके शासन-काल में महल, फ़व्वारे, आदि, से युक्त वह

नगर बहुत ही शोभायमान होगया। दमिश्क में पानी का बहुत ही अच्छा प्रबंध था। इस काल में अरबों ने शिल्प-कला में एक विशिष्ट शैली का प्रवर्तन किया, जिसे अब सारसनिक शैली कहते हैं। इसमें सजावट या आडंबर का लगभग अभाव था। यह शैली सादगी का नमूना थी; परंतु फिर भी थी प्रभावशालिनी और सुंदर। इसकी कल्पना के मूल में अरब और सीरिया के सुंदर ताड़ के वृक्ष थे। इस शैली के मेहराब, स्तंभ, मीनारें और गुंबज दर्शक को ताड़ के वृक्षों के घुमाव और गुच्छों की याद दिलाते हैं।

यही शिल्प-कला भारत में भी आई, परंतु यहाँ उसपर भारतीय विचारों का प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरूप एक संमिश्रित शैली का आविर्भाव हुआ। शुद्ध सारसनिक शैली के कुछ सर्वोत्तम नमूने आज भी स्पेन में विद्यमान हैं।

संपत्ति और साम्राज्य के साथ-साथ आमोद-प्रमोद और उसके साधन भी बढ़ने लगे। अरब लोग घुड़दौड़ में सबसे अधिक दिलचस्पी लेते थे। पोलो, शिकार और शतरंज से भी उन्हें प्रेम था। संगीत से प्रेम करने का तो एक तरह से रिवाज-सा हो गया था, और राजधानी में गानेवालों और उनके साजिंदों की भीड़-सी बनी रहती थी।

एक और महत्वपूर्ण, किंतु शोचनीय, परिवर्तन धीरे-धीरे हुआ। यह परिवर्तन स्त्रियों की स्थिति के संबंध में था। अरब की स्त्रियाँ परदा नहीं करती थीं। वे समाज से अलग या छिपकर नहीं रहती थीं। वे जनता में विचरण करतीं, मसजिदों में जातीं, व्याख्यान सुनतीं और देती थीं; लेकिन विजयी होने पर अरब-वासी अपने पूर्व और पश्चिमवर्त्ती रोमन और ईरानी साम्राज्यों की रीति-रस्मों की नक़ल करने लगे।

वे रोमन साम्राज्य को हरा चुके थे और ईरानी साम्राज्य का उन्होंने अंत कर दिया था। लेकिन इन साम्राज्य-निवासियों की बहुत-सी बुरी आदतों के वे शिकार बन बैठे। कहा जाता है कि विशेषतया कानस्टैंटिनोपल और ईरान ही के प्रभाव से अरब-वासियों में स्त्रियों को समाज से दूर रखना प्रारंभ हुआ। धीरे-धीरे हरम की प्रथा चल निकली और दिन-पर-दिन समाज में स्त्री-पुरुष का संसर्ग कम होता गया। दुर्भाग्य से, इस प्रथा ने इस्लामी समाज में हमेशा के लिए अपना घर कर लिया और उसके संपर्क में आने पर भारत ने भी उस प्रथा को ग्रहण किया। आज हमें इस बात की कल्पना-मात्र से आश्चर्य होता है कि कुछ लोगों ने इस समय तक इस बर्बर प्रथा को जारी रक्खा है। जब कभी मैं बाहरी संसार से बहिष्कृत की हुई परदानशीन स्त्री का ख़याल करता हूँ तब मुझे जेल या अजायबघर की याद आ जाती है। अगर किसी राष्ट्र की आधी जनसंख्या एक क़ैदख़ाने में बंद कर दी जाय तो वह राष्ट्र कैसे प्रगति कर सकता है? इस परदे को फाड़ डालो और प्रत्येक व्यक्ति को सूर्य की रोशनी देखने दो।

सौभाग्य से, भारत तेज़ी के साथ परदा-प्रथा को दूर कर रहा है। मुसलिम समाज ने भी अधिकांश में इसे अलग कर दिया है। टर्की में कमालपाशा ने एकदम इसका अंत कर दिया है। मिस्र में भी तेज़ी से इसका लोप हो रहा है।

एक बात और कहकर, मैं इस पत्र को समाप्त कर दूंगा। अरब-वासी, ख़ासकर अपने जागृति

के सुप्रभात में, विश्वास और उत्साह से भरे थे। फिर भी वे सहिष्णु थे। उनकी धार्मिक सहिष्णुता के कई उदाहरण हमें मिलते हैं। जेरूसलम में खलीफ़ा ओमर इस बात का विशेष ध्यान रखता था। स्पेन के बहुसंख्यक ईसाइयों को भी धर्म के मामलों में पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी। भारत में अरबवालों का, सिंध को छोड़कर, कहीं शासन ही नहीं रहा, लेकिन भारत से उनका जितना भी संपर्क था उतने में दोनों ओर से मित्रता का भाव झलकता था। अरब-वासियों और मुसलमानों की सहिष्णुता और योरप के तत्कालीन ईसाइयों की धार्मिक असहिष्णुता में जो अंतर था, यह इस काल की एक परम महत्वपूर्ण बात है।

(५०)
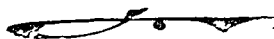
बग़दाद और हारूँ-अल-रशीद

मई २७, १९३२

दूसरे देशों को लौटने के पूर्व, आओ, हम अभी अरबों ही की कहानी को आगे बढ़ाएँ।

जैसा मैंने अपने पिछले पत्र में कहा था, हज़रत मुहम्मद के एक कुटुंब की उमय्यद नाम की एक शाखा के लोग लगभग सौ वर्षों तक ख़लीफ़ा होते गए। दमिश्क़ में उनकी राजधानी थी। उनके शासन-काल में मुसलिम अरब इस्लाम के झंडे को दूर-दूर देशों में ले गए। इधर तो अरब-निवासी दूर-दूर देशों को जीत रहे थे, उधर स्वदेश में उनमें आपस के लड़ाई-झगड़े जारी थे। बहुधा उनमें गृह-युद्ध भी हुआ करते थे। अंत में, हज़रत मुहम्मद के कुटुंब की एक दूसरी शाखा ने उमय्यदों के हाथ से शक्ति छीन ली। पैग़ंबर के अब्बास-नामक चचा के वंशज इस गृह-युद्ध में विजयी हुए। अब्बास के वंशधर होने के कारण वे लोग अब्बासी कहलाए। अब्बासियों ने सिंहासन पर यह कहकर क़ब्ज़ा किया था कि वे उमय्यदों की क्रूरताओं का बदला लेंगे। लेकिन विजय प्राप्त करने के बाद हत्या और नृशंसता में उन्होंने उमय्यदों के भी कान काटे। जो भी सैयद उन्हें मिले, उनको उन्होंने बंदी बनाया और बड़ी बर्बरता के साथ मार डाला।

इस प्रकार ७५० ई० में अब्बासी ख़लीफ़ाओं के सुदीर्घ शासन का आरंभ हुआ। इस शासन का आरंभ न तो सुखकारी और न मंगलमय ही था, परंतु इसपर भी अब्बासियों का शासन-काल अरब-इतिहास में काफ़ी समुज्ज्वल है। लेकिन उमय्यदों के समय की अपेक्षा अब साम्राज्य में बहुत रद्दोबदल हो गई थी। स्वदेश के गृह-युद्ध ने अरबवालों के समस्त साम्राज्य को जड़ से हिला डाला था। अब्बासी स्वदेश में तो विजयी हुए; लेकिन सुदूर स्पेन में अरब गवरनर, जो उमय्यदों का अनुयायी था, अब्बासी ख़लीफ़ा को अपना ख़लीफ़ा स्वीकार करने को तैयार न हुआ। उत्तरीय अफ़्रीका या इफ़्रिकिया—जैसा वह कहलाता था—की वज़ारत थोड़े समय के बाद, कुछ कम या अधिक मात्रा में, स्वतंत्र हो गई। मिस्र ने भी ऐसा ही किया। वह तो यहाँ तक बढ़ गया था कि उसने एक दूसरे ही ख़लीफ़ा की घोषणा कर दी। मिस्र तो, पास होने के कारण, धमकाया और अधीनता को स्वीकार करने के लिए विवश किया जा सकता था, और ऐसा समय-समय पर होता भी रहा। लेकिन इफ़्रिकिया को दबाने की कोई चेष्टा न की गई। स्पेन इतनी दूर था कि उसके विरुद्ध कुछ भी करना सर्वथा असंभव था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अब्बासियों के सिंहासन पर बैठते ही अरब-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। इस समय से ख़लीफ़ा सारे मुसलिम जगत् का न तो प्रधान रह गया और न सब मुसलिमों का अधिनायक ही माने जाने लगा। इस्लाम की एकता नष्ट हो गई। स्पेन के अरब और अब्बासियों के अनुयायी एक दूसरे से इतनी घृणा करने लगे कि उनमें से एक दूसरे की विपदाओं का स्वागत करता था।

इस सबके होते हुए भी अब्बासी ख़लीफ़ा एक विशाल राष्ट्र के अधीश्वर थे। दूसरे साम्राज्यों को देखते हुए, उनका साम्राज्य एक महासाम्राज्य था। अरबों में अब वह पुरातन श्रद्धा और शक्ति तो दिखाई नहीं देती थी, जिनके कारण अरब पहाड़ों पर विजयी हुए और जंगल की आग की तरह, चारो ओर, फैल गए थे। उनमें न तो प्राचीन सादगी ही रह गई थी, और न पुरानी प्रजासत्ता ही दिखाई देती थी। मुसलमानों के अधिनायक में और ईरान के शाहंशाह, जिसे पूर्व-काल के अरबों ने पराजित किया था, अथवा कानस्टेंटिनोपल के सम्राट् में कुछ भी अंतर न रह गया था। पैग़ंबर मुहम्मद के समय के अरबों में एक विलक्षण बल और जीवन था, जो राजाओं की सेनाओं की शक्ति से बहुत-कुछ भिन्न था। तात्कालिक संसार में वे सबके ऊपर हावी थे। सेनाएं और राजे-महाराजे उनकी दुर्दमनीय प्रगति के सामने मिट्टी के पुतलों के समान निष्प्रभ और निस्तेज हो जाते थे। विभिन्न देशों की जनताएँ उन राजाओं से ऊब गई थीं; और उन्हें ऐसा मालूम होता था कि अरबों का आगमन उन्नति और सामाजिक विप्लव का सूचक है।

अब यह सब बदल गया। रेगिस्तानों के रहनेवाले अब राजमहलों में रहने लगे। खजूर की जगह वे नाना प्रकार के व्यंजनों का भोग लगाते थे। जब उनकी चैन से कटती थी, तब क्यों परिवर्तन और सामाजिक क्रांति के पीछे माथापच्ची की जाय! उन्होंने पुराने साम्राज्यों की शान-शौक़त में बराबरी करने की चेष्टाएँ कीं और उनकी बहुत-सी बुराइयों को अपना लिया। जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इन बुराइयों में से एक बुरी प्रथा थी स्त्रियों को परदे में बंद रखना। राजधानी अब दमिश्क़ से इराक़ के बग़दाद नगर में उठ आई। राजधानी का यह परिवर्तन महत्वपूर्ण था, क्योंकि पुराने ज़माने में गर्मियों में ईरानी सम्राट् बग़दाद ही में आकर रहा करते थे। बग़दाद दमिश्क़ की अपेक्षा योरप से कहीं अधिक दूर था। अतएव इस समय से अब्बासियों की निगाह योरप की अपेक्षा एशिया की ओर अधिक झुक गई। कानस्टेंटिनोपल को जीतने की आगे भी कई बार चेष्टाएँ की गईं और योरप के राष्ट्रों से अनेक लड़ाइयाँ भी हुईं। लेकिन इनमें से अधिकतर लड़ाइयाँ आत्म-रक्षा ही के लिए हुई थीं। विजय के दिन, मानो, बीत गए थे। अब्बासी ख़लीफ़ा अपने बचे-खुचे साम्राज्य ही पर अपने अधिकार को जमाए रखने और अपनी शक्ति को संघटित करने में लगे रहे। स्पेन और अफ़्रीका के निकल जाने के बाद भी उनका अवशिष्ट साम्राज्य अभी काफ़ी विशाल था।

बग़दाद! क्या तुम्हें उसकी याद नहीं है? हारूँ-अल-रशीद, शहज़ादी और अलिफ़लैला की अद्भुत कहानियों की क्या तुम्हें याद नहीं है? जो नगर अब अब्बासी ख़लीफ़ाओं के संरक्षण में बढ़ रहा था, वही था अलिफ़लैला का नगर। वह राजप्रासादों, राजकर्मचारियों, चट-शालाओं और विद्यालयों, बड़ी-बड़ी दूकानों, उद्यानों और उपवनों का महानगर था। उसके सौदागरों का पूर्व और पश्चिम के साथ बड़ा व्यापार होता था। राज-कर्मचारियों की बहुत बड़ी संख्या थी, जिनके द्वारा साम्राज्य के दूरस्थ प्रांतों की शासन-संबंधी समस्याओं का पूर्ण परिचय मिलता रहता था। शासन का काम दिन पर दिन जटिल होता गया। इसलिए

राज-काज अनेक विभागों में बाँट दिया गया था। राजधानी से साम्राज्य के कोने-कोने तक डाक पहुँचाने और वहाँ से राजधानी को डाक लाने का समुचित प्रबंध था। सभी स्थानों में औषधालय थे। दुनिया भर से दर्शक और विशेष रूप से विद्वान, कलाकार और विद्यार्थी बग़दाद को आते थे, क्योंकि यह सभी को मालूम था कि ख़लीफ़ा विद्वानों और कलाकारों का सहर्ष स्वागत करता है।

ख़लीफ़ा का जीवन बड़ा ही विलासिता-पूर्ण था। अनेक दास-दासियाँ उसकी सेवा किया करती थीं। राजमहिषियाँ और राजकुमारियाँ हरम में रहती थीं। वे असूर्य्यंपश्या थीं। हारूँ-अल-रशीद के राज्यकाल में, ७८५ से ८०६ ई० प० तक, अब्बासी साम्राज्य की वाह्य गौरव-गरिमा चरम सीमा को पहुँच गई थी। चीन के सम्राट् और पश्चिम के महासम्राट्, शार्लेमेन, ने ख़लीफ़ा के राजदरबार में अपने एलची भेजे थे। शासनकला, व्यापार और ज्ञानोपार्जन में बग़दाद और अब्बासी विजित प्रदेश, अरब-शासित स्पेन को छोड़कर, समसामयिक योरप से बहुत आगे बढ़ गया था।

अब्बासी शासन-काल हम लोगों के लिए विशेष रूप से रोचक है, क्योंकि इस काल में विज्ञान की ओर लोगों की अभिरुचि उत्तेजित हुई। जैसा तुम्हें मालूम है, विज्ञान का आधुनिक जगत् में बहुत बड़ा स्थान है। न जाने, हम विज्ञान के कितने अधिक ऋणी हैं। विज्ञान हाथ पर हाथ रखकर बैठा नहीं रहता, और न वह ईश्वर से प्रार्थना ही किया करता है कि यह हो जाय या वह हो जाय। सब बातों का कारण जानने की उसे सदा उत्कंठा बनी रहती है। वह बार-बार प्रयोग करता और निरंतर प्रयत्न में लगा रहता है। वह कभी असफल और कभी सफल हो जाता है। इस तरह, वह कण-कण जोड़कर मानव-ज्ञानराशि की वृद्धि किया करता है। आधुनिक जगत् और प्राचीन या मध्य-कालीन संसार में बड़ा अंतर है। इस व्यापक अंतर का अधिकांश में कारण विज्ञान है। आधुनिक जगत् की सृष्टि विज्ञान ही के बदौलत हुई है।

प्राचीन काल में न तो मिस्र में और न चीन या भारत ही में हमें वैज्ञानिक प्रथा मिलती है। प्राचीन ग्रीस में उसका बहुत स्वल्प अंश हमें मिलता है। बाद में रोम में उसका अभाव था। लेकिन अरबों में अन्वेषण का वैज्ञानिक दृष्टिकोण विद्यमान था। अतएव उन्हें आधुनिक विज्ञान का जनक समझना चाहिए। कुछ विषयों में—जैसे गणित और आयुर्वेद में—उन्होंने भारतवर्ष से बहुत-कुछ सीखा। अनेक भारतीय विद्वान् और गणितज्ञ बग़दाद गए थे। बहुत से अरब विद्यार्थी, विशेषकर आयुर्वेद के अध्ययन के लिए, उत्तरीय भारत के तक्षशिला में, जो इस समय पर भी एक महाविश्वविद्यालय था, आया करते थे। आयुर्वेद तथा अन्य विषयों के संस्कृत ग्रंथों का विशेष रूप से अरबी भाषा में अनुवाद हुआ था। बहुत-सी बातें—उदाहरण के लिए काग़ज़ बनाने की प्रक्रिया—अरबों ने चीन से सीखी थी। लेकिन जो कुछ अरबों ने दूसरों से सीखा था, उसके आधार पर उन्होंने स्वतंत्र खोज की और अनेक महत्वपूर्ण आविष्कार किए। उन्होंने पहली दूरबीन बनाई और नाविकों का कंपास (क़ुतुबनुमा) तैयार किया। आयुर्वेद के क्षेत्र में अरब के हक़ीम योरप भर में विख्यात थे।

निस्संदेह बग़दाद इस सब मानसिक चहल-पहल का केंद्र हो रहा था। कारडोवा, जहाँ अरब-शासित स्पेन की राजधानी थी, इस मानसिक प्रगति का पश्चिम में एक दूसरा केंद्र था। अरब-शासित जगत् में और भी अनेक विश्वविद्यालय थे, जहाँ ज्ञानमय जीवन लहलहाता था; उदाहरण के लिए, कैरो या अल क़ाहिर,—अर्थात् विजयी—बसरा और कुफ़ा ऐसे ही केंद्र थे। लेकिन बग़दाद इन सब नगरों में अग्रगण्य था। एक अरब इतिहास-लेखक के शब्दों में, वह "इस्लाम का राजनगर, इराक़ का नेत्र, साम्राज्य का सिंहासन तथा सौंदर्य, संस्कृति और कलाओं का केंद्र था।" इसकी जन-संख्या २० लाख के ऊपर थी, और इस तरह वह आजकल के कलकत्ते या बंबई से लगभग दुगना था।

यह बात तुम्हें रोचक मालूम होगी कि बग़दाद के धनी-मानी लोग मोज़े पहना करते थे। उसी समय से, कहते हैं, इनका चलन हुआ है। वे इन्हें "मोज़े" कहते थे। हिंदुस्तानी शब्द "मोज़ा" हमने वहीं से लिया है। इसी प्रकार, फ्रेंच शब्द "शिमीज़" की उत्पत्ति "क़मीज़" (अर्थात कुरता) शब्द से हुई है। कानस्टैंटिनोपल के निवासियों ने "कमीज़" और "मोज़ा" को अरबों से पाया, और वहाँ से ये शब्द सारे योरप में फैल गए।

अरब-निवासी सदा से बड़े यात्री होते आए हैं। समुद्रों को पार कर वे लंबी-लंबी यात्राएँ किया करते थे। इस प्रकार, उन्होंने अफ्रीका में, भारत के तट पर, मलयेशिया और चीन तक में अपने उपनिवेश स्थापित किए। उनके एक प्रसिद्ध यात्री का नाम अलबरूनी था। जिसने भारतवर्ष की यात्रा की थी। उसने भी ह्युयान शाङ की तरह अपनी यात्रा का हाल लिखा है।

अरब-निवासी इतिहास-लेखक भी थे। उनके लिखे हुए ग्रंथों और इतिहासों से हमें उन लोगों का बहुत-सा हाल मालूम होता है। हम सबको यह बात भी भली-भांति विदित है कि वे लोग सुंदर कथा-कहानियाँ और आख्यायिकाएँ लिखने में कितने सिद्धहस्त थे। लाखों-करोड़ों आदमियों को न तो अब्बासी खलीफ़ाओं और न अरब साम्राज्य का कुछ भी हाल मालूम है, लेकिन वे "अलिफ़ लैला वा लैला" के बग़दाद से, रहस्य और शृंगार की मूर्तिमती नगरी से अच्छी तरह परिचित हैं। वास्तविकता के साम्राज्य की अपेक्षा, कल्पना का साम्राज्य कहीं अधिक सारयुक्त और चिरस्थायी होता है।

हारूं-अल-रशीद की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद, अरब-साम्राज्य को संकटों ने आ घेरा। लड़ाई-झगड़े होने लगे, और साम्राज्य के विभिन्न प्रांत स्वाधीन हो गए। प्रांतिक शासक मौरूसी अधिपति बन बैठे। खलीफ़ाओं की शक्ति दिन पर दिन क्षीण होने लगी; वह इतनी क्षीण हो गई कि एक दिन सिर्फ़ बग़दाद और उसके पड़ोस के कुछ गावों ही पर खलीफ़ा का राज्य रह गया। एक खलीफ़ा को तो उसके सैनिकों ने राजमहल से बाहर घसीट कर मार डाला। इसके बाद, कुछ समय तक शक्तिशाली शासक निकलते आए, जो खलीफ़ाओं को अपना आश्रित बनाकर बग़दाद से राज्य का संचालन करते रहे।

अब इस्लाम की एकता भूतकाल की स्मृतिमात्र रह गई। मिस्र से लेकर मध्य एशिया

के ख़ुरासान तक स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गए। सुदूर पूर्वीय भूभागों से वनचर जातियाँ पश्चिम की ओर बढ़ने लगीं। मध्य एशिया के प्राचीन तुर्कों ने इस्लाम धर्म्म को ग्रहण कर लिया और बग़दाद पर अपना अधिकार जमाया। वे सलजुक़ तुर्कों के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने कानस्टैंटिनोपल की बिज़ैंटियन सेना को परास्त कर योरप को चकित कर दिया; क्योंकि योरप की यह धारणा हो गई थी कि अरब-निवासी और मुसलमान अपने बल को खो चुके और दिन पर दिन अधिकाधिक कमज़ोर होते जाते हैं। यह सच है कि अरबों की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी, लेकिन इन दिनों तो सलजुक तुर्कों का सितारा चमक रहा था। इस्लाम की पताका को उठाकर वे योरप से लड़ने को ताल ठोक रहे थे।

जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, इस चुनौती से चिढ़कर योरप की ईसाई जातियां मुसलमानों से लड़ने और अपने पुण्यस्थान जैरुसलम को तुर्कों के हाथ से छीन लेने के लिए आक्रमणों का संघटन करने लगीं। सौ वर्षों से अधिक समय तक ईसाई और इस्लाम सीरिया, फ़िलिस्तीन और एशिया माइनर पर अपना-अपना आधिपत्य जमाने के लिए लड़ते रहे। लड़ते-लड़ते दोनों ही कमज़ोर हो गए, और उपर्युक्त प्रदेशों की भूमि मानव रक्त से तर हो गई। इन देशों के फलते-फूलते नगरों का व्यापार नष्ट हो गया, उनका वैभव जाता रहा, और जो खेत कुछ समय पहले तक लहलहा करते थे, वे अब उजाड़-खंड हो गए।

इस तरह ये दोनों लड़े। लेकिन इन लोगों की लड़ाई समाप्त भी न होने पाई थी कि एशिया के दूसरे कोने में, मंगोलिया में, गीज़खाँ मुग़ल का—जिसे संसार को विकंपित करनेवाला कहते हैं—अभ्युदय हुआ। उसने सचमुच योरप और एशिया को हिला दिया। उसने और उसके वंशजों ने बग़दाद और उसके साम्राज्य का अंत कर डाला। मंगोलों ने बग़दाद के विशाल और परम-प्रसिद्ध नगर को इस बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट किया कि वह जलकर ख़ाक और उसकी २० लाख जन-संख्या का अधिकांश कराल काल की भेंट होगया। यह घटना १२५८ ई० प० में हुई थी।

बग़दाद आज फिर एक समुन्नत नगर है। इराक़ के राष्ट्र की वही राजधानी है। लेकिन वह अब अपने पुराने वैभव की छायामात्र है। मंगोलों ने वहाँ जो संहार और विनाश का तांडव रचा था, उसके आघात से वह फिर न सम्हल पाया।

(५१)

हर्ष से महमूद तक के उत्तरीय भारत में

जून १, १९३२

अरब-वासियों या सरासीनों की कहानी को रोककर, आओ, दूसरे देशों पर हम एक नजर डालें। जब अरब-वासी बढ़ रहे, विजय करते-फिरते, अपना अधिकार जमाते जाते और उसके बाद क्षीण हो रहे थे; तब भारत, चीन अथवा योरप के देशों में क्या हो रहा था? इसकी कुछ-कुछ झलक हमें पहले ही मिल चुकी है—जैसे चार्लस मारतैल के नेतृत्व में संमिलित सेनाओं द्वारा अरबों का परास्त होना, अरब-निवासियों का मध्य एशिया को जीत लेना और भारत के सिंध प्रांत में उनका आकर जम जाना। आओ, पहले हम भारत की ओर चलें।

कन्नौज का राजा हर्षवर्धन ६४८ ई० प० में मरा। उसके मरते ही उत्तरीय भारत की राजनीतिक अवनति और भी अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी। कुछ समय पहले ही से यह ह्रास होने लगा था। हिंदू धर्म्म का बौद्ध मत से संघर्ष देश को अधःपतन की ओर ले जाने में सहायक हुआ। हर्ष के समय में अल्पकाल तक तो शक्तिशालीनता का खूब ही बाह्याडंबर दिखाई दिया। उसके बाद उत्तरीय भारत में अनेक छोटी-छोटी रियासतें स्थापित हो गईं, जिनमें से कोई-कोई कुछ समय के लिए चमक उठती, और कभी-कभी आपस में लड़ती रहती थीं। यह एक विचित्र बात है कि हर्ष के मरने के बाद तीन सौ साल तक कला और वाङ्मय फलते-फूलते रहे और सार्वजनिक हित के और भी अनेक कार्य्यों का संपादन होता गया। भवभूति और राजशेखर के समान संस्कृत के अनेक प्रसिद्ध ग्रंथकार इस युग में उत्पन्न हुए; इस काल के बहुत से राजों ने, जो राजनीतिक दृष्टि से नगण्य थे, कला और विद्या को प्रोत्साहन देने के कारण बहुत नाम कमाया। इनमें से एक—राजा भोज—आदर्श राजा के साक्षात् अवतार माने जाते हैं, यद्यपि उनकी यह कीर्ति कल्पना-जनित है। आज दिन भी लोग उनका आदर्श राजा के रूप में गुणगान किया करते हैं। क्या तुमने राजा भोज और गंगा तेली की कहावत नहीं सुनी?

लेकिन इस प्रकार के क्षणिक प्रकाश के होते हुए भी उत्तरीय भारत का ह्रास होता गया। दक्षिणी भारत ने फिर से अग्रसर होकर उत्तरीय भारत पर अपना रोब जमा लिया। एक पिछले (नं० ४४) पत्र में तत्कालीन दक्षिणी भारत का कुछ हाल बताते हुए मैंने चालुक्यों, चोला साम्राज्य, पल्लवों और राष्ट्रकूटों का जिक्र किया था। शंकराचार्य्य के संबंध में भी थोड़ा-बहुत लिखा जा चुका है, जिन्होंने थोड़ी-सी आयु में भारतवर्ष भर के पंडितों और अपंडितों पर अपना सिक्का जमा लिया था और जो भारत में बौद्ध मत का एक प्रकार से समूल अंत करने में सफल हुए थे। यह एक विचित्र बात है कि जिस समय उन्होंने यह काम किया, उसी समय एक दूसरा नया धर्म्म भारत का दरवाजा खटखटा

रहा था। इसके कुछ दिनों बाद विदेशी विजेताओं की भारतवर्ष में ऐसी बाढ़-सी आ गई कि उसके कारण प्रचलित सामाजिक संघटन को अपनी जान के लाले पड़ गए!

अरब-निवासी इस्लाम के अभ्युदय के कुछ दिनों बाद, हर्ष के जीवन-काल ही में, भारत की सीमा पर आ पहुँचे थे। कुछ समय तक तो वे वहीं पर रुके रहे। फिर उन्होंने सिंध पर अधिकार कर लिया। ७१० ई० प० में १७ वर्ष के एक नवयुवक, मोहम्मद बिन कासिम, ने पश्चिमी पंजाब के मुलतान नगर तक सिंधु की घाटी को जीतकर अरब-शासन के अधीन कर लिया। यदि अरबों न विशेष रूप से उद्योग किया होता तो संभव है कि वे इस स्थान से कहीं आगे बढ़ गए होते। उन्हें इस काम में अधिक कठिनाई न होती; क्योंकि उत्तरीय भारत दुर्बल हो चुका था। यद्यपि अरबों के साथ पड़ोसी राजाओं की बहुधा लड़ाई छिड़ी रहती थी, परंतु देश को विजय करने की कोई संघटित चेष्टा अरबों ने कभी नहीं की। अतएव, राजनीतिक दृष्टि से, अरबों की सिंध पर विजय कोई महत्त्वपूर्ण घटना न थी। भारत को मुसलिम कई सौ वर्ष में विजय कर पाए। लेकिन भारतीयों और अरबों के संस्पर्श के परिणाम सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत व्यापक सिद्ध हुए।

दक्षिणी भारत के शासकों, विशेषकर राष्ट्रकूटों, के साथ अरबों की मैत्री थी। बहुत-से अरब भारत के पश्चिमी तट पर बस गए थे, और अपनी बस्तियों में उन्होंने मसजिदें भी बनाई थीं। अरब यात्री और व्यापारी भारत के विभिन्न भागों में आया-जाया करते थे। भारत में तक्षशिला का विश्वविद्यालय आयुर्वेद की शिक्षा के लिए विशेष रूप से बहुत प्रसिद्ध था। वहां अनेक अरब विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते थे। कहा जाता है कि हारूँ-अल-रशीद के ज़माने में भारतीय पांडित्य का बग़दाद में बड़ा मान था। हस्पतालों और आयुर्वैदिक पाठशालाओं को सुचारू रूप से चलाने के लिए, भारत से वैद्य वहाँ बुलाए गए थे। गणित तथा ज्योतिष के संस्कृत ग्रंथों के अरबी अनुवाद भी तैयार किए गए थे।

इस प्रकार अरबों ने प्राचीन भारतीय आर्य्य संस्कृति से बहुत-कुछ सीखा। उन्होंने ईरान की आर्य्य संस्कृति से भी कई बातें ग्रहण कीं और ग्रीक संस्कृति के भी कुछ अंश अपनाए। अरब तो एक नवोदित जाति के समान पराक्रमशाली और शक्ति-संपन्न थे। जिन-जिन प्राचीन संस्कृतियों को उन्होंने अपने अड़ोस-पड़ोस में पाया, उनसे शिक्षा ग्रहण करते हुए उन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया। प्राचीन संस्कृतियों के इस आधार पर उन्होंने अपनी निजी—सारासीनिक—संस्कृति की सृष्टि की। अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा, यह संस्कृति थी तो अल्पकालिक; किंतु उसमें इतनी अधिक आभा थी कि उसकी ज्योति से अंधकारमय मध्यकालीन योरप आलोकित हो उठा।

यह एक विलक्षण बात है कि यद्यपि अरबों ने भारतीय आर्य्य ईरानी और हैलनिक (ग्रीस की) संस्कृतियों के साथ अपने संपर्क से लाभ उठाया; परंतु भारतीय, ईरानी और ग्रीक, आत्मोन्नति के लिए, अरबों के साथ अपने संपर्क का कुछ भी उपयोग न कर सके। संभवतः इसका यह कारण रहा हो कि इधर तो अरब-निवासी नवोदित तथा शक्ति और उत्साह से परिपूर्ण थे, उधर दूसरी जातियाँ वयोवृद्ध हो चुकी थीं। वे लकीर पीटती चली जाती थीं। उन्हें परिवर्त्तन की कोई विशेष चिंता न थी। यह एक विचित्र बात है कि आयु का

जातियों पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा व्यक्तियों पर—उनकी गति मंद हो जाती है, उनके शरीर और मस्तिष्क जकड़ जाते हैं, वे परिवर्तन से भयभीत पुरातन-पंथी बन जाते हैं।

इस प्रकार यद्यपि अरबों के साथ भारत का कई शताब्दियों तक संस्पर्श रहा, परंतु इसके कारण न तो इस देश पर उस संस्पर्श का कुछ प्रभाव पड़ा और न उसमें कोई परिवर्त्तन ही हुआ। लेकिन विस्तृत कालावधि में भारत को इस नए धर्म्म, इस्लाम, का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य ही हो गया होगा। अरब से मुसलिम भारत में आए, और चले गए। उन्होंने मसजिदें बनाईं; यदा-कदा अपने धर्म्म का प्रचार भी किया; और कुछ लोगों को अपने धर्म्म की दीक्षा भी दी। परंतु ऐसा मालूम होता है कि इन बातों पर उन दिनों कभी किसी ने कोई आपत्ति न की, और न इसके कारण हिंदू और मुसलमानों में कोई दंगा-फ़साद ही हुए। इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है, क्योंकि बाद में इन दोनों मतों में ज़बर्दस्त संघर्ष और झगड़े हुए। ये बातें तो तब से होने लगीं, जब ११वीं शताब्दी में इस्लाम भारत में विजेता के रूप में खंगहस्त होकर आया। तब से इसके कारण हिंदुओं में भीषण प्रतिक्रिया का भाव उत्पन्न हुआ; और पुरातन सहिष्णुता के स्थान में एक-दूसरे के प्रति घृणा पैदा हो गई और संघर्ष मच गया।

जो खंगधारी विजेता भारत में संहार और विनाश की मूर्ति बनकर आया था, वह गज़नी का महमूद था। आज दिन गज़नी अफ़गानिस्तान में एक छोटा-सा क़स्बा है। गज़नी दसवीं सदी में एक राष्ट्र में परिणत हो गया था। नामचार के लिए तो मध्य एशिया की रियासतें बग़दाद के ख़लीफ़ा की अधीनता को स्वीकार करती थीं; लेकिन, जैसा मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, हारूँ-अल-रशीद की मृत्यु के बाद ख़लीफ़ा की शक्ति क्षीण हो गई थी, और एक ऐसा समय भी आया था जब उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर कई स्वतंत्र राष्ट्रों में बँट गया था। उसी ज़माने का अब हम उल्लेख कर रहे हैं। सुबुक्तग़ीन-नामक एक तुर्की ग़ुलाम ने ९७५ ई० प० के लगभग गज़नी और कंदहार के प्रदेश में अपना राज्य स्थापित कर लिया। उसने भारत पर हमला किया। उन दिनों जयपाल लाहौर का राजा था। दुस्साहसी जयपाल काबुल की घाटी में सुबुक्तगीन से लड़ा और वहाँ से पराजित होकर लौटा।

सुबुक्तगीन के बाद उसका लड़का महमूद सिंहासन पर बैठा। वह रण-विद्या में निपुण और घुड़सवारों का अपूर्व नेता था। प्रतिवर्ष वह भारत पर धावा मारता, नगरों को लूटता, विरोधियों का संहार करता और भारत से अपार धन और बहुत-से बंदी ले जाता था। कुल मिलाकर उसने भारत पर सत्तरह आक्रमण किए। सिर्फ़ एक बार—काश्मीर के धावे में—वह विफल रहा। अन्य सब आक्रमणों में वह सफल हुआ, सारा उत्तरीय भारत उसके नाम से कांपता था। दक्षिण दिशा में वह पाटलिपुत्र और मथुरा से सोमनाथ तक गया। कहा जाता है कि वह थानेश्वर से दो लाख बंदी और अनंत धन-राशि ले गया। लेकिन उसे सब से अधिक धन की प्राप्ति सोमनाथ में हुई; क्योंकि यहाँ पर देश का एक परम प्रतिष्ठित मंदिर था, जिसमें सदियों की भेंट का धन संगृहीत था। कहा जाता है कि जब महमूद सोमनाथ के पास पहुँचा तब हज़ारों आदमी मंदिर में आश्रय के लिए भाग आए; क्योंकि उनको विश्वास था कि वहाँ कोई न कोई चमत्कार अवश्य होगा और भगवान

उनकी रक्षा करेंगे। लेकिन श्रद्धालुओं के कल्पना-जगत् के बाहर विरले ही कभी चमत्कार हुआ करते हैं। महमूद ने मंदिर को खूब लूटा और नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। ५० हज़ार आदमी, जो वहां असंभव चमत्कार की प्रतीक्षा कर रहे थे, मारे गए।

महमूद की मृत्यु १०३१ ई० प० में हुई। मरने के समय समस्त पंजाब और सिंध उसके अधीन थे। लोगों की धारणा है कि वह इस्लाम का एक महाप्रतापी नेता था, जो भारत में अपने धर्म्म का प्रचार करने के लिए आया था। अधिकांश मुसलमान उसकी बहुत ज्यादा इज्ज़त करते हैं; और अधिकांश हिंदू उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वास्तव में, वह नामचार ही के लिए धार्म्मिक था। यह ठीक है कि वह मुसलमान था, लेकिन यह तो एक गौण बात थी। वह प्रधानतया सैनिक, और प्रतिभाशाली सैनिक, था। वह भारत में विजय लाभ करने और धन-दौलत लूटने के लिए आया था। दुर्भाग्यवश, सभी सैनिक यही करते हैं। चाहे जिस धर्म्म का वह अनुयायी होता, वह भी यही करता। यह एक रोचक बात है कि महमूद ने सिंध के मुसलिम शासकों के विरुद्ध भी आक्रमण करने का धमकी दी थी; लेकिन जब उन लोगों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और उसे कर देना स्वीकार कर लिया तब उसने उनका पिंड छोड़ा। उसने बग़दाद के खलीफ़ा तक को मार डालने की धमकी दी थी, और उससे समरकंद का नगर को मांगा था। अतएव हमें, दूसरों की तरह, यह समझने की भूल न करनी चाहिए कि महमूद एक सफल सैनिक के अतिरिक्त कुछ और था।

महमूद अपने साथ भारत से गज़नी को बहुत-से शिल्पी और कारीगर ले गया था। वहाँ उसने एक बहुत ही सुंदर मसजिद बनवाई, जिसका नाम उसने "स्वर्ग की वधू" रक्खा। उसे उद्यानों से बड़ा प्रेम था।

महमूद ने हमें मथुरा की एक झलक दिखाई है, जिससे पता चलता है कि वह कितना बड़ा नगर था। गज़नी में उसका जो गवरनर था, उसको उसने एक पत्र में लिखा था—"यहाँ, मथुरा में, एक हजार ऐसे प्रासाद हैं जो उतने ही दृढ़ हैं जितनी श्रद्धालु की श्रद्धा। यह भी संभव नहीं मालूम होता है कि लाखों-करोड़ों रुपयों की लागत के बिना यह नगर अपनी वर्त्तमान अवस्था को प्राप्त हुआ हो, और न इसके समान दूसरा शहर दो सौ वर्षों की कम अवधि में निर्मित ही किया जा सकता है।"

महमूद-लिखित मथुरा का उपर्युक्त विवरण हमें फ़िरदौसी के एक लेख में मिलता है। फ़िरदौसी फ़ारसी भाषा का महाकवि था। वह महमूद का समकालीन था। मुझे याद पड़ता है कि गत वर्ष मैंने तुम्हें जो पत्र लिखे थे उनमें से एक में मैंने फ़िरदौसी और उसके प्रधान ग्रंथ, शाहनामा, का ज़िक्र किया था। किंवदंती है कि शाहनामा की रचना महमूद के आग्रह से हुई। महमूद ने फ़िरदौसी को प्रत्येक दो शेरों के लिए एक सुवर्ण दीनार देने का वचन दिया था। लेकिन मालूम होता है कि को किसी विषय का संक्षेप में वर्णन करना उसे न रुचता था। उसने अत्यधिक विस्तार के साथ ग्रंथ की रचना की। जब वह अपने कई सहस्र पद्य महमूद के पास ले गया तब उसकी कृति की तो भूरि-भूरि प्रशंसा की गई, लेकिन महमूद को अपनी अदूरदर्शिता-पूर्ण प्रतिज्ञा पर

पश्चात्ताप होने लगा। उसने उसे उपहार में बहुत कम धन देने की चेष्टा की। इस पर फ़िरदौसी बेहद नाराज़ हो गया, और पुरस्कार के रूप में कुछ भी लेने से उसने इनकार कर दिया।

हर्ष से महमूद तक पहुँचने में हमने एक लंबी छलाँग मारी और थोड़े से पैराग्राफ़ों में साढ़े तीन सौ वर्षों से भी अधिक विस्तृत कालावधि का सिंहावलोकन कर डाला है। मेरी धारणा है कि इस युग के संबंध में बहुत-सी ऐसी बातें लिखी जा सकती हैं, जो रोचक मालूम होंगी। लेकिन मैं उनसे अनभिज्ञ हूँ, अतएव उनके विषय में मौन रहना ही बुद्धिसंमत मालूम होता है। मैं तुम्हें विभिन्न राजाओं और शासकों का कुछ न कुछ हाल बता सकता हूँ, जो एक-दूसरे से लड़ा और कभी-कभी पांचाल राज्य के समान बड़ी-बड़ी सलतनतें स्थापित करते थे। कन्नौज की महानगरी की विपदाओं का भी मैं उल्लेख कर सकता हूँ—उस पर कैसे पहले काश्मीर के राजाओं ने, फिर बंगाल के अधिपतियों ने, और उनके बाद राष्ट्रकूटों ने आक्रमण किए और अधिकार जमाया। लेकिन इससे कोई विशेष लाभ न होगा। उलटा, तुम उलझन में पड़ जाओगी।

हम भारतीय इतिहास के एक सुदीर्घ अध्याय के अंत तक पहुँच गए हैं, और अब एक नवीन अध्याय का आरंभ होता है। इतिहास को विभागों या खंडों में विभाजित करना कठिन और प्रायः भ्रांतिमूलक है। वह तो बहती हुई नदी के समान है। उसका प्रवाह निरंतर जारी रहता है, कभी नहीं रुकता। फिर भी वह बदलता रहता है, और कभी-कभी हम उसके एक पहलू का अंत और दूसरे का आरंभ देखते हैं। ऐसे परिवर्तन आकस्मिक नहीं हुआ करते। एक स्थिति दूसरी स्थिति में बहुत धीरे-धीरे बदला करती है। जहाँ तक भारत का संबंध है, वहाँ तक इतिहास-रूपी शाश्वत नाटक के एक अंक के अंत तक हम पहुँच गए हैं। जिस युग को हिंदू-युग कहते हैं, वह अब धीरे धीरे समाप्त हो रहा है। भारत की जो आर्य्य संस्कृति कई हज़ार वर्षों से फूलती-फलती चली आती थी, उसे अब एक नवागत संस्कृति से अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ेगा। लेकिन याद रखना कि यह परिवर्त्तन आकस्मिक न था। यह सच है कि बहुत ही मंद गति से और सुदीर्घ अवधि के बाद यह परिवर्त्तन हुआ। महमूद के साथ ही इस्लाम उत्तरीय भारत में आया था। दक्षिणी भारत में तो बहुत दिनों तक इस्लामी विजेता भी न पहुँचे थे। बंगाल भी लगभग दो सौ वर्षों तक इससे बचा रहा। उत्तर में चित्तौर राजपूत जातियों के संमिलित संगठन का केंद्र बन गया था। यही वह चित्तौर है, जिसने आगे के युगों में अपनी निश्शंक वीरता के लिए प्रसिद्धि पाई। लेकिन अनवरुद्ध गति से और निष्ठुरता के साथ मुसलिम विजय की धारा आगे बढ़ती गई, और उसके रोकने में वैयक्तिक साहस का कितनी ही अधिक मात्रा में उपयोग क्यों न किया गया हो, लेकिन उसकी गति का रोकना असंभव था। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि प्राचीन भारतीय आर्य्य संस्कृति का ह्रास हो रहा था।

विदेशी विजेताओं की गति रोकने में असमर्थ होने के कारण, भारतीय आर्य संस्कृति ने आत्म-संरक्षण की नीति का अवलंबन किया। अपनी रक्षा करने की चेष्टा में उसने अपने को एक गुफ़ा में बंद कर लिया। उसने अपनी वर्ण-व्यवस्था को, जिसमें इस समय तक नमनशीलता—लोच—का कुछ न कुछ अंश शेष था, और भी अधिक जकड़कर सुदृढ़ बनाया

और स्त्रियों की स्वाधीनता बहुत कम कर दी। ग्राम-पंचायतें धीरे-धीरे अवनत होने लगीं। भारत का यह ह्रास यद्यपि अधिक शक्तिशाली जातिवालों की आंख के सामने हो रहा था, परंतु उसने अपने ह्रास में भी उन्हें प्रभावित करने और अपने अनुरूप ढांचे में ढालने का उद्योग किया। और उसकी संमिश्रण और समीकरण की शक्ति इतनी प्रबल थी कि वह अपने विजेताओं के ऊपर किसी अंश तक सांस्कृतिक विजय प्राप्त करने में सफल भी हुआ।

तुम्हें याद रखना चाहिए कि यह संघर्ष भारतीय आर्य्य संस्कृति का समुन्नत अरब-निवासियों के साथ संघर्ष न था। यह तो अधोगामी भारतीयों का मध्य एशिया की अर्ध-संस्कृत और अंशतः खानाबदोश जातियों से संघर्ष था। इन जातियों ने, इसके थोड़े ही समय पहले, इस्लाम धर्म्म को ग्रहण किया था। दुर्भाग्य से, भारत ने उनकी असभ्यता और महमूद के आक्रमणों की नृशंसता को इस्लाम के मत्थे मढ़ दिया। इस तरह इन दोनों मतों के अनुयायियों में आपस का मनमोटाव बढ़ता गया।

(५२)

योरप के देश साकार होने लगे

जून ३, १९३२

प्यारी बेटी, आओ, अब हम योरप की सैर करें। पिछली बार जब हम वहाँ गए थे तब उसकी बुरी दशा थी। रोम के पतन का यह परिणाम हुआ कि पश्चिमी योरप में सभ्यता का अंत हो गया। जितने भूभाग पर कानस्टैंटिनोपल का शासन था उसको छोड़कर, शेष पूर्वीय योरप में तो परिस्थिति और भी अधिक खराब थी। ऐटिला-नामक हूण योरपीय महाद्वीप के बहुत-से प्रदेशों को पहले ही जला कर विनष्ट कर गया था। लेकिन पतनावस्था में भी पूर्वीय रोमन साम्राज्य इतने दिनों तक जीवित रहा और इस कालावधि में कई अवसरों पर उसने प्रचंड पराक्रम का भी प्रदर्शन किया।

रोम के पतन के कारण पश्चिम में जो भूकंप आया था उसके बीत जाने पर जीवन-क्रम एक नए ढर्रे पर चलने लगा। वास्तव में, साम्यावस्था के स्थापित होने में बहुत समय लगा। लेकिन चित्र की रूप-रेखा चित्रण-क्रम में भी कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगती है। ईसाई मत का प्रचार बढ़ता गया। इस प्रचार के कार्य्य में उसे कभी साधु-संतों और शांतिप्रिय महात्माओं से और कभी युद्धप्रिय नरेशों की तलवारों से सहायता मिली। नए-नए राज्य स्थापित हुए। फ्रैंकों ने—इन्हें फ्रेंच समझने की भूल न करनी चाहिए—फ्रांस, बेलजियम और जर्मनी के कुछ भाग के संमिलित भूखंड को एक राज्य में संघटित किया। इस राज्य के राजा का नाम क्लोविस था, जिसने ४८१ से ५११ ई० प० तक शासन किया। इसका राजवंश मैरोविनजिएन कहलाता था। लेकिन थोड़े ही समय में इस वंश के नृपतियों के हाथ से उन्हीं की राजसभा के एक कर्म्मचारी ने सारी शक्ति छीन ली। यह कर्म्मचारी राजमहल का "मेयर" या प्रधानाध्यक्ष कहलाता था। ये "मेयर" सर्वशक्तिसंपन्न हो गए और उनका पद एक प्रकार से मौरूसी हो गया। अब से वे ही वास्तव में शासन करने लगे, राजा तो महज काठ की पुतली था।

राजमहल के इन्हीं मेयरों में से एक मेयर ने, जिसका नाम चार्लस मारतैल था, ७२२ ई० प० में टूअर (फ्रांस) के महायुद्ध में सरासीनों को परास्त किया। इस विजय ने सरासीनों की गति को रोक दिया और, ईसाइयों की दृष्टि में, योरप को उनके चंगुल से सदा के लिए मुक्त कर दिया। इसके कारण मारतैल की कीर्ति और महिमा बहुत बढ़ गई। शत्रुओं से लोहा लेने के लिए उसको लोग ईसाई जगत् का प्रमुख योद्धा मानने लगे। इन्हीं दिनों रोम के पोपों की कानस्टैंटिनोपल के सम्राट् के साथ बड़ी अनबन थी। अतएव वे भी सहायता की आशा से चार्लस मारतैल के कृपा-भाजन बनने की चेष्टा करने लगे। मारतैल के पुत्र, पैपिन, ने अपने को राजा घोषित करने का निश्चय कर लिया। जब उसने राज-सिंहासन से कठपुतली को हटाने का अपना इरादा प्रकट किया, तब रोम के पोप महोदय उसके इस प्रस्ताव से तुरंत ही सहमत हो गए।

पैपिन के पुत्र का नाम था शार्लेमेन। थोड़े दिनों बाद, पोप फिर संकट में फँसा और उसने रक्षा के लिए शार्लेमेन को बुला भेजा। शार्लेमेन या चार्लस ने पोप के अनुरोध को स्वीकार कर उसके शत्रुओं को मार भगाया, और ८०० ई० प० में क्रिसमस के दिन कैथीड्रल (बड़े गिरजों को कैथीड्रल कहते हैं) में उसके राज्याभिषेक का उत्सव मनाया गया। पोप ने शार्लेमेन को रोमन सम्राट् का तिलक दिया। उस दिन से उस पुनीत रोमन साम्राज्य का आरंभ हुआ, जिसके संबंध में मैं तुम्हें एक बार पहले लिख चुका हूँ।

यह एक विलक्षण साम्राज्य था, और भविष्य में उसका इतिहास उस समय तक अधिकाधिक विलक्षण होता गया जब तक वह, 'एलिस इन दि वंडरलैंड' की शायर-बिल्ली की तरह, धीरे-धीरे विलीन न हो गया। वह तो लोप हो गई ; केवल उसका स्मित हास्य पीछे रह गया।

इस पुनीत रोमन साम्राज्य को पुराने पश्चिमी रोमन साम्राज्य का उपक्रम या उत्तरकांड न समझना चाहिए। प्राचीन रोमन साम्राज्य और इस साम्राज्य में बहुत अंतर था। यह अपने को साक्षात् साम्राज्य मानता था—जिसका सम्राट्, संभवतः पोप को छोड़कर, संसार भर का अधीश्वर था। कई शताब्दियों तक पोप और सम्राट् में इस बात पर झगड़ा होता रहा कि इन दोनों में कौन बड़ा है। लेकिन यह तो आगे की बात है। यहां पर इस बात का उल्लेख करना अधिक रोचक होगा कि तत्कालीन लोगों की धारणा थी कि इस नए साम्राज्य के रूप में उस प्राचीन रोमन साम्राज्य का पुनर्जन्म हुआ है, जो संसार का सर्वेसर्वा था और जिसके समय में रोम को लोग 'जगत् की स्वामिनी' कहते थे। लेकिन इस धारणा के साथ एक और नया भाव जोड़ दिया गया था। वह था ईसाई मत और ईसाई जगत् का भाव। अतएव, यह साम्राज्य "पुनीत" कहलाने लगा। लोग सम्राट् को इस लोक में ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे। पोप के विषय में भी उनको ऐसी ही धारणा थी। एक राजनीतिक मामलों की देखरेख करता था, दूसरा धार्म्मिक मामलों की। कम से कम धारणा तो यही थी। मेरा अनुमान है कि इसी भावना के आधार पर योरप में राजाओं के ईश्वर-दत्त अधिकारों की धारणा फैली। सम्राट् को लोग धर्म्म का रक्षक मानते थे। तुम्हें यह बात रोचक मालूम होगी कि अंगरेजों के राजा आज दिन भी 'धर्म्म-रक्षक' की उपाधि धारण करते हैं।

इस पुनीत रोमन सम्राट् की खलीफ़ा के साथ, जो 'धर्म्म का सेनापति कहलाता' था, तुलना तो करो। आरंभ में खलीफ़ा सम्राट् भी था और पोप भी। किंतु बाद में, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, वह एक कठपुतली-मात्र रह गया।

स्वभावतः कानस्टेंटिनोपल के सम्राटों को पश्चिमी योरप का नव-स्थापित "पुनीत रोमन साम्राज्य" पसंद न आया। जिस समय शार्लेमेन का राज्याभिषेक हुआ था, उस समय एक स्त्री, आइरीन, कानस्टेंटिनोपल में सम्राज्ञी बन बैठी थी। यह वही दुष्टा है, जिसने अपने पुत्र को, सम्राज्ञी होने की कामना से, मार डाला था। उसके शासन-काल में काफ़ी गड़बड़ी रही। एक यह कारण भी था, जिसने पोप को शार्लेमेन को राजतिलक देकर कानस्टेंटिनोपल से संबंध-विच्छेद करने में प्रोत्साहन दिया।

शार्लेमेन अब पश्चिमी ईसाई जगत् का अधिनायक हो गया। इस पृथ्वी पर वह ईश्वर का प्रतिनिधि और पुनीत रोमन साम्राज्य का सम्राट् था। इन उपाधियों से कैसी आडंबरपूर्ण ध्वनि निकलती है। लेकिन जनता को बहकाने और उन्हें मंत्र-मुग्ध करने में ये पूरी तौर से सफल हुईं। अपने पक्ष के समर्थन में ईश्वर और धर्म्म की दुहाई देकर अधिकारीवर्ग बहुधा दूसरों को वेवकूफ़ बनाने और अपना मतलब गांठने की चेष्टा करता रहा है। इस तरह जन-साधारण की नज़रों में, राजा या सम्राट् और धर्म्माचार्य बहुत-कुछ देवता-तुल्य और इतने रहस्यमय बन गए कि उनकी रूप-रेखा उन स्वप्निल मूर्तियों की तरह धुंधली और अस्पष्ट हो गई, जिनको सांसारिक जीवन से कभी कोई सरोकार नहीं रहता। रहस्य के इस आवरण ही के कारण लोग उनसे डरने लगते हैं। राज-दरबारों की जटिल आचरण-संबंधी रीति-नीति से मंदिरों और गिरजाघरों के उसी तरह के पेचादा पूजापाठ-विषयक विधानों की तुलना तो करो। दोनों ही में दंडवत् प्रणाम करने की—झुक-झुककर सलाम या धराशया होकर अभिवादन करने अथवा, चीनवालों के शब्दों में, काऊ टाऊ करने की—एक ही सी परिपाटी है। अधिकार-भोगी शक्ति-संपन्न महापुरुषों के जितने वर्ग होते हैं, उन सबकी इसी प्रकार पूजा करने की शिक्षा हमें बचपन ही से दी जाती है। यह तो भय की उपासना है, न कि प्रेम की।

शार्लेमेन बग़दाद के हारूँ-अल-रशीद का समसामयिक था। इन दोनों में पत्र-व्यवहार भी होता था; और यह ध्यान में रखने की बात है कि हारूँ ने यह प्रस्ताव किया था कि पूर्वीय रोमन साम्राज्य और स्पेन के सरासीनों से मिलकर लड़ने के उद्देश से दोनों आपस में संधि कर लें। इस प्रस्ताव का कुछ भी परिणाम न निकला। फिर भी राजाओं और राजनीतिज्ञों की मनोवृत्तियों की खासी झलक हमें इस प्रस्ताव से मिलती है। एक ईसाई राष्ट्र और एक अरब राष्ट्र का विरोध करने के उद्देश से बग़दाद के खलीफ़ा के साथ ईसाई जगत् के अधिनायक, "पुनीत" सम्राट्, के मेल की कल्पना तो करो। तुम्हें याद होगा कि स्पेन के सरासीनों ने बग़दाद के अब्बासी खलीफ़ाओं को खलीफ़ा स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। वे स्वतंत्र रूप से राज्य करते थे। यही बात बग़दाद वालों को खटकती थी। लेकिन बग़दाद स्पेन से बहुत दूर था। उधर कानस्टेंटिनोपल और शार्लेमेन में भी अनबन रहती थी। लेकिन यहाँ भी एक दूसरे से बहुत दूर होने के कारण लड़ाई असंभव थी। इन बातों के होते हुए भी यह प्रस्ताव किया गया कि ईसाई और अरब आपस में मेल कर लें ताकि दोनों मिलकर एक ईसाई राष्ट्र और एक अरब राष्ट्र पर हमला कर सकें। इन राजाओं की असली नीयत थी कि किसी तरह उनकी शक्ति बढ़े, उनके अधिकार की सीमा विस्तृत हो जाय और उनको प्रचुर धन मिल जाय; किंतु अपने उद्देश को वे बहुधा धर्म्म का जामा पहना देते थे। सभी जगह ऐसा ही हुआ है। भारत में हम महमूद को धर्म्म के नाम पर आक्रमण करते और उससे मालामाल होते पाते हैं। धर्म्म की दुहाई से लोगों को प्रायः खासी आमदनी हुआ करती है।

लेकिन लोगों की धारणाएँ प्रति युग में बदला करती हैं। आज से बहुत पहले के लोगों के संबंध में कोई निश्चित् संमति देना हमारे लिए कठिन है। हमें इस मर्म को सदा ध्यान में रखना चाहिए। आज दिन जो बहुतेरी बातें हमें स्पष्ट मालूम होती हैं, वे ही उन लोगों

को, जिनके आचार-विचार आज दिन हमें विलक्षण दिखाई देते हैं, विचित्र मालूम होती रही होगीं। इधर तो लोग उच्चादर्श, पुनीत साम्राज्य और ईश्वर के प्रतिनिधि तथा मसीह के उत्तराधिकारी, पोप, की बातें करते थे; उधर पश्चिमी जगत् में जनता को दशा शोचनीय थी। शार्लेमेन के बाद इटली और रोम की अवस्था बहुत खराब हो गई। रोम के पतित नर-नारियों का एक गुट्ट जो चाहता सो करता और पोपों को बनाता-बिगाड़ता था।

सचमुच, रोम के पतन से योरप में जो गड़बड़ी फैली थी, उसी का यह परिणाम था कि लोगों के मन में यह विचार उठने लगा कि यदि साम्राज्य का पुनरुत्थान हो तो दशा सुधर जायगी। बहुत से लोग इसी बात में आत्म-गौरव समझते थे कि उनका भी एक सम्राट् हो। एक तत्कालीन लेखक कहता है—"यदि ईसाइयों में सम्राट् का नाम लुप्त हो गया तो अन्य मतावलंबी ईसाइयों का तिरस्कार करने लगेंगे।"

शार्लेमेन के साम्राज्य में फ्रांस, बैलजियम, हालैंड, स्वीट्ज़रलैंड, आधा जर्मनी और आधा इटली संमिलित थे। उसके दक्षिण-पश्चिम में अरब-शासित स्पेन था; उत्तर-पूर्व में स्लाव तथा अन्य जातियां थीं; उत्तर में डेन तथा नार्थमैन थे; दक्षिण-पूर्व में बलगेरियन और सरवियन जातियाँ थीं; और उनके पूर्व में कानस्टेंटिनोपल का पूर्वीय रोमन साम्राज्य था।

शार्लेमेन ८१४ ई० प० में मरा, और इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद साम्राज्य के बंटवारे के लिए झगड़े उठ खड़े हुए। उसके वंशज, जो कार्लोविनजिएन—लैटिन भाषा में चार्लस को कारोलस कहते हैं—कहलाते थे, किसी काम के न थे, जैसा उनकी उपाधियों या उपनामों ही से प्रकट होता है। एक 'मोटा' कहलाता था; दूसरा गंजा; तीसरा भक्त। शार्लेमेन के राज्य के विभाजन के समय से फ्रांस और जर्मनी के व्यक्तित्व-विशिष्ट को प्रस्फुटित होते हुए हम देखते हैं। कहते हैं कि ८०० ई० प० से एक जाति-विशिष्ट के रूप में जर्मनी की गणना होने लगी। यह भी कहा जाता है कि सम्राट् आटो महान् ने, जिसने ९६२ से ९७३ ई० प० तक राज्य किया, जर्मनों को एक सूत्र में न्यूनाधिक बांधकर एक जाति-विशेष का रूप दिया। ९८७ ई० प० में ह्यू कैपे ने शक्तिहीन कार्लोविनजिएनों को मार भगाया और फ्रांस पर अधिकार कर लिया। इसका अर्थ यह नहीं है कि फ्रांस पर उसका पूरा अधिकार हो गया था। फ्रांस बड़े-बड़े टुकड़ों में विभक्त था, जिन पर स्वतंत्र सरदार शासन करते थे। वे आपस में प्रायः लड़ा-भिड़ा करते थे। लेकिन उन्हें एक दूसरे का जितना भय था, उससे कहीं अधिक भय था सम्राट् और पोप का। इसीलिए इन दोनों का विरोध करने के उद्देश से वे सब एक हो गए। ह्यू कैपे के समय से एक जाति-विशेष के रूप में फ्रांस का विकास होने लगा। इस आरंभिक युग में भी हमें फ्रांस और जर्मनी कीप्रतिद्वंदिता दिखाई देती है। यह होड़ा-होड़ी पिछले हज़ार वर्षों से चली आती है। आज दिन भी वह विद्यमान है। कितनी विचित्र बात है कि फ्रांस और जर्मनी के समान दो सुसंस्कृत और गुणसंपन्न राष्ट्र पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस प्राचीन वैमनस्य की ज्वाला को प्रज्वलित रक्खें। लेकिन शायद इसमें उनका इतना दोष नहीं है, जितना दोष उन शासन-पद्धतियों का है जिनकी अधीनता में वे तब से रह रहे हैं।

लगभग इसी समय इतिहास के रंगमंच पर रूस भी प्रकट होता है। उत्तर-देश के रुरिक-नामक एक व्यक्ति ने ८५० ई० प० के लगभग रूसी राष्ट्र की नींव डाली। इस समय योरप के दक्षिण-पूर्व में हम बलगेरियनों को देश-विशेष में बसते अथवा दुर्द्धर्ष होते हुए पाते हैं। इसी तरह सरवियनों का भी आविर्भाव इसी समय हुआ। पुनीत रोमन साम्राज्य और नवीन रूस की सीमाओं के मध्य में जो प्रदेश थे, उनमें मग्यार या हंगेरियन और पोल जातिवाले अपने-अपने राष्ट्र स्थापित करने लगे।

एक ओर यह हो रहा था, दूसरी ओर उत्तरीय योरप के निवासी जहाज़ों में पश्चिमी और दक्षिणी देशों को जाते, और वहां आग लगाते तथा लूट-मार करते थे। तुमने डेनों और उत्तरीय प्रदेशों के अन्य निवासियों का हाल पढ़ा होगा, जो इंगलेंड में जाकर लूट-मार करते थे। उत्तर के ये निवासी—या नारथमैन अथवा नारमन, जैसा वे कहलाने लगे थे—भूमध्य-सागर तक जाते, वहां से बड़ी-बड़ी नदियों को अपने जहाज़ों पर पार करते और जहां पहुँचते वहीं लूटते और मारते-काटते थे। इटली में इस समय अराजकता फैल रही थी, और रोम की भी शोचनीय दशा थी। नारमनों ने रोम को लूट लिया, और कानस्टेंटिनोपल भी उनके धावे की आशंका से कांप उठा। इन डाकुओं और लुटेरों ने फ्रांस के नारमैंडी-नामक पश्चिमी प्रांत, सिसली और दक्षिणी इटली पर अधिकार कर लिया। इन प्रदेशों में वे धीरे-धीरे बस गए और उसी प्रकार सरदार या जमींदार बन बैठे, जिस प्रकार समृद्धिशाली होने पर डाकू और लुटेरे प्रायः बन बैठते हैं। फ्रांस के नारमैंडी-नामक प्रांत के इन्हीं नारमनों ने १०६६ ई० प० में इंगलेंड पहुँच कर उसे जीत लिया। उनके नेता का नाम विलियम था, जो विजेता के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार हम इंगलेंड को भी मूर्तिमान् होते देखते हैं।

मोटे तौर पर, अब हम योरप में ईसाई संवत् की प्रथम सहस्राब्दी के अंत तक पहुँच गए हैं। इसी समय के लगभग गज़नी का महमूद भारत पर आक्रमण कर रहा था; और इन्हीं दिनों बग़दाद के अब्बासी खलीफ़ाओं की शक्ति विलीन होने लगी थी। उधर सलजूक तुर्क पश्चिमी एशिया में इस्लाम को पुनरुज्जीवित करने में व्यस्त थे। स्पेन पर अरबों का आधिपत्य था, परंतु इन अरबों का स्वदेश के अरबों से संबंध टूट चुका था। बग़दाद के शासकों से प्रायः इनकी अनबन रहती थी। उत्तरीय अफ्रीका पर बग़दाद का नामचार के लिए आधिपत्य शेष रह गया था; व्यावहारिक दृष्टि से तो वह पूर्णतया स्वतंत्र था। मिस्र में कोई स्वाधीन शासन तो न था; परंतु वहां भी जो खलीफ़ा राज्य करते थे, वे बग़दाद के खलीफ़ाओं से भिन्न थे। कुछ समय के लिए मिस्री खलीफ़ा ने उत्तरीय अफ्रीका पर भी अधिकार कर लिया था।
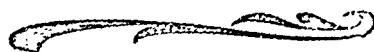
(५३)

मनसबदारी प्रथा

जून ४, १९३२

फ्रांस, जर्मनी, रूस और इंगलैंड को आज दिन जिस रूप में हम देखते हैं, उनके उस रूप के आदिम विकास की एक झलक हमें पिछले पत्र में मिल चुकी है। लेकिन इससे यह न समझना कि उन दिनों इन देशों के विषय में लोगों की वही धारणा थी, जो आज दिन हमारी है। आज हम भिन्न-भिन्न जातियों—अंगरेजों, फ्रेंच और जर्मनों—की बाबत सोचते-विचारते हैं; और इनमें से प्रत्येक को स्वदेश को मातृभूमि या पितृलोक के रूप में भजते हुए देखते हैं। यह राष्ट्रीयता का भाव है, जो वर्तमान काल में इतना अधिक मूर्तिमान् दिखाई देता है। भारत में स्वतंत्रता के लिए हमारा आंदोलन भी "राष्ट्रीय" आंदोलन है। लेकिन राष्ट्रीयता के इस भाव का उन दिनों कोई अस्तित्व न था। उन दिनों योरप में ईसाई जगत् का—मुसलिमों या अन्य मतावलंबियों के विरोध में ईसाइयों के जत्थे या समाज का एक अंग होने का—कुछ-कुछ भाव मौजूद था। इसी तरह मुसलमान भी संसार भर के अविश्वासियों—मुसलिम धर्म्म में विश्वास न करनेवालों—के विपक्ष में अपने को मुसलिम जगत् का अंग समझता था।

लेकिन ईसाई या मुसलिम जगत् की ये धारणाएँ अनिश्चित्—अनिर्दिष्ट—भावनाएँ थीं, जिनका जन-साधारण के जीवन पर कुछ भी असर न पड़ता था। केवल विशिष्ट अवसरों पर ईसाई मत या इस्लाम के पक्ष में—जब जैसी आवश्यकता होती थी—लड़ने के लिए धार्मिक जोश को उभाड़ने के अभिप्राय से जनता के धर्म्म-संबंधी भाव जागरित और उत्तेजित किए जाते थे। जातीयता के स्थान में, उन दिनों, मनुष्य के प्रति मनुष्य का विचित्र ढंग का एक विशेष संबंध था। यह था मनसबदारी संबंध। जिस प्रणाली ने उसे जन्म दिया, उसे मनसबदारी प्रथा कहते हैं। रोम के पतन के बाद, पश्चिमी योरप का प्राचीन सामाजिक संघटन नष्ट हो गया था। चारो ओर अशांति और अराजकता, अत्याचार और पाशविकता का दौर-दौरा था। जो सबल थे, वे सब कुछ हड़प लेते और उस पर तब तक अपना अधिकार जमाए रखते जब तक कोई उनसे भी अधिक बलवान् आकर उन्हें न निकाल बाहर करता था। बड़े-बड़े मजबूत क़िलों का निर्माण होता था। इन गढ़ों के अधीश्वर अपने साथियों के साथ धावा मारने के लिए निकला करते, देहातों और नगरों को लूटते-पाटते और कभी-कभी अपने बराबरवालों से लड़ बैठते थे। बेचारे दीन किसानों या खेतों में मजदूरी करनेवालों को इसके कारण सबसे अधिक कष्ट भोगना पड़ता था। इस अव्यवस्था ने मनसबदारी प्रथा को जन्म दिया।

किसान असंघटित थे। वे लुटेरे सरदारों से अपनी रक्षा करने में असमर्थ थे।

किसी केंद्रीय शासन में भी इतना बल न था कि वह इन ग़रीबों की रक्षा कर सके। अतएव आपत्तिकाल में जान बचाने का दूसरा सहारा न देखकर उन्होंने क़िले के स्वामी के साथ, जो उन्हें लूटा करता था, समझौता कर लिया। वे उसे अपनी पैदावार का कुछ अंश देने और किन्हीं-किन्हीं अवसरों पर उसकी सेवा करने को राजी हो गए, यदि इसके बदले में वह उन्हें लूटना और सताना छोड़ दे और अन्य लुटेरों से उनकी रक्षा करे। इसी प्रकार छोटी गढ़ी के स्वामी ने बड़े गढ़ के सरदार के साथ समझौता किया। लेकिन छोटा सरदार बड़े सरदार को खेत की पैदावार का तो भाग दे नहीं सकता था; क्योंकि वह न तो किसान था और न माल ही तैयार करता था। अतएव उसने बड़े सरदार की सैनिक सेवा करना स्वीकार किया; अर्थात्, आवश्यकता पड़ने पर उसके पक्ष में लड़ने की उसने प्रतिज्ञा की। इसके बदले में, बड़े सरदार ने छोटे सरदार की रक्षा करने का वचन दिया। छोटा सरदार बड़े सरदार का "वैसल" अर्थात् अनुवर्ती या मातहत सरदार कहलाता था। इस प्रकार छोटे के ऊपर बड़ा, और बड़े के ऊपर उससे भी बड़ा सरदार होता, और इसी क्रम से बढ़ते-बढ़ते अंत में इस मनसबदारी संघटन के शिखर पर राजा होता था। लेकिन यहीं जाकर इसकी समाप्ति न हुई। उन्होंने स्वर्ग तक में अपनी कल्पना द्वारा एक प्रकार की मनसबदारी व्यवस्था की स्थापना कर डाली, जहाँ त्रिमूर्ति के ऊपर ईश्वर विराजमान हैं!

योरप की प्रचलित अराजकता के कारण धीरे-धीरे इस प्रथा ने वहाँ मजबूती से जड़ पकड़ ली। तुम्हें याद रखना चाहिए कि उन दिनों वास्तव में न कोई केंद्रीय शासन था; न पुलिस या उसी के समान कोई और संस्था ही थी। किसी भूभाग-विशेष का स्वामी उस भूखंड का और उस पर रहनेवालों का एकमात्र अधीश्वर और शासक माना जाता था। वह एक तरह से छोटा-मोटा राजा होता था। कहने को वह किसानों की सेवा और उनके खेतों की पैदावार के अंश के बदले में उनका रक्षक था। वह इन लोगों का—जिन्हें विलेन या सरफ़ कहते थे—अधिपति होता था। पर सिद्धांत की दृष्टि से जिस जमीन पर उसका अधिकार होता था, वह उसे अपने सरदार से, जिसका वह अनुवर्ती होता और जिसकी वह सैनिक सेवा करता था, मिली हुई जागीर या देन समझी जाती थी।

ईसाई संप्रदाय के धर्म्माधिकारी भी इसी मनसबदारी प्रथा के चट्टे-बट्टे होते थे। वे पादरी भी थे और मनसबदारी सरदार भी। उदाहरण के लिए, जर्मनी की आधी भूमि और संपत्ति बिशपों और एबटों ही के हाथ में थी। स्वयं पोप भी एक मनसबदारी सरदार थे।

तुम देखोगे कि इस संपूर्ण प्रथा का मूल आधार ही वर्गों और श्रेणियों का आश्रित था। इसमें समानता की नाममात्र को गंध न थी। इस ढांचे के बिलकुल तह पर 'विलेन' या 'सरफ़' थे, और उन्हींको इस सामाजिक प्रासाद का—छोटे सरदारों और बड़े सरदारों तथा उनसे भी बड़े सरदारों और राजा का—सारा बोझ सम्हालना पड़ता था। ईसाई धार्मिक संघटन का—बिशपों, एबटों, कार्डिनलों और साधारण पादरियों का—सारा खर्च इन्हीं सरफ़ों के जिम्मे था। सरदार—क्या छोटे, क्या बड़े—अनाज या किसी दूसरे प्रकार की संपत्ति के उत्पादन में तो कुछ भी हाथ न बंटाते थे। ऐसा करना उनकी मर्यादा के विरुद्ध समझा जाता था। उनका तो मुख्य

पेशा था युद्ध करना। जब वे लड़ाई पर न जाते थे तब वे शिकार खेलते या नक़ली लड़ाइयों अथवा टूरनामेंटों में भाग लेते थे। वे लोग उद्धत प्रकृति के और निरक्षरभट्टाचार्य होते थे। लड़ने और खाने-पीने के अतिरिक्त मनोरंजन का और कोई साधन उन्हें न सूझता था। इस तरह भोजन और जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन का सारा बोझ किसानों और श्रमिक कारीगरों के सिर पर था। इस सारे ढांचे के शिखर पर राजा था, जिसे लोग ईश्वर का एक प्रकार का वैसल अर्थात् अनुवर्ती प्रतिनिधि समझते थे।

मनसबदारी प्रथा में यही मौलिक भाव निहित था। सिद्धांत रूप से तो सरदार अपने वैसलों और सरफ़ों की रक्षा करने के लिए बाध्य थे। पर व्यवहार में वे जो चाहते वही करते थे। राजा या राजकर्मचारी बहुत ही कम उनके कामों में हस्तक्षेप करते थे, और किसान इतने कमज़ोर थे कि उनकी आज्ञाओं और मांगों का विरोध करने का वे साहस ही नहीं कर सकते थे। कहीं-कहीं तो अधिक बलवान् होने के कारण सरदार अपने सरफ़ों को अधिक से अधिक चूसते थे। वे किसानों के पास उतना ही रहने देते थे, जितने से किसी तरह वे अपना पेट पाल सकें। सदा से और सब कहीं भूपतियों—ज़मीन के मालिकों—की यही नीति चली आई है। भूमि के अधिकार की रीति ही से कुलीनता की प्रथा की उत्पत्ति हुई। डाकू सरदार ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर तथा उस पर एक क़िला बना कर उच्च कुलावतंस बन गया। उसका सब लोग आदर-सत्कार करने लगे। इस प्रभुता से उसे शक्ति मिली, और किसान और संपत्ति के उत्पादक या कारीगर से अधिक से अधिक धन चूसने में वह अपनी शक्ति का प्रयोग करने लगा। क़ानून भी भूमि के इन्हीं अधिकारियों की मदद करता है, क्योंकि क़ानूनों को भी वे और उन्हीं के दोस्त बनाते हैं। इन्हीं कारणों से बहुत-से आदमियों की यह संमति हो गई है कि भूमि पर व्यक्तियों का नहीं बल्कि सारे समाज का अधिकार होना आवश्यक है। यदि उस पर समाज या राष्ट्र का अधिकार है तो इसका यह अर्थ है कि वह भूमि उनकी है, जो उस पर गुज़र करते हैं। इस तरह कोई आदमी न तो उसके कमानेवालों का शोषण ही कर सकता है, और न उससे अनुचित लाभ ही उठा सकता है।

लेकिन ये भाव तो आगे चलकर उदय होंगे। जिन दिनों का हम ज़िक्र कर रहे हैं उन दिनों लोग इस तरह नहीं सोचा-विचारा करते थे। उस समय की अधिकांश जनता की दशा दयनीय थी। उन्हें अपने संकटों से छुटकारा पाने का कोई मार्ग ही नज़र न आता था। अतः एव वे सब कुछ सहते और परिश्रम करते हुए निराशापूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। आज्ञापालन के वे आदी हो गए थे। और जब एक बार ऐसा हो जाता है तब लोग प्रायः सभी कुछ सहने लगते हैं। इस तरह हम ऐसे समाज को विकसित होते देखते हैं, जिसमें एक ओर तो मनसबदारी सरदार और उनके अनुचर थे और दूसरा ओर थी अत्यंत दीन प्रजा। सरदारों के गढ़ों और क़िलों के आसपास सरफ़ों की मिट्टी या लकड़ी की झोपड़ियाँ होती थीं। एक दूसरे के समीप, परंतु इस पर भी एक दूसरे से बहुत दूर, दो दुनियाँ थीं—एक तो सरदारों की दुनियाँ और दूसरी सरफ़ों की दुनियाँ। बहुत संभव है कि सरदारों को सरफ़ों और सरफ़ों के पालतू जानवरों में थोड़ा ही अंतर दिखाई देता था।

कभी-कभी सरदारों के छोटे भाइ-बंदों, पादरियों, ने सरफ़ों को अत्याचार से बचाने की चेष्टाएं कीं। लेकिन बहुधा वे सरदारों ही का साथ देते थे। क्योंकि बिशप और एबेट भी तो खुद मनसबदारी सरदार होते थे।

भारत में इस तरह की मनसबदारी प्रथा तो न थी, लेकिन उससे बहुत-कुछ मिलती-जुलती प्रथा का यहाँ पर भी चलन था। राजा, सरदार और अमीर-उमरावों से अलंकृत देशी रियासतों में अनेक मनसबदारी रस्म-रिवाज़ आज दिन भी सुरक्षित हैं। भारत की वर्ण-व्यवस्था यद्यपि मनसबदारी प्रथा से बिलकुल भिन्न है, परंतु वह भी समाज को विभिन्न जातियों में विभाजित करती है। जैसा मेरा ख़याल है. मैं तुम्हें लिख चुका हूँ कि चीन में इस प्रकार का स्वेच्छाचारी शासन या अधिकार-भोगी वर्ग कभी नहीं रहा। चीनियों ने अपनी प्राचीन परीक्षा-प्रणाली के द्वारा उच्च से उच्च पद का द्वार प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति के लिए खुला रक्खा। लेकिन व्यवहार में, संभव है, वहां भी अनेक अड़चनें रही हों।

मनसबदारी प्रथा में समानता या स्वतंत्रता के भाव का लेश-मात्र भी न था। उसमें तो स्वत्वों और कर्त्तव्यों का भाव निहित था; अर्थात्, मनसबदारी सरदार भूमि की पैदावार के अंश तथा सरफ़ों की सेवाओं को अपना स्वत्व मान कर स्वीकार करते और आश्रितों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे। लेकिन लोगों को अपने स्वत्वों का तो सदा ध्यान बना रहता है, पर कर्तव्यों की बहुधा उपेक्षा ही की जाती है। आज दिन भी योरप और भारत में बड़े-बड़े ज़मींदार मौजूद हैं। बिना कुछ किए-धरे, वे किसानों से लगान के रूप में बड़ी-बड़ी रक़में पटीलते हैं। लेकिन किसानों के प्रति उनका कुछ कर्तव्य भी है, इस बात को तो वे बहुत पहले ही से भूल चुके हैं।

यह देखकर अचरज होता है कि योरप की जिन प्राचीन जातियों को अपनी स्वाधीनता से इतना अधिक प्रेम था, उन्होंने कैसे उस मनसबदारी प्रथा को अंगीकार कर लिया, जिसमें स्वतंत्रता का पूर्ण रूप से अभाव था। पहले ये जातियाँ अपने सरदारों को चुनती और उनका नियंत्रण किया करती थीं। अब हमें चारो ओर स्वेच्छाचारिता और अनियंत्रित सत्ता ही दिखाई देती है। चुनाव का कहीं नाम भी नहीं है। मुझे नहीं मालूम कि यह परिवर्तन क्यों हो गया। हो सकता है कि ईसाई मत ने जिन सिद्धांतों का प्रचार किया, उनसे प्रजासत्ता के विरोधी भावों को फैलने और जड़ पकड़ने में सहायता मिली हो। ईसाई मत के अनुसार राजा पृथिवी पर ईश्वर का प्रतिबिंब था, और यह कैसे संभव है कि तुम ईश्वर के प्रतिबिंब तक से उचित-अनुचित के संबंध में बहस करो या उसकी आज्ञा का उल्लंघन करो। मालूम होता है कि मनसबदारी प्रथा ने स्वर्गलोक और मृत्युलोक दोनों को अपने अंक में भर लिया था।

भारत में भी हम स्वतंत्रता-संबंधी प्राचीन आर्य्य भावों को धीरे-धीरे बदलते हुए देखते हैं। वे दिन पर दिन अधिकाधिक निर्जीव होते गए और अंत में इतने निर्जीव हो गए कि लोग उन्हें भूल-से गए। लेकिन, जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, मध्यकालीन युग के आरंभिक

भाग तक लोगों के मन में उनकी कुछ-कुछ याद बनी हुई थी। कम से कम नीतिसार और दक्षिणी भारत के अभिलेखों से तो यही पता चलता है।

सामाजिक संघटन के नए-नए रूपांतरों के कारण, जो बराबर बदलते रहते थे, योरप को धीरे-धीरे फिर से कुछ-कुछ स्वतंत्रता मिलने लगी थी। भूमि के अधिकारियों और उसको जोतनेवालों, अथवा सरदारों और उनके सरफ़ों, के अतिरिक्त, योरप में और भा वर्ग थे—जैसे कारीगर और व्यापारी। ये कारीगर और व्यापारी, अपने व्यवसाय की हैसियत से, मनसबदारी प्रथा के अंग न माने जाते थे। अशांति के ज़माने में व्यापार की बहुत कम संभावना रहती थी, और उद्योग-धंधे मंद हो गए थे। लेकिन धीरे-धीरे जब रोज़गार बढ़ने लगा, तब व्यापारियों तथा कुशल कलाकारों का महत्त्व भी अधिक हो गया। वे धनवान् हो गए, और अमीर-उमराव ऋण के लिए उनके पास पहुँचने लगे। वे उन्हें कर्ज़ तो देते थे, लेकिन ऋण देने के पहले सरदारों से बदले में कुछ विशेष अधिकार देने का वादा करा लेते थे। इन अधिकार-विशेषों के मिलने से उनकी शक्ति और भी अधिक बढ़ गई। अतएव सरदारों के क़िलों के चारो ओर सरफ़ों की झोपड़ियों के स्थान में अब हमें कैथीड्रल×, गिरजाघर या गिलड-हाल * के पास बने हुए मकानों के छोटे-छोटे क़सबे दिखाई देते हैं। इन व्यापारियों और कारीगरों ने अपने-अपने संघ स्थापित किए, और इन संघों के पंचायत-घर गिलड-हाल कहलाने लगे। आगे चल कर ये ही गिलड-हाल नगर के पंचायतघर अथवा टाउन-हाल हो गए। शायद तुम्हें याद हो कि तुमने लंडन का गिडल-हाल देखा है।

कोलोन, हंमबर्ग, फ्रैंकफ़ोर्ट तथा बहुत-से दूसरे नगर, सरदारों ही के समान, सत्ता-भोगी और शक्तिसंपन्न हो गए। दोनों में प्रभुता के लिए होड़ाहोड़ी होने लगी। इन नगरों में एक नई श्रेणी—अर्थात् व्यापारियों और वणिकों की श्रेणी, जो अपने धन के कारण सरदारों से भी टक्कर ले सकती थी—उत्पन्न हो रही थी। दोनों में बहुत दिनों तक संघर्ष चला। राजा, जो अपने रावों और सरदारों की शक्ति से भयाकुल रहता था, बहुधा इन नगरों का पक्ष लेता था। लेकिन यह तो बहुत आगे की बात है।

मैंने इस पत्र का आरंभ यह कहकर किया था कि उन दिनों राष्ट्रीयता के भाव का अभाव था। लोगों को केवल अपने प्रभु या स्वामी के प्रति श्रद्धा और कर्तव्य-निष्ठा का ध्यान रहता था। वे अपने प्रभु की, न कि अपने देश की, रक्षा करने की प्रतिज्ञा किया करते थे। राजा भी, किसान, आदि, की पहुँच के बाहर होने के कारण, उनके लिए एक अज्ञात पुरुष होता था। यदि सरदार राजा के विरुद्ध बग़ावत करता था तो यह उसका काम था, वैसलों को इससे कोई सरोकार न था। उन्हें तो अपने सरदार का साथ देना था। यह भाव बहुत बाद में आने-वाले राष्ट्रीयता के भाव से बहुत-कुछ भिन्न था।

× कैथीड्रल बड़े गिरजे को कहते हैं, जो बिशप के अधीन होता है।

* गिलड-हाल—कारीगरों या व्यापारियों का पंचायत-घर।

(५४)

चीन ने ख़ानाबदोशों को पश्चिम की ओर ढकेला

जून ५, १९३२

मेरा अनुमान है कि मैंने तुम्हें बहुत दिनों से—लगभग एक महीना होने आया—चीन और पूर्वतम देशों के संबंध में कुछ भी नहीं लिखा। योरप, भारत और पश्चिमी एशिया में होनेवाले अनेक परिवर्तनों का तो हमने जिक्र किया है। हमने अरबों को फैलते और बहुत-से देशों पर विजय पाते देखा है; और हम यह भी देख चुके हैं कि कैसे योरप अंधकार के गर्त में गिरा और फिर उससे निकलने की वह किस तरह चेष्टा करने लगा। इस संपूर्ण कालावधि में चीन यथा-क्रम अपने पुराने ढर्रे पर चलता रहा और साधारणतया, इस युग में, वह उन्नत बना रहा। सातवीं और आठवीं शताब्दियों में टाङ-राजवंश के राजाओं का चीन में शासन था। उनकी अधीनता में चीन, संभवतः, संसार का सब से अधिक सुसभ्य, समृद्ध और सुशासित देश था। उसके साथ योरप की तो तुलना ही करना बेकार है; क्योंकि रोम के पतन के बाद वह बहुत पिछड़ गया था। उत्तरीय भारत की भी दशा इन शताब्दियों के अधिकांश भाग में ख़राब ही थी। कभी-कभी उसका सितारा चमक उठता था, जैसे हर्ष के राजत्व-काल में हुआ था; लेकिन सब मिलाकर देखा जाय तो यही कहना पड़ेगा कि वह अवनति के पथ पर अग्रसर हो रहा था। उत्तरीय भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत कहीं अधिक सजग और शक्ति-संपन्न था; और समुद्र पार उसके उपनिवेश, अंगकोर और श्रीविजय, एक समुज्ज्वल महायुग में पदार्पण करने जा रहे थे। सिर्फ़ बग़दाद और स्पेन ही के अरब राष्ट्र ऐसे थे जो कुछ बातों में तत्कालीन चीन की बराबरी कर सकते थे। लेकिन इन दोनों राष्ट्रों की गौरव-गरिमा भी अल्पकालिक थी। इस बात का उल्लेख करना रोचक मालूम होता है कि टाङ-राजवंश के एक सम्राट् को जब अपना सिंहासन छोड़कर भागना पड़ा तब उसने अरबों से सहायता मांगी, और उनकी मदद से उसे फिर उसका राज्य मिला।

उन दिनों चीन सभ्यता में बहुत आगे बढ़ गया था और उसके लिए तात्कालिक योरपियनों को बर्बर समझना बहुत-कुछ न्याय-संगत था। उस युग के ज्ञात जगत् में वही सब का सिरमौर था। ज्ञात जगत् मैंने इसलिए लिखा है, क्योंकि मुझे इसका पता नहीं कि उन दिनों अमेरिका में क्या हो रहा था। यह तो हमें मालूम है कि अनेक शताब्दियों से मैक्सिको, पीरू और उनके पड़ोसी देशों में उच्च कोटि की सभ्यताएं विद्यमान थीं। कुछ बातों में उन्होंने उल्लेखनीय उन्नति की थी; परंतु और बातों में वे उतने ही पिछड़े हुए से दिखाई देते हैं। लेकिन मुझे उनके विषय में इतना कम ज्ञान है कि अधिक लिखने का मुझको साहस नहीं होता। साथ ही, मैं चाहता हूँ कि तुम मैक्सिको और मध्य अमेरिका की माया-सभ्यता

और इनकाओं के पीरू-राष्ट्र को याद रक्खो। मुझसे जो अधिक जानकार हैं, वे कदाचित् तुम्हें इन देशों के विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें बता सकें। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि वे मुझे आकर्षक प्रतीत होते हैं; लेकिन जितना ही उनके प्रति मेरा आकर्षण है, उतनी ही अधिक उनकी बाबत मेरी अनभिज्ञता भी है।

मैं चाहता हूँ कि एक और बात भी तुम याद रक्खो। इस पत्र-व्यवहार के सिलसिले में हमने इस बात को देखा है कि मध्य एशिया में प्रकट होकर खानाबदोश जातियाँ पश्चिम में योरप की ओर बढ़ीं या भारत में चली आईं। हूण, शक, तुर्क और ऐसी ही अन्य अनेक जातियों की लहर पर लहर मध्य एशिया से यथाक्रम उठकर पश्चिम और दक्षिण दिशाओं की ओर बढ़ गईं। तुम्हें भारत में आनेवाले श्वेत हूणों और योरप में ऐटिला के हूणों की याद होगी। बग़दाद के साम्राज्य पर अधिकार करनेवाले सलजुक तुर्क भी मध्य एशिया ही से आए थे। बाद में तुर्कों की 'आटोमन तुर्क' नाम से एक और प्रसिद्ध शाखा प्रकट हुई। इन तुर्कों ने योरप में जाकर कानस्टैंटिनोपल को जीत लिया और वियना (जो आस्ट्रिया की राजधानी थी) के शहर-पंनाह तक वे जा धमके। उन भीषण मंगोलों का भी जन्म मध्य एशिया या मंगोलिया ही में हुआ था, जो विजय करते-करते ठेठ योरप के मध्य तक पहुँच गए थे और जिन्होंने चीन पर भी आधिपत्य जमा लिया था। इन्हीं मंगोलों के एक वंशज ने भविष्य में भारत में एक राजवंश को चलाया और एक साम्राज्य की स्थापना की। इस राजवंश के कई सम्राट् बहुत ही प्रसिद्ध हुए हैं।

मध्य एशिया और मंगोलिया की इन खानाबदोश जातियों से चीन का निरंतर संघर्ष होता रहता था। अथवा, यह कहना कदाचित् अधिक उपयुक्त होगा कि ये जातियाँ चीन को प्रायः नित्य ही सताया करती थीं, जिससे उसे आत्मरक्षा करने के लिए विवश होना पड़ा। इन लोगों से अपनी रक्षा करने के उद्देश से उसे बड़ी दीवार बनवानी पड़ी। इससे कुछ लाभ अवश्य हुआ, लेकिन धावों और आक्रमणों से बचाव का यह कोई अच्छा साधन न था। सम्राट् के बाद सम्राट् इन वनचर जातियों को देश से निकालने में उलझा रहा। इन्हीं लोगों को खदेड़ने के प्रयत्नों के फलस्वरूप चीन का साम्राज्य बढ़ते-बढ़ते पश्चिम दिशा में कैस्पियन सागर तक फैल गया था। यह बात मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ। चीन-निवासियों को साम्राज्य-विस्तार से कोई विशेष अनुराग न था। उनके कुछ सम्राट् अवश्यमेव आधिपत्य के लोलुप और विभिन्न देशों को जीतने के लिए लालायित रहते थे। लेकिन दूसरों की अपेक्षा वे कहीं अधिक शांति-प्रिय थे। युद्ध और विजय की कामना उन्हें नहीं सताती थी। चीन में सदा योद्धाओं से विद्वानों का अधिक आदर-सत्कार होता आया है। इस सब के होते हुए भी यदि चीनी साम्राज्य कभी-कभी बहुत विस्तृत हो गया, तो यह विस्तार उत्तर और पश्चिम दिशाओं से खानाबदोश जातियों की निरंतर छेड़-छाड़ और आक्रमणों का परिणाम था। प्रबल चीनी सम्राट् उन्हें पश्चिम की ओर दूर तक खदेड़ देते थे ताकि सदा के लिए उनसे छुटकारा मिल जाय। वे इस समस्या

को सब दिनों के लिए तो हल न कर पाए; लेकिन क्षणिक शांति तो उन्हें अवश्य मिल जाती थी। चीनवाले दूसरे देशों की जनताओं के मत्थे इस शांतिपूर्ण विश्राम को भोगते थे; क्योंकि जिन वनचरों को वे चीन से खदेड़ भगाते थे वे दूसरे देशों पर पहुँचकर हमले करते थे। इसी तरह भारत में भी वे आए। वे वारंवार योरप गए। हान-राजवंश के सम्राटों ने अपने वहाँ से खदेड़ कर दूसरे देशों को हूण, तातार और अन्य वनचर दिए; टाङों ने योरप को तुर्कों की भेंट दी।

अभी तक तो चीनवाले इन खानावदोश जातियों से अपनी रक्षा करने में बहुत-कुछ सफल रहे। किंतु अब हम उस समय का उल्लेख करने जा रहे हैं, जब इन जातियों की गति रोकना उनके लिए टेढ़ी खीर हो गया।

जैसा सभी राजवंशों में होता आया है, टाङ-राजवंश में भी कुछ समय बाद कई अयोग्य और निकम्मे राजाओं ने जन्म लिया, जिनमें पूर्ववर्ती राजाओं के समान विलासितामय जीवन की लालसा तो भरी थी परंतु जिनमें पूर्वजों के गुणों का संपूर्ण अभाव था। देश में रिश्वत-खोरी फैल गई और इसके कारण राजकर बेतरह बढ़ गए। इन करों का अधिकांश बोझ ग़रीबों के कंधों पर लाद दिया गया। इससे अशांति बढ़ती गई, और दसवीं शताब्दी के आरंभ, अर्थात् ६०७ ई० प०, में इस राजवंश का अंत हो गया।

आधी शताब्दी तक चीन में नगण्य और अप्रसिद्ध शासकों का क्रम बंधा रहा। तब ६६० ई० प० में एक दूसरे प्रसिद्ध राजवंश के हाथ में चीन के शासन की बागडोर चली गई। यह राजवंश सुङ नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रथम सम्राट् का नाम काओ-ज़े था। इस राजवंश के शासन-काल में भी चीन में भीतर-बाहर लड़ाई-झगड़े जारी रहे। भूमिकर बहुत अधिक था, और किसान इसके बोझ से दबे जाते थे। इसके कारण बहुत असंतोष फैल रहा था। जैसे भारत में वैसे ही चीन में भी भूमि-संबंधी राजनियम किसानों को बड़े कठोर प्रतीत होते थे; और जब तक इसमें व्यापक परिवर्तन न हो जाय तब तक न शांति मिल सकती और न सुधार ही हो सकता था। लेकिन समूल उलट-फेर करना सदैव कठिन हो जाता है। जो लोग ऊपर होते हैं उन्हें प्रचलित प्रथा से लाभ होता रहता है। अतएव सुधार का नाम सुनते ही वे गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने लगते हैं। अपने ही देश में, विशेषकर अपने सूबे में, हम बहुधा इसे देखते हैं। लेकिन यदि समय रहते न्यायपूर्वक परिवर्त्तन नहीं किया जाता तो क्रांति बिना बुलाए आ धमकती और सारी सामाजिक व्यवस्था को उलट-पुलट देती है।

टाङ-राजवंश का अंत हो गया; क्योंकि उसने आवश्यक परिवर्तन नहीं किए। सुङों को भी इसीलिए निरंतर संकट का सामना करना पड़ा। इस वंश के राज्य-काल में एक ऐसा व्यक्ति अवश्य पैदा हुआ, जिसे इस समस्या का समाधान करने में सफलता मिल सकती थी। उसका नाम था वाङ आन शीह। ११वीं शताब्दी में वह सुङों का प्रधान मंत्री था। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि चीन में कनफ़्यूसियस की विचारधारा का राज्य था। सभी राजकर्मचारियों को कनफ़्यूसियन संप्रदाय के ग्रंथों में परीक्षा देकर उत्तीर्ण होना पड़ता था। किसी की क्या

मजाल कि कनफ़्यूसियस की किसी संमति के विरुद्ध कुछ भी करे। वाङ आन शीह ने उन संमतियों के विरुद्ध तो कुछ करने की चेष्टा नहीं की, किंतु उसने अपूर्व ढंग से उनके नए अर्थ लगाए। किसी कठिनाई को दूर करने का चतुरों का यह भी एक ढंग है। वाङ के कुछ विचार तो बिलकुल आधुनिक समय की विचार-धारा से मिलते-जुलते थे। उसका एक-मात्र उद्देश ही यह था कि ग़रीबों से राजकरों के रूप में कम धन लिया जाय और समर्थ धनी व्यक्तियों से इस कमी की पूर्ति कराई जाय। उसने भूमिकरों को घटाया और यह आज्ञा निकाली कि यदि इन करों को रुपयों में अदा करने में किसानों को कठिनाई हो तो वे रुपयों के बदले अपनी पैदावार का एक निश्चित् भाग दे सकते हैं। उसने धनिकों की आमदनी पर टैक्स लगाया। लोगों की धारणा है कि इनकम-टैक्स, अर्थात् आय पर कर, बिलकुल आधुनिक टैक्स है। अर्थात्, पुराने ज़माने में इस तरह का टैक्स नहीं लगाया जाता था। परंतु हम देखते हैं कि आज से नौ सौ वर्ष पहले चीन में इसी टैक्स, के लगाने का प्रस्ताव किया गया था। किसानों की मदद करने के उद्देश से वाङ ने प्रस्ताव किया कि सरकार को चाहिए कि किसानों को कर्ज़ दे और फ़सल कटने पर अपना रुपया वसूल कर ले। एक और भी कठिनाई थी, जिसे दूर करना आवश्यक था। प्रायः अनाज का भाव बढ़ता और गिरता रहता था। मुझे नहीं मालूम कि तुम्हें इस बात का ज्ञान है या नहीं कि अनाज और दूसरी चीज़ों के भावों के बहुत ज्यादा गिर जाने के कारण भारतवर्ष के किसानों को पिछले दो वर्षों में कितना अधिक कष्ट भोगना पड़ा है। जब बाज़ार-दर इस तरह गिर जाती है तब बेचारे किसानों को पैदावार की बिक्री से बहुत कम प्राप्ति होती है। वे अपना माल नहीं बेच पाते, और पास में रुपया न होने से वे न तो करों को अदा कर पाते और न कोई चीज ही ख़रीद सकते हैं। वाङ आन शीह ने, जो भारत की वर्तमान सरकार से कहीं अधिक बुद्धिमान् था, इस समस्या को हल करने की चेष्टा की। उसने यह प्रस्ताव किया कि सरकार खुद अनाज ख़रीद ले और फिर उसे बेचे, जिसमें भाव का चढ़ना-उतरना बंद होजाय।

वाङ ने यह भी प्रस्ताव किया था कि सरकारी काम के लिए बेगार न ली जाय। जिस किसी से काम कराया जाय, उसे मज़दूरी दी जाय। उसने पाओ-चिआ-नामक नागरिकों की एक सेना की भी स्थापना की। लेकिन, दुर्भाग्यवश, वाङ अपने युग से बहुत आगे बढ़ गया था। उसने जो सुधार किए, वे थोड़े ही दिनों बाद रद्द हो गए। केवल नागरिक सेना ही आठ सौ वर्षों से अधिक समय तक बनी रही।

सुङ-राजवंश के राजा अपनी समस्याओं को सुलझा तो न पाए; उलटा उन्होंने उनके सामने सिर झुका दिया। खितान-नामक उत्तर के बर्बरों को दबाने में सुङ सम्राट् असफल रहे। जब वे उनको देश के बाहर न खदेड़ सके तब उन्होंने उत्तर-पश्चिम की दूसरी जातिवालों को—अर्थात् मिनों या सुनहले तातारों को—सहायता करने के लिए आमंत्रित किया। मिन आए और खितानों को मार भगाने में सफल हुए। लेकिन यहाँ आकर वापस जाने से उन्होंने इनकार कर दिया। जब कभी कोई कमज़ोर आदमी या देश अपने से सबल की सहायता लेता है तब निर्बल की प्रायः यही गति होती है। मिनों ने उत्तरीय चीन पर अपना अधिकार कर लिया, और पेकिंग में अपनी राजधानी बनाई। सुङ

दक्षिण चीन की ओर खिसक आए। ज्यों-ज्यों मिन बढ़ते आते थे, त्यों-त्यों सुङों का राज्य संकुचित होता जाता था। इस तरह उत्तरीय चीन में मिन-साम्राज्य था और दक्षिण में सुङ-साम्राज्य। ये सुङ सम्राट् दक्षिणी सुङों के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुङ-राजवंश ने उत्तरीय चीन में ९६० से ११२७ ई० प० तक राज्य किया। दक्षिणी सुङों ने दक्षिण चीन में डेढ़ सौ वर्षों तक शासन किया। अंत में मंगोलों ने आकर १२६० ई० प० में उनका अंत कर दिया। लेकिन भारत की तरह चीन ने भी मंगोलों को अपने रंग में रंगा और उन्हें पक्का चीनी बनाकर अपनी पराजय का बदला लिया।

इस प्रकार चीन को भी ख़ानाबदोश जातियों के सामने नतमस्तक होना पड़ा। लेकिन अधीनता स्वीकार करते हुए भी उसने उन्हें सुसभ्य बना लिया। अतएव वहाँ विजित और विजेता का वह भाव न रह गया जो एशिया के दूसरे भागों या योरप में वर्त्तमान था।

राजनीतिक दृष्टि से दक्षिण या उत्तर के सुङ अपने पूर्ववर्त्ती टाङों के समान शक्तिसंपन्न न थे। लेकिन उन्होंने टाङ-युग की परंपरागत कला-संवर्धिनी शैली को आश्रय दिया। इतना ही नहीं हुआ; उसमें काफ़ी उन्नति भी हुई। दक्षिणी सुङों के समय में दक्षिणी चीन ने कला, कविता और सुंदर चित्रकारी में परम प्रसिद्धि पाई। चित्रकारी में प्राकृतिक दृश्यों के अंकन का चलन था; क्योंकि सुङ काल के कलाविदों को प्रकृति से बड़ा प्रेम था। कलाकारों के स्पर्श से सुंदरीकृत चीनी मार्तिक का इस युग में आविर्भाव हुआ। इसकी सुंदरता दिनों दिन बढ़ती गई, यहाँ तक कि दो सौ वर्ष बाद, मिङ सम्राटों के राज्य-काल में, अद्भुत सौंदर्यमय मार्तिकों की रचना हुई। चीन के मिङ-युग के बने हुए कलश को देखकर आज दिन भी हृदय आनंदातिरेक से नाच उठता है।

परिशिष्ट—(अ)

टिप्पणियाँ

लेखक—मार्कंडेय वाजपेयी, एम्० ए०, एल० एल० बी०

अलबरूनी:—प्रसिद्ध अरब गणितज्ञ, इतिहास-वेत्ता और नैयायिक। इसका पूरा नाम अबू-रैहान अलबरूनी है। इसका जन्म ६७१ ई० प० में बीरून-नामक गाँव में हुआ था और मृत्यु १०३६ ई० प० में हुई। लगभग ४० वर्ष तक इसका भारत से संसर्ग रहा। हिंदी में इसका एक ग्रंथ "अलबरूनी का भारत" के नाम से निकल चुका है। इसके बनाए हुए ग्रंथों का बोझ एक ऊँट के बोझ से भी ज्यादा बताया जाता है। कहा जाता है कि वह जादू भी जानता था। इस संबंध में एक कहानी प्रसिद्ध है। एक दिन सुलतान मुहम्मद ने इससे पूछा कि सम्राट की सवारी सभा से कैसे निकलेगी। अलबरूनी ने एक कागज पर उत्तर लिखकर रख दिया। सम्राट् दरवाजे के बजाय दीवार तुड़वाकर बाहर आए। पर कागज देखने पर वह चकराए, क्योंकि उसमें लिखा था कि वह दरवाज़े से निकलने के बजाय दीवार तोड़कर निकलेंगे।

आइरीन:—बिजैंटायन सम्राज्ञी। यह एथेंस की रहनेवाली थी और लिओ चतुर्थ से ७६६ ई० प० में इसका विवाह हुआ था। ७७५ ई०प० में लिओ सम्राट् हुआ पर उसने आइरीन को देश से निकाल दिया; क्योंकि वह मूर्तियों की उपसिका थी। लिओ की मृत्यु के बाद ७८० ई० प० में आइरीन वापस लौट आई, और अपने पुत्र की ओर से शासन करने लगी। जब लड़का बड़ा हुआ तब स्वतंत्र होकर शासन की बागडोर अपने हाथ में लेने की उसने चेष्टा की। इस पर आइरीन ने ७९७ ई० प० में अपने ही पुत्र को मरवा डाला और अकेले ही शासन करने लगी। कहा जाता है कि वह सम्राट् शार्लेमन से विवाह करना चाहती थी, जिससे पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्य एक हो जाएँ। उसने ८०२ ई० प० तक शासन किया। इसके बाद उसी के कोषाध्यक्ष ने उसे गद्दी से उतार कर देश छोड़ कर भाग जाने के लिए विवश किया।

आटो महान्:—जर्मनी का राजा और रोमन सम्राट्। इसका राज्य-काल ९१२ ई० प० से ९७३ ई० प० तक है। यह ९३६ ई० प० में अपने पिता हेनरी का उत्तराधिकारी हुआ और धीरे-धीरे इसने जर्मनी और इटली में अपनी सत्ता बढ़ाई। सन् ९६२ में पोप ने इसे रोम में रोमन सम्राट् का तिलक दिया। ९७३ ई० प० में इसकी मृत्यु हुई।

"एलिस इन दि वंडरलैंड":—अँगरेजी भाषा में बच्चों की एक बड़ी प्रसिद्ध पुस्तक का नाम। चार्लस लटविज़ डाजसन-

नामक आक्सफ़र्ड विश्व-विद्यालय के गणित-शास्त्र के प्रोफ़ेसर ने, लुई केरोल के उपनाम से, एक मित्र की लड़कियों के विनोद के लिए, सन् १८६५ में इसे लिखा था। यह पुस्तक बड़ी रोचक है, और शायद ही कोई अँगरेज़ी जाननेवाला वालक या वालिका ऐसी हो, जिसने इसको न पढ़ा हो। इस पुस्तक में एलिस नाम की एक लड़की की आश्चर्यमय लोक में स्वप्नयात्रा का वर्णन है। न जाने कैसी-कैसी विचित्र चीज़ें वहाँ उसे दिखाई देती हैं। कभी एक गोली खा कर वह भीमकाय हो जाती है; कभी दूसरी गोली खाकर वह बौनी बन जाती है। एक जगह उसे पेड़ के ऊपर बैठी हुई एक बिल्ली दिखाई देती है, जिसके केवल मुह ही मुह है, धड़ का कहीं नाम नहीं। वह मुह भी अजीब तरह से मुस्कराता, और फिर धीरे-धीरे अंतर्धान हो जाता है। इसी तरह की न जाने कितनी मज़ेदार बातें उसमें हैं।

एलोरा:—निज़ाम हैदराबाद के राज्य में स्थित एक गाँव। यह स्थान औरंगाबाद से १३ मील उत्तर-पश्चिम में है। यहाँ की गुफ़ाएं और मंदिर विख्यात हैं। गुफ़ाओं की दीवारों पर प्राचीन चित्र अंकित हैं। यहाँ का सुप्रसिद्ध कैलाश मंदिर, जो एक अखंडित चट्टान में काट कर बनाया गया था, प्राचीन शिल्पकला का अद्भुत स्मारक है।

ऐटिला:—हूणों का सरदार। इसका राज्य-काल शायद ४०० ई० प० से ४५३ ई० प० तक है। ४४७ ई० प० में, इसने डेन्यूब नदी को पार कर बालकन प्रायद्वीप पर हमला किया। बिज़ैनटियम के रोमन सम्राट् को लाचार होकर ऐटिला को अपने राज्य का कुछ अंश और धन देना पड़ा। ४५१ ई० प० के जून मास में फ्रांस के एक नगर के पास केटालोनियन मैदान में ऐटिला परास्त हुआ। किंतु दूसरे ही साल उसने उत्तरी इटली पर चढ़ाई कर दी। थोड़े दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गई। योरप के इतिहास में ऐटिला के नाम का वैसा ही आतंक है, जैसा भारतीय इतिहास में तैमूर अथवा नादिरशाह के नाम का।

ऐलरिक:—विसीगाथों का राजा। इस नाम के दो राजा हुए हैं। रोमन सम्राट् थियो-डोसियस की मृत्यु के बाद ३६५ ई० प० में ऐलरिक प्रथम के नेतृत्व में गाथों ने विद्रोह का झंडा उठाया। उन्होंने ग्रीस पर आक्रमण किया और इटली के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। ४१० ई० प० में ऐलरिक ने रोम पर कब्ज़ा कर उसे तहस-नहस कर डाला। इसका राज्यकाल ३७६ ई० प० से ४१० ई० प० तक है। ऐलरिक द्वितीय अपने पिता, यूरिक, का उत्तराधिकारी हुआ; और ५०७ ई० प० में फ्रैंकों द्वारा लड़ाई में मारा गया।

कंबोडिया:—हिंदी चीन का एक देश। इसके उत्तर-पश्चिम में स्याम, पूर्व में अनम और दक्षिण-पूर्व में कोचीन-चीन हैं। इसका क्षेत्रफल लगभग ६७ हज़ार वर्ग-मील और आबादी २६ लाख के क़रीब है। इसकी राजधानी, नोम-पेन, मीकांग नदी के तट पर बसी है। इसके विस्तृत खँडहर अब भी इसके प्राचीन साम्राज्य

की याद दिलाते हैं। आज दिन कंबोडिया में फ्रांस का आधिपत्य है।

कान्यकुब्ज:—[सं० । कन्याः कुब्जाः निवसन्ति अस्मिन् देशे इति अण् । अतएव, कान्यकुब्ज = कन्या+कुब्जा+अण् । "ङ्यापोः संज्ञाच्छंदसोर्बहुलम्" इति सूत्र से 'कन्या' के याकार का यकार हो गया। कुछ विद्वान् "स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादू०" इति सूत्र से याकार का ह्रस्व होना मानते हैं।] वर्तमान कन्नौज और उसके आस-पास का प्रदेश। प्राचीन काल में यह महोदय, गाधिपुर, कुशस्थल, आदि, कई नामों से प्रख्यात था; और महाभारत, आदि, संस्कृत ग्रंथों में अनेक बार इन नामों से इसका उल्लेख मिलता है। महाभाष्य और महाभारत में 'कान्यकुब्ज' शब्द आया है। इसके संबंध में वाल्मीकीय रामायण के बालकांड, सर्ग ३२-३३, में निम्न रोचक कथा है:—

"धर्मात्मा राजर्षि कुशनाभ का घृताची के गर्भ से सौ उत्तम कन्याएं उत्पन्न हुईं। बड़ी होने पर ये राजकन्याएं वर्षाकालीन बिजली की तरह उपवन में विहार करने लगीं। विविध अलंकारों और आभूषणों से अलंकृत ये कन्याएं, मेघों के बीच तारागण की तरह, कांतिमयी मालूम होती थीं। उनके सौंदर्य को देखकर सर्वव्यापी वायु का मन चलायमान होगया और कामातुर होकर उन्होंने कहा, 'हे सुंदरियो, तुम सब मेरी भार्याएं बनो। अपना मनुष्य-भाव त्याग कर, मेरे संसर्ग से अक्षय यौवन को प्राप्त करो।" वायुदेवता की बातें सुनकर कन्याएँ हंसने लगीं और बोलीं, "हे देवताओं में श्रेष्ठ! आप सर्वव्यापी हैं; हम आपके प्रभाव को जानती हैं। किंतु आपने इस प्रस्ताव से हमारा अपमान किया है। हम महाराजा कुशनाभ की कन्याएं हैं। यदि हम चाहें तो आपके प्रभाव को नष्ट कर सकती हैं। किंतु अपनी तपस्या के फल को हम इस तरह व्यर्थ में नष्ट करना नहीं चाहतीं। हमारे भाग्य में ऐसा कुसमय कभी न आए, जब सत्यवादी पिता को अपमानित कर हम स्वयंवरा बनें। पिता हमारे प्रभु हैं। वही हमारे परम देवता हैं। जिसके हाथ में वह हमें समर्पित कर देंगे, वही हमारे स्वामी होंगे।" इस पर वायु को क्रोध आया और उनके अंग-प्रत्यंग में प्रवेश कर उन्होंने उन्हें कुब्जा या कुबड़ी बना दिया। बेचारी कन्याएं रोती हुई अपने पिता के पास गईं। राजा कुशनाभ उनको कातर देख दुःखित हुए। पर पुत्रियों के आचरण से उन्हें प्रसन्नता भी हुई। उन्होंने कहा,—"तुमने अपराध करने पर भी वायु के प्रति जो क्षमा का भाव प्रदर्शित किया, उससे तुमने मेरे कुलगौरव की रक्षा की है।" × × × × तब मंत्रियों को बुलाकर उन्होंने किसी योग्य पात्र के साथ लड़कियों का विवाह कर देने की सलाह की। कुछ दिनों से चूली नामक एक ऊर्ध्व-रेता महाकांतिमान् ब्रह्मचारी ब्रह्मयोग-साधन करने में प्रवृत्त थे। सोमदा-नामक गंधर्वी की प्रार्थना पर उन्होंने उसे ब्रह्मदत्त-नामक अपने ही समान महातेजस्वी एक मानसी पुत्र दिया था। ब्रह्मदत्त ने कांपिल्य-नामक नगर बसाया और वह वहीं राज्य करने लगे। राजा कुशनाभ ने इन्हीं राजर्षि को अपनी कन्याएं व्याह दीं। उनके स्पर्श से कन्याओं का कुबड़ापन दूर हो गया।

ह्युयान शाङ ने अपने विवरण में इसी किंवदंती का दूसरे ही प्रकार से उल्लेख किया है। वह कहता है कि कुसुमपुर के राजा ब्रह्मदत्त की १०० कन्याओं को देखकर महावृक्ष-नामक ऋषि कामातुर हुए और उन्होंने राजा ब्रह्मदत्त से एक कन्या माँगी। राजा सबसे छोटी कन्या को लेकर ऋषि के पास पहुँचे। इस पर ऋषि बड़े कुपित हुए, और उन्होंने शाप दिया कि शेष सब कुबड़ी हो जाएँ। तब से वह नगर या प्रदेश, जहाँ वे कन्याएँ रहती थीं, कान्यकुब्ज या कुबड़ी कन्याओं का नगर या देश कहलाने लगा।

कान्यकुब्ज या कन्नौज हर्षवर्धन के काल में उत्तरीय भारत का सबसे बड़ा नगर हो गया था और मुसलमानों के आगमन तक वह एक विशाल राज्य की राजधानी और कला का केंद्र रहा। आज दिन कन्नौज युक्तप्रांत का एक छोटा-सा कस्बा है। उत्तर भारत के ब्राह्मणों की एक उप-जाति इसी कन्नौज या कान्यकुब्ज के नाम से कनौजिया या कान्यकुब्ज कहलाती है।

काबा:—मक्का की बड़ी मसजिद में एक पत्थर का टुकड़ा। जिस इमारत में यह स्थित है वह ५० फ़ीट ऊँची, लगभग ४० फ़ीट लंबी और ३० फ़ीट चौड़ी है। इस इमारत का धार्मिक ख्याति उसके उत्तर-पूर्वीय कोने में गड़े हुए इसी काले पत्थर के कारण है। यह पत्थर अंडाकार है, और उसका व्यास ६ या ७ इंच के लगभग है। हज करनेवाला प्रत्येक मुसलमान इसे चूमता है। वर्तमान मसजिद १६२६ में बनी थी। वह उसी पुराने मंदिर से मिलती-जुलती है, जिसमें स्थापित मूर्तियों को पैग़ंबर मुहम्मद से पहले सारा अरब पूजता था। काबे की वेदी क़ीमती काले कपड़े से ढकी रहती है।

ख़ुसरो:—ईरानी साम्राज्य के सासान राजवंश के दो राजाओं का नाम। ख़ुसरो प्रथम का राज्य-काल ५३१ से ५७६ ई० प० तक है। यह ख़ुसरो महान् के नाम से विख्यात है। ख़ुसरो द्वितीय का राज्य काल ५६१ से ६२८ ई० प० तक है। यह परवेज़ या विजेता के नाम से मशहूर था। वास्तव में यह बड़ा प्रतापशाली था; परंतु रोमन सम्राट् हैरैक्लीज़ ने इसे परास्त कर दिया, और इसके लड़के ही ने इसे मरवा डाला।

गाथ:—स्कैंडिनेविया की एक ट्यूटानिक जाति। प्रथम शताब्दी ई० प० में इस जाति के लोग बाल्टिक सागर और विस्चुला नदी के तट की ओर बढ़ आए और रोमन सम्राट् डेसियस की सेना पर टूट पड़े। उन्हें सम्राट् क्लाडियस ने परास्त किया। सम्राट् आरीलियस ने उन्हें डेसिया में बसने की इजाज़त दे दी। इस प्रदेश में बसनेवाले गाथ विसीगाथ, अर्थात् पश्चिमी गाथ, कहलाए; और जो पूर्व में बसे वे आस्ट्रोगाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। ऐलरिक प्रथम के नेतृत्व में विसीगाथों ने पश्चिमी योरप पर आक्रमण किया। इटली पर धावा कर उन्होंने रोम को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। उन्होंने टूलोज़ का गाथिक राज्य स्थापित किया। छठवीं शताब्दी के आरंभ में फ़्रैंकों ने इस राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। आस्ट्रोगाथ हूणों के राज्य में थे। पर ऐटिला की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने सिर उठाया और वे

डैन्यूब के तट तक बढ़ आए। अपने राजा थियोडोरिक महान् के नेतृत्व में उन्होंने इटली पर आक्रमण किया। पर सम्राट् जस्टीनियन के सेनापति ने उन्हें बुरी तरह हराया।

गाल:—फ्रांस और उसके आसपास के प्रदेश का प्राचीन नाम। रोमन साम्राज्य के सेनापतियों ने इसे जीतकर इसका नाम "गैलिया" रक्खा था। कालांतर में यह "गाल" कहलाने लगा। बहुत दिनों तक यह रोमन साम्राज्य का एक प्रांत बना रहा।

चंगीज़ खाँ:—मुग़ल विजेता। इसका काल ११६२ से १२२७ ई० प० तक है। इसका असली नाम तिमूजिन था। सन् १२०३ में उसने करायत के मुग़लों पर विजय पाई और फिर पश्चिमी साइबीरिया, मध्य एशिया और उत्तरी चीन की जातियों को परास्त किया। वहाँ से पूर्वी तुर्किस्तान, खीवा, समरकंद, बुख़ारा, ख़ुरासान, आदि, को विजय करता हुआ वह दक्षिण की ओर बढ़ा। उसके एक सेनापति ने भारत पर आक्रमण किया; और दो सेनापतियों ने दक्षिणी रूस तक धावा मारा। लूट-मार और बर्बरता के लिए वह इतिहास में प्रसिद्ध है।

चार्वाक:—प्रसिद्ध भारतीय तत्ववेत्ता और दार्शनिक। इसके काल का ठीक पता नहीं चलता। महाभारत के शांति-पर्व में चार्वाक राक्षस का उल्लेख मिलता है। विष्णुपुराण में भी चार्वाक के मत का उल्लेख है। चार्वाक नास्तिक था। परलोक को वह नहीं मानता था। उसके मत में इहलोक का सुख ही सच्चा सुख है, तथा सुख ही जीवन का प्रधान लक्ष्य है। जो लोग दुःख की आशंका से सुख का उपभोग करना नहीं चाहते वे मूर्ख हैं। योरप के हेडानिस्टों से चार्वाक का मत बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। चार्वाक-दर्शन-नामक ग्रंथ में वेद, ईश्वर और परलोक को पूर्ण पाखंड कहा है। कहा गया है कि वेद आप्त वचन नहीं हैं। वे प्रत्यक्ष-विलोपी, युक्तिविरुद्ध और धूर्तलोकसंभूत हैं। बहुत से विद्वान् ब्राह्मण वेदोक्त कर्मानुष्ठान के द्वारा व्यर्थ में अर्थव्यय तथा शारीरिक अपव्यय करते हैं। इससे जनसाधारण का परलोक में विश्वास हो जाता है। पर वास्तव में कोई परलोक है ही नहीं। स्वर्ग-नरकादिक नाना प्रकार की कल्पित वस्तुओं को गढ़कर ब्राह्मणों ने दुनिया को अंधा बना रक्खा है। अग्निहोत्र, वेदाध्ययन, दंडग्रहण और भस्मलेपन, आदि, तो ब्राह्मणों की जीविका के साधन हैं। वेदों में कहा है कि पुत्रेष्टि यज्ञ करने से पुत्र का जन्म होता है, कारिरी यज्ञ करने से पानी बरसता और श्येन यज्ञ करने से शत्रु का नाश होता है। इसी तरह की कामनाओं से प्रेरित होकर दुनिया सब तरह के काम किया करती है, पर कहीं भी तो किसी को कोई फल मिलता नहीं दिखाई देता है। वेदों में किसी स्थान पर सूर्योदय के समय अग्निहोत्र करना विहित बताया है; परंतु दूसरे स्थान पर यह कहकर उसका निषेध किया है कि उस वेला की आहुति राक्षस ले लेते हैं। इसी प्रकार वेदों में अनेक परस्पर-विरोधी बातें भरी पड़ी हैं; और उनमें स्थान-स्थान पर उन्मत्त प्रलाप है। ऐसी बातों को देखते हुए वेद कैसे प्रामाणिक माने जा सकते

हैं ? स्वर्ग, अपवर्ग, परलोक, आत्मा, सभी मिथ्या हैं। चार आश्रमों का कर्तव्य-कर्म वृथा है। धूर्त लोग कहा करते हैं कि यज्ञ में वध किया जानेवाला पशु स्वर्ग को जाता है। यदि ऐसा है तो ये लोग यज्ञ में अपने वृद्ध पिता-माता की वलि क्यों नहीं चढ़ाते ? उन्हें स्वर्ग मिल जायगा और उनके लिए इन्हें वृथा श्राद्ध करने का कष्ट भी न झेलना पड़ेगा। यदि श्राद्ध करने से मृत व्यक्ति संतुष्ट होता है तो किसी के विदेश जाने पर पाथेय देने की आवश्यकता न होती, क्योंकि घर में किसी ब्राह्मण को भोजन करा देने ही से काम चल जाता। यदि श्राद्ध करने से मृत व्यक्ति की तृप्ति हो जाती है तो चवूतरे पर श्राद्ध करने से गृह में उपस्थित व्यक्ति को क्यों क्षुधा लग आती है ? मृत व्यक्ति का जो अंत्येष्टि कर्म किया जाता है, उससे तो ब्राह्मणों की जीविका चलती है—उससे और कोई फल नहीं मिलता। यह देह भस्मीभूत हो जाने पर फिर लौटकर कहाँ आता है ? यदि आत्मा को अन्य देह-देहांतर में प्रवेश करने की क्षमता प्राप्त है तो बंधु-बांधव के स्नेह से वह पूर्व देह में फिर से क्यों नहीं आ जाता ? जब इंद्र देवत्व प्राप्त होने पर भी शमीकाष्ठादि का भक्षण करते हैं तो उनसे तो पत्र-भोजी श्रेष्ठ हैं। सर्वसाधारण के लिए युक्तियुक्त वचन ही ग्राह्य हैं। इस तरह चार्वाक ने तीन मुख्य सिद्धांत स्थापित किए—(१) यह लोक दुःखमय नहीं है। अतएव सुख से रहना चाहिए; ऋण लेकर भी घी खाना चाहिए ; (२) शास्त्र की अपेक्षा युक्ति अधिक प्रबल है; और (३) प्रत्यक्ष प्रमाण ही वास्तविक प्रमाण है।

जावा:—मलय-द्वीपसमूह का एक टापू। यह वोर्निओ से जावा-सागर द्वारा, सुमात्रा से सुंडा के जलडमरूमध्य द्वारा, और वाली से वाली के जलडमरूमध्य द्वारा, विभाजित है। मदूरा के द्वीप को मिलाकर इसका क्षेत्रफल ५१,०५७ वर्गमील है। यह वहुत वड़ा द्वीप है। इसकी आवादी ४ करोड़ के लगभग होगी। इसके वीच का भाग पहाड़ी है और वहाँ कई ज्वालामुखी पर्वत हैं। इसका दक्षिणी समुद्र-तट पथरीला है पर उत्तरीय तट पर कई अच्छे वंदरगाह हैं। आजकल यह द्वीप हालैंड के साम्राज्य के अंतर्गत है। इसकी राजधानी वटेविया है। इस द्वीप के अन्य प्रधान नगर सुरावाया और जिलातजप हैं। जावा वड़ा प्राचीन द्वीप है। १८६१ में यहाँ सव से प्राचीन मनुष्यों का ठठरियां पाई गई थीं।

थियोडोसियस:—पूर्वी रोमन साम्राज्य का एक सम्राट्। इसने ३७९ ई० प० से ३५६ ई० प० तक राज्य किया।

फ़िलिपाइन:—ईस्ट इंडोज़ के उत्तरीय भाग का द्वीपसमूह। इसमें लगभग ७,००० द्वीप हैं, जिनका क्षेत्रफल लगभग १,१४,-४०० वर्गमील है। इस द्वीपसमूह में लूज़न, मिंडानाओ, पलावा, नीग्रोज़, पाने, समर, मिंडोरो और सीवू-नामक द्वीप प्रमुख हैं। ये सव अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के अधीन हैं। राजधानी मनीला में है। ये द्वीप वड़े सुंदर हैं और इनकी भूमि वड़ी उपजाऊ है। तिजारत के लिए ये प्रसिद्ध हैं। यहाँ से सोना भी निकलता है। इन द्वीपों की आवादी १,२२,०४,१०० है। यहाँ के निवासी स्वतंत्रता के लिए वहुत दिनों से

आंदोलन कर रहे हैं, पर संयुक्त राष्ट्र अपने को प्रजासत्तावादी कहते हुए भी उन्हें स्वतंत्रता देने से हिचक रहा है।

बोर्निओ:—पूर्वी द्वीपसमूह का एक द्वीप। इसका क्षेत्रफल २,८४,००० वर्गमील है। यह चार राजनीतिक हिस्सों में बँटा है:—(१) ब्रिटिश उत्तरीय बोर्निओ, जिसका शासन ब्रिटिश उत्तरीय बोर्निओ कंपनी करती है। (२) ब्रुनई, जो एक मुसलिम रियासत है और शासन सुविधा के लिए स्ट्रेट्स सेटेलमेंट के साथ मिला दी गई है; (३) सरावाक, जिसके शासक अँगरेज हैं और (४) डच बोर्निओ, जो हालैंड के साम्राज्य के अधीन है। यहाँ के आदिम निवासी ड्याक्स कहलाते हैं। उनकी कई जातियाँ हैं। यहाँ के मुख्य व्यापारी चीनी हैं। नदियों के तट पर मलय जाति के लोग रहते हैं। तिजारत के लिए यह द्वीप बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ सोना भी निकलता है।

मलयेशिया:—एशिया के दक्षिण-पूर्व भाग से आस्ट्रेलिया तक फला हुआ द्वीप-समूह, जिसे ईस्ट इंडीज़ अथवा मलय आर्चीपलेगो भी कहते हैं। इसमें दक्षिण की ओर बोर्नियो, सैलबाज़, बूटन, सुला, बूरू, मोरोटाई, जिलोलो, न्यूगिनी, इत्यादि, द्वीप हैं और उत्तर की ओर फ़िलिपाइंस हैं। भारतीय महासागर में सुमात्रा, जावा, मदुरा, बाली, टिमोर, आदि, द्वीप हैं। इनमें से अधिकांश हालैंड के अधीन हैं। इनकी गिनती असंख्य है; पर इनमें न्यूगिनी, सैलबीज़, टिमोर, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और फ़िलिपाइन मुख्य हैं।

माउंट ऐवेरैस्ट:—हिमालय पर्वत की सर्वोच्च चोटी। यह संसार का सबसे ऊँचा पर्वत-शिखर है और इसकी ऊँचाई २६,१४१ फ़ीट अर्थात् ५।। मील है। यह नैपाल और तिब्बत की सीमा पर स्थित है। भारत में यह गौरीशंकर के नाम से प्रसिद्ध है, परंतु प्रसिद्ध भूगोल-वेत्ता, सर जार्ज ऐवेरेस्ट, के नाम पर विदेशियों ने इसका नाम बदल कर ऐवेरेस्ट रख दिया। इसकी चोटी पर अभी तक कोई नहीं चढ़ पाया।

वैंडाल:—पूर्वीय जर्मनी की एक ट्यूटानिक जाति। इस जाति के लोग बाल्टिक सागर से चलकर डैन्यूब नदी के तट पर पहुँचे और वहाँ से फिर पश्चिमा योरप की ओर अग्रसर हुए। पांचवीं शताब्दी में इन लोगों ने गाल पर धावा मारा और फिर वहाँ से ये स्पेन में दाखिल हुए। रोमन साम्राज्य को इन्होंने बड़ा तंग किया। विसीगाथों ने इस जाति के आधे लोगों को मार डाला और शेष को अंडैलूशिया (स्पेन) में खदेड़ भगाया। वहाँ से सन् ४२८ में यह जाति उत्तरी अफ़्रीका को चली गई और वहां इसने एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। वहां वैंडाल प्रसिद्ध समुद्री-डाकू हो गए।

सुमात्रा:—मलय द्वीपसमूह का एक द्वीप। यह हालैंड के साम्राज्य के अधीन है। इसका क्षेत्रफल लगभग १,६३,००० वर्ग मील है। इस द्वीपसमूह के टापुओं में यह सब से बड़ा है। यहां सोना भी पाया जाता है। इसकी आबादी ५६,६१,३६६ है और यहां का प्रमुख नगर पाडांग है।

सैलबीज़:—ईस्ट इंडीज़ का एक द्वीप। यह बोर्निओ द्वीप के पूर्व में है; बीच में मका-

सर का जलडमरूमध्य है। इसका क्षेत्र-फल लगभग ७०,००० वर्ग मील है। यहां पर सोना और गंधक पाया जाता है। इसका भीतरी भाग पहाड़ी है और वहां कई बड़ी-बड़ी झीलें हैं। इस भाग का ज्यादा हाल कोई नहीं जानता। समुद्र-तट पर ही ज्यादातर आबादी है। प्रधान नगरों के नाम मकासर, मिनाडो और कीमा हैं। यहां के निवासी ज्यादातर मलय और बुगीनी हैं। भातर की ओर आइडो-नोशियनस रहते हैं। यह द्वीप हालैंड के अधीन है।

हर्षवर्धन:—भारत का एक प्रसिद्ध सम्राट्। यह स्थानेश्वर के प्रतापी राजा, प्रभाकरवर्धन, का द्वितीय पुत्र था। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के उपरांत राज्य का स्वामी उसका ज्येष्ठ पुत्र, राज्यवर्धन, हुआ; पर थोड़े समय बाद कर्णसुवर्ण के राजा शशांकदेव ने उसकी हत्या कर डाली। हर्षवर्धन से गद्दी पर बैठने के लिए कहा गया, पर भतीजे के रहते उसने राज्य लेने से इनकार कर दिया। ५ या ६ वर्ष के कुमार शिलादित्य के नाम से वह राज-कार्य चलाता रहा। पर ६१२ ई०प० में जब शिलादित्य की मृत्यु होगई तब वह यथाविधि अभिषिक्त होकर सिंहासनारूढ़ हुआ। इसी साल से उसने एक नया संवत् चलाया। उसका पहला काम अपने भाई की हत्या का बदला लेना था। कर्ण-सुवर्ण को जीतने के बाद हर्ष ने सारे उत्तरीय भारत का दिग्विजय किया। उसकी सेना में ६०,००० हाथी और १,००,००० घुड़सवार थे। कलिंग और सुराष्ट्र को जीत कर, वह दक्षिण की ओर बढ़ा; पर दक्षिण के सम्राट् पुलकेशी द्वितीय ने उसे परास्त कर दिया। उत्तरीय भारत का वह एकच्छत्र सम्राट् था और दूर तक उसका दबदबा था। हर्ष राजाओं को पराजित कर उन्हें पदच्युत नहीं करता था। अपने छोटे-छोटे राज्यों के घरेलू शासनकार्य में इन राजाओं को यथेष्ट स्वाधीनता प्राप्त थी। हर्ष स्वयं शैव था, पर सब धर्मों को वह आदर की दृष्टि से देखता था। उसका वैभव और दान दोनों ही अनुपमेय थे। उस युग में कोई और राजा इतना प्रतापी न था। हर्ष का स्थान भारतीय इतिहास में बहुत ही ऊँचा है। वह केवल वीर और पराक्रमी ही न था किंतु वह बड़ा साहित्यप्रेमी भी था। वह एक स्वयमेव प्रसिद्ध कवि था। नागानंद, रत्नावली, प्रियदर्शिका, आदि, संस्कृत नाटक उसी की कृतियां हैं। इन नाटकों की भाषा सरल और विशुद्ध, छंद सुललित तथा भाव उच्च कोटि के हैं। हर्ष की मृत्यु ६४७ या ६४८ ई० में हुई।

हारूँ-अल रशीद:—बगदाद के अब्बासी राज-वंश का पांचवां खलीफ़ा। इसका जन्म ७६३ ई० प० में हुआ था। ७८६ ई० प० में वह खलीफ़ा हुआ। इसकी मृत्यु ८०६ ई० प० में हुई। अलिफ़-लैला की कहानियों के कारण इसका नाम आज दिन भी परम प्रसिद्ध है।

हिंदी चीन:—एशिया के दक्षिण-पूर्व में स्थित फ्रांस के अधीन कई रियासतों का समूह। इसके अंतर्गत कोचीन-चीन, कंबोडिया, टांकिङ, अनम, लाओज और कांचोवाङ के बंदरगाह हैं। इसका क्षेत्रफल २,८५,००० है और आबादी २,०६,००,००० के लगभग

है, जिसमें ३५,००० योरोपीयन हैं। हिंदी चीन की राजधानी हनोई है और वहीं इसका गवरनर-जनरल रहता है।

हूण:—एक एशियाई जाति। चौथी शताब्दी में हूणों ने योरप पर आक्रमण किया। इन लोगों ने दक्षिणी रूस पर क़ब्ज़ा कर वहाँ के निवासियों को लूट लिया। चौथी शताब्दी के अंतिम दिनों में इन्होंने आस्ट्रोगाथों को परास्त किया और पाँचवी शताब्दी में अपने सरदार, ऐटिला, के नेतृत्व में सारे योरप को इन्होंने अपने आतंक से कंपा दिया। ३५१ ई० प० में ये लोग परास्त हुए; और ऐटिला की मृत्यु के बाद अन्य जातियों में खप गए।

हैरेक्लिज़:—पूर्वी रोमन सम्राट्। इसका राज्यकाल ६१० से ६४१ ई० प० तक माना जाता है। इसका पिता अफ्रीका का गवरनर था। हैरेक्लीज़ ने ईरानी सम्राट् ख़ुसरो द्वितीय को एक बड़ी प्रसिद्ध लड़ाई में हराया था। अपने शासन के अंतिम दिवसों में राज्य के धार्मिक झगड़ों के कारण इसे काफ़ी परेशानी उठानी पड़ी।

ह्यू कैपे:—फ्रैंक जाति का एक राजा और कैपे राजवंश का प्रवर्तक। इसका राज्य-काल ६३८ ई० प० से ६६६ ई० प० तक है। कैपे एक अमीर का लड़का था। उसे फ्रैंक मंसबदारों ने ६८७ ई० प० में राजा बनाया। उसका राजवंश फ्रांस का तीसरा राजवंश था। कैपे-वंश ने ६८७ से १३२८ ई० प० तक फ्रांस में राज्य किया। उसके बाद सन् १७८६ तक इसी वंश से संबंध रखनेवाले एक दूसरे वंश का फ्रांस के सिंहासन पर अधिकार रहा।

अनुक्रमणिका

(भाग—१)

अ

आ

ओ

क

ख

ग

घ

च

फ

ब

भ

य

र

स

ह

अनुक्रमणिका

(भाग–२)

अ

आ

इ

क

ख

ग

च

फ

ब

भ

म

य

र

स

ह

विषय-सूची

इनर कवर और विषय-सूची ४ पृष्ठ

पाठ्य-विषय, टिप्पणियाँ और अनुक्रमणिका (भाग-४) ८८ पृष्ठ

अनुक्रमणिका (भाग-३) १० पृष्ठ

इस भाग की कुल पृष्ठ-संख्या *१०२*

(५५)

जापान में शोगनों का शासन

जून ६, १९३२

चीन से पीले सागर को पार कर जापान की यात्रा करना अधिक आसान है; और हम इस समय जापान के बिलकुल पास पहुँच गए हैं। अतएव, आओ, इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए हम जापान की सैर कर आएं। क्या तुम्हें इस देश की अपनी पिछली यात्रा का स्मरण है? तब हमने देखा था कि किस तरह जापान में बड़े-बड़े शक्तिशाली परिवार या कुनबे पैदा होते गए, जिनमें प्रभुता के लिए निरंतर लाग-डाँट बनी रहती थी। हमने यह भी देखा कि एक केंद्रिक शासन-सत्ता का क्रमशः विकास हुआ और जापान का सम्राट्, जो अब तक एक विस्तृत और शक्ति-संपन्न कुल-विशेष का सरदार-मात्र था, इस सत्ता का प्रधान बन गया। इसी केंद्रीय शक्ति के प्रतीक-स्वरूप राजधानी की नारा में स्थापना हुई, जहाँ से थोड़े दिनों बाद वह कियोटो में उठ आई। जापानियों ने चीनी शासन-पद्धति की खूब नक़ल की। कला, धर्म्म या राजनीति, सभी को उन्होंने अधिकांश में चीन से अथवा उसके द्वारा अन्य देशों से लिया; यहाँ तक कि अपने देश का नाम—डाई-निपोन—भी उन्होंने चीन ही से पाया।

अपनी पिछली यात्रा में हम देख चुके हैं कि किस तरह फ़ूजीवारा-नामक एक शक्तिशाली परिवार ने तमाम शक्ति को हड़प लिया और सम्राट् को वह अंगुलियों पर नचाता रहा। लगभग दो सौ वर्ष तक जापान के सम्राट् इसी भाँति कठपुतली की तरह राज्य करते रहे। अंत में राज-काज से वे इतने ऊब गए कि गद्दी त्याग, एक के बाद एक, प्रव्रज्या ग्रहण कर उन्होंने विहारों में प्रवेश करना आरंभ किया। किंतु परिव्राजक हो जाने पर भी इन लोगों ने शासन-संबंधी मामलों में टाँग अड़ाना न छोड़ा। जो सम्राट् राजगद्दी त्याग कर भिक्षु हो जाता, वह अपने उत्तराधिकारी, सिंहासनारूढ़ सम्राट्, को—जो बहुधा उसीका पुत्र होता था—सलाह-मशविरा दिया करता था। इस प्रकार किसी अंग

तक, ये लोग फूजीवाराओं पर अंकुश लगाए रहे। निस्संदेह, उनका यह तरीक़ा वेढव और पेचीदा था। किंतु फूजीवारा-कुल का वल तोड़ने में उन्हें इससे काफ़ी सफलता मिली। वास्तव में, शक्ति की वागडोर अब इन अवसरप्राप्त सम्राटों के हाथों में आगई थी, जो, एक के वाद, एक राज-पाट त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करते जाते थे। इसी कारण, इतिहास में, ये लोग भिक्षु-सम्राटों के नाम से मशहूर हैं।

इस बीच में और भी कई उलट-फेर और परिवर्त्तन हुए, और अंत में देश में एक विलकुल नवीन वर्ग उठ खड़ा हुआ। इस वर्ग के लोग वड़े-वड़े ज़मींदार थे। वे सैनिक भी होते थे। इन ज़मींदारों की सृष्टि फूजीवाराओं ने की थी, जिनके द्वारा ये लोग सरकार की ओर से राजकर वसूल करने के लिए नियुक्त किए गए थे। ये लोग "डायमिओ" अथवा "प्रतिष्ठित पुरुष" के नाम से पुकारे जाते थे। जब हम इन लोगों की अपने यहाँ के इसी तरह के एक वर्ग के साथ तुलना करते हैं, जो अँगरेज़ों के भारत-आगमन के कुछ ही काल पूर्व हमारे प्रांत (वर्त्तमान संयुक्तप्रांत) में पैदा हो गया था, तव वास्तव में बड़ा मनोरंजन होता है। अवध के नवावों ने, जो प्रायः मूर्ख और कमज़ोर होते थे, अपने राज्य की मालगुज़ारी वसूल करने के लिए कुछ कर्मचारियों को नियुक्त कर रक्खा था। ये लोग वलपूर्वक कर वसूल करने के लिए अपने पास छोटी-छोटी सेनाएँ रखते और वसूल की हुई रक़म में से अधिकांश ख़ुद हड़प लेते थे। इन्हीं में से कई आगे चल कर वड़े-वड़े ताल्लुक़ेदार वन गए।

डायमिओ-परिवारवाले शासक अपने भृत्यों, अनुचरों तथा छोटी-छोटी सेनाओं के वल पर वड़े प्रवल हो उठे, और कियोटो की केंद्रीय सरकार की परवा न करते हुए आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। इन लोगों में टायरा और मिनामोटो-नामक दो परिवार प्रधान थे। ११५३ ई० प० में इन परिवारों ने फ़ूजीवाराओं का दमन करने में सम्राट् की गाढ़ी मदद की था। किंतु कुछ समय वाद ख़ुद वे ही आपस में लड़ वैठे, और दोनों एक दूसरे की जान के प्यासे हो गए। इस संघर्ष में टायरा-परिवार विजयी हुआ और सदा के लिए अपनी राह का कांटा दूर करने के उद्देश से उसने प्रतिद्वंद्वी परिवार के सव व्यक्तियों को ख़त्म कर दिया। केवल चार वालकों को छोड़ कर—जिनमें योरीतोमो-नामक एक द्वादश-वर्षीय वालक भी था—मिनामोटो-परिवार के सभी प्रमुख व्यक्तियों को टायराओं ने मार डाला। किंतु इतना सव करने पर भी टायरा-परिवार अपने उद्देश में सफल न हुआ। वही लड़का, योरीतोमो, जिसको उसने निर्दोष समझ कर जीता छोड़ दिया था, वड़ा होने पर टायरा-वंश का जानी दुश्मन हो गया। उसके रोम-रोम में प्रतिहिंसा की भावना भरी थी और अपने वंश का वदला लेने में वह पूरी तरह सफल हुआ। उसने टायराओं को राजधानी से मार भगाया और एक सामुद्रिक लड़ाई में परास्त कर हमेशा के लिए उनका नाम मिटा दिया।

अव योरीतोमो ही देश में सर्वशक्तिशाली हो गया। सम्राट् ने उसे "सी-ई-ताइ-शोगन" अर्थात् "वर्वर-विजेता महावलाधिपति" की परमोच्च उपाधि देकर संमानित किया। यह ११६३ ई० प० की वात है। योरीतोमो की यह उपाधि पुश्तैनी थी। उपाधि के साथ

शासन के पूरे अधिकार भी उसे मिले। वास्तव में, शोगन ही अब देश का असली शासक हो गया। इस प्रकार जापान में शोगनों के उस सुदीर्घ शासन का प्रारंभ हुआ, जो सात सौ वर्ष की लंबी अवधि तक—लगभग आधुनिक युग के उदयकाल तक, जब प्राचीन मनसबदारी प्रथा के घिरौंदे को तोड़ कर नवीन जापानी राष्ट्र का उत्थान हुआ—स्थायी रहा।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सात सौ वर्षों की इस लंबी अवधि तक योरीतोमो हा के वंशज शोगन के रूप में जापान पर शासन करते रहे। वास्तव में, शोगन के वंश में इस बीच अनेक फेरफार हुए। इस अरसे में गृह-कलह की आग भी कभी न बुझ पाई। किंतु शासन-व्यवस्था ज्यों-की-त्यों अटल बनी रही, जिसके अनुसार शोगन ही देश का वास्तविक शासक होता था। सम्राट् के हाथ में अब किंचित्‌मात्र भी शक्ति नहीं रह गई थी। यदि कुछ शक्ति थी भी तो वह महज़ नाम के लिए थी। कभी-कभी, ऐसे भी अनेक अवसर आए, जब शोगन भी महज़ कठपुतली रह गया। शासन-सूत्र तो कुछ मुट्ठीभर अधिकारियों के हाथों में था।

योरीतोमो प्राचीन राजधानी, कियोटो, के विलासमय वातावरण से भयभीत रहता था। उसकी धारणा थी कि विशेष आमोद-प्रमोद और विलासिता का जीवन उसकी और उसके साथियों की शक्ति को क्षीण कर देगा। अतएव उसने कामाकुरा-नामक स्थान में अपनी एक पृथक् फ़ौजी राजधानी स्थापित की। उसी राजधानी के नाम पर यह प्रथम शोगनशाही कामाकुरा-शोगनशाही के नाम से मशहूर है। इसका शासन १३३३ ई० प० तक, अर्थात् लगभग डेढ़-सौ वर्षों तक, स्थायी रहा। इस काल में जापान में प्रायः शांति रही। वर्षों के गृह-कलह और खून-खराबी के बाद सब ने शांति के वातावरण का स्वागत किया। जापान में एक सुदीर्घ समृद्धि का युग आरंभ हुआ। इस युग में जापान की दशा और उसकी शासन-व्यवस्था समसामयिक योरप के किसी भी देश से अधिक उन्नत और सुव्यवस्थित थी। जापान चीन का पट्ट शिष्य था, यद्यपि दोनों के दृष्टिकोणों में विस्तृत अंतर था। चीन, जैसा मैं कह चुका हूँ, एक शांतिप्रिय और निश्चल प्रकृति का देश था। जापान स्वभाव ही से युद्ध-प्रेमी और सैनिक प्रवृत्ति का राष्ट्र था। चीन में सैनिकों को लोग हिकारत की निगाह से देखते थे। सैनिक-वृत्ति वहाँ अधिक वांछनीय वृत्ति नहीं समझी जाती थी। इसके विपरीत, जापान में सैनिकों ही की सर्वोच्च श्रेणी में गिनती होती थी। जापान का आदर्श ही डायमिओ या युद्ध-प्रेमी शूरवीर था। संभवतः, भारत की तरह, चीन इतना अधिक वृद्ध होगया था कि उसमें युद्ध की लालसा सर्वथा मिट चुकी थी। बुढ़ापे में प्रत्येक व्यक्ति को शांति और विश्राम की आकांक्षा होती है।

जापान ने चीन से लिया तो बहुत-कुछ, लेकिन उसको उसने एक निराले ढंग से अपनी विशेष राष्ट्रीय प्रवृत्ति के अनुकूल बनाकर अंगीकार किया। चीन के साथ उसका घनिष्ठ संपर्क और व्यापार, जो अधिकतर चीनी जहाज़ों द्वारा होता था, स्थायी रहा। केवल तेरहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में, जब मंगोलों ने चीन और कोरिया पर धावा किया, इस सांस्कृतिक और व्यापारिक संपर्क में एकाएक रुकावट होने लगी। मंगोलों ने जापान को भी

जीतने की चेष्टा की; लेकिन जापानियों ने उन्हें मार भगाया। इस तरह, जो मंगोल सारे एशिया की शक़्ल बदलने और योरप को हिला देने में समर्थ हुए, वे ही जापान-जैसे छोटे-से राष्ट्र पर कोई विशेष उल्लेखनीय प्रभाव नहीं डाल सके। जापान अपने पुराने ढर्रे पर ज्यों-का-त्यों चलता रहा, यद्यपि बाह्य देशों से उसका संसर्ग अब पहले से भी ज्यादा बंद हो गया था।

जापान के राजकीय इतिहास में एक इतिवृत्त है, जिसमें इस बात का उल्लेख है कि किस प्रकार पहले-पहल वहाँ कपास का पौधा आया। कहते हैं, कुछ भारतवासी, जो जहाज़ डूबने के कारण जापान के तट पर जा लगे थे, ७९९ ई० प० में पहले-पहल वहाँ कपास के बीज ले गए।

चाय का पौदा इससे बहुत बाद में आया। जापान में चाय का प्रवेश पहले-पहल ९वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ। किंतु उस समय उसे वहाँ अधिक सफलता नहीं मिली। तब ११९१ ई० प० में एक बौद्ध भिक्षु अपने साथ चीन से जापान में चाय के बीज ले गया; और थोड़े ही समय में चाय वहाँ की एक लोकप्रिय वस्तु हो गई। चाय पीने की प्रथा ने जापान में उत्तम मार्तिकों की खासी माँग पैदा कर दी, और १३वीं शताब्दी के अंत में एक जापानी कुम्हार चीनी मार्तिक बनाने की कला सीखने के लिए चीन पहुँचा। वह वहाँ ६ वर्ष तक रहा और लौटकर उसने जापान में मिट्टी के बर्तन बनाना आरंभ किया। आज दिन चाय-पान की जापान में ललितकलाओं में गणना होती है। उसके संबंध में वहां लंबी-चौड़ी शिष्टाचारयुक्त रस्में हैं। यदि तुम्हें कभी जापान जाने का मौक़ा पड़े तो नियत विधि के अनुसार तुम्हें चाय पीना होगा, वरना वहाँ के लोग तुम्हें अर्द्ध-बर्बर समझेंगे।
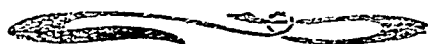
(५६)

मनुष्य की जिज्ञासा

जून १०, १९३२

चार दिन हुए, मैंने तुम्हें बरेली-जेल से अंतिम पत्र लिखा था। उसी दिन शाम को अचानक मुझसे बोरिया-बधना बांध कर वहाँ से कूच करने के लिए कहा गया—इसलिए नहीं कि मेरी रिहाई होने वाली थी, किंतु हटा कर किसी दूसरे जेल में भेजने के लिए; क्योंकि वहां से मेरा तबादला हो गया था। अतएव, जिस बैरक में रहते मुझे लगभग चार मास बीते थे, उस बैरक के अपने साथियों से मैंने विदा ली। चलते-चलते, चौबीस फ़ीट ऊँची जिस विशाल दीवार की छत्र-छाया में बैठ कर इतने दिनों तक मैंने विश्राम किया था, उस पर मैंने अंतिम बार एक नजर डाली और तब अल्पकाल के लिए मैं फिर बाहरी दुनिया की एक झांकी लेने के लिए चल दिया। हम दो का इस तरह तबादला किया गया था। जेल-अधिकारी हमें यहां से सीधे बरेला-स्टेशन को नहीं ले गए। उन्हें भय था कि कहीं लोग हमें देख न लें। क्योंकि अब हम लोग "पर्दानशीन" हो गए हैं और किसी की हम पर निगाह पड़ना ठीक नहीं है! उन्होंने हमें मोटर में बिठाया और घुमा-फिरा कर वे हमें पचास मील दूर सुनसान जंगल में स्थित एक छोटे-से रेलवे-स्टेशन पर ले गए। इस मोटर-यात्रा के लिए मैंने उनको मन-ही-मन धन्यवाद दिया। महीनों के जेल के एकांतवास के बाद रात्रि की शीतल वायु का स्पर्श करने तथा आधे अंधियारे में वृक्षों, जानवरों और मनुष्यों की धुंधली छायाओं को सर्राटे के साथ अपने पास से निकलते हुए देखने में मुझे अतुलित आनंद का अनुभव होता था।

हम देहरादून की ओर जा रहे थे। किंतु निश्चित् स्थान तक पहुँचने के पहले ही, सुबह बड़े तड़के, हम रेल से उतार लिए गए। इसके आगे, लोगों की उत्सुक और तीक्ष्ण निगाहों से बचने के लिए, हमें फिर मोटर द्वारा यात्रा करना पड़ी।

अतएव, अब मैं देहरादून के इस छोटे-से जेलखाने में बैठा हूँ। कई बातों में बरेली-जेल से इस जगह को मैं अच्छा समझता हूँ। एक तो यहां उतनी गर्मी नहीं है, जितनी बरेली में थी। यहाँ का तापमान बरेली की तरह ११२ डिग्री तक नहीं चढ़ता। दूसरे, जिन दीवारों में यहाँ हम बंद हैं, वे बरेली की अपेक्षा अधिक नीची और उनके ऊपर से दिखलाई देने वाले वृक्ष अधिक हरे-भरे हैं। जेल की दीवार के उस ओर, समीप ही, मुझे एक ताड़ के वृक्ष का सिरा दिखाई देता है। उसको देख कर मुझे बड़ा आनंद होता है। वह मेरे मन में लंका और मलाबार की स्मृति जाग्रत कर देता है। वृक्षों के आगे पहाड़ों की श्रेणियां हैं, जो यहां से अधिक दूर नहीं हैं। इन्हीं पर्वतों में से किसी एक के शिखर पर पक्षी की तरह मसूरी का बसेरा है। मैं यहाँ से पहाड़ों को नहीं देख पाता, क्योंकि वृक्षों ने उन्हें अपनी सघन

आड़ में छिपा रक्खा है। किंतु यही क्या कम संतोष की बात है कि मैं उनके इतने समीप हूँ। रात में कल्पना द्वारा अनतिदूर मंसूरी के टिमटिमाते हुए दीपकों को मैं देख लेता हूँ।

चार साल हुए—अथवा क्या यह तीन साल पहले की बात है?—मैंने तुम्हें पहले-पहल यह पत्रमाला लिखना आरंभ किया था। उन दिनों तुम मंसूरी में थीं। इन तीन या चार वर्षों में कितनी घटनाएँ घटीं। स्वयं तुम्हीं तब से आज कितनी बड़ी हो गई हो। मैंने इन पत्रों को विना किसी क्रम के, जब जैसा जी में आया वैसा, लिख मारा है। कभी-कभी बीच का काफ़ी हिस्सा खाली छोड़ कर और कभी लंबी छलांगें भर कर मैंने इन पत्रों को अब तक जारी रक्खा है। इनमें से अधिकांश पत्र जेलों ही में लिखे गए हैं। किंतु अब ज्यों-ज्यों मैं इन्हें आगे लिखता हूँ त्यों-त्यों मुझे अपना लिखा हुआ नापसंद होने लगता है। मुझे यह भय होने लगता है कि ये पत्र रुचिकर प्रतीत होने के बदले कहीं तुम्हारे लिए बोझ न हो जाएं। ऐसी दशा में मैं क्यों इन्हें लिखता रहूँ?

मेरी वास्तविक इच्छा तो यह था कि, एक के बाद एक, भूतकाल के सुस्पष्ट चित्रों को तुम्हारे सामने रखता, ताकि तुम देख सकतीं किस प्रकार हमारी यह दुनिया क्रमशः बदलती, विकसित होती, उन्नति के मार्ग की ओर बढ़ती और कभी-कभी स्पष्टतया पीछे की ओर भी ढुलकती गई। मैं तुम्हें दिखाना चाहता था प्राचीन सभ्यताओं की एक झलक—किस तरह वे, समुद्र में ज्वार की तरह, उमड़ कर ऊपर उठीं और अंत में ठंढी हो गईं; किस तरह इतिहास-सरिता अनादिकाल से युग-युगांतरों को पार करती और अनेक आवर्त्तों और खारों के पास से निकलती हुई अवि-राम गति से बढ़ती चली आई और अब भी, न जाने, किस अज्ञात महासिंधु की ओर उसी तरह बढ़ती चली जायगी। मेरी यह इच्छा थी कि मैं तुम्हें मनुष्य की उस पगडंडी पर ले चलता, जिस पर वह अनादिकाल से चलता चला आया है; और तब उसके साथ-साथ तुम्हें उस युग से, जब मनुष्य पूरी तरह मनुष्य भी न बन पाया था, आज के इस युग तक लाता, जब वह अपने बढ़प्पन और अपनी सभ्यता पर मूर्खता-पूर्वक इतना अधिक इत-राता है। तुम्हें याद होगा कि हमने इस लेखमाला का आरंभ इसी तरह किया था। मंसूरीवाले पत्रों में, हमने अग्नि और कृषि की खोज तथा मनुष्य के बस्तियों में बसने और काम के बँटवारे की चर्चा शुरू की थी। किंतु ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते गए त्यों-त्यों विशाल साम्राज्यों और उसी तरह की अन्य बातों की भूलभुलैया में फँसते गए और मनुष्य की उस पगडंडी का हमें बहुधा ध्यान भी न रहा। हम इतिहास की केवल ऊपरी सतह ही का स्पर्शमात्र कर पाए। मैंने तुम्हारे सामने भूतकाल की घटनाओं का एक शुष्क ढांचा खड़ा कर दिया है। मेरी यह उत्कट इच्छा रही है कि मुझमें वह शक्ति होती जिससे मैं उसे रक्त और मांस से रंजित कर तुम्हारे लिए सजीव और ठोस बना सकता।

लेकिन मुझे भय है कि मुझमें वह सामर्थ्य नहीं है; और इस चमत्कार-पूर्ण कार्य्य को करने के लिए तुम्हें अपनी ही कल्पना का आश्रय लेना होगा। तब क्यों मैं आगे की बातें लिख कर तुम्हें परेशान करूँ, जब भूतकालिक इतिहास की बाबत तुम स्वयं कई उत्तमोत्तम पुस्तकें पढ़ कर हाल

जान सकती हो ! मैं यह तो सोचता हूँ ; किंतु संदेह के इस जाल में उलझ कर भी मैंने अपना लिखना जारी रक्खा है, और मैं समझता हूँ कि आगे भी मैं इसी तरह लिखता जाऊँगा। मुझे वह वादा याद है, जो मैंने तुमसे किया था, और उसे पूरा करने की मैं चेष्टा करूंगा। किंतु इन सब बातों से अधिक जो बात मुझे लिखने को प्रेरित करती है, वह है वह अतुलित आनंद, जो मुझे लिखते समय तुम्हारा विचार करने और इस बात की कल्पना करने में मिलता है कि तुम मेरे समीप हो और हम एक दूसरे से बातचीत कर रहे हैं।

ऊपर मैंने मनुष्य की उस पगडंडी का उल्लेख किया है, जो उस काल से चली आ रही है, जब वह लड़खड़ाता और ठोकरें खाता पहले-पहल जंगलों से बाहर निकला। न जाने कितने हज़ार वर्षों पुरानी यह पगडंडी है। लेकिन पृथ्वी की जीवन-कथा और मनुष्य के आविर्भाव के पूर्व के युगों और महाकल्पों की तुलना में इसकी अवधि कितनी अल्प प्रतीत होती है। परंतु हमारे लिए तो, स्वभावतया, मनुष्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह हमें उन सब भीमकाय जंतुओं से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, जो उसके पहले हुए होंगे। वह हमारे लिए इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह अपने साथ एक नवीन वस्तु लाया, जो संभवतः औरों के पास नहीं थी। यह था उसका मस्तिष्क, उसकी उत्कंठा, जानने और खोजने की उसकी जिज्ञासा। इस तरह आदि युग ही से मनुष्य के मन में खोज की पिपासा का आविर्भाव हुआ। एक छोटे शिशु को देखो। कैसे विस्मय के साथ वह अपने आस-पास की नवीन और अचरजभरी दुनिया को देखता, वस्तुओं और लोगों को पहचानता और नई-नई बातें सीखता है। किसी छोटी बालिका ही को लो, यदि वह पूर्ण स्वस्थ और चंचल है तो पचीसों प्रश्न, न जाने, कितना बातों के विषय में वह पूछ डालेगी। यही मनुष्य का भी हाल था। जब अपने इतिहास के प्रभातकाल में वह एक शिशु के समान था और उसे यह दुनिया नवीन और अद्भुत तथा कुछ-कुछ भयावनी-सी मालूम देती थी, उस समय आंखें फाड़-फाड़कर उसने विस्मय के साथ अपने चारों ओर देखा होगा और सहज ही उसके मन में कई प्रश्न उठ खड़े हुए होंगे। किंतु सिवा अपने और किससे वह इन प्रश्नों को पूछता ? दूसरा कोई तो था नहीं जो इनका उत्तर दे सकता, केवल एक छोटी किंतु अद्भुत वस्तु उसके पास थी। यह था उसका मस्तिष्क। इसी की सहायता से बड़े कष्ट से धीरे-धीरे उसने अपने अनुभवों को बटोरना और उनसे शिक्षा ग्रहण करना शुरू किया। इस तरह प्रारंभिक युग से आज तक मनुष्य की खोज जारी है और यद्यपि उसने बहुत-सी बातों का पता पा लिया है फिर भी अभी कई बातों का पता लगाना बाक़ी है। ज्यों-ज्यों वह अपनी पगडंडी पर आगे क़दम बढ़ाता है, त्यों-त्यों उसे अपने सामने विस्तृत नवीन प्रदेश फैले हुए दिखाई पड़ते हैं, जो इस बात का निर्देश करते हैं कि अभी वह अपनी इस खोज की अंतिम मंज़िल से—यदि सचमुच ही इसका कहीं अंत हो सकता है—कितनी अधिक दूर है।

मनुष्य की यह खोज क्या वस्तु है ? किस निर्दिष्ट लक्ष्यबिंदु को साध कर वह यात्रा कर रहा है ? हज़ारों वर्षों से लोग इन प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा कर रहे हैं। धर्म, दर्शन और विज्ञान, सभी ने अपने-अपने ढंग से इन प्रश्नों के अनेक समाधान

प्रस्तुत किए हैं। मैं इनका वर्णन कर तुम्हें कष्ट देना नहीं चाहता। साफ़ बात तो यह है कि उनमें से अधिकतर का मुझे बोध भी नहीं है। किंतु, मुख्यतया, धर्म ने जो-जो उत्तर देने की चेष्टा की है, वे सर्वथा उसीके अंध आदेशों और विश्वासों के आश्रित तथा एक प्रकार से उन्हीं से परिपूर्ण हैं। वह मनुष्य की बुद्धि की प्रायः अवहेलना और हर प्रकार से अपने ही निर्णय को शिरोधार्य करने के लिए हर एक को बाध्य करने की चेष्टा करता है। इसके विपरीत, विज्ञान जो समाधान उपस्थित करता है वह अनिश्चित् और संदेहयुक्त है; क्योंकि विज्ञान का गुण ही तरह-तरह के प्रयोगों और तर्क द्वारा अनुसंधान करना न कि किसी एक बात को मान कर उसीकी लकीर पीटते रहना है। उसका तो आधार ही बुद्धि है। तुम्हें यह बताने की जरूरत नहीं कि मैं विज्ञान और विज्ञानमूलक विधि ही को विशेष महत्व देता हूँ।

मनुष्य के खोज-संबंधी उपर्युक्त प्रश्नों का चाहे हम कोई निश्चित् उत्तर न दे सकें, लेकिन इस बात को हम देखते हैं कि इस खोज की धारा दो दिशाओं की ओर प्रवाहित हो रही है। मनुष्य ने अपने बाहर और भीतर दोनों ओर दृष्टि डालने का प्रयत्न किया है। उसने बाह्य जगत् में प्रकृति का रहस्य समझने की कोशिश की है; साथ ही, अपने को भी पहचानने की वह चेष्टा करता रहा है। वास्तव में, उसकी यह खोज एक ही है; क्योंकि मनुष्य भी तो प्रकृति ही का अंग है। अपने को पहचानो—यही भारत और ग्रीस के तत्ववेत्ताओं का कथन था। उपनिषद् भारत के प्राचीन आर्य्यों के आत्मानुसंधान के अद्भुत और अनवरत प्रयास के वृत्तांतों से भरे पड़े हैं। दूसरे, अर्थात् बाह्यप्रकृति के ज्ञान की प्राप्ति के लिए विज्ञान प्रयत्नशील रहा है। हमारा वर्तमान जगत् इस बात का जीताजागता साक्षी है कि इस क्षेत्र में कितनी प्रगति हुई है। विज्ञान तो, वास्तव में, अपना दायरा और भी आगे बढ़ा रहा है। वह इस खोज की दोनों धाराओं का भार ग्रहण कर उन्हें एक करने का प्रयास कर रहा है। जहाँ एक ओर सुदूरतम नक्षत्रों की ओर उसने अपनी प्रगल्भ दृष्टि लगा रक्खी है, वहाँ दूसरी ओर वह हमें उन निरंतर गतिशील अद्भुत सूक्ष्मतम वस्तुओं—अणु और परमाणुओं—का भी हाल बताता है, जिनसे सब तत्वों की रचना हुई है।

अनुसंधान की इस यात्रा में मनुष्य को उसके मस्तिष्क ने काफ़ी आगे बढ़ा दिया है। ज्यों-ज्यों वह प्रकृति के रहस्यों का पता पाता गया, त्यों-त्यों उन्हें वह अपने लाभ के लिए उपयोग में लाता गया। इस तरह बहुत-सी शक्ति पर उसने अपना अधिकार कर लिया है। लेकिन दुर्भाग्य से, सदैव उसे इस नवीन शक्ति का उचित उपयोग करना न आया। बहुधा उसने इस शक्ति का दुरुपयोग ही किया। विज्ञान ही का उपयोग वह, मुख्यतया, ऐसे घातक अस्त्र-शस्त्रों के बनाने में कर रहा है, जिनका निर्माण अपने ही भाई-बंधुओं की हत्या करने के लिए उसने किया है, और जिनसे क्षण भर ही में उसकी उस सभ्यता का नाश हो सकता है, जिसको उसने इतने कठिन परिश्रम के बाद तैयार किया है।

(५७)

ईसाई संवत् की प्रथम सहस्राब्दी का अंत

जून ११, १९३२

अपनी यात्रा में जिस मंज़िल तक हम पहुँच चुके हैं वहां पर तनिक ठहर कर एक बार चारों ओर देख लेना ठीक होगा। हम कहां तक पहुँच गए हैं, इस समय हमारी क्या परिस्थिति है और इस जगह से हमें दुनिया कैसी दिखाई देती है—इन प्रश्नों पर विचार कर लेना उचित होगा। तो फिर, आओ, अलादीन के क़िस्सेवाले जादू के कालीन पर बैठ कर तत्कालीन दुनिया के विभिन्न भागों की जल्दी से सैर कर डालें।

ईसाई संवत् की प्रथम सहस्राब्दी की यात्रा हम समाप्त कर चुके। कहीं तो हम इस कालावधि के कुछ आगे भी बढ़ गए और कहीं अभी कुछ पिछड़े हैं।

एशिया में, इस समय चीन पर सुङ्-वंश का आधिपत्य है। महान् टाङ्-वंश का अंत हो चुका है। सुङों को एक ओर तो घरेलू झगड़ों का सामना और दूसरी ओर उत्तर की खितान-नामक खानाबदोश जाति का मुकाबला करना पड़ रहा है। सुङ लगभग १५० वर्ष तक तो टिके रहे; परंतु इसके बाद वे इतने कमज़ोर हो गए कि उन्हें एक दूसरी खानाबदोश जाति—सुनहले तारतार या किनों—से सहायता मांगनी पड़ी। किन आए और वहीं अड्डा जमा राज्य करने लगे। बेचारे सुङ खिसक कर दक्षिण की ओर चले गए। यहाँ उन्होंने अगले १५० वर्ष तक राज्य किया। इस कालावधि में चीन ने चित्रकारी और मर्तिकों के बनाने की कला में विशेष रूप से उन्नति की।

कोरिया में कुछ काल तक फूट और पारस्परिक द्वंद्व-युद्ध का वातावरण रहा। इसके पश्चात्, ९३५ ई० प० में, एक सुसंघटित स्वतंत्र राज्य स्थापित हुआ। यह राज्य लगभग ४५० वर्ष तक स्थायी बना रहा। कोरिया ने सभ्यता, कला तथा शासन-प्रबंध की अनेक बातें चीन से सीखीं। उधर पूर्व में एशिया का संतरी, जापान, दुनिया से सारा नाता तोड़ जीवन बिता रहा था। जापान में इस समय फ़ूजीवारा वंश की तूती बोलती थी; और सम्राट्, जो अब महज़ एक जाति-विशेष ही का नेता नहीं रह गया था, परदे में बंद रहता था। इस परिवार के अस्त होने पर शोगनों के शासन की बारी आई।

मलयेशिया में भारतीय उपनिवेशों ने बहुत उन्नति की थी। महाप्रतापी अंगकोर, जहाँ कंबोडिया की राजधानी थी, शक्ति और विकास की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। उधर सुमात्रा में श्रीविजय का महानगर था। यहाँ पूर्वीय द्वीपों पर अधिकार जमानेवाले और उनके साथ व्यापार करनेवाले बौद्ध महासाम्राज्य की राजधानी थी। जावा में एक स्वतंत्र हिंदू राज्य था, जो द्रुत गति से उन्नति कर रहा था। आधुनिक योरपियन राष्ट्रों

की भाँति व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता के कारण श्रीविजय से उसकी ज़ोरों से लाग-डांट रहती थी। अंत में, जावा ने उसे परास्त किया और समूल नष्ट कर डाला।

भारत में उत्तर और दक्षिण के पारस्परिक संबंध में, पहले की अपेक्षा, अब कम घनिष्ठता हमें दिखाई देती है। उत्तर में महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण शुरू हो गए थे। उसने बारंबार देश को लूटा और उत्पात मचाया। दक्षिण में राजराजा और उसके पुत्र, राजेंद्र चोल, के शासन-काल में चोल साम्राज्य अधिकाधिक बढ़ता और शक्तिसंपन्न होता जा रहा था। सारे दक्षिणी भारत पर इस समय चोलों का प्रभुत्व था और उनके जहाज़ी बेड़े अरब-सागर और बंगाल की खाड़ी तक धावा मारते थे। विजय की लालसा से उन्होंने लंका, दक्षिणी ब्रह्मा और बंगाल तक पर चढ़ाई की।

मध्य और पश्चिमी एशिया में बग़दाद का अब्बासी साम्राज्य बहुत छोटा हो गया था। किंतु बग़दाद इस पर भी फूलता-फलता रहा। अपने नए शासकों, सेलजुक तुर्कों, के आधिपत्य में बग़दाद की शक्ति बढ़ती जाती थी। परंतु उसका प्राचीन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था। अब इस्लाम के अनुयायियों का कोई बड़ा साम्राज्य नहीं रह गया था। हां, इस्लाम अब कई राज्यों का राजधर्म बन गया था। अब्बासी साम्राज्य के भग्नावशेषों पर ग़ज़नी के राज्य का उत्थान हुआ। यह वही ग़ज़नी था जिसका शासक महमूद था और जहाँ से उसने भारत पर आक्रमण किए थे। किंतु यद्यपि बग़दाद का साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया था परंतु बग़दाद के नगर का वैभव अब तक अक्षुण्ण बना रहा। वहाँ कलाकार और विद्वान् इन दिनों भी सुदूर देशों से आते-जाते रहते थे। इस समय एशिया में कई प्रसिद्ध महानगर फल-फूल रहे थे। उदाहरणार्थ, बोखारा, समरकंद, बल्ख, आदि। उनका आपस में खूब व्यापार होता था और क़ाफ़िले एक जगह से दूसरी जगह को बराबर माल ढोया करते थे।

मंगोलिया और उसके आसपास के प्रदेशों में नई खानाबदोश जातियाँ उठ रही थीं। उनकी संख्या और शक्ति दिनोंदिन बढ़ती जा रही थी। आगामी १०० वर्ष में वे सारे एशिया में फैल गईं। आधुनिक और पश्चिमी एशिया की जनता का मुख्य भाग उन्हीं मध्य एशियाई खानबदोश जातियों की संतान हैं। चीन ने उन्हें पश्चिम की ओर भगाया था और उनमें से कई जातियाँ भारत की ओर तथा कुछ योरप की ओर फैल गईं थीं। पश्चिम की ओर जानेवाले सेलजुक तुर्क़ बग़दाद के वैभव का पुनरुत्थान करने में लगे थे। उन्होंने क़ुस्तुनतुनिया के रोमन साम्राज्य पर हमले करना और उसे शिकस्त पर शिकस्त देना शुरू कर दिया।

यह तो हुआ एशिया का हाल। लाल समुद्र के दूसरे तट पर बग़दाद से स्वतंत्र मिस्र का राज्य था। वहाँ के मुसलिम शासक ने अपने को स्वतंत्र खलीफ़ा घोषित कर दिया था। उत्तरीय अफ़्रीका में भी स्वतंत्र मुसलमान शासक राज्य करता था। जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य के उस पार स्पेन में भी एक स्वतंत्र मुसलमानी राज्य था, जो कुर्तुबा या कारडोवा की अमीरत के नाम से प्रख्यात था। इसके बारे में मैं तुम्हें आगे अधिक हाल बताऊँगा। तुम्हें

मालूम है कि जब से बग़दाद पर अब्बासी खलीफ़ाओं का शासन हुआ तब से स्पेन ने उनके आधिपत्य को स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। तभी से वह एक स्वतंत्र राज्य बन गया। फ़्रांस को जीतने के उसके प्रयत्न को बहुत पहले ही चार्लस मारतेल ने ठंडा कर दिया था। अब उत्तरीय स्पेन के ईसाई राज्यों की बारी आई। उन्होंने मुसलमानों पर हमले करना शुरू किए और जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे उनकी शक्ति बढ़ती और उनके हमले ज़ोर पकड़ते गए। लेकिन जिस समय की हम बात कह रहे हैं, उस समय कारडोवा की अमीरत बड़ी उन्नति कर रही थी और सभ्यता तथा विज्ञान में योरपीय राष्ट्रों से कहीं आगे निकल गई थी।

स्पेन को छोड़कर, बाक़ी योरप में इस समय कई छोटी-छोटी ईसाई रियासतें थीं। ईसाई धर्म सारे महाद्वीप में फैल चुका था; और वीरों तथा देवी-देवताओं की उपासना का प्राचीन धर्म योरप में लुप्तप्राय होने लगा था। योरप के देश साकार हो रहे थे। फ़्रांस के संघटन का श्रीगणेश ६८७ ई० प० में ह्यू केपे के समय से होता है। इंगलैंड में १०१६ ई० प० में डेन जाति का कैन्यूट-नामक* राजा राज्य करता था। उसके संबंध में यह कथा बहुत प्रसिद्ध है कि उसने एक बार समुद्र की बढ़ती हुई लहरों को आज्ञा दी थी कि तुम पीछे लौट जाओ। उसके पचास साल बाद विलियम, उपनाम विजेता, का आगमन हुआ। जर्मनी इस समय पवित्र रोमन साम्राज्य का अंग था; परंतु वह भी प्रत्यक्ष रूप से एक स्वतंत्र देश-विशिष्ट का स्वरूप धारण करने लगा था, यद्यपि वह कई छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था। उधर रूस पूर्व की ओर बढ़ रहा था। वह प्रायः अपने जहाज़ों से कुस्तुनतुनिया पर हमले करता रहता था। इन्हीं दिनों से कुस्तुनतुनिया के लिए रूस के मन में वह अद्भुत आकर्षण पैदा हो गया, जिसने हमेशा के लिए उसके मन में स्थान कर लिया। पिछले १०० वर्षों से रूस उस शहर पर दाँत लगाए है। उसे यह आशा थी कि कम से कम महायुद्ध में पुरस्कारस्वरूप उसे कुस्तुनतुनिया अवश्य मिल जाएगा। लेकिन सहसा क्रांति का बवंडर उठा और उसके सारे मनसूबे ढह गए।

६०० वर्ष पूर्व के योरप के नक़शे को देखो। तुम्हें उसमें पोलैंड और हंगरी, जहां पर मगयार रहते थे, और बलगेरियन तथा सर्वों के राज्य दिखाई देंगे। तुम यह भी पाओगी कि पूर्वीय रोमन साम्राज्य चारो ओर से शत्रुओं से घिरा होने पर भी किस तरह टिका रहा। उस पर रूस हमले करता; और बलगेरिया उसे चिढ़ाता था। नारमन समुद्र से उसे छेड़ा करते थे। सबसे ख़तरनाक़ बात तो यह थी कि सेलजुक़ तुर्क उसको ख़ात्मा कर देने की धमकी दे रहे थे। लेकिन इन सब दुश्मनों और आपत्तियों से घिरे रहने पर भी आगामी ४०० वर्ष तक वह नहीं हिला। इस आश्चर्यजनक स्थिरता का एक कारण कुस्तुनतुनिया की स्थिति भी है। वह इतने अच्छे स्थान पर स्थित है कि शत्रु के लिए उसको जीतना खेल न था। किसी अंश में इसका कारण ग्रीक लोगों द्वारा आविष्कृत बचाव का वह नया साधन भी था जो "ग्रीक अग्नि" के नाम से पुकारा जाता था। यह एक ऐसा द्रव्य था जो पानी को छूते ही जल उठता था। इसकी सहायता से कुस्तुनतुनियां वाले बासफ़रस को

* भाग के अंत में "कैन्यूट" शीर्षक टिप्पणी देखिए।

पार करनेवाली सेनाओं में तहलका मचा देते और उनके जहाजों में आग लगा देते थे।

ईसाई संवत् की प्रथम सहस्राब्दी की समाप्ति के समय योरपीय नक़शे की यह हालत थी। तुम्हें नार्थमेन या नारमनों की याद होगी, जो अपने जहाजों में सवार हो भूमध्यसागर के तटवर्ती शहरों को लूटते और उत्पात मचाते थे। विजयी हो जाने पर वे सभ्य हो गए और फ्रांस में पश्चिम की ओर नारमैंडी-नामक प्रदेश में बस गए। फ्रांस ही से उन्होंने इंगलेंड को जीता। वहीं से उन्होंने सिसली द्वीप को मुसलमानों से छीन कर अपने कब्ज़े में कर लिया, और फिर दक्षिणी इटली को जीतकर सिसिलिया के राज्य की स्थापना की।

मध्य योरप में उत्तरीय समुद्र से रोम तक पवित्र रोमन साम्राज्य फैला था। इसमें कई छोटे-छोटे राज्य संमिलित थे और इन सब का एक अधीश्वर था, जिसे सम्राट् कहते थे। सम्राट् और पोप में प्रभुत्व के लिए लगातार लाग-डांट छिड़ी रहती थी। कभी सम्राट् बाज़ी मार ले जाता तो कभी पोप। परंतु पोपों ने क्रमशः अपनी शक्ति बढ़ा ली। उनके हाथ में एक बहुत ही प्रबल अस्त्र था। वह था किसी भी व्यक्ति को समाज से बहिष्कृत करने तथा उसे मानव-समाज का शत्रु घोषित कर देने की उनकी सत्ता। पोप की इस शक्ति के आगे एक अभिमानी सम्राट् को इतना झुकना पड़ा कि उसे क्षमा माँगने के लिए नंगे पैर बर्फ़ से ढके हुए मार्ग से होकर पोप के कनोसा-नामक निवास-स्थान तक जाना पड़ा। वहाँ पहुँच कर उसे पोप के द्वार पर तब तक खड़ा रहना पड़ा जब तक पोप ने दयार्द्र होकर उसे क्षमा न कर दिया।

आगे हम इन देशों के विकास-क्रम की रूप-रेखा को देखेंगे, लेकिन वर्तमान काल की रूप-रेखा से उनकी तात्कालिक रूप-रेखा काफ़ी भिन्न थी। विशेषतः, उनके निवासी तो बिलकुल ही भिन्न होते थे। वे अपने को फ्रैंचमेन, इंगलिशमेन या जर्मन नहीं कहते थे। किसानों की दुर्दशा वर्णनातीत थी। देश और भूगोल का उन्होंने नाम भी नहीं सुना था। उन्हें सिर्फ़ इतना ही मालूम था कि वे स्वामी के दास हैं और उसकी आज्ञा का पालन करना उनका धर्म्म है। उस समय के अमीर-उमराव से यदि कोई उनका परिचय पूछता तो वे यही उत्तर देते कि वे अमुक स्थान के अधीश्वर हैं और फलां के अनुवर्ती हैं। यही उस मनसबदारी प्रथा का रूप था, जिसने सारे योरप को जकड़ रक्खा था।

धीरे-धीरे जर्मनी और उत्तरीय इटली में बड़े-बड़े नगरों की तादाद बढ़ने लगी। पेरिस भी उस युग का एक प्रमुख नगर था। ये नगर वाणिज्य और व्यापार के केंद्र थे। वहाँ अपार संपत्ति जुटने लगी थी। नगर के निवासी सरदारों और रावों से अप्रसन्न रहते थे, अतएव उनमें आपस में हमेशा लाग-डांट छिड़ी रहती थी। लेकिन अंत में पैसे ही की विजय होती थी। अपने धन के बल से, जिसे वे सरदारों को ऋण के रूप में देते थे, नगरवासी विशेष अधिकार प्राप्त कर लेते थे। कालांतर में, नगरों में एक नया वर्ग उत्पन्न होने लगा, जो मनसबदारी वर्गों से बिलकुल भिन्न था।

इस प्रकार हम योरपीय समाज को मनसबदारी व्यवस्था ही के अनुरूप कई श्रेणियों में

विभक्त पाते हैं और धर्म को इस व्यवस्था का समर्थन करते हुए देखते हैं। योरप में इस समय कोई राष्ट्रीय भाव विद्यमान न था। लेकिन सारे योरप में, और विशेषतया उच्च वर्ग के लोगों में, 'ईसाई समाज' की एक भावना का अस्तित्व था, जो समस्त ईसाई राष्ट्रों को एक झंडे के नीचे इकट्ठा कर देती थी। ईसाई चर्च ने इस भावना के प्रचार में काफ़ी मदद पहुँचाई, क्योंकि इससे उसकी नींव दृढ़ होती थी, साथ ही पोप की भी शक्ति बढ़ती थी, जो इन दिनों पश्चिमी योरप में धार्मिक अगुआ हो रहा था। तुम्हें याद होगा कि कुस्तुनतुनिया और पूर्वीय रोमन साम्राज्य से रोम का संबंध-विच्छेद हो चुका था। कुस्तुनतुनिया में पुराना ईसाई धर्म प्रचलित था और रूस भी उसी धर्म का अनुयायी था। कुस्तुनतुनिया के ग्रीक रोमन पोप को अपना धर्माचार्य नहीं मानते थे।

लेकिन जब कुस्तुनतुनिया शत्रुओं से घिर गया, और खासकर सेलजुक तुर्कों का खतरा उसके सिर पर मँडराने लगा, तब वह अपने अभिमान को भूल गया और संकटापन्न स्थिति में, मुसलमानों के विरुद्ध सहायता के लिए, उसने रोम से अपील की। रोम में इस समय हिलब्रांड-नामक एक महापुरुष पोप था, जो बाद को सातवें ग्रेगरी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही वह पोप था, जिसकी शरण में अभिमानी जर्मन सम्राट को नंगे पैर कनोसा तक जाना पड़ा था।

उस समय के योरप के ईसाइयों में एक और प्रबल धारणा काम कर रही थी। बहुत-से धार्मिक और श्रद्धालु ईसाइयों का विश्वास था कि ईसा के एक हज़ार वर्ष बाद 'मिलैनियम'—सहस्राब्दी—के आते ही एकाएक इस दुनिया का खात्मा हो जाएगा। "मिलैनियम" शब्द का अर्थ है सहस्राब्दी या एक हज़ार वर्ष। यह शब्द दो लैटिन शब्दों से बना है—"मिलो" अर्थात् सहस्र और "एनस" अर्थात् वर्ष। लोगों की यह दृढ़ धारणा हो गई थी कि शीघ्र ही महाप्रलय होगा और पृथ्वी का अंत हो जायगा। अतएव, सहास्राब्दी के मानी इस अर्थ में लगाए जाने लगे कि इसके बाद सब कोई इस लोक से किसी दूसरे और श्रेष्ठतर लोक को चले जाएंगे। जैसा मैं कह चुका हूँ, योरप में इन दिनों भीषण दुःख-दैन्य का वातावरण था। अतएव सहस्राब्दी की इस आशा ने बहुतेरे हताश लोगों में सांत्वना का संचार किया। बहुत-से लोग तो घर-बार बेच कर फ़िलीस्तीन में जा बसे ताकि महाप्रलय के समय वे पवित्र धर्मक्षेत्र ही में निवास करते हों।

किंतु दैवयोग से, संसार का अंत न हुआ और उन हज़ारों-लाखों यात्रियों को, जो लंबा सफ़र कर जैरूसलम पहुँचे थे, तुर्कों ने बहुत सताया। क्रोध और झुंझलाहट तथा अपमान की भावना को लिए हुए ये लोग योरप को वापस लौटे और फ़िलीस्तीन में उन्हें जो मुसीबत उठानी पड़ी थी उसके किस्से वे घर-घर जाकर सुनाने लगे। इनमें से एक, साधु पीटर-नामक प्रसिद्ध यात्री, ने तो हाथ में दंड लेकर मुसलमानों के अनाचार से जैरूसलम के पवित्र तीर्थस्थान की रक्षा करने के लिए व्याख्यान देना और घूम-घूम कर आंदोलन करना आरंभ किया। जब सारा ईसाई संसार इस अनाचार के प्रति ग्लानि और जोश की भावना से भर गया तब स्वयं पोप ने इस आंदोलन की बागडोर को अपने हाथ में लेने का निश्चय किया।

इसी समय के लगभग कानस्टेंटिनोपल को विधर्मियों से बचाने के लिए सहायता की पुकार हुई; और प्रायः सारा ईसाई जगत्—क्या रोमन और क्या ग्रीक—आक्रमणकारी तुर्कों से लोहा लेने के लिए उठ खड़ा हुआ। १०९५ ई० प० में एक जबर्दस्त धार्मिक संमेलन हुआ, जिसमें जेरूसलम के पवित्र तीर्थस्थल के उद्धार के लिए मुसलिमों के खिलाफ़ धर्म्म-युद्ध की घोषणा करने का निश्चय हुआ। इस तरह योरप में क्रूसेडस—अर्थात् इस्लामी जगत् के खिलाफ़ ईसाई जगत् अथवा मुसलिम क्रीसेंट (चांद) के खिलाफ़ ईसाई क्रास (सलीब) के संघर्ष—का श्रीगणेश हुआ।
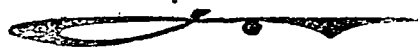
(५८)

एशिया और योरप पर फिर एक नज़र

जून १२, १९३२

ईसा से एक हज़ार वर्ष बाद की दुनिया—एशिया, योरप और अफ़्रीका के कुछ भाग—का संक्षेप में हम सिंहावलोकन कर चुके। किंतु, आओ, उस पर फिर एक बार नज़र दौड़ाएँ।

एशिया में, भारत और चीन की सभ्यताएँ अब भी फूलती-फलती हुई नज़र आ रही हैं। भारतीय संस्कृति का मलयेशिया और कंबोडिया में प्रसार होता है और वहाँ उसके उत्तम फल फलते हैं। चीनी संस्कृति कोरिया, जापान और अंशतः मलयेशिया तक फैलती है। पश्चिमी एशिया में, अरब, फ़िलिस्तीन, सीरिया और इराक़ पर अरब संस्कृति का दबदबा है और ईरान में हम प्राचीन ईरानी और नवीन अरबी सभ्यताओं की एक मिश्रित संस्कृति को पनपते हुए देखते हैं। मध्य एशिया के कुछ प्रदेशों ने इस मिश्रित ईरानी-अरबी संस्कृति को अंगीकार कर लिया है, किंतु उन देशों में भारत और चीन का भी स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इन सब देशों को हम सभ्यता के उच्च शृंग पर आसीन देखते हैं। वाणिज्य-व्यवसाय, विद्या और कला-कौशल, सभी समुन्नत हैं। विशाल नगरों की भरमार है और उनके प्रख्यात विश्व-विद्यालयों में दूर-दूर के विद्यार्थी आकर्षित होकर अध्ययन के लिए आते हैं। केवल मंगोलिया और मध्य एशिया के कुछ भागों में तथा उत्तर की ओर साइबेरिया में सभ्यता निम्न कोटि की है।

अब योरप को लो। एशिया के समुन्नत देशों की तुलना में वह बिलकुल पिछड़ा हुआ और अर्द्ध-बर्बर-सा है। प्राचीन ग्रीक-रोमन सभ्यता सुदूर पुरातन की धुँधली स्मृति-मात्र रह गई है। विद्या भी अवनत दशा में है और कला-कौशल लुप्त-से हो गए हैं। व्यापार तो एशिया की तुलना में कुछ नहीं के बराबर है। केवल दो प्रकाशमान विंदु इस अंधकारमय वातावरण में चमकते हुए दिखाई देते हैं। एक है अरब-शासित स्पेन, जिसने अरब-निवासियों के उन्नत युग की परंपरा और महत्ता को क़ायम बना रक्खा है; दूसरा है क़ानस्टेंटिनोपल, जो गिरती दशा में भी एशिया और योरप की सीमा पर स्थित एक विशाल नगर है। बाक़ी योरप के अधिकांश भाग में अव्यवस्था फैली हुई है। सब जगह मनसबदारी प्रथा प्रचलित है और उसके अंतर्गत प्रत्येक सरदार अपने इलाक़े में सर्वेसर्वा है। प्राचीन शाही राजनगर, रोम, इस युग में घटते-घटते इतना छोटा हो गया कि मुश्किल से वह एक गाँव से बड़ा रह गया था। उसके विशाल कोलोसियम में जानवर बसेरा लेने लगे। किंतु इधर हम उसे फिर बढ़ते हुए देखते हैं।

अतएव, ईसाई संवत्सर की प्रथम सहस्राब्दी के अंतिम चरण में यदि तुम योरप से एशिया की तुलना करोगी तो इस तुलना में एशिया ही को उच्च स्थान मिलेगा।

किंतु, आओ, फिर नजर दौड़ाएँ और इस बार वस्तुस्थिति की भीतरी सतह में पैठने की चेष्टा करें। हम देखते हैं कि वास्तव में एशिया की हालत उतनी अच्छी नहीं है जितनी एक ऊपरी निगाह डालनेवाले को दिखाई पड़ती है। प्राचीन सभ्यता के जन्मस्थल, भारत और चीन, दोनों, इस समय आपत्ति में फंस रहे हैं। उनकी विपत्ति केवल बाहरी आक्रमणों ही के रूप में नहीं है। सच्ची आपदाएँ तो वे हैं जो उनकी आंतरिक जीवन-शक्ति को चाट कर उन्हें खोखला बनाती जा रही हैं। पश्चिम में अरबनिवासियों के उज्ज्वल दिवसों का भी खात्मा हो चुका है। यह सच है कि सेलजुक तुर्क शक्तिशाली होते जा रहे हैं। किंतु उनका उत्थान केवल उनकी लड़ाकू प्रवृत्ति का आश्रित है। भारतीयों, चीनियों, ईरानियों अथवा अरबों की तरह वे एशिया की संस्कृति के प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते। वे एशिया की उग्र लड़ाकू प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं। एशिया में हर जगह प्राचीन सभ्य और सुसंस्कृत जातियाँ संकुचित होती और गिरती जा रही हैं। उनका आत्म-विश्वास उठ गया है। वे अपने बचाव की चिंता से चिंतित नजर आती हैं। तब नवीन शक्ति और उत्साह से भरी हुई नई-नई जातियां उठ खड़ी होती और प्राचीन सभ्य जातियों पर विजय प्राप्त कर उन्हें परतंत्र बना देती हैं। योरप तक को वे अपने आतंक से कँपा देती हैं। किंतु उनके उत्कर्ष के साथ सभ्यता या संस्कृति की कोई नई लहर उठती हुई नहीं दिखाई देती। धीरे-धीरे प्राचीन विजित जातियां विजेताओं को सुसंस्कृत बना कर अपने में मिला लेती हैं।

इस तरह हमें एशिया में धीरे-धीरे एक व्यापक परिवर्तन होता दिखाई देता है। यद्यपि प्राचीन सभ्यताएँ अब भी जीवित हैं, ललित कलाएँ पनप रही हैं, और ऐशोआराम के साधन बढ़ते जाते हैं, किंतु सभ्यता की नाड़ी और उसके श्वास की गति दिनोंदिन क्षीण होती जाती हैं। अभी इन सभ्यताओं को काफ़ी दिनों तक जीना बदा था। अतएव उनका निश्चित् रूप से अंत नहीं हो पाया। केवल अरब और मध्य एशिया में, मंगोलों का आक्रमण होने पर, सभ्यता की शृंखला टूट गई। भारत और चीन में उनका लोप मंद गति से हुआ। अंत में, इन दोनों देशों की सभ्यताएं उन चित्रों की दशा को पहुँच गईं, जो दूर से तो मनोरम दिखाई देते हैं, लेकिन जिनकी सजीवता यहाँ तक जाती रही है कि उनके पास पहुँचते ही दर्शक को मालूम होने लगता है कि दीमक उन्हें चाट गए हैं।

साम्राज्यों की तरह, सभ्यताओं का भी पतन बाहरी शत्रु की प्रबलता के कारण उतना नहीं होता, जितना आंतरिक क्षय और कमजोरी के कारण। रोम के पतन के कारण उस पर आक्रमण करनेवाले बर्बर नहीं थे। उन्होंने तो महज़ एक ठोकर मार कर उस कंकाल को गिरा दिया था, जिसके प्राण-पखेरू पहले ही उड़ चुके थे। अंग-भंग होने के समय ही से रोम के हृदय की धड़कन बंद हो गई थी। भारत और चीन तथा अरब में भी इसीसे मिलता-जुलता ह्रास का क्रम हम देखते हैं। अरबों की सभ्यता का अवसान भी उतनी ही तेजी के साथ हुआ, जितनी तेजी के साथ वे उठे थे। किंतु भारत और चीन का पतन बहुत धीरे-धीरे और काफ़ी दिनों में हुआ। अतएव उनके ह्रास-क्रम की रेखा बहुत अस्पष्ट है।

महमूद गजनवी के आक्रमण से बहुत पहले से भारत में सभ्यता का ह्रास होने लगा

था। लोगों के मस्तिष्क तथा विचारों में अब व्यापक परिवर्तन हो गया। नवीन विचारों और पदार्थों के उत्पादन की ओर से मुख मोड़ कर, भारतवासी अब जो कुछ बीत चुका था उसकी पुनरावृत्ति और अनुकरण में जुट गए। उनमें प्रतिभा का अभाव न था। किंतु सदियों पूर्व जो कुछ कहा और लिखा जा चुका था उसकी व्याख्या करने ही में वे अपनी प्रतिभा का अपव्यय करने में लग गए। अब तक वे अद्भुत शिल्प और मूर्तियों की रचना करते जाते थे, किंतु उनकी कृतियों में अब विस्तृत सजधज और अलंकारों की भरमार रहने लगी। कभी-कभी तो उनकी रचनाएं हास्यास्पद हो जाती थीं। उनमें मौलिकता तथा विशद कल्पना का सर्वथा अभाव होता था। धनी-मानी और संपन्न लोगों में वैभव-विलास, कला और सभ्य शिष्टाचार का वातावरण बना रहा, किंतु जनसाधारण के दुःख-दैन्य को दूर करने तथा उत्पादन की प्रवृत्ति को बढ़ाने की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता था।

ये सब लक्षण किसी भी सभ्यता के अवसानकाल के सूचक हैं। जब ऐसे चिन्ह प्रकट हों तब निश्चित् रूप से समझ लेना चाहिए कि उस सभ्यता का जीवन-दीप बुझने-वाला है। क्योंकि, जीवन का चिन्ह सृष्टि करना है, न कि पुनरावृत्ति या अंध अनुकरण।

तात्कालिक चीन और भारत में ऐसे ही क्षयसूचक लक्षण हमें अवगत होते हैं। किंतु तुम मेरे आशय का कहीं उलटा ही अर्थ न लगा डालो। मेरे कथन का अर्थ यह नहीं है कि इसके कारण चीन या भारत का अस्तित्व ही मिट गया अथवा वे गिर कर बिलकुल बर्बर हो गए। मेरा आशय केवल इतना ही है कि प्राचीनकाल में चीन और भारत को निरंतर आगे बढ़ने और अभिनव रचना की जो प्रेरणा मिली थी, उसकी शक्ति अब क्षीण हो चली थी। उनमें नवीन स्फूर्ति नहीं रह गई थी। वे अपने को बदली हुई परिस्थिति के अनुकूल बनाने का ज़रा भी प्रयत्न नहीं करते थे; महज़ पुरानी लकीर को पीटते जाते थे। प्रायः हर देश और सभ्यता का यही हाल होता है। हर एक के जीवन में क्रमशः रचना और विकास के युग आते हैं और ऐसा भी एक समय आता है जब सारी शक्ति क्षीण हो जाती है। आश्चर्य की बात है कि भारत और चीन का ह्रास इतनी देर से आरंभ हुआ और इस पर भी अब तक उन दोनों का अंत न हो पाया।

इस्लाम अपने साथ भारत में उन्नति अथवा नूतन उत्तेजना का संदेश लेकर आया था। किसी अंश तक उसने भारत के लिए तीव्र औषधि का काम किया। उसने सारे भारत को जड़ से हिला दिया। किंतु उसके संपर्क से जितना लाभ हो सकता था, उतना नहीं हो पाया। इसके दो कारण थे। पहले तो इस देश में उसके प्रवेश का ढंग ग़लत था। दूसरे वह बहुत देर से आया। महमूद ग़ज़नवी ने भारत पर धावा किया, उसके सैकड़ों वर्ष पहले मुस-लिम धर्म-प्रचारक भारत में आ चुके थे और उनका यहां स्वागत हुआ था। वे शांतिपूर्वक आए थे और इसीसे उन्हें कुछ सफलता भी मिली थी। उस समय इस्लाम के विरुद्ध यदि द्वेष की कोई भावना भी थी तो वह नाम-मात्र की थी। इसके बाद आग और तलवार हाथ में लिए महमूद भारत के मैदानों में उतरा। वह एक लोलुप विजेता और ख़ूनी लुटेरे के रूप में आया; और उसके आचरण ने भारत में इस्लाम की साख को ऐसी भयंकर

क्षति पहुँचाई, जैसी शायद ही कोई दूसरा पहुँचा सकता। वास्तव में, वह एक विजेता था, जिसका उद्देश होता है लूटमार। धर्म को उसे बहुत कम परवा थी। किंतु उसके आक्रमणों ने अपने आतंक से भारत में इस्लाम को दीर्घकाल के लिए दबा दिया। इससे इस्लाम के संबंध में उस निष्पक्ष भाव से विचार करना यहां के निवासियों के लिए असंभव हो गया, जिस निष्पक्ष भाव से वे उसे देखते यदि किसी दूसरे रूप में वह यहां आया होता।

एक तो यह कारण था। दूसरा कारण यह था कि भारत में इस्लाम का आगमन बहुत देर से हुआ। वह अपने प्रादुर्भाव के लगभग चार सौ वर्ष बाद भारत में आया। इस अवधि में वह बहुत-कुछ क्षीण हो चुका था। वह अपनी प्रारंभिक उत्पादक शक्ति को खो चुका था। अगर अरबवासी आरंभिक दिनों ही में इस्लाम को लेकर भारत में आए होते तो संभवत: नवोत्थित अरबी संस्कृति प्राचीन भारतीय संस्कृति में घुल जाती, और तब दोनों की एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम प्रकट होते। उस समय उन दोनों का मिलाप दो सुसंस्कृत जातियों का मिलाप होता, और कहने की आवश्यकता नहीं कि धार्मिक मामलों में सहिष्णुता तथा बुद्धिमत्ता के लिए अरब के लोग विश्वविख्यात थे। कहते हैं कि एक खलीफ़ा के आश्रय में बग़दाद में एक ऐसा क्लब स्थापित था, जिसमें सभी धर्म्मों के अनुयायी तथा स्वतंत्र विचार के लोग भी, जिनको किसी भी धर्म्म में विश्वास न था, एक स्थान में एकत्रित होते और विशुद्ध बुद्धिवाद की दृष्टि से हर विषय पर वाद-विवाद किया करते थे।

किंतु अरब-वासी भारत के अंतस्तल तक पहुँच ही नहीं पाए। वे सिंध ही में अटक गए। इसीलिए भारत पर उनका बहुत कम प्रभाव पड़ा। इस्लाम ने तुर्कों और उन्हीं जैसे अन्य लोगों के साथ भारत में प्रवेश किया। ये लोग प्रधानतया सैनिक थे और इनमें न तो अरबों की-सी सभ्यता ही थी, न उनकी-सी सहिष्णुता ही का भाव था।

फिर भी, इस्लाम के आगमन से भारत में उन्नति और रचनात्मक क्रियाशीलता की एक नवीन लहर उत्पन्न हुई। किस प्रकार इस नई उमंग ने भारतीय जीवन-धारा में एक नवीन हल-चल उत्पन्न की और अंत में किस तरह वह अपने आप ठंढी हो गई ; इन बातों की चर्चा हम आगे करेंगे।

भारतीय सभ्यता के ह्रास का एक और महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ। बाहरी आक्रमणों से बचाव का कोई अन्य साधन न देखकर भारतवासियों ने अपने चारो ओर एक सीपी-सा घिरौंदा बनाकर उसीमें अपने को बंद कर लिया। यह कमज़ोरी और कायरता का लक्षण था। इस दवा ने रोग को घटाने के बजाय और बढ़ा दिया। वास्तव में, रोग का कारण बाहरी आक्रमण नहीं किंतु आंतरिक जीवन-प्रवाह का अवरोध था। बाह्य संपर्क से कट जाने पर भारतीय सभ्यता की बाढ़ रुक गई, उसके विकास के सभी रास्ते बंद हो गए। आगे हम चीन और जापान की भी यही दशा होते देखेंगे। जो समाज सीपी की तरह चारो ओर से बंद होता है, उसमें रहना खतरे से खाली नहीं होता। ऐसे समाज में रहनेवाले पाषाणवत् हो जाते हैं ; नूतन हवा और विचारों को ग्रहण करने

का उनका अभ्यास छूट जाता है। परंतु ताज़ा वायु जैसे व्यक्तियों के लिए वैसे ही समाज के लिए भी आवश्यक है।

एशिया की बावत इतना पर्याप्त होगा। योरप की बावत हम देख चुके हैं कि वह इस युग में कितना पिछड़ा हुआ और झगड़ालू था। लेकिन उसकी इस अव्यवस्था और लड़ाई-झगड़े की तह में भी हमें एक सजीवता और हलचल दिखाई देती है। सुदीर्घ काल तक सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर आसीन रहने के बाद एशिया तो पतन के गर्त्त की ओर लुढ़कने लगा; परंतु योरप ऊपर की ओर उठने का प्रयास कर रहा था। किंतु एशिया की श्रेणी तक पहुँचने में उसके लिए अभी काफ़ी दिन बाक़ी थे।

आज योरप सर्वशक्तिशाली है. और एशिया आज़ादी के लिए कुलबुला रहा है। एक बार यदि तुम वस्तुस्थिति को ध्यान से निहारोगी, तो तुम्हें एशिया में एक नवीन उत्तेजना, अद्भुत क्रियाशीलता, और सजीवता दिखाई देगी। इसमें संदेह नहीं है कि एशिया फिर ऊपर उठ रहा है। इसके विपरीत, योरप, विशेषतया पश्चिमी योरप, उसकी महत्ता के होते हुए भी अवनति के गर्त्त की ओर लुढ़क रहा है। आज दुनिया में ऐसी कोई बर्बर जाति नहीं है जो योरपीय सभ्यता को विनष्ट करने की शक्ति रखती हो। किंतु कभी-कभी सभ्य जातियां ही बर्बरों का-सा काम करने लगती हैं; और जब ऐसा होता है तब उनकी सभ्यता स्वयं विनष्ट हो जाती है।

मैं एशिया और योरप का अलग-अलग उल्लेख कर रहा हूँ। किंतु, वे महज़ भौगोलिक नाम-मात्र हैं। वास्तव में, जो समस्याएं हमारे सामने हैं वे न तो एशियाई हैं और न योरपीय। वे तो सारे संसार अथवा संपूर्ण मनुष्य-जाति की समस्याएं हैं और जब तक हम इन समस्याओं को सारे संसार के लिए हल नहीं कर लेते, तब तक यह अव्यवस्था ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। इन समस्याओं को हल करने का अर्थ है संसार से ग़रीबी और दुःख-दैन्य को समूल उखाड़ फेंकना। संभवः है, इसमें अभी काफ़ी समय लगे। किंतु हमारा लक्ष्य तो यही, केवल यही, होना चाहिए। जिस दिन दुनिया में देशों या वर्गों के शोषण का नाम तक न रह जायगा, उसी दिन समानता की नींव पर स्थापित सच्ची सभ्यता और संस्कृति के हमें दर्शन होंगे। उस समय जिस समाज की स्थापना होगी वह एक रचनात्मक और प्रगतिशील समाज होगा। वह अपने को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल बनाता रहेगा। उसकी स्थापना उसमें संमिलित व्यक्तियों के पारस्परिक सहयोग की नींव पर होगी, और उस समाज का विस्तार विश्वव्यापी होगा। इस तरह जिस सभ्यता का निर्माण होगा, उसे प्राचीन सभ्यताओं की तरह क्षीण या नेस्तनाबूद होने का भय न रहेगा।

अतएव, भारत की आज़ादी के लिए लड़ाई लड़ते हुए हमें इस बात को न भूल जाना चाहिए कि हमारा सर्वोपरि लक्ष्य है मानव-स्वतंत्रता, जिसमें न केवल अपने देशवासियों किंतु सभी देशों के लोगों की स्वतंत्रता संमिलित है।

(५९)

अमेरिका की माया सभ्यता

जून १२, १९३२

मैं तुमसे यह बराबर कहता आया हूँ कि इन पत्रों में सारे संसार के इतिहास की रूपरेखा खींचने का मैं प्रयत्न करूँगा। किंतु अभी तक, वास्तव में, यह केवल एशिया, योरप तथा उत्तरीय अफ्रीका ही का इतिहास हो पाया है। अमेरिका और आस्ट्रेलिया की बाबत तो मैंने अब तक तुम्हें कुछ भी नहीं बताया। यदि मैंने कुछ कहा भी है तो वह कुछ-नहीं के बराबर है। लेकिन मैं तुम्हें इस बात की चेतावनी पहले ही दे चुका हूँ कि इस प्रारंभिक युग में भी अमेरिका में एक सभ्यता विद्यमान थी। उस सभ्यता की बाबत हमें बहुत कम मालूम है। कम से कम मुझे तो उसका बहुत कम ज्ञान है। किंतु उसके विषय में तुम्हें कुछ बातें बताने के लोभ को मैं संवरण नहीं कर सकता; क्योंकि मैं चाहता हूँ कि तुम भी यह सोचने की ग़लती न करने लगो, जैसी भूल आम तौर पर लोग किया करते हैं, कि कोलंबस और अन्य योरपियनों के पहुँचने के पूर्व अमेरिका एक महज़ जंगली देश था।

संभवतः, प्रस्तर-युग में, जब मनुष्य किसी एक स्थान-विशेष में टिककर नहीं रहता था और खानाबदोश शिकारी की तरह जीवन बिताता था, तब एशिया और उत्तरीय अमेरिका के बीच में स्थल-मार्ग था। उस मार्ग से मनुष्य के झुंड के झुंड, अलास्का की ओर से, एशिया से अमेरिका महाद्वीप में गए होंगे। बाद में, संभवतः, आने-जाने का यह रास्ता टूट गया और अमेरिका के लोगों ने धीरे-धीरे अपनी एक निराली सभ्यता का निर्माण करना शुरू किया। किंतु यह याद रक्खो कि, जहां तक हमें मालूम है, इन लोगों का एशिया या योरप के साथ कदापि कोई संपर्क न था। मैं तुम्हें पाँचवीं शताब्दी के उस चीनी भिक्षु का हाल सुना चुका हूँ, जो कहता था कि वह एक ऐसे देश की यात्रा कर आया है, जो चीन से कई हज़ार मील पूर्व में है। संभवतः, यह देश मैक्सिको रहा हो। किंतु इसके अतिरिक्त, सोलहवीं शताब्दी में नई दुनिया की कथित खोज तक एशिया या योरप के साथ अमेरिका के संपर्क का दूसरा कोई हाल हमें नहीं मालूम। अमेरिका की यह दुनिया हमारी दुनिया से बिलकुल निराली और अगम्य दुनिया थी, जिस पर योरप या एशिया की घटनाओं का रत्ती भर भी असर नहीं पड़ा।

संभवतः, अमेरिका में सभ्यता के तीन मुख्य केंद्र थे—मैक्सिको, मध्य अमेरिका और पीरू। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कितने समय पूर्व इनकी सभ्यताओं का आविर्भाव हुआ, किंतु यह हमें मालूम है कि मैक्सिको के तिथिपत्र का आरंभ ३१३ ई० पू० से मिलती-जुलती किसी तिथि से होता है। ईसाई संवत के

प्रारंभिक वर्षों में, अर्थात् दूसरी शताब्दी में और उसके बाद, हम अमेरिका में कई बड़े-बड़े नगरों को फलते-फूलते हुए पाते हैं। इस युग में पत्थर की खुदाई, मार्तिकों की रचना तथा कपड़ों की बुनाई और रंगाई का बहुत सुंदर काम होता था। तांबे और सोने का बाहुल्य था; पर लोहे का सर्वथा अभाव था। इस युग में गृहनिर्माण-कला में विशेष उन्नति हुई और बड़े-बड़े नगर, इमारतों के विषय में, एक दूसरे से होड़ करने लगे। एक विशिष्ट प्रकार की क्लिष्ट लेखन-शैली का भी विकास हुआ। ललित कलाओं, विशेषकर शिल्प-कला, में अत्यधिक उन्नति हुई; और कहने की आवश्यकता नहीं कि जिन वस्तुओं को वे बनाते थे वे बहुत सुंदर होती थीं।

सभ्यता के इन क्षेत्रों में से प्रत्येक क्षेत्र में अनेक राज्य थे। उनमें अनेक भाषाएं प्रचलित थीं और उनके पृथक्-पृथक् वाङ्मय थे। इन राज्यों की शासन-व्यवस्थाएं सुसंघटित और सुदृढ़ आधारों पर निर्मित थीं। नगरों में पढ़े-लिखे लोगों का एक सुसंस्कृत समाज विद्यमान था। इन राज्यों की वैधानिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ उच्च कोटि की थीं। ८६० ई० प० के लगभग उक्जमाल के नगर की स्थापना हुई। कहा जाता है कि थोड़े ही दिनों में यह नगर एक विशाल महानगर हो गया, जो तात्कालिक एशिया के महानगरों से टक्कर ले सकता था। इसके अलावा, और भी कई विशाल नगर थे जैसे लाबुआ, मायापान, चकमुलतुन, आदि।

मध्य अमेरिका की तीन प्रमुख रियासतों ने मिलकर अपना एक अलग संघ स्थापित किया था, जिसका अब मायापान के संघ के नाम से उल्लेख किया जाता है। यह ईसा से ठीक एक हजार वर्ष बाद की बात है और इस काल तक हम एशिया और योरप में पहुँच चुके हैं। इस प्रकार ईसाई संवत् को प्रथम सहस्राब्दी की समाप्ति के समय मध्य अमेरिका में सुसभ्य राज्यों का एक शक्तिशाली संघटन हम पाते हैं। किंतु इन सब राज्यों में पुरोहितों का बोलबाला था। सारी माया सभ्यता ही पुरोहितों की आश्रित थी। ज्योतिष का सब विद्याओं से अधिक मान था; और इस विद्या के बल पर पुरोहित लोग भोली-भाली जनता को उसी तरह उल्लू बनाया करते थे, जिस तरह भारत में धर्म के नाम पर लाखों-करोड़ों स्त्री-पुरुष सूर्य या चंद्रग्रहण के अवसर पर नहाने और व्रत रखने को बाध्य होकर बेवकूफ़ बना करते हैं।

सौ वर्षों से भी अधिक काल तक मायापान का यह संघ स्थायी रहा। इसके बाद एक सामाजिक क्रांति का सूत्रपात हुआ और पड़ोस की किसी राजशक्ति ने मायापान के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप कर छेड़छाड़ शुरू की। ११९० ई० प० में मायापान पूर्णतया विनष्ट हो गया। किंतु अन्य नगर काफ़ी समय तक बने रहे। अगले सौ वर्षों में, एक दूसरी ही जाति के लोग रंगभूमि में प्रकट हुए। ये मैक्सिको की अजटैक जाति के लोग थे। चौदहवीं शताब्दी में इन लोगों ने माया देश को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया। १३२५ ई० प० में टेनोचलितलन के महानगर की स्थापना हुई। बहुत शीघ्र यह नगर मैक्सिकन संसार की राजधानी और अजटैक साम्राज्य का मुख्य केंद्र बन गया। इस नगर की अपार जनसंख्या थी।

अज़टैक राष्ट्र एक सैनिक राष्ट्र था। उसकी अनेक फ़ौजी छावनियां और दुर्गरक्षक सेनाएं थीं। देश भर में उसने फ़ौज के आने-जाने के मार्गों का एक जाल-सा बिछा रक्खा था। कहते हैं कि इस राष्ट्र के संचालक इतने कूटनीतिज्ञ थे कि वे अपने अधीन राज्यों को हमेशा आपस में लड़ाते-भिड़ाते रहते थे। इस प्रकार उनमें आपस में फूट डाल कर वे अधिक आसानी के साथ उन पर शासन कर सकते थे। लगभग सभी साम्राज्यों की अनादिकाल से यही नीति रही है। रोमवाले इस नीति को "डिवाइड एट इंपेरा" अर्थात् फूट डाल कर राज्य करने की नीति कहते थे। कुछ अंगरेज़ों ने भी भारत में शक्ति भर इस नीति पर टिके रहने की कोशिश की है। उन्होंने भारत में फूट के बीज बोने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी; क्योंकि वे जानते हैं कि भारत की एकता का अर्थ होगा उनके साम्राज्य का ख़ात्मा !

दूसरे मामलों में चतुर होने पर भी, अज़टैक धर्म के मामले में अपने पुरोहितों के गुलाम थे। सब से घृणित बात तो यह थी कि उनके धर्म में पग-पग पर नर-बलि होती थी। इस प्रकार प्रतिवर्ष हज़ारों निर्दोष व्यक्ति धर्म के नाम पर अत्यंत वीभत्स रीति से काट दिए जाते थे।

लगभग दो सौ वर्ष तक अज़टैकों ने कठोरतापूर्वक अपने साम्राज्य का शासन किया। उनके साम्राज्य को बाहर से तो कोई ख़तरा था नहीं ; वहां एक प्रकार की बनावटी शांति का वातावरण छा रहा था, जैसे भारत में "पैक्स ब्रिटैनिका" अर्थात्, अंगरेज़ों द्वारा स्थापित शांति का साम्राज्य है। किंतु जनसाधारण का निर्दयतापूर्वक शोषण जारी था, जिससे ग़रीबी दिनोदिन बढ़ती जाती थी। इस प्रकार की नींव पर जिस राष्ट्र का निर्माण होता है, वह अधिक दिनों तक स्थायी नहीं रह सकता। अज़टैक साम्राज्य की भी अंत में यही दशा हुई। सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में (१५१६ ई० प० में), जब अज़टैक राष्ट्र अपनी शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ था तब मुट्ठी भर साहसी विदेशियों ने उस पर हमला किया और उनकी शक्ति के सामने वह ताश के घर की तरह भरभरा कर गिर पड़ा। अज़टैकों का पतन साम्राज्यों के अधःपतन के परमाश्चर्यजनक उदाहरणों में से एक है। अचरज की बात तो यह थी कि यह कांड कारटेज़-नामक एक मामूली स्पेनिश लुटेरे और उसके मुट्ठीभर साथियों ने सफलता-पूर्वक कर डाला। कारटेज़ बड़ा वीर और साहसी पुरुष था। उसे अपने कार्य में दो चीज़ों से बहुत अधिक सहायता मिली। ये थीं उसकी बंदूकें तथा उसके घोड़े, जिन्हें वह अपने साथ लाया था। मालूम होता है कि मैक्सिकोवालों के पास घोड़े नहीं थे. और बंदूकों का तो उन लोगों ने कभी नाम तक न सुना था। किंतु सच तो यह था कि न कारटेज़ की बंदूकें और न उसके घोड़े ही कुछ कर-धर सकते थे, यदि अज़टैक साम्राज्य भीतर-ही-भीतर सड़ कर खोखला न हो गया होता। यह सच था कि उसका बाहरी ढांचा ज्यों-का-त्यों खड़ा था, किंतु भीतर ही भीतर वह इतना खोखला हो गया था कि उसे गिरा देने के लिए एक मामूली-सी ठोकर काफ़ी थी। जनता के शोषण की

नींव पर स्थापित होने के कारण अज़टैक साम्राज्य लोकप्रिय न था। अतएव, जब बाहर से शत्रुओं ने उस पर आक्रमण किया तब अधिकांश जनता मन-ही-मन अपने शासकों के पराजय की कामना करने लगी। इसी के साथ—जैसा प्रायः होता है—वहां एक ज़बर्दस्त सामाजिक क्रांति का भी सूत्रपात हुआ।

पहले तो कारटेज़ को बुरी तरह मुह की खाना पड़ी। उसे अपनी जान तक के लाले पड़ गए। किंतु वह हिम्मत हारना तो जानता ही न था। उसने फिर आक्रमण किया और इस बार वहीं के कुछ लोगों की गुप्त मदद पाकर उसने साम्राज्य पर अधिकार करने में पूरी सफलता प्राप्त की। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अज़टैक साम्राज्य के पतन के साथ ही मैक्सिको की सभ्यता की सारी इमारत ढह पड़ी। उसका विशाल शाही नगर, टेनोचतितलन, नष्ट-भ्रष्ट होकर सदा के लिए विलुप्त हो गया। आज उस नगर की एक ईंट भी नहीं बची है और जिस भूमि-स्थल पर किसी दिन उसका आसन था, उसी पर अब स्पेनवालों ने अपना एक गिरजाघर बना रक्खा है। माया देश की अन्य महानगरियां भी क्रमशः नष्ट हो गईं। वे यूकातान के सघन जंगलों के गर्भ में समा गईं, और लोगों को उनके नाम तक न याद रहे। आज दिन उन नगरों में से कई का हवाला पड़ोस के मामूली गांवों के नामों से दिया जाता है। उनका विशाल वाङ्मय भी काल के उदर में समा गया। केवल तीन पुस्तकें बची हैं, और वे भी ऐसी हैं जिनको आज तक कोई नहीं पढ़ पाया है।

प्राचीनकाल की एक समुन्नत जाति और उसकी उत्कृष्ट सभ्यता का योरप से नवागुंतकों के संपर्क में आते ही इस तरह एकाएक विलुप्त हो जाना, सचमुच, एक विस्मय की बात है। इसके प्रेरक कारण और रहस्य का पता लगाना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो, पश्चिम के निवासियों का यह संपर्क उस जाति के लिए प्लेग या महामारी जैसे महारोग के समान था, जिसकी छूत लगते ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गए। वास्तव में, पर्य्याप्त मात्रा में समुन्नत होते हुए भी ये लोग बहुत-सी बातों में अत्यधिक पिछड़े हुए थे। उनकी सभ्यता को हम इतिहास की अनेक युग-प्रवृत्तियों की एक संमिश्रित सभ्यता कह सकते हैं।

दक्षिण अमेरिका में सभ्यता का एक और केंद्र—पीरू—था। इस देश में 'इनका' का राज्य था। इनका एक प्रकार का दैवी शासक माना जाता था। यह आश्चर्य की बात है कि पीरू और मैक्सिको की सभ्यताओं में लेश-मात्र भी संपर्क न था। इन दोनों सभ्यताओं के क्षेत्र एक-दूसरे से अधिक दूर नहीं थे। इस पर भी उन्हें एक दूसरे के अस्तित्व तक का पता नहीं था। इसी एक बात से इस बात का बोध हो सकता है कि कुछ बातों में वे कितनी अधिक पिछड़ी हुई थीं। कारटेज़ के मैक्सिको पर अधिकार करने के कुछ ही दिन बाद एक दूसरे स्पेन-निवासी ने पीरू के राज्य का अंत कर दिया। इस व्यक्ति का नाम पिज़ारो था। उसने १५३० ई० प० में पीरू पर हमला कर विश्वासघात-पूर्वक इनका को गिरफ़्तार कर लिया। अपने "दैवी शासक" की गिरफ़्तारी से पीरू के लोग भयभीत हो गए। कुछ काल तक तो पिज़ारो इनका ही के नाम से शासन करता रहा।

इस बीच उसने अपने लिए अगाध संपत्ति जुटा ली। किंतु बाद में यह आडंबर ताक़ पर रख दिया गया और स्पेनवालों ने पीरू को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया।

कहते हैं कि कारटैज ने जब पहले-पहल टेनोचलितलन के महानगर को देखा था तब वह उसके वैभव को देखकर चकित रह गया था। योरप में इतना वैभवशाली नगर उसे देखने को नहीं मिला था।

माया और पेरूवियन कला के बहुत-से अद्भुत् स्मारक पाए गए हैं। वे अमेरिका, विशेषतः मैक्सिको, के अजायबघरों में देखे जा सकते हैं। इन सभ्यताओं की कला की उत्कृष्ट परंपरागत शैलियां थीं। पीरू में स्वर्ण का काम तो, कहते हैं, बहुत ही उच्चकोटि का होता था। शिल्प के भी कुछ स्मारक मिले हैं, जिनमें सर्पों की कुछ पाषाण-मूर्तियाँ बहुत सुंदर हैं। अन्य प्रतिमाएँ, स्पष्टतया, इतनी डरावनी हैं कि उन्हें देख कर कलेजा दहल जाता है।

(६०)

मोहेनजो-दारो को लौट चलें

जून १३, १९३२

कुछ ही देर पहले मैं मोहेनजो-दारो और सिंधु-घाटी की प्राचीन भारतीय सभ्यता के संबंध में कुछ पढ़ रहा था। इस विषय पर एक महत्त्व-पूर्ण नवीन ग्रंथ अभी हाल में प्रकाशित हुआ है, जिसमें इस विषय की अभी तक की सारी छानबीन और खोज का पूरा विवरण है। इस ग्रंथ को उन लोगों ने लिखा है, जिनकी देखरेख में मोहेनजो-दारो के प्राचीन भग्नावशेषों के अनुसंधान का काम हो रहा है और जिन्होंने खुदाई के समय स्वतः अपनी आँखों से उस विशाल महानगरी को भगवती वसुंधरा के गर्भ से बाहर निकलते देखा था। स्वयं मुझे अभी तक उस अद्भुत ग्रंथ को देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। मैं चाहता हूँ कि वह मुझे यहाँ पढ़ने को मिल जाता। किंतु उसकी एक समालोचना मुझे पढ़ने को मिल गई है; और उसी में इस ग्रंथ के जो कतिपय उद्धरण अवतरित किए गए हैं, उनका मैं तुम्हें यहाँ रसास्वादन कराना चाहता हूँ। सिंधु-घाटी की यह सभ्यता, निस्संदेह, एक अद्भुत वस्तु है। ज्यों-ज्यों इसकी बाबत हमारी जानकारी बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हम अधिकाधिक विस्मय-विमुग्ध होते जाते हैं। मुझे आशा है कि तुम्हें कुछ भी आपत्ति न होगी यदि इस पत्र में हम भूतकाल के इतिहास की शृंखला को कुछ क्षण के लिए तोड़ दें और एक छलांग भर कर पांच हजार वर्ष पहले के प्राचीन युग में जा पहुँचे।

मोहेनजो-दारो को लोग कम से कम इतना ही पुराना मानते हैं। किंतु मोहेनजो-दारो—जैसा हम उसे उसके भग्नावशेषों में देखते हैं—एक ऐसे समृद्धिशाली महानगर के रूप में हमें दिखाई देता है, जिसके निवासी उच्च कोटि के सुसंस्कृत और सुसभ्य पुरुष रहे होंगे। इसमें संदेह नहीं कि इस नगर के इतिहास में पांच हजार वर्ष पहले के इस युग से भी पूर्व विकास का एक सुदीर्घ महायुग रहा होगा। यही बात इस पुस्तक से हमें मालूम होती है। सर जान मारशैल, जिनकी देखरेख में मोहेनजो-दारो की खुदाई का काम हो रहा है, लिखते हैं:—

"एक बात, जो मोहेनजो-दारो और हरप्पा, दोनों स्थानों, में स्पष्टतया और निर्विवाद रूप से हमें दिखाई देती है, यह है कि इन दोनों स्थानों में हमें जिस सभ्यता के दर्शन होते हैं, वह ऐसी सभ्यता नहीं है जो अभी अपनी शैशवावस्था ही में हो। वास्तव में, जिस सभ्यता का हम यहाँ साक्षात्कार करते हैं, वह एक युग-प्राचीन सभ्यता है जिसकी अमिट छाप भारत के प्रत्येक रजकण पर अंकित है। युग-युगांतरों तक लाखों-करोड़ों मनुष्यों के अनवरत श्रम और प्रयास के बाद कहीं वह अपने इस रूप को पा सकी है। अतः आज से ईरान, ईराक और मिस्र के साथ-साथ हमें भारत की भी गणना सभ्यता की उन महत्त्व-पूर्ण आदिम जन्मभूमियों में करनी पड़ेगी, जहां सर्वप्रथम मानव सभ्यता का अंकुर प्रस्फुटित हुआ।"

मेरा खयाल है कि हरप्पा के बारे में अभी तक मैंने तुम्हें कुछ भी नहीं बताया है। यह एक दूसरा स्थान है, जहां मोहेनजो-दारो के अवशेषों से मिलते-जुलते प्राचीन भग्नावशेष पाए गए हैं। यह स्थान पश्चिमी पंजाब में है।

इस प्रकार तुम देखोगी कि सिंधु-घाटी में हम न केवल पांच हज़ार किंतु हज़ारों-लाखों वर्ष पूर्व के युगों और महाकल्पों के उस पार पहुँच जाते हैं, जहाँ अंत में हमारी गति रुक जाती है और मनुष्य के आविर्भाव के आदिम युग के नीहार में हमें मार्ग नहीं मिलता। मोहेनजो-दारो की यह सभ्यता जिस समय फल-फूल रहा थी, उस समय भारत में आर्यों ने क़दम भी न रक्खा था। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उस समय "भारत के अन्य भागों में नहीं तो कम से कम पंजाब और सिंध में अवश्य ही एक निराली और उच्चकोटि की सभ्यता विद्यमान थी, जो कई अंशों में समसामयिक इराक़ और मिस्र की सभ्यताओं के समान होते हुए भी कुछ बातों में इनसे कहीं अधिक समुन्नत और सुसंस्कृत थी।"

मोहेनजो-दारो और हरप्पा के भग्नावशेष तो हमें इस प्राचीन और मनोरम सभ्यता की केवल एक झलक-मात्र देते हैं। कौन कह सकता है कि अभी भारत के दूसरे स्थानों में इसी तरह की कौन-कौन-सी चीज़ें छिपी और गड़ी पड़ी हैं! क्योंकि इस बात के काफ़ी आसार नज़र आते हैं कि यह सभ्यता भारत के विस्तृत भूभाग में फैली हुई थी। वह महज़ मोहेनजो-दारो और हरप्पा ही तक परिमित न थी। ये दोनों स्थान भी तो एक-दूसरे से काफ़ी फ़ासले पर हैं।

मोहेनजो-दारो में हमें जिस प्राचीन युग की झलक देखने को मिली है, उस युग में "तांबे और कांसे के साथ-साथ पत्थर के भी वर्त्तनों और अस्त्र-शस्त्रों का चलन था।" सर जान मारशैल ने, सिंधु-घाटी के प्राचीन निवासियों के साथ समसामयिक मिस्र और इराक़ के लोगों की तुलना करते हुए, कहा है कि सिंधु-घाटीवाले मिस्र या इराक़ के लोगों से केवल भिन्न ही न थे किंतु उनसे अधिक सुसंस्कृत और सुसभ्य भी थे। वह लिखते हैं कि "यदि मुख्य-मुख्य बातों ही का हम उल्लेख करें तो सब से पहले हम देखते हैं कि उस युग में रुई के कपड़े केवल भारत ही में बनते थे। पश्चिमी जगत् में इसका प्रचार इस काल से लगभग दो या तीन हज़ार वर्ष बाद हुआ। इसी प्रकार मोहेनजो-दारो के नागरिकों के रहने के मकानों और स्नानागारों की समता के मकान प्रागैतिहासिक मिस्र और इराक़ अथवा पश्चिमी एशिया के दूसरे किसी भी भाग में हमें देखने को नहीं मिलते। मिस्र और इराक़, आदि, देशों में देवताओं के विशाल मंदिरों तथा राजाओं के महलों और क़ब्रों के बनाने ही में सारी बुद्धि और संपत्ति खर्च हो जाती थी। बेचारी साधारण जनता अपने नगण्य मिट्टी के झोपड़ों ही में संतोष कर जीवन बिताया करती थी। इसके विपरीत, सिंधु-घाटी में हमें इससे बिलकुल उलटा दृश्य दिखाई देता है। यहां सबसे सुंदर और सुसज्जित भवन वे मकान होते थे, जिनमें जनता निवास करती थी।"

आगे वह लिखते हैं कि "सिंधु-घाटी के इन प्राचीन निवासियों के धर्म और कला पर भी स्पष्टतया उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप है। उनमें एक अद्भुत निरालापन है। मेष, श्वान, आदि, पशुओं की "फेएन्स" या मार्तिक प्रतिमाओं तथा मुद्राओं या ठप्पों पर अंकित 'इनटैग्लिओ" अथवा नक्काशी के काम के जो नमूने हमें यहां मिले हैं, उनके जोड़ और शैली के दूसरे नमूने किसी भी तात्कालिक देश में हमें देखने को नहीं मिलते। विशेषतया, पत्थर या धातु की मुद्राओं पर अंकित छोटे सींगवाले कूबड़दार वृषभों की आकृतियों की भावपूर्ण लचक और सुंदर रूप-रेखा तो नक्काशी के काम में शायद ही और कहीं देखने को मिल सकती है। ये कृतियाँ "ग्लिप्टिक" कला की बेजोड़ रचनाएं हैं। इसी प्रकार हरप्पा में मिली हुई चित्र नं० १० और ११ में चित्रित मनुष्य की दो प्रतिमाओं में जो भावपूर्ण लचकीलापन है वह भी ग्रीस के आरंभिक युग के पहले हमें कहीं देखने को नहीं मिलता। यह सच है कि सिंधु-घाटीवालों के धर्म में कई बातें ऐसी भी हैं, जो अन्य देशों के निवासियों के मत-मतांतरों से मिलती-जुलती हैं। यह बात लगभग सभी प्रागैतिहासिक और अधिकांश प्राचीन धर्मों के बारे में लागू होती है। किंतु कुल मिलाकर देखने पर सिंधु-घाटी के निवासियों के धर्म पर आदि से अंत तक भारतीयता की इतनी गहरी छाप है कि मुश्किल से हम उसे वर्त्तमान हिंदू-धर्म से विभिन्न कह सकते हैं····· ।"

इस उद्धरण के कई शब्दों का अर्थ शायद तुम्हारी समझ में न आया होगा। 'फेएन्स' का अर्थ होता है मिट्टी की चीजों का काम; "इनटेग्लिओ" और "ग्लिप्टिक" ला के मानी होते हैं किसी कठोर वस्तु, प्रायः जवाहरातों, पर खुदाई और नक्काशी की कला।

हरप्पा में पाई गई प्रतिमाओं अथवा उनकी तस्वीरों को देखने की मेरी प्रबल इच्छा है। संभव है, किसी दिन हम दोनों हरप्पा और मोहेनजो-दारो की यात्रा कर वहां के दृश्यों से अपनी आँखों को तृप्त कर सकें। किंतु तब तक हमें इसी प्रकार अपने पुरातन ढर्रे पर चलते रहना होगा—तुम्हें अपने पूना के मदरसे में और मुझे यहाँ अपनी इस पाठशाला में, जो 'देहरादून-डिस्टिक्ट-जेल' के नाम से प्रसिद्ध है।

(६१)

कारडोबा और ग्रैनाडा

जून १६, १६३२

एशिया और योरप के इतिहास के युग-क्रमों का निरीक्षण करने के बाद, हम ईसवी संवत् की प्रथम सहस्राब्दी के अंत में पहुँच कर ठहर गए थे। हमने पीछे की ओर घूम कर विगत युगों का सिंहावलोकन भी किया; लेकिन येनकेन प्रकारेण स्पेन—अरब-शासित स्पेन—का कोई जिक्र हमारे कथानक में नहीं हो पाया। तो फिर, आओ, पीछे की ओर लौट चलें और अपने चित्र-पटल पर उसे भी स्थान देने की चेष्टा करें।

यदि तुम भूल नहीं गई हो तो तुम्हें स्पेन का कुछ न कुछ हाल तो मालूम हो ही चुका है। ७११ ई० प० में अरब का एक सेनापति अफ्रीका से समुद्र को पार कर स्पेन पहुँचा। उसका नाम तारीक़ था, और वह जिब्रालटर—जबल-उत् तारीक़ अर्थात् तारीक़ की चट्टान—पर जहाज से उतरा था। अपने आगमन के दो ही साल के भीतर अरबों ने सारे स्पेन को जीत लिया; और इसके थोड़े ही दिनों बाद पुर्तगाल भी उनके विजित का अंग बन गया। वे बराबर आगे बढ़ते गए। फ्रांस पर भी उन्होंने धावा किया और क्रमशः समस्त दक्षिणी प्रदेशों में वे फैल गए। अरबों के इस प्रसार से योरप की फ्रैंक तथा अन्य जातियां भयभीत हो उठीं। उन्होंने चारलस मार्तैल के नेतृत्व में अरबों की प्रगति को रोकने के लिए एक संघ बनाया और फ्रांस के पाइ-टियर्स-नामक स्थान के पास टूअर्स के भीषण संग्राम में अरबों को परास्त किया। यह पराजय बहुत बड़ी हार थी। इसने उनके योरप-विजय के स्वप्नों का अंत कर दिया। बाद में भी बहुत दिनों तक अरबों और फ्रैंकों तथा फ्रांस की अन्य जातियों के बीच में लड़ाइयां होती रहीं। इन लड़ाइयों में कभी अरब जीत जाते और फ्रांस में अपने पैर जमा लेते थे तो कभी वे स्पेन में खदेड़ दिए जाते थे। महाप्रतापी चारलस तक ने उन पर आक्रमण किया लेकिन उसे परास्त होकर वापस लौटना पड़ा। बहुत समय तक अरब और फ्रैंक समान रूप से शक्तिशाली बने रहे। अरबों का स्पेन पर शासन तो बना रहा, लेकिन वे उसके आगे न बढ़ पाए।

इस प्रकार, स्पेन उस विशाल अरब-साम्राज्य का अंग बन गया, जो अफ्रीका के पश्चिमी तट से मंगोलिया की सरहद तक फैला था। लेकिन अधिक समय तक वह इस साम्राज्य का अंग न रहा। तुम्हें याद होगा कि अरब में गृह-कलह की आग भभक उठी थी, और अब्बासियों ने उमय्यद-वंश के ख़लीफ़ाओं को निकाल भगाया था। स्पेन का गवरनर उमय्यद-वंश का पक्षपाती था। इसलिए उसने अब्बासी ख़लीफ़ा को अपना अधीश्वर न स्वीकार किया। इस तरह, स्पेन अरबी साम्राज्य से पृथक् हो गया। स्पेन से काफ़ी दूर होने तथा निजी झंझटों में फंसे रहने के कारण, बगदाद के ख़लीफ़ा कुछ भी न कर सके। लेकिन स्पेन और बग़दाद में

आपस का मनमोटाव बना रहा, और संकट के समय में दोनों. सहायता करने के बजाय, एक दूसरे की विपदाओं की कामना करने लगे।

स्पेन के अरबों का अपने स्वदेश से संबंध-विच्छेद करना किसी अंश में दुस्साहस-पूर्ण भी था। वे स्वदेश से बहुत दूर और विदेशी जनता के बीच में थे। उनकी संख्या भी थोड़ी थी। विपत्ति या संकट के समय कोई भी उनकी सहायता करनेवाला वहां न था। लेकिन उन दिनों उन्हें अपनी शक्ति में पूरा विश्वास था; और वे इन आपदाओं की कुछ भी चिंता न करते थे। वे उन ईसाई जातियों का बड़ी वीरता के साथ मुक़ाबला करते रहे, जो उत्तर दिशा से उन पर बराबर आक्रमण किया करती थीं। केवल अपने भुजबल से वे स्पेन के अधिकांश भाग पर पाँच सौ वर्षों तक आधिपत्य जमाए रहे। इसके बाद भी स्पेन के दक्षिणी भाग में दो सौ वर्षों तक उन्होंने एक छोटे राज्य पर शासन किया। इस प्रकार, बग़दाद के विशाल साम्राज्य के ख़लीफ़ाओं की अपेक्षा स्पेन के अरब अधिक काल तक शक्तिशाली बने रहे। अंत में, जब स्पेन से उन्होंने विदा ली तब बग़दाद के नगर को मिट्टी में मिले हुए बहुत दिन हो चुके थे।

स्पेन के विभिन्न भागों पर अरबों का सात सौ वर्ष तक शासन करते रहना स्वतः विस्मयोत्पादक है। लेकिन इससे भी अधिक चित्ताकर्षक है स्पेन के अरबों या मूरों—इसी नाम से वे प्रसिद्ध हैं—की सभ्यता। एक इतिहास-लेखक ने, उत्साह की तरंग में कुछ-कुछ बहते हुए, लिखा है—"मूरों ने कारडोवा का वह आश्चर्य-जनक साम्राज्य स्थापित किया, जिसे देख कर मध्य युग के लोग चकित हो जाते थे। जिस समय सारे योरप में अज्ञानांधकार और आपसी लड़ाई-झगड़ों का वातावरण छाया हुआ था, उस समय स्पेन के मूरों ने केवल अपने ही पराक्रम से पश्चिमी योरप को ज्ञान और संस्कृति की उज्ज्वल और दीप्तिमयी ज्योति से आलोकित रक्खा।"

इस राज्य की राजधानी पूरे पाँच सौ वर्षों तक क़ुरतब में रही। अंगरेज़ी भाषा में इसका प्रचलित नाम कारडोवा, अथवा कारडोवा, है। मुझे आशंका है कि मैं भी इस नाम को समय-समय पर विभिन्न ढंग से लिखा करता हूँ। लेकिन इसे कारडोवा लिखने ही की चेष्टा मैं करूँगा। कारडोवा १० लाख मनुष्यों का एक विशाल नगर था। वह एक नगरोद्यान था। उसकी लंबाई दस मील थी; और उसकी आबादी शहर के बाहर २४ मील तक फैली हुई थी। कहा जाता है कि उसमें ६० हजार राजभवन और प्रासाद, २ लाख साधारण मकान, ८० हज़ार दूकानें, ३ हज़ार ८ सौ मसजिदें और ७ सौ हम्माम थे। संभव है कि इन आंकड़ों में अत्युक्ति का अंश हो, लेकिन उनसे हमें उस नगर की विशालता और गौरव-गरिमा का कुछ न कुछ बोध अवश्य ही हो जाता है। इस नगर में अनेक पुस्तकालय थे, जिनमें अमीर का राज-पुस्तकालय प्रमुख था। इस पुस्तकालय में ४ लाख पुस्तकें थीं। कारडोवा के विश्वविद्यालय की धाक न सिर्फ़ योरप किंतु पश्चिमी एशिया तक में थी। ग़रीबों के लिए इस नगर में बहुत-सी प्रारंभिक पाठशालाएं थीं। एक इतिहास-लेखक ने लिखा है कि "स्पेन में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति लिख-पढ़ सकता था; इसके विपरीत, ईसाई योरप में, पादरियों को छोड़कर, बड़े-से-बड़े आदमी भी एकदम निरक्षरभट्टाचार्य होते थे।"

ऐसा था कारडोवा का यह प्रतापी नगर, जो गौरव में अरवों के दूसरे महानगर, वग़दाद, से होड़ लेता था। उसकी कीर्ति सारे योरप में फैल गई थी। दसवीं शताब्दी के एक जर्मन लेखक ने उसको 'संसार का आभूषण' कहा है। उसके विश्वविद्यालय में दूर-दूर देशों से विद्यार्थी पढ़ने को आते थे और अरवी दर्शन-शास्त्र का प्रभाव योरप के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों—पैरिस, आक्सफोर्ड और उत्तरीय इटली के विश्वविद्यालयों—में फैल गया था। बारहवीं सदी में वहां अवरो या इब्न रुशद-नामक एक प्रसिद्ध दार्शनिक हुआ। जीवन के उत्तरकाल में उसका स्पेन के अमीर के साथ झगड़ा हो गया, और उसे देश से निर्वासित होना पड़ा। वह पैरिस में जा बसा।

योरप के अन्य देशों की भांति स्पेन में भी एक प्रकार की मनसवदारी प्रथा प्रचलित थी। वहां बड़े-बड़े सरदार पैदा हो गए थे, जिनके साथ अमीर की अक्सर लड़ाई छिड़ी रहती थी। स्पेन का अरवी राष्ट्र उतना बाहरी आक्रमणों के कारण नहीं, जितना इन घरेलू झगड़ों के कारण, कमज़ोर हो गया। इधर इस राष्ट्र का बल घटता जा रहा था, उधर उत्तरीय स्पेन के छोटे-छोटे ईसाई राष्ट्रों की शक्ति बढ़ती जाती थी। वे अरबों को बराबर पीछे की ओर ढकेलते जाते थे।

१००० ई० प० में, अर्थात् ईसवी संवत् की सहस्राब्दी की ठीक समाप्ति के समय, सारा स्पेन अमीर के आधिपत्य में था। दक्षिणी फ्रांस का एक छोटा-सा भाग भी अरबों के अधिकार में था। लेकिन थोड़े ही दिनों में इस अरबी साम्राज्य का खात्मा हो गया और, जैसा प्रायः होता है, यह सब घरेलू कमज़ोरी के कारण हुआ। अरबों की सभ्यता कलामयी, विलास-प्रिया तथा वीरोचित गुणों से अलंकृत थी। उसमें जो ग़रीब थे वे ग़रीब ही बने रहे। राज्य समृद्धिशाली होता गया; लेकिन उससे इन लोगों की दशा में कुछ भी अंतर न पड़ा। ऐसी अवस्था में सामाजिक क्रांति अनिवार्य्य हो गई; और भूखों मरनेवाले ग़रीबों ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। मज़दूरों ने भी उपद्रव मचाना शुरू किया। धीरे-धीरे गृह-युद्ध की आग सुलग उठी; और प्रांत के बाद प्रांत आज़ाद होने लगे। इस तरह, स्पेन का अरबी साम्राज्य कई टुकड़ों में बंट गया।

यद्यपि अरबों की शक्ति खंडित हो गई थी, किंतु उनका अधिकार बना रहा। १२३६ ई० प० में जब कारडोवा पर कैस्टील के ईसाई शासक ने सदा के लिए अधिकार जमा लिया, तभी से स्पेन में अरबों के शासन का अंत हुआ।

ईसाई अरबों को दक्षिण की ओर बराबर दबाते चले आते थे, परंतु इस पर भी अरब वीरता के साथ उनसे लड़ते रहे। उन्होंने दक्षिणी स्पेन में अपना एक छोटा-सा पृथक् राज्य—ग्रैनाडा का राज्य—स्थापित कर लिया, और बहुत दिनों तक वे वहीं पर अड़े रहे। विस्तार की दृष्टि से यद्यपि यह राज्य बहुत ही छोटा राज्य था, लेकिन वह सूक्ष्म रूप से अरबी सभ्यता का प्रतिबिंब था।

ग्रैनाडा का सुंदर खंभों और महरावों से विभूषित अलहंवरा-नामक प्रासाद, जिसमें तरह-तरह के अरबैस्क खचित हैं, आज दिन भी अपने अतीत काल के वैभव की याद दिलाता है। इसका असली नाम 'अल-हमरा'—अर्थात् लाल महल—था। अरबैस्क उन रेखाकृतियों को कहते हैं, जिनको तुम अरबी तथा इस्लामी आदर्शों से प्रभावित अन्य शिल्प-निर्माणों पर प्रायः खचित देखती हो। मूर्तियों के चित्रण को इस्लाम ने कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। अतएव मुसलिम शिल्पी

काल्पनिक और पेचीदा रेखाकृतियों की रचना करने लगे। बहुधा वे कुरान की अरबी आयतों को महराबों एवम् अन्य स्थानों में इस प्रकार अंकित करते कि उन्हीं के सुंदर अलंकार बन जाते थे। अरबी वर्णमाला संहितामयी—धारावाहिक रूप से लिखी जानेवाली—वर्णमाला है, अतएव सरलता के साथ उसके द्वारा सजावट का काम लिया जा सकता था।

ग्रैनाडा का राज्य दो सौ वर्ष तक स्थायी रहा। इस कालावधि में स्पेन के ईसाई राष्ट्र—विशेषकर कैस्टील का राष्ट्र—उसे दबाते और तंग करते रहे। एकाध बार उसने कैस्टील के राज्य को करद तक देना स्वीकार कर लिया। यदि स्पेन के ईसाई राष्ट्रों में स्वयमेव फूट न होती तो वह इतने वर्षों तक कदाचित् ही टिक पाता। १४६६ ई० प० में इन राज्यों में से दो प्रमुख राज्यों के शासकों—फरडिनैंड और इसाबैला—में विवाह हुआ। इससे कैस्टील, आरागान और लिआन, तीनों एक संमिलित राज्य के अंग बन गए। फरडिनैंड और इसाबैला ने ग्रैनाडा के अरब-स्थापित राष्ट्र का अंत कर दिया।

ग्रैनाडा के छिन जाने पर बहुत-से सरासीन या अरब स्पेन त्याग कर अफ्रीका में जा बसे। ग्रैनाडा के पास एक स्थान है, जहां से सारे नगर का दृश्य दिखाई देता है। वह 'एल अलटिमो सोपिरो डैल मोरो"—अर्थात्, मूरों की अंतिम आह—के नाम से अब तक विख्यात चला आता है।

लेकिन बहुत-से अरब स्पेन ही में बने रहे, और इनके साथ विजेताओं ने जो व्यवहार किया, वह स्पेन के इतिहास को कलंकित करता है। उनके साथ नृशंसता का व्यवहार किया गया; अनेक मूर निरपराध ही मार डाले गए; और समभाव या निष्पक्षता की जो-जो प्रतिज्ञाएँ नवीन शासकों ने की थीं, उनका भी किसी को ध्यान न रहा। इसी समय इनक्वीज़ीशन-नामक वह भीषण शस्त्र, जिसको रोमन कैथलिक चर्च ने अपने विपक्षियों को समूल नष्ट कर डालने के उद्देश से गढ़ा था, काम में लाया जाने लगा। स्पेन के यहूदी सरासीनों के शासन-काल में संपन्न और समृद्धिशाली हो गए थे। अब वे ईसाई बन जाने के लिए तंग किए जाने लगे, और बहुत-से यहूदी तो जलाकर मार डाले गए। ईसाइयों ने उनके स्त्री-बच्चों तक को न छोड़ा। एक इतिहासकार लिखता है, "विधर्मियों को (अर्थात् सरासीनों को) आज्ञा दी गई थी कि वे लोग अपनी भड़कीली पोशाक को न पहनें; विजेताओं के हैट-पतलून पहना करें; अपनी भाषा और रीति-रस्मों, यहाँ तक कि अपने नामों तक, को त्याग दें; और सिर्फ़ स्पेनिश भाषा ही का प्रयोग किया करें, स्पेनवालों का-सा उनका आचार-व्यवहार हो और वे अपने स्पेनिश नाम रक्खें।" इस आज्ञा के कारण स्पेन के अरबों ने विद्रोह किया। उनके कई बलवे हुए; लेकिन वे सब निर्दयता के साथ कुचल दिए गए।

ऐसा मालूम होता है कि उन दिनों स्पेन के ईसाई नहाने-धोने के कट्टर विरोधी थे। यह भी संभव है कि वे इन बातों का केवल इसीलिए विरोध करते थे, क्योंकि स्पेन के अरबों को इनसे विशेष अनुराग था। अरबों ने देश भर में जगह-जगह सार्वजनिक उपयोग के लिए हम्माम बना रक्खे थे। ईसाई यहाँ तक बढ़ गए कि उन्होंने मूरों या अरबों को सुधारने—परिमार्जित करने—के लिए एक राजघोषणा प्रकाशित की, जिसमें कहा गया था कि

"स्त्रियां, और दूसरे लोग न घर में और न कहीं बाहर हाथ-पैर धोने या नहाने पाएं और उनके सब हम्माम—स्नानागार—तोड़-फोड़ कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिए जाएं।"

मार्जन के पाप के अतिरिक्त, मूरों के सिर पर एक दोष यह भी मढ़ा जाता था कि धार्मिक मामलों में वे समदर्शी थे, अर्थात् वे सब धर्म्मों के प्रति उदार और निष्पक्ष सहिष्णुता का व्यवहार करते थे। इस दोषारोपण को देख कर अचरज होता है। १६०२ ई० प० में वैलेंसिया के (रोमन कैथलिक) आर्चविशप* ने मूरों को स्पेन से निकाल देने के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए उनको धर्म्म-भ्रष्ट और राजद्रोही सिद्ध किया। अपने लिखित वक्तव्य में उसने उनके जिन दोषों और अपराधों का उल्लेख किया था, उनमें धार्मिक मामलों के प्रति उनके समभाव को भी उसने एक गुरुतर अपराध बताया था। इसके संबंध में उसका कहना था कि "वे (अर्थात् मूर या अरब) धार्मिक मामलों में अंतःकरण की स्वतंत्रता को—उस अंतःकरण की स्वतंत्रता को, जिसे तुर्कों और दूसरे मुसलमानों ने अपनी-अपनी प्रजाओं को दे रक्खा है—सबसे अधिक आदरणीय मानते हैं।" इन शब्दों में स्पेन के सरासानों की अज्ञात रूप से कितनी अधिक प्रशंसा भरी है। किंतु अरबों के दृष्टिकोण से स्पेन के ईसाइयों का दृष्टिकोण कितना भिन्न और अनुदार था।

लाखों-करोड़ों सरासीन स्पेन से बलपूर्वक निकाल दिए गए। उनमें से अधिकांश अफ्रीका चले गए, और कुछ फ्रांस में जा बसे। लेकिन तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि अरबों को स्पेन में रहते सात सौ वर्ष बीत चुके थे; और विस्तृत कालावधि में स्पेन के मूल निवासियों के साथ वे बहुत-कुछ घुल मिल गए थे। वे जन्मना अरब थे; किंतु धीरे-धीरे स्पेनिश या स्पेनवासी होते गए। बहुत संभव है कि उत्तरकाल के स्पेन के अरब बग़दाद के अरबों से बिलकुल ही भिन्न रहे हों। आज दिन भी स्पेनिश जाति की नसों में बहुत-कुछ अरब रक्त का संमिश्रण है।

स्पेन से निकलकर सरासीन दक्षिणी फ्रांस और स्विट्जरलैंड तक में फैल गए। शासकों के रूप में नहीं, किंतु वहीं बस जाने के उद्देश से वे इन देशों में गए थे। आजकल भी कभी-कभी हमें फ्रेंचमैनों में कोई-कोई अरबों की-सी सूरत-शकलवाला व्यक्ति दिखाई दे जाता है।

इस तरह स्पेन से अरबों का न केवल आधिपत्य ही उठ गया, किंतु उनकी सभ्यता भी लोप हो गई। जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, एशिया में इस सभ्यता का, इससे काफ़ी पहले, अंत हो चुका था। अरबी संस्कृति ने अनेक देशों और विभिन्न संस्कृतियों को प्रभावित किया, और अपने अनेक ज्वलंत स्मारक वह संसार में छोड़ गई। लेकिन वह आगे चल कर इतिहास में स्वतः अपनी ज्योति से फिर कभी न चमकी।

सरासीनों के चले जाने के बाद, फरडीनेंड और इसावैला के शासन में स्पेन की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। कुछ दिनों बाद, अमेरिका के अन्वेषण से उसे अपार धन-संपत्ति की प्राप्ति हुई; और अल्प काल के लिए वही योरप में सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र हो गया।

* रोमन कैथलिक चर्च में पोप के बाद सबसे बड़े धर्म्माध्यक्ष की उपाधि।

उसके सामने सभी राष्ट्र सिर झुकाते थे। लेकिन उसका पतन भी, उसके उत्थान की तरह, बहुत ही द्रुतगति से हुआ; और देखते-देखते वह अपनी गौरव-गरिमा को खोकर नगण्य हो गया। उधर, जहाँ योरप के दूसरे देश उत्तरोत्तर उन्नति करते जाते थे, वहां स्पेन मध्ययुग के स्वप्न देखने में मस्त था। उसे इसकी भी खबर न थी कि पहले की अपेक्षा अब दुनिया कितनी अधिक बदल गई है।

एक अंगरेज़ इतिहास-लेखक, लेन पूल, ने स्पेन के सरासीनों के विषय में लिखते हुए कहा है—"शताब्दियों तक स्पेन सभ्यता, कला, और विज्ञान—पांडित्य और परिष्कृत ज्ञानसत्ता—का मुख्य केंद्र बना रहा। इतने दिनों तक योरप का कोई दूसरा देश मूरों के सुसंस्कृत राज्य की, वैभव में, समानता नहीं कर पाया। फरडिनेंड और इसाबैला के शासन की अल्पकालिक आभा अथवा चार्लस के साम्राज्य का क्षणिक कांति अपनी-अपनी विशिष्ट महत्ताओं को, मूरों के वैभव के समान, चिरस्थायी बनाने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुई। मूर निकाल दिए गए; और कुछ दिनों के लिए ईसाई स्पेन प्रतिबिंबित आलोक से, चंद्रमा की तरह, फिर चमक उठा। किंतु इसके बाद वह अंधकार में छिप गया, और उसी अंधकार में वह तब से आज तक बराबर पड़ा-पड़ा सड़ रहा है। आज दिन स्पेन के शुष्क और उजाड़ प्रदेशों में, जहाँ किसी समय मूर अंगूर, ज़ैतून और अनाज की लहलहाती हुई फ़सलें तैयार करते थे, उसकी मूर्ख जनता में, जिसके स्थान में किसी समय वहां एक ज्ञानी और विद्वत्समाज था; उसकी व्यापक प्रगतिहीनता और अधःपतन में—जिसका वह सर्वथा पात्र है—हमें मूरों के सच्चे स्मारक दिखाई देते हैं।"

यह निष्ठुर निष्कर्ष है, निर्मम अवधारणा है। लगभग एक साल हुआ, स्पेन में राज-क्रांति हुई और वहां का राजा सिंहासन से हटा दिया गया। आज दिन वहां प्रजातंत्र का शासन है। संभव है कि यह नवजात प्रजासत्तात्मक राष्ट्र पहले की अपेक्षा अब अधिक योग्यता से अपने कर्त्तव्य का पालन करेगा और स्पेन को प्रगति में अन्य देशों का समकक्ष बना देगा।

(६२)
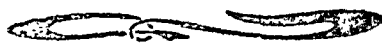
ईसाइयों के धार्म्मिक युद्ध *

जून १६, १६३२

हाल में लिखे हुए एक पत्र (नं० ५७) में मैंने तुम्हें जैरूसलम के उद्धार के लिए ईसाइयों द्वारा मुसलमानों के विरुद्ध धर्म्मयुद्ध की घोषणा का हाल बताया था। यह घोषणा पोप और उसकी धर्म-समिति की ओर से निकाली गई थी। सेलजुक तुर्कों के अभ्युदय से योरपवाले, विशेष कर कानस्टेंटिनोपल के लोग जिन्हें सब से अधिक खतरा था, भयभीत हो उठे। जैरूसलम और फ़िलिस्तीन के यात्रियों के साथ दुर्व्यवहार की कथाएं सुनते-सुनते योरप-निवासियों के क्रोध का पारा चढ़ गया, और उनमें उत्तेजना फैल गई। अतएव धर्म्म-युद्ध की घोषणा कर दी गई। पोप और धर्म-संघ ने पुण्यनगरी जैरूसलम की रक्षा के हेतु चढ़ाई करने के लिए योरप के ईसाइयों को आमंत्रित किया।

इस प्रकार, १०६५ ई० प० में उन धर्म्मयुद्धों अथवा 'क्रूसेडों' का आरंभ हुआ, जिनके कारण डेढ़ सौ से अधिक वर्षों तक ईसाई धर्म्म और इस्लाम—क्रास और क्रैसेंट×—में संघर्ष होता रहा। बीच-बीच में बहुत दिनों तक लड़ाई बंद भी रहती थी। लेकिन युद्ध का वातावरण निरंतर बना रहा, और ईसाई धर्म्मवीरों के दल के दल युद्ध में भाग लेने, और उनमें से अधिकांश मृत्यु के अतिथि होने की नीयत से, धर्म्म-क्षेत्र को बराबर बढ़ते गए। इन विस्तृत संग्रामों से ईसाई धर्म्मवीरों या क्रूसेडरों को कोई वास्तविक लाभ नहीं हुआ। कुछ दिनों के लिए जैरूसलम पर क्रूसेडरों का कब्ज़ा हो गया, लेकिन बाद में वह फिर तुर्कों के हाथ में चला गया, और अंत तक उन्हीं के अधिकार में बना रहा। क्रूसेडों का मुख्य परिणाम यह हुआ कि लाखों-करोड़ों ईसाइयों और मुसलमानों को तरह-तरह की मुसीबतें झेलनी पड़ीं और उनमें से बहुतेरे अकाल ही मृत्यु के ग्रास बन गए। एशिया माइनर और फ़िलिस्तीन की भूमि में फिर एक बार नर-रक्त की नदियां बहीं।

इन दिनों बग़दाद के साम्राज्य की क्या दशा थी? आओ, उस पर भी नज़र डालें। अभी तक अब्बासी खलीफ़ाओं ही के हाथ में शासन की बागडोर थी। वे अब तक खलीफ़ा अर्थात् श्रद्धालुओं (या इस्लाम धर्म्म के अनुयायियों) के सेनापति कहलाते थे। लेकिन वे केवल नामचार के राष्ट्रपति होते थे। वे कुछ भी कर-धर नहीं सकते थे। हम देख चुके हैं कि कैसे

* मूल ग्रंथ में इन धार्म्मिक युद्धों के लिए अंगरेजी में प्रचलित शब्द "क्रूसेड" का प्रयोग किया गया है। इस पत्र में क्रूसेड और उनको प्रेरित करनेवाले भावों का उल्लेख है।

×'क्रास' ईसाइयों का पवित्र चिह्न है, क्योंकि क्रास पर हज़रत ईसा मसीह को सूली दी गई थी। 'क्रैसेंट' का अर्थ है, अर्धचंद्र। इसे अरबी में हिलाल कहते हैं। यह मुसलमानों का शुभ चिह्न है। 'क्रास' ईसाइयों का और 'क्रैसेंट' मुस्लिमों का संकेत है।

उनका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उनके प्रांतों के शासक स्वतंत्र बन बैठे। ग़ज़नी का महमूद, जिसने भारत पर कई वार चढ़ाई की थी, एक शक्तिशाली स्वतंत्र सम्राट् था। उसने खलीफ़ा को धमकी दी थी कि यदि तुम मेरी इच्छा के अनुसार काम न करोगे तो तुम्हारे लिए अच्छा न होगा। खास बग़दाद में भी वास्तविक सत्ता तुर्कों के हाथ में थी। उन्हीं के इशारे पर सब काम-काज होता था। इसके पश्चात् सेलजुक-नामक तुर्कों का अभ्युदय हुआ। उन्होंने थोड़े ही दिनों में साम्राज्य पर अपना आधिपत्य जमा लिया और शीघ्र ही वे दूर-दूर देशों में फैल गए। कानस्टेंटिनोपल पर भी उनकी विजय-पताका फहराने लगी। लेकिन खलीफ़ा, यद्यपि उसके हाथ से सारी राज्यशक्ति छिन गई थी, इस पर भी खलीफ़ा कहलाता रहा। सेलजुक तुर्कों के मुखियाओं को सुलतान की उपाधि से विभूषित कर उन्हीं के हाथों में वह शासन-सूत्र सौंप देता था। अतएव क्रूसेडरों अर्थात् धर्मयुद्ध में भाग लेनेवाले ईसाई धर्म्मवीरों की इन्हीं सेलजुक सुलतानों और उनके अनुयायियों से मुठभेड़ हुई थी।

योरप में क्रूसेडों का एक यह भी परिणाम हुआ कि ईसाई जगत्—अर्थात् विधर्म्मियों से इतर ईसाइयों के जगत्—की भावना बहुत जोर पकड़ गई। यह भाव जोरों से फैल गया कि ईसाइयों के हिताहित विधर्म्मियों के हिताहित से भिन्न हैं, और प्रत्येक ईसाई का यह कर्त्तव्य है कि वह विधर्म्मियों के विरुद्ध अपने सहधर्म्मियों की सहायता करे। इस तरह अपने धर्म्मक्षेत्र को विधर्म्मी कहलानेवालों के चंगुल से बचाने के भाव और उद्देश से योरप एक सूत्र में बंध गया। इस सर्वव्यापी भाव से लोगों में उत्साह भर गया, और बहुत-से पुरुषों ने तो इस परम ध्येय की सिद्धि के लिए घर-बार तक त्याग दिया। अनेक व्यक्ति, उच्च भावनाओं की प्रेरणा से प्रेरित होकर, इस धर्म्मयुद्ध में भाग लेने के लिए निकल पड़े। पोप के इस आश्वासन ने भी अनेक आदमियों को आकर्षित किया कि जो लड़ाई पर जाएंगे उनके पाप जड़मूल से धुल जाएँगे। किंतु क्रूसेडों की उत्पत्ति के अन्य कारण भी थे। रोम की इच्छा थी कि वह सदा के लिए कानस्टेंटिनोपल का निर्द्वंद अधीश्वर बन जाए। तुम्हें याद होगा कि कानस्टेंटिनोपल का ईसाई संप्रदाय रोम के संप्रदाय से भिन्न था। कानस्टेंटिनोपल का संप्रदाय अपने को आर्थोडाक्स अर्थात् शास्त्रसंमत या सनातन कहता था। वह रोमन संप्रदाय से बड़ी घृणा करता, और पोप को 'उचक्का' कहता था। पोप कानस्टेंटिनोपल के इस गर्व को चूर करने और उसे अपना अनुयायी बनाने को लालायित रहता था। विधर्म्मी तुर्कों के विरुद्ध धर्म्मयुद्ध की ओट में वह अपनी चिरंतन लालसा को पूरी करने की धुन में लगा था। यह है राजनीतिज्ञों और उन लोगों का ढंग, जो अपने को राजधर्म्म के धुरंधर समझते हैं! रोम और कानस्टेंटिनोपल के इस संघर्ष को हमें याद रखना चाहिए, क्योंकि क्रूसेडों के जमाने में हम इस प्रेरक प्रवृत्ति को बारंबार काम करते हुए पाएंगे।

क्रूसेडों का दूसरा कारण व्यापार-संबंधी था। योरप, विशेषकर उन्नतिशील वेनिस और जैनोआ, के व्यापारी इन युद्धों के समर्थक थे, क्योंकि उनका व्यापार बहुत मंदा हो रहा

था। इसका कारण यह था कि जिन मार्गों से उनका अभी तक पूर्वीय देशों के साथ व्यापार हुआ करता था, उनमें से अधिकतर मार्गों पर सेलजुक तुर्कों ने अधिकार कर लिया था।

किंतु जनसाधारण को इन कारणों का कुछ भी ज्ञान न था। कोई उन्हें ये बातें बताता थोड़े ही था। राजनीतिज्ञ अपने असली भेदों को प्रायः गुप्त रखते और धर्म, न्याय और इसी प्रकार की दूसरी बातों का बढ़-बढ़ कर ज़िक्र किया करते हैं। क्रूसेडों के समय में योरप का यही हाल था। यही हाल आज दिन भी है। राजनीतिज्ञों की चिकनी चुपड़ी बातों पर तत्कालीन लोगों ने विश्वास कर लिया। आज दिन भी अधिकांश जनता उनके झांसे में आ जाती है।

क्रूसेडों में भाग लेने के लिए बहुत-से आदमी जमा हो गए। इनमें से अनेक व्यक्ति सच्चे और सज्जन थे, लेकिन बहुतेरे ऐसी भी थे जो भलाई और सच्चाई से कोसों दूर भागते थे। इस दूसरी श्रेणी के लोग लूट की आशा से इस युद्ध में भाग लेने के लिए आकर्षित हुए थे। क्रूसेडों में भाग लेनेवाली सेनाओं में साधु-संतों के साथ-साथ हर प्रकार के दुष्कर्म्मी लुच्चे-लफंगों का भी जमघट था। यद्यपि ये धर्म्म-सैनिक कहलाते थे और उनमें से अधिकांश ने, जैसा वे अक्सर कहा करते थे, पुनीत ध्येय की सिद्धि के विचार से घर-बार छोड़कर धर्म्म-क्षेत्र के लिए प्रस्थान किया था, परंतु जघन्य से जघन्य और घृणित से घृणित दुष्कर्मों को करने से भी वे कभी न हिचकते थे। इनमें अनेक तो रास्ते ही में लूट-मार और कुकर्म करने लगे। वे फ़िलिस्तीन तक भी न पहुँच पाए। कुछ तो मार्ग ही में यहूदियों का संहार करने में लग गए। कुछ ने अपने ही सहधर्म्मी भाइयों—ईसाइयों—पर हाथ साफ़ किया। जो-जो देश इन लोगों के मार्ग में पड़े. उन्हीं के किसान इनके दुष्कृत्यों से ऊब गए और उनके विरोध में उठकर उन्होंने इन लोगों को खदेड़ कर अपने यहां से निकाल भगाया।

बूइलाँ के गाडफ्रे-नामक एक नार्मन के नेतृत्व में ये क्रूसेडर अंत में फ़िलिस्तीन पहुँचे और जेरूसलम पर उन्होंने क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद "एक सप्ताह तक मार-काट की धूम मची रही।" भीषण रक्तपात हुआ और असंख्य प्राणी तलवार की धार मौत के घाट उतार दिए गए। एक प्रत्यक्षदर्शी फ़्रांसीसी का कहना है कि एक "मसजिद के द्वारप्रकोष्ठ के नीचे घुटने बराबर ख़ून था, जिससे घोड़े की लगाम छू जाती थी।" गाडफ्रे जेरूसलम का राजा बनाया गया।

सत्तर वर्ष बाद मिस्र के सुलतान, सलादीन, ने फिर ईसाइयों से जेरूसलम को छीन कर अपने अधिकार में कर लिया। इससे योरप-निवासियों में पुनः एक बार उत्तेजना फैली; धर्म्म-वीर फ़िलिस्तीन पर फिर चढ़ाई करने लगे। इस बार योरप के कई राजा और सम्राट् स्वयमेव धर्मक्षेत्र में पधारे; लेकिन वे भी प्रायः असफल ही रहे। बड़ाई-छोटाई की बात को लेकर वे आपस में झगड़ते रहते थे। उनमें से प्रत्येक दूसरों से ईर्ष्या के मारे जला जाता था। क्रूसेडों की यह कथा निर्दय और भयंकर संग्रामों, क्षुद्र छल-कपट एवम् निकृष्ट कुकर्मों की कारुणिक कहानी है। लेकिन कभी-कभी मानव-प्रकृति के सद्गुणों की ज्योति भी प्रकट हो जाती थी, और ऐसी भी घटनाएं हुईं, जिनमें शत्रुओं ने एक-दूसरे के प्रति वीरोचित शिष्टता और सज्जनता का व्यवहार किया। इन दिनों फ़िलिस्तीन में जो विदेशी

राजे-महाराजे संमिलित थे, उनमें इंगलेंड का बादशाह रिचर्ड भी था। उसको लोग 'सिंह-हृदय' कहते थे। वह अपने शारीरिक बल और वीरता के लिए प्रसिद्ध था। उधर सलादीन भी पराक्रमशाली रण-सूरमा था, जिसकी वीरोचित शिष्टता की बड़ी धूम थी। जो क्रूसेडर सलादीन से लड़ने को जाते थे, वे भी उसकी इस वीरोचित नम्रता पर मुग्ध हो जाते थे। किंवदंती है कि एक अवसर पर रिचर्ड बीमार पड़ गया और गर्मी के कारण उसका कष्ट और भी बढ़ गया। जब सलादीन को इसकी सूचना मिली तब उसने उसके लिए तुरंत पहाड़ों से ताज़ा बर्फ़ भेजवाने का प्रबंध कर दिया। उन दिनों, आजकल की तरह, बर्फ़ वैज्ञानिक ढंग से तैयार नहीं की जाती थी। अतएव, पहाड़ों से असली बर्फ़ द्रुत-गामी दूतों द्वारा ही मंगवाई जाती थी।

क्रूसेडों के समय की अनेक कहानियाँ हैं। संभवतः, तुमने (सर) वालटर स्काट का 'टैलिसमैन' (-नामक उपन्यास) पढ़ा है।

क्रूसेडरों का एक जत्था कानस्टेंटिनोपल भी पहुँचा, और उसपर उसने अपना अधिकार कर लिया। इन लोगों ने पूर्वीय रोमन साम्राज्य के सम्राट् को वहाँ से निकाल भगाया, और लैटिन राज्य और रोमन कैथलिक संप्रदाय की स्थापना की। इन क्रूसेडरों ने कानस्टेंटिनोपल में भी भयंकर हत्या-कांड रचा और नगर के कई भाग जला डाले। लेकिन यह लैटिन राज्य अधिक दिनों तक न चला। पूर्वीय रोमन साम्राज्य के ग्रीक, दीर्घसूत्री होते हुए भी, वापस लौट आए और पचास साल के बाद उन्होंने लेटिनों को निकाल बाहर किया। कानस्टेंटिनोपल का पूर्वीय साम्राज्य अगले दो सौ वर्षों तक बना रहा। १४५३ ई० प० में तुर्कों ने उसका सदा के लिए अंत कर दिया।

क्रूसेडरों का कानस्टेंटिनोपल पर अधिकार जमाना इस बात को स्पष्ट कर देता है कि उस पर अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए पोप और रोमन ईसाई संघ को कितनी उत्कंठा थी। यद्यपि सब से पहले इस नगर के ग्रीकों ही ने संकट के समय तुर्कों के विरुद्ध योरप से मदद मांगी परंतु उन्होंने क्रूसेडरों को नाम-मात्र ही की सहायता दी। वास्तव में, उनसे वे बहुत अधिक अप्रसन्न थे।

इन क्रूसेडों में सब से रोमांचकारी क्रूसेड वह था, जो बच्चों के क्रूसेड के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं, बहुत-से अल्पवयस्क बालक, जिनमें से अधिकांश फ़्रांसीसी और जर्मन थे, उत्साह के आवेश में अपने घरों से फ़िलिस्तीन के लिए चल पड़े। उनमें से अनेक रास्ते ही में मर गए; बहुत-से खो गए और बाक़ी भटकते-भटकाते मारसेई * पहुँचे। वहां धूर्तों ने उनके उत्साह का अनुचित लाभ उठाते हुए उन्हें अच्छी तरह मूड़ा। धर्म्मक्षेत्र तक पहुँचा देने का झूठा बहाना कर वे इन्हें अपने जहाजों पर मिस्र ले गए और वहां उन्होंने इनको क्रीत-दास के रूप में बेच दिया।

इंगलेंड का बादशाह, रिचर्ड, फ़िलिस्तीन से लौटते समय पूर्वीय योरप में शत्रुओं द्वारा पकड़ लिया गया। जब बहुत बड़ी रक़म दी गई तब कहीं उसे छुटकारा मिला। फ्रांस का राजा

* भाग के अंत में टिप्पणी देखिए।

तो फ़िलिस्तीन ही में पकड़ लिया गया था। उसे भी बहुत धन देने पर मुक्ति मिली। उधर पुनीत रोमन साम्राज्य का एक सम्राट्, फ़्रैडरिक बारबैरौसा, फ़िलिस्तीन की एक नदी में डूब कर मर गया। इस तरह, ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों क्रूसेडों का आकर्षण घटता गया। लोग इन युद्धों से उकता गए और यद्यपि जैरूसलम अब भी तुर्कों ही के अधिकार में था, लेकिन उसके उद्धार के लिए अधिक जन-धन बरबाद करने में अब योरप के राजे-महाराजों और जन-साधारण को हिचकिचाहट होने लगी। यह हाल की बात है कि महायुद्ध के समय, १६१८ ई० प० में, एक अँगरेज़ सेनापति ने जैरूसलम को तुर्कों के अधिकार से मुक्त किया। *

उत्तरकालीन क्रूसेडों में से एक क्रूसेड विशेष रूप से अनूठी और रोचक थी। 'क्रूसेड' शब्द के पुराने अर्थ में इसे क्रूसेड कहना भी शायद ही उपयुक्त होगा। पुनीत रोमन साम्राज्य का सम्राट्, फ़्रैडरिक द्वितीय, फ़िलिस्तीन गया, लेकिन लड़ने-भिड़ने के बजाय उसने मिस्र के सुलतान से मिलकर मैत्री-पूर्ण समझौता कर लिया। फ़्रैडरिक एक असाधारण प्रतिभासंपन्न पुरुष था। उस ज़माने में, जब अधिकांश नरेश पढ़ना-लिखना भी नहीं जानते थे, वह अनेक भाषाओं का ज्ञाता था। उन में अरबी भाषा भी थी। उसे लोग 'जगत् का चमत्कार' कहते थे। उसे पोप की कुछ भी परवा न थी। इससे कुपित होकर पोप ने उसे बहिष्कृत और धार्मिक संस्कारों और सांत्वना का अनधिकारी घोषित कर दिया (इसे अंगरेज़ी में ऐक्सकाम्यूनिकेशन× कहते हैं)। लेकिन इसका उस पर कुछ भी असर न हुआ।

इस प्रकार ये धर्मयुद्ध निरर्थक साबित हुए। हाँ, इस निरंतर की लड़ाई से सेलजुक तुर्क अवश्य कमज़ोर हो गए। लेकिन इससे अधिक तो सेलजुक साम्राज्य की बुनियाद को मनसबदारी प्रथा ने खोखला कर डाला था। वहां के बड़े-बड़े मनसबदारी सरदार अपने को स्वतंत्र समझने लगे थे। वे एक-दूसरे से लड़ा करते और कभी-कभी तो वे ईसाई राष्ट्रों तक से एक-दूसरे के विरुद्ध सहायता की याचना करते थे। तुर्कों की इस घरेलू फूट से कभी-कभी क्रूसेडर लाभ उठा लेते थे। लेकिन जब सलादीन के समान कोई सबल शासक से इन धर्म्मवीरों का सामना पड़ जाता था तब इनकी एक भी नहीं चलती थी।

इन क्रूसेडों या धर्म्मयुद्धों के विषय में एक भिन्न मत भी है, जिसका प्रवर्त्तक एक अंगरेज़ इतिहास-लेखक, जी० एम० ट्रैवेलियन (उन गैरीबाल्डी-विषयक ग्रंथों का रचयिता, जिनसे तुम भली-भाँति परिचित हो) है। ट्रैवेलियन का कहना है कि "सैनिक और धार्मिक दृष्टि से, क्रूसेड पूर्व के प्रति योरप की पुनरुत्थित शक्तिओं के आकर्षण का महज़ एक पहलू था। क्रूसेडों में भाग लेकर योरप ने जो पुरस्कार पाया, वह न तो विधर्म्मियों के चंगुल से पुनीत स्तूप † का स्थायी उद्धार और न ईसाई जगत् का ऐक्य ही था। क्रूसेड की कहानी से इसका विस्तृत खंडन और प्रतिवाद होता है। वास्तव में, योरप को जो चीज़ें पुरस्कार

* जैरूसलम और फ़िलिस्तीन पर अब अँगरेज़ों का आधिपत्य है।

× इस भाग के अंत में 'एक्सकाम्यूनिकेशन' पर टिप्पणी देखिए।

† इस भाग के अंत में टिप्पणी देखिए।

के रूप में मिली थीं, वे थीं ललित कलाएं और उद्योग-धंधे, विलासमय जीवन से संबंध रखने वाले पदार्थों का ज्ञान और उपयोग, विज्ञान तथा मानसिक कुतूहल और वे सब बातें, जो पीटर-नामक* संन्यासी की दृष्टि में सब से अधिक हेय और तिरस्कार के योग्य थीं।"

११९३ ई० प० में सलादीन मर गया; और प्राचीन अरबी साम्राज्य का जो कुछ अंश अभी तक बच रहा था, वह भी उसकी मृत्यु के बाद धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गया। पश्चिमी एशिया के अधिकांश भागों में उपद्रव होने लगे। १२४९ ई० प० में अंतिम क्रूसेड हुआ। इसका नेता फ्रांस का राजा, लूई नवम, था। वह पराजित हुआ और बंदी बना लिया गया।

इस कालावधि में पूर्वीय और मध्य एशिया में महत्वपूर्ण घटनाएँ घट रही थीं। एशिया में एक नई मेघ-घटा उमड़ने लगी थी। महापराक्रमी नेता, गीज़खान, के नेतृत्व में मंगोल उठकर पूर्वीय क्षितिज को, बादलों की घनघोर घटाओं के समान, आच्छादित कर रहे थे। आगे चलकर हम एक पत्र में चंगीज़ खान और मंगोलों के विषय में विस्तार-पूर्वक लिखेंगे।

इस पत्र को समाप्त करने के पहले, मैं एक बात का उल्लेख कर देना चाहता हूँ। मध्य एशिया के बोखारा-नामक नगर में एक बहुत बड़ा अरब हकीम रहता था, जो सारे एशिया और योरप में प्रसिद्ध था। उसका नाम इब्न सीना था। लेकिन योरप में वह अवीसेन्ना के नाम से ज्यादा मशहूर है। उसे लोग हकीमों का सम्राट् कहते थे। उसकी मृत्यु १०३७ ई० प० में, अर्थात् क्रूसेडों के आरंभ होने के पहले, हुई।

मैंने इब्न सीना का नाम महज़ उसकी व्यक्तिगत ख्याति के कारण लिया है। लेकिन यह याद रखना कि इस युग के आदि से अंत तक, अरबी साम्राज्य के ह्रास के आरंभ हो जाने पर भी, अरबी सभ्यता पश्चिमी और मध्य एशिया के कुछ भागों में पूर्ववत् बनी रही। यद्यपि सलादीन क्रूसेडरों से लड़ने में व्यस्त था, तो भी उसने अनेक विद्यालय और हस्पताल बनवाए थे। लेकिन यह सभ्यता पूर्ण विनाश की कगार पर खड़ी थी। पूर्व दिशा से मंगोल आ रहे थे।

1809

* 'पीटर' पर इस भाग के अंत में टिप्पणी देखिए।

(६३)

क्रूसेडों के समय का योरप

जून २०, १६३२

पिछले पत्र में हमें ११ वीं, १२ वीं और १३ वीं शताब्दियों में ईसाई धर्म्म और इस्लाम के पारस्परिक संघर्ष का कुछ परिचय मिल चुका है। ईसाई जगत् (की व्यापक एकता) का भाव योरप में फैलने और प्रवल होने लगा था। इस समय तक ईसाई धर्म्म सारे योरप में फैल गया था। सब से पीछे पश्चिमी योरप की रूसी आदिक स्लाव जातियों ने उसे अंगीकार किया। एक रोचक कहानी है—मुझे नहीं मालूम कि वह कहां तक सच है—कि ईसाई होने के पहले, प्राचीन रूसी जनता ने अपने पुरातन धर्म्म के स्थान में किसी नए धर्म्म को ग्रहण करने के प्रश्न पर विचार किया। जिन दो नए मतों के नाम उसने सुने थे, वे थे ईसाई धर्म्म और इस्लाम। अतएव आजकल की प्रथा के बिलकुल अनुरूप रूसी लोगों ने उन देशों में, जहां इन मतों के अनुयायी रहते थे, अपने प्रतिनिधि भेजे, ताकि वे वहां जाकर इन मतों की जांच करें और लौट कर उनके संबंध में अपनी राय दें। कहा जाता है कि ये लोग पहले पश्चिमी एशिया के कुछ स्थानों में गए, जहां इस्लाम का प्रचार था। बाद में वे कानस्टेंटिनोपल पहुँचे। कानस्टेंटिनोपल में जो कुछ उन्होंने देखा, उससे वे स्तंभित हो गए। ईसाई आरथोडाक्स चर्च की संगीतमयी उपासना-विधि उन्हें गौरवमयी और मनोहारिणी प्रतीत हुई। गिरजाघरों में पादरी चटकीले-भड़कीले परिधानों को पहन कर आते थे। धूप जलती थी। पूजा के इस भड़कीले विधान ने उत्तर के सीधे-सादे, अर्धसंस्कृत, व्यक्तियों को अत्यधिक प्रभावित किया। इस्लाम में उन्हें इसके समान तड़क-भड़क की एक भी चीज़ न दिखाई दी। अतएव उन्होंने ईसाई धर्म्म के पक्ष में संमति स्थिर कर ली और लौटने पर राजा से अपना मंतव्य कह सुनाया। इस पर रूस के राजा और प्रजा, दोनों, ने ईसाई धर्म्म को ग्रहण कर लिया। उन्होंने कानस्टेंटिनोपल से ईसाई धर्म्म को लिया था, अतएव वे रोम के नहीं किंतु आरथोडाक्स ग्रीक चर्च के अनुयायी हुए। तब से आज तक रूस ने रोमन पोप के सामने न कभी सिर झुकाया और न उसे प्रमुख धर्म्माचार्य्य ही के रूप में स्वीकार किया।

रूस का यह मत-परिवर्तन क्रूसेडों के श्रीगणेश के बहुत पहले हो चुका था। कहा जाता है कि बलगेरियावाले भी मुसलमान होने के लिए कुछ-कुछ इच्छुक थे। लेकिन उनके लिए भी कानस्टेंटिनोपल का आकर्षण अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ। उनके राजा ने एक बिजेंटियन (तुम्हें याद होगा कि बिजेंटियम कानस्टेंटिनोपल ही का प्राचीन नाम है) राजकुमारी से शादी कर ली; और साथ ही ईसाई धर्म्म भी ग्रहण कर लिया। इसी प्रकार दूसरे, पड़ोसी देश भी ईसाई हो गए।

क्रूसेडों के जमाने में क्या हो रहा था? तुम यह तो देख ही चुकी हो कि इन धर्म्म-युद्धों में भाग लेने के लिए अनेक नरेश फ़िलिस्तीन गए और वहाँ उन्हें नाना प्रकार के संकट झेलने पड़े थे। इधर तो क्रूसेडों में भाग लेनेवाले राजाओं की यह दुर्दशा हो रही थी, उधर रोम में बैठे-बैठे पोप ने विधर्म्मी तुर्कों के विरुद्ध धर्म्म-युद्ध में सहयोग प्राप्त करने के उद्देश से आदेशों और अनुरोधों की झड़ी बाँध दी थी। पोप की शक्ति इन दिनों, संभवतः, अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि कैसे एक अभिमानी सम्राट् को कनोसा में पोप से क्षमा मांगने के लिए जाना और कैसे उसे पोप के दर्शनों की प्रतीक्षा में घंटों तक बर्फ़ में नंगे पाँव खड़ा रहना पड़ा था। यह वही पोप ग्रैगरी सप्तम था, जिसका पहला नाम हिलब्रैंड था। इसी ग्रेगरी ने पोपों के निर्वाचन का एक नया तरीक़ा निकाला। रोमन कैथलिक जगत् में पोप के बाद सर्वश्रेष्ठ धर्म्माध्यक्षों को कार्डिनल * कहते हैं। इन्हीं कार्डिनलों का एक कालेज या निर्वाचक-मंडल स्थापित किया गया। इस मंडल को पुनीत मंडल कहते थे। ग्रैगरी की नई योजना १०५९ ई० प० से लागू हुई, और तब से आज तक, कुछ संशोधन के साथ, उसी के अनुसार पोप का चुनाव होता आया है। आज भी पोप के देहावसान पर तुरंत ही कार्डिनलों का मंडल रोम में जमा हो जाता है। जिस कमरे में यह अधिवेशन होता है वह बाहर से बंद कर लिया जाता है। न कोई उस कमरे से बाहर निकल और न बाहर से अंदर जा सकता है। यह रुकावट उस समय तक के लिए होती है जब तक मृत पोप के स्थान में नए पोप का निर्वाचन न हो ले। कई बार ऐसा हो चुका है कि कार्डिनलों ने उस बंद कमरे में अनेक घंटे बिता दिए लेकिन वे इसका निर्णय न कर सके कि नया पोप कौन होगा। लेकिन जब तक इस विषय का निर्णय नहीं हो जाता तब तक वे बाहर नहीं निकल पाते! अतएव एकमत होने और निर्णय देने के लिए अंत में वे लोग विवश हो जाते हैं। फ़ैसला होते ही खिड़की से एक दीपक दिखाया जाता है, जिसमें बाहर प्रतीक्षा करनेवाले जन—समुदाय को पता लग जाय कि पाप चुन लिया गया।

जैसे पोप का निर्वाचन होता था, वैसे ही पुनीत रोमन साम्राज्य के सम्राट् का भी कुछ दिनों बाद चुनाव होने लगा। लेकिन सम्राट् को बड़े-बड़े मनसबदारी सरदार ही चुना करते थे। इन निर्वाचकों की संख्या सात थी। इन्हें निर्वाचक-नरेश कहते थे। इस व्यवस्था द्वारा इस बात की चेष्टा की गई थी कि सम्राट् का पद मौरूसी न बनने पाए। लेकिन व्यवहार में, बहुधा एक ही परिवार-विशेष अपनी इच्छानुसार चुनाव करा लिया करता था।

उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि १३ वीं और १४ वीं शताब्दियों में होहैनस्टाफ़ैन-राजवंश का साम्राज्य में सब से अधिक प्रभाव था। मेरी धारणा है कि होहैनस्टाफ़ैन जर्मनी में एक छोटा-सा क़स्बा या गांव है। आदि में इस कुटुंब का यही निवास-स्थान था; इसीलिए उसने इस गांव के नाम को अपने नाम के साथ जोड़ लिया। होहैनस्टाफ़ैन वंश का फ़्रैडरिक प्रथम-नामक व्यक्ति ११५२ ई० प० में सम्राट् हुआ। वह आम तौर से फ़्रैडरिक बारबैरोसा के नाम से

* अभी तक होते हैं। टिप्पणी देखिए।

प्रसिद्ध है। यही वह सम्राट् था जो क्रूसेड में भाग लेने के लिए फ़िलिस्तीन जाते हुए मार्ग में डूब गया था। कहा जाता है कि पुनीत रोमन साम्राज्य के इतिहास में उसका शासन-काल सब से अधिक उज्ज्वल और वैभवशाली था। जर्मन जनता तो बहुत दिनों से फ़्रैडरिक को एक आदर्श अथवा अर्ध-पौराणिक वीर के रूप में पूजती चली आई है। उसके नाम के साथ अनेक किंवदंतियाँ जुड़ गई हैं। उसके संबंध में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि वह किसी पर्वत की गुफ़ा में सो रहा है; और जब उपयुक्त समय आएगा तब वह जाग कर अपनी प्रजा की रक्षा के लिए बाहर निकलेगा।

फ़्रैडरिक बारबैरोसा और पोप में ज़ोरों की लाग-डांट रहती थी, लेकिन अंत में पोप ही की विजय हुई और फ़्रैडरिक को उसके सामने सिर झुकाना पड़ा। फ़्रैडरिक स्वेच्छाचारी शासक था, परंतु बड़े-बड़े मनसबदारी सरदारों ने भी उसे बहुत तंग किया। इटली में, जहाँ बड़े-बड़े नगरों का अभ्युदय होने लगा था, उसने नगरों की स्वाधीनता को कुचलने की भरपूर चेष्टा की। लेकिन इसमें वह सफल न हुआ। जर्मनी में भी, विशेषकर नदियों के तट पर, कोलोन, हैंसबर्ग, फ़्रैंकफर्ट, और दूसरे बड़े-बड़े नगरों की स्थापना हो रही थी। किंतु इनके प्रति फ़्रैडरिक ने दूसरी ही नीति से काम लिया। उसने स्वतंत्र जर्मन नगरों का साथ दिया। ऐसा उसने इसलिए किया, ताकि वह मनसबदारी सरदारों की शक्ति को कुचलने में सफल हो सके।

मैं तुम्हें कई बार यह बता चुका हूँ कि राजा के धर्म्म के विषय में प्राचीन भारतीय आर्य्यों की क्या धारणा थी। पुरातन आर्य्यकाल से अशोक के समय तक और अर्थशास्त्र से शुक्राचार्य के नीतिसार तक, यह बात बारंबार दोहराई गई है कि राजा को लोकमत के सामने सिर झुकाना चाहिए। लोकमत ही सर्वोपरि है, यही बात सिद्धांत रूप से हमारे यहाँ लोग मानते थे; यद्यपि व्यावहारिक सत्ता में, दूसरे देशों के नरपतियों की तरह, भारत के भी अधिकांश नरेश स्वेच्छाचारी होते थे। इस प्राचीन आर्य्य धारणा की प्राचीन योरप की धारणा से तुलना तो करो। योरप के तात्कालिक राजनीतिज्ञों के कथनानुसार, सम्राट् की सत्ता अनियंत्रित थी; वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र थी; उसके ऊपर कोई भी न था; सब उसके अधीन थे; उसकी इच्छा ही क़ानून था। लोगों का यह विश्वास था कि "सम्राट् पृथिवी पर साक्षात् धर्म्म का अवतार है, वही साक्षात् राजधर्म्म है।" स्वयमेव फ़्रैडरिक बारबैरोसा का कहना था कि प्रजा का धर्म्म राजाओं के लिए नियम बनाना नहीं, किंतु राजा की आज्ञा का पालन करना है।

इसी तरह सम्राट्-विषयक चीनी धारणा को भी तुलनात्मक दृष्टि से देखो। चीन में राजा या सम्राट् की उपाधियाँ तो बड़ी-बड़ी होती थीं; "जैसे देवलोक का आत्मज।" लेकिन इन उपाधियों को देख कर हमें भ्रम में न पड़ना चाहिए। सिद्धांत की दृष्टि से, चीन के सम्राट् की स्थिति और योरप के सर्वशक्तिसंपन्न सम्राट् की स्थिति में व्यापक अंतर था। एक प्राचीन चीनी लेखक, मेङ्-त्जे, ने लिखा है कि "जनता देश का सब से अधिक महत्वशाली अंग है; उसके बाद भूमि और कृषि में सहायता देनेवाले देवताओं की गणना की जा सकती है; किंतु शासक महत्व में सब से निकृष्ट होता है।"

इस प्रकार, योरप-निवासी सम्राट् को पृथिवी पर सर्वेसर्वा मानते थे। इसी धारणा ने नरेशों के ईश्वर-प्रदत्त अधिकारों की भावना को जन्म दिया। व्यवहार में तो वहां भी सम्राट् सर्वेसर्वा नहीं होता था; उसको भी दूसरों की संमति का ध्यान रखना पड़ता था। उसके मनसबदारी सरदार उद्धत और उद्दंड होते थे; और हम देखेंगे कि नगरों में नई-नई श्रेणियां धीरे-धीरे उत्पन्न होती जाती थीं, जो सत्ता और शासन में हिस्सा बँटाना चाहती थीं। दूसरी ओर, पोप भी पृथिवी पर सर्वोपरि होने का दावा करता था। इस तरह जहाँ दो सर्वश्रेष्ठंमन्यों को एक दूसरे से मुठभेड़ होगी वहीं उपद्रव उठ खड़ा होगा।

फ्रैडरिक बारबैरोसा के पौत्र का भी नाम फ्रैडरिक था। वह छोटी उम्र ही में सम्राट् की गद्दी पर बैठा और फ्रैडरिक द्वितीय के नाम से मशहूर हुआ। यही वह पुरुष है, जो जगत् का अचंभा—"स्टूपर मुंडो"—कहलाता था, और जिसने फ़िलिस्तीन जा कर मिस्र के सुलतान के साथ मैत्री कर ली थी। इसने भी, अपने पितामह की तरह, पोप को लोहे के चने चबवाए और उसकी आज्ञाओं का पालन करने से इनकार कर दिया। पोप ने उसे 'धर्म्मच्युत' कर बदला लेने की कोशिश की। धर्मच्यूतीकरण—'ऐक्सकम्यूनिकेशन' अर्थात् धर्म्म की सीमा के बाहर निकाल देना—पोपों का पुरातन और अमोघ ब्रह्मास्त्र था; लेकिन इस अस्त्र में भी अब कुछ कुछ जंग लगने लगी थी। फ्रैडरिक द्वितीय ने पोप के कोप की कुछ परवा न की; और साथ ही दुनिया भी अब बदल रही थी। फ्रैडरिक ने योरप के नरेशों और शासकों के नाम खुली चिट्ठियां लिखीं, जिनमें उसने बताया कि पोप को राजाओं के मामलों में टांग अड़ाने का कोई अधिकार नहीं है। उसका कहना था कि पोपों को सिर्फ़ धार्मिक और आध्यात्मिक मामलों ही का विचार करना चाहिए; राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करना उनके लिए उचित नहीं। उसने पादरियों और उपदेशकों के दुष्कर्मों की भी पोल खोली। इस वादविवाद में फ्रैडरिक ने अपने तर्कों से पोप को पछाड़ दिया। उसके ये पत्र बड़े ही मनोरंजक हैं, क्योंकि पोप और सम्राट् के पुरातन संघर्ष में आधुनिक दृष्टिकोण के समावेश का प्रथम संकेत हमें इन्हीं पत्रों में मिलता है।

फ्रैडरिक द्वितीय धार्म्मिक मामलों में बड़ा सहिष्णु और उदारचेता था। उसकी राजसभा में अरबी और यहूदी तत्त्ववेत्ता भी रहते थे। कहा जाता है कि फ्रैडरिक ही की बदौलत अरबी गिनती और बीजगणित का (तुम्हें याद होगा कि आदि में इन दोनों को भारत से अरबवासी ले गए थे) योरप में प्रवेश हुआ। उसने नैपैल्स और सैलेरनो के प्राचीन विश्वविद्यालयों में आयुर्वेद के महाविद्यालय स्थापित किए।

फ्रैडरिक द्वितीय ने १२१५ से १२५० ई० प० तक शासन किया। उसकी मृत्यु के साथ ही साम्राज्य के ऊपर होहैनस्टाफ़ैन राजपरिवार के दबदबे का भी अंत हो गया। सच तो यह है कि उसकी मृत्यु के साथ-साथ साम्राज्य का भी अंत हो गया। इटली साम्राज्य से अलग हो चुका था। जर्मनी में छोटी-छोटी रियासतें स्थापित हो गई थीं, और वहाँ चारो ओर उपद्रव मच रहे थे। लुटेरे डाकू और सरदार लूटमार करते-फिरते थे; लेकिन उन्हें

कोई दवानेवाला न था। पुनीत रोमन साम्राज्य के भारी बोझ को अकेले जर्मन राज्य के लिए सम्हालना कठिन हो गया। उधर फ्रांस और इंगलैंड के शासक अपनी सत्ताओं को धीरे-धीरे सुदृढ़ बनाते और बड़े-बड़े मनसबदारी सरदारों से अपनी प्रभुता स्वीकार कराते जाते थे। जर्मनी में राजा ही पुनीत रोमन साम्राज्य का सम्राट् भी होता था। साथ ही, वह पोप या इटली के नगरों से लड़ने में इतना व्यस्त रहता था कि उसे अपने सरदारों को दवाने या नियंत्रित करने का अवकाश ही न मिलता था।

जर्मनी को यह थोथा गौरव अवश्य प्राप्त था कि उसका राजा पुनीत रोमन साम्राज्य का भी सम्राट् होता था; लेकिन उसको इस उपहार का मोल स्वदेश की फूट और दुर्बलता के दुष्परिणाम के रूप में देना पड़ा। जर्मनी में एकता स्थापित होने के बहुत पहले फ्रांस और इंगलैंड सवल राष्ट्र हो गए। सैकड़ों वर्षों तक जर्मनी में छोटी-छोटी रियासतें बनी रहीं। आज से साठ साल हुए जब जर्मनी एक संघटित राष्ट्र बना, लेकिन इस पर भी उसके छोटे-छोटे राव-राजा बने ही रहे। १९१४-१८ के महायुद्ध ने इन छोटे-भाइयों के गिरोह का अंत कर दिया।

फ्रैडरिक द्वितीय के बाद, जर्मनी की हालत इतनी खराब हो गई कि २३ साल तक वहां कोई सम्राट् ही न चुना गया। १२७३ ई० प० में हैप्सबर्ग का काउंट, रूडाल्फ़, सम्राट् निर्वाचित हुआ। इस तरह एक नया कुटुंब, हैप्सबर्ग-राजवंश, रंगमंच पर आया। इस कुटुंब का साम्राज्य के साथ अंत तक संबंध बना रहा। किंतु विगत महायुद्ध में, शासक के रुप में, इस परिवार का भी अंत हो गया। महायुद्ध के आरंभ में फ्रैंसिस जोसफ़-नामक एक हैप्सबर्ग आस्ट्रिया-हंगरी का सम्राट् था। वह अत्यधिक वृद्ध हो गया था; साठ से अधिक साल तो उसे सिंहासन पर बैठे हो गए थे। उसका उत्तराधिकारी उसी का एक भतीजा था, जिसका नाम फ्रैंज फ़रडिनैंड था। १९१४ में बोस्निया (बालकन प्रायद्वीप) के सरयाबो-नामक नगर में फ्रैंज अपनी धर्म्मपत्नी-सहित मार डाला गया। इसी हत्या ने महायुद्ध की ज्वाला को सुलगाने में चिनगारी का काम किया। वास्तव में, महायुद्ध ने बहुत-सी चीज़ों का—जिनमें से एक हैप्सबर्गों का प्राचीन राजवंश भी था—अंत कर डाला।

पुनीत रोमन साम्राज्य के विषय में इतना काफ़ी होगा। इस साम्राज्य के पश्चिम में फ्रांस और इंगलैंड थे, जो बहुधा आपस में लड़ा करते थे। रोमन साम्राज्य की अपेक्षा अपने बड़े सरदारों को दवाने में ये दोनों राष्ट्र कहीं अधिक सफल हुए। अतएव जर्मनी के राजा या सम्राट् की तुलना में इन दोनों देशों के राजाओं को अपने सरदारों को परास्त करने में कहीं अधिक सफलता प्राप्त हुई। इसीलिए फ्रांस और इंगलैंड अन्य देशों के मुक़ाबिले में कहीं अधिक संयुक्त और सुसंघटित राष्ट्र बन गए और एकता के कारण कहीं अधिक बलशाली भी हो गए।

इंगलैंड में इन्हीं दिनों, जिनका मैं ज़िक्र कर रहा हूँ, एक घटना हुई, जिसका हाल तुमने शायद पढ़ा होगा। यह महत्त्वपूर्ण घटना थी १२१५ ई० प० में राजा जान द्वारा मैगना चारटा* की

* भाग के अंत में टिप्पणी देखिए।

मंजूरी। जान अपने भाई रिचर्ड, उपनाम 'नरसिंह', की मृत्यु पर सिंहासन पर बैठा। वह बड़ा लोभी लेकिन साथ ही बड़ा कायर भी था। उसके व्यवहार के कारण, सारी जनता उससे चिढ़ उठी। अंत में टेम्स नदी के रनीमीड-नामक द्वीप में राज्य के प्रमुख सरदारों ने उसे घेर लिया और उन्होंने डरवा-धमका कर उससे मैगना चारटा-नामक महापत्र पर हस्ताक्षर करा लिए। इस महापत्र में इंगलैंड के बादशाह ने अपने सरदारों और प्रजा के कुछ अधिकार-विशेषों को अनुल्लंघनीय स्वीकार कर उनके संरक्षण की प्रतिज्ञा की। इंगलैंड में राजनीतिक स्वतंत्रता की सुदीर्घकालीन लड़ाई की यह पहली महाविजय थी। इस महापत्र में इस बात का विशेष रूप से निर्देश था कि राजा किसी भी नागरिक की संपत्ति या उसकी स्वतंत्रता का अपहरण, उस नागरिक के समवर्गियों की अनुमति के बिना, न कर सकेगा। इसीसे जूरी-प्रथा* का आरंभ हुआ, जिसमें—लोगों का कहना है—उसी अपराधी की श्रेणी के लोगों द्वारा अपराधी के अपराध का फ़ैसला होता है। इस प्रकार इंगलैंड में आरंभिक काल ही से हम राजा की शक्ति को नियंत्रित होते देखते हैं। राजा या शासक की अनियंत्रित सत्ता के जिस सिद्धांत पर पुनीत रोमन साम्राज्य में इतना अधिक ज़ोर दिया जाता था, उसको इंगलैंड ने आरंभ ही से अस्वीकार कर दिया।

यह रोचक बात है कि यद्यपि राज-सत्ता के नियंत्रण के इस नियम को इंगलैंड में बने हुए सात सौ से अधिक वर्ष हो गए, परंतु यही नियम ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत में सन् १९३२ तक भी नहीं लागू किया गया। आज दिन भारत में एक व्यक्ति—वाइसराय—आरडिनेंस निकाल सकता है, जिसके द्वारा नए-नए क़ानून बनाए जाते हैं और जनता की स्वाधीनता संपत्ति का अपहरण संभव है।

मैगना चारटा के बनने के थोड़े ही दिनों बाद इंगलैंड में एक और महत्वपूर्ण घटना हुई। धीरे-धीरे एक राष्ट्रीय सभा का विकास होने लगा। देश के भिन्न-भिन्न शहरों और देहातों से उसमें नाइट× और नागरिक प्रतिनिधियों की हैसियत से संमिलित होने लगे। इस प्रकार अंगरेज़ी पारलामेंट का आविर्भाव हुआ। नाइट और नागरिकों के प्रतिनिधियों की सभा का नाम "हाउस आफ़ कामनस्" अर्थात् जनसाधारण के प्रतिनिधियों का मंडल, और सरदारों या लार्डों तथा बिशपों की सभा का नाम "हाउस आफ़ लार्डस्" अर्थात् सामंत-मंडल पड़ा। आरंभ में इस पारलामेंट को कुछ भी अधिकार न थे। उसकी शक्ति तो धीरे-धीरे बढ़ी। अंत में राजा और पारलामेंट में ताक़त-आज़माई—बल तौलने—की नौबत आ पहुँची, जिसके परिणाम-स्वरूप राजा को अपने शीश से हाथ धोना पड़ा, और देश पर पारलामेंट का निष्कंटक एकाधिपत्य स्थापित हो गया। लेकिन जिन दिनों

* 'जूरी' एक प्रकार के पंचों की संस्था का नाम है। वे प्रायः फौजदारी अभियोगों पर विचार करते समय न्यायाधीश के साथ बैठते और विचाराधीन मामले पर अपने विवेक के अनुसार फ़ैसला देते हैं। न्यायाधीश को अपना अंतिम फ़ैसला देते समय जूरी के निर्णय को ध्यान में रखना पड़ता है। प्रत्येक जूरी में प्रायः बारह सदस्य होते हैं।—सं०

× नाइट, आदि, पर टिप्पणी देखिए।

की बात हम अभी कर रहे हैं, उसके चार सौ वर्ष बाद, अर्थात् सत्रहवीं सदी में, इंगलैंड में पारलामैंट की यह महाविजय हुई।

फ़्रांस में भी तीन श्रेणियों की—इसी नाम से वे पुकारी जाती थीं—एक सभा थी। इन तीन श्रेणियों में लार्ड, धर्म्माचार्य या गिरजे के पदाधिकारी और जन-साधारण के प्रतिनिधि रहते थे। जब कभी राजा की इच्छा होती तब वह इस सभा का अधिवेशन करता था। इसके अधिवेशन बहुत दिनों में होते थे। फ़्रांस की पारलामैंट को इंगलैंड की पारलामैंट के समान शक्ति-प्राप्ति में सफलता नहीं मिली। जब फ़्रांस में भी एक नरेश का शीश कटा, तब कहीं राजाओं की शक्ति का वहां अंत हुआ।

पूर्व में, ग्रीकों का पूर्वीय रोमन साम्राज्य यथावत् बना रहा। आरंभिक काल ही से उसकी किसी न किसी से निरंतर लड़ाई छिड़ी रहती थी। बहुधा ऐसा दिखाई देता था कि अब उसके अंत होने में देर नहीं है। किंतु इस पर भी वह सजीव बना रहा। पहले उत्तरीय बर्बरों के आक्रमणों से वह बच गया और अब मुसलमानों का भी वार खाली गया। किंतु रूसियों, बलगेरियनों, अरबों या सेलजुक तुर्कों के इस साम्राज्य पर जितने हमले अभी तक हुए थे, उन सब से अधिक भीषण और घातक आक्रमण क्रूसेडरों का था। ईसाई कानस्टैंटिनोपल को जितना नुक़सान सहधर्म्मी क्रूसेडरों ने पहुँचाया उतना किसी विधर्म्मी आक्रमणकारी ने भी उसे न पहुँचाया। क्रूसेडों की महाव्याधि के कारण जो क्षति हुई, उसकी पूर्ति न तो पूर्वीय रोमन साम्राज्य और न कानस्टैंटिनोपल का नगर ही कभी कर पाया।

पश्चिमी योरपवालों को पूर्वीय रोमन साम्राज्य का कुछ भी ज्ञान न था। ईसाई जगत् में प्रायः उसकी गिनती भी न होती था। उसकी भाषा ग्रीक और पश्चिम योरपी के पंडितों की भाषा लैटिन थी। किंतु ह्रास के इन दिनों में भी, कानस्टैंटिनोपल में, पश्चिमी योरप की अपेक्षा, कहीं अधिक पांडित्य और मानसिक चहल-पहल दिखाई देती थी। लेकिन यह पांडित्य बुढ़ापे का पांडित्य था, जिसमें न तो कुछ बल रह गया था, और न अभिनव रचना की शक्ति ही शेष बची थी। इसके विपरीत, यद्यपि पांडित्य में पश्चिमी योरप पिछड़ा हुआ था, परंतु अल्पवयस्क होने के कारण उसमें रचना की शक्ति थी। थोड़े ही दिनों में यह शक्ति अनुपम सौंदर्य की वस्तुओं की सृष्टि के रूप में प्रस्फुटित होनेवाली थी।

पूर्वीय योरप के ईसाई संघ और सम्राट् में, रोम का-सा, संघर्ष न था। यहाँ का सम्राट सर्वोपरि और सर्वशक्तिशाली होता था। वह पूर्ण रूप से स्वेच्छाचारी, निरंकुश, एकाधिपति था। स्वाधीनता का वहाँ पर कोई नाम लेनेवाला भी न दिखाई देता था। जो सब से अधिक बलशाली या कपटी होता था, वही राज-सिंहासन पर अधिकार कर लेता था। बल या छल में परमोत्कृष्टता के पुरस्कार के रूप में राजगद्दी मिला करती थी। हत्या और कपट—रक्तपात और पापाचरण—द्वारा साहसी व्यक्ति राजमुकुट के अधिकारी बन जाते थे और जनता बकरियों की तरह शांति-पूर्वक उनकी आज्ञाओं का पालन करती थी। उसको इसको बिलकुल चिंता न रहती थी कि उस पर किसका शासन है।

पूर्वीय रोमन साम्राज्य योरप के फाटक पर द्वारपाल की तरह खड़ा था। एशियाई देशों के हमलों से वह उसकी रक्षा करता था। वह इस काम को कई सौ वर्षों तक सफलता-पूर्वक करता रहा। कानस्टेंटिनोपल को अरबवाले न ले सके; और यद्यपि सेलजुक तुर्क उसके बहुत पास तक पहुँच गए थे, परंतु वे भी उसे न जीत पाए। मंगोलों को भी उसके पास से होते हुए उत्तर में रूस की ओर मुड़ना पड़ा। अंत में ओटोमन तुर्क आए, और १४५३ ई० प० में कानस्टेंटिनोपल के शाही नगर का अपूर्व उपहार उनके हाथ लगा। इस नगर के पतन के साथ ही पूर्वीय रोमन साम्राज्य का भी अंत हो गया।

(६४)

योरप के नगरों का अभ्युदय

जून २१, १९३२

योरप में क्रूसेडों का युग श्रद्धा, समान आकांक्षा और विश्वास का महायुग था। जनता अपने दैनिक दुःख-दैन्य को भुलाने और सांत्वना की प्राप्ति के लिए इसी श्रद्धा और विश्वास की शरण लेती थी। उन दिनों विज्ञान का नाम तक भी किसी को न मालूम था; पांडित्य और विद्याध्ययन की भी मात्रा बहुत न्यून थी, क्योंकि विशुद्ध विश्वास और ज्ञान-विज्ञान में बहुत ही कम मेल है; दोनों एक ही स्थान पर नहीं पनप सकते। विद्याध्ययन और ज्ञानोपार्जन से लोगों में चिंतन और मनन—सोचने-विचारने—की प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है। शंका, संशय तथा संकल्प-विकल्प के समान कष्टप्रद सहचरों के साथ मैत्री निबाहना श्रद्धा के लिए टेढ़ी खीर है। विज्ञान का मार्ग है अन्वेषण और क्रियात्मक प्रयोगों द्वारा सत्य के निरूपण का मार्ग। इस मार्ग से श्रद्धा और विश्वास का पथ भिन्न है। आगे चल कर हम देखेंगे कि कैसे यह श्रद्धा निर्जीव हो गई और संशय के युग का उदय हुआ।

लेकिन जिस काल का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उस युग में श्रद्धा और विश्वास फल-फूल रहे थे। रोमन कैथलिक चर्च श्रद्धालु भक्तों का परम गुरु था। भक्तों की श्रद्धा का अनुचित ढंग से उपयोग करते हुए वह उनको खूब मूड़ता था। न जाने कितने हज़ार 'श्रद्धालु' फ़िलिस्तीन में धर्म्मयुद्ध के लिए गए, लेकिन उनमें से विरला ही कोई घर लौटा। जो ईसाई समाज या जत्थे पोप की आज्ञा का अक्षरशः पालन करने को तैयार नहीं होते थे, उनके भी विरुद्ध पोप धर्म्मयुद्ध या जेहाद की घोषणा कर देता था। पोप और रोमन कैथलिक चर्च ने "डिसपैनसेशनों" और "इनडलजैंसों" * को बाट या अक्सर बेच कर श्रद्धालुओं की इस श्रद्धा और भक्ति से अनुचित लाभ उठाना शुरू किया। चर्च या ईसाई संघ की किसी आज्ञा या अनुशासन को भंग करने या उसके विपरीत आचरण करने की आज्ञा को "डिसपैनसेशन" कहते हैं। इस प्रकार, जिन नियमों को चर्च स्वयमेव बनाता था उन्हीं को विशेष अवसरों पर उल्लंघन करने की अनुमति भी वह दे देता था। ऐसे विधानों के प्रति अधिक दिनों तक आदर का भाव नहीं रह सकता। "इनडलजैंस" तो "डिसपैनसेशन" से भी अधिक आपत्तिजनक थे। रोमन कैथलिक चर्च के अनुसार, मृत्यु के बाद आत्मा स्वर्ग और नरक के मध्य में स्थित परगेटरी-नामक×लोक को जाती है, और वहाँ उसे मर्त्यलोक में किए गए पापों का फल भोगना पड़ता है। लोगों की धारणा थी कि इसके बाद, आत्मा स्वर्ग को

* इन पर टिप्पणियां देखिए।

× प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप के कल्पित लोक को परगेटरी कहते हैं। ईसाई धर्म्माचार्य्यों ने अपनी कल्पना से इस लोक की सृष्टि की थी।

चली जाती है। जो रुपए देते थे, उन्हें पोप लिखित प्रतिज्ञा-पत्र देता था कि उनको परगेटरी में न रहना पड़ेगा, वे सीधे स्वर्ग पहुँच जाएंगे। इस प्रकार चर्च भोले-भाले नर-नारियों की श्रद्धा से अनुचित लाभ उठाता था। उन कुकर्मों और दुष्कृत्यों तक को, जिन्हें वह पापाचार समझता था, ईसाई चर्च ने धन पटीलने का साधन बना डाला। क्रूसेडों के कुछ समय बाद, "इनडलजैंसों" के बेचने की प्रथा का आरंभ हुआ। इसके कारण चर्च की बड़ी बदनामी हुई। यह भी एक बात थी जिसके कारण अनेक व्यक्ति रोमन चर्च के विरोधी हो गए।

यह सचमुच एक विचित्र बात है कि अंधभक्त कैसी-कैसी बातों को सरलता के साथ मान लेते हैं। यही कारण है कि अनेक देशों में धर्म्म के व्यापार की भी बड़े-से-बड़े और अधिक-से अधिक लाभकारी व्यवसायों में गिनती होने लगी है। मंदिरों के पुजारियों को देखो कि कैसे वे बेचारे भोले-भाले उपासकों को मूढ़ते हैं। गंगा के घाटों पर जाओ, और तुम देखोगे कि पंडे श्राद्धादि क्रिया-कर्मों को उस समय तक नहीं कराते जब तक अभागा देहाती उन्हें भरपूर भेंट नहीं चढ़ा देता। घर में ज़रा भी कुछ हुआ नहीं—बच्चा पैदा हो, किसी का ब्याह हो या कोई मर जाय—कि फ़ौरन पुरोहितजी आ धमकते हैं और दक्षिणा की मांग होने लगती है।

प्रत्येक धर्म्म में यही बात है। हिंदू-धर्म या ईसाई मत, इस्लाम या पारसी मत, सब की यही दशा है। प्रत्येक मत में श्रद्धालुओं की श्रद्धा से लाभ उठा कर रुपए कमाने के अलग-अलग ढंग हैं। हिंदू-धर्म्म के तरीक़े तो स्पष्ट ही हैं। इस्लाम में, कहा जाता है, पुरोहित या पुजारी नहीं होते। प्राचीन काल में अपने अनुयायियों को धार्मिक शोषण से किसी अंश तक बचाने में उसने काफ़ी सफलता पाई। लेकिन बाद में व्यक्ति-विशिष्ट और वर्ग-विशेष पैदा हो गए और वे अपने को धार्मिक विषयों का विशेषज्ञ कहने लगे—जैसे, आलिम, मौलवी, मुल्ला, इत्यादि। इन लोगों ने सीधे-साधे श्रद्धालुओं पर अपना रोब जमा कर उनको चूसना शुरू किया। सच तो यह है कि जहाँ लंबी दाढ़ी, सिर की चोटा—चोटैया—ललाट का तिलक या त्रिपुंड, फ़क़ीर का भेष अथवा संन्यासी का गेरुआ वस्त्र पवित्रता की सनद माना जाता है, वहां जनता को फुसलाना कुछ भी कठिन नहीं है।

यह देख कर विस्मय होता है कि पूर्ण रूप से विवेकशून्य होते हुए भी मनुष्य क्या-क्या करने को तैयार नहीं हो जाते। शायद तुमने आग़ा खां का नाम सुना है। वह मुसलमानों की एक जमाअत के प्रधान हैं। उनके अनेक धनी अनुयायी हैं और कहा जाता है कि पोपों की पुरानी प्रथा के अनुरूप, वह भी रुपए लेकर "इनडलजैंस" दिया करते हैं। लेकिन मालूम होता है कि आग़ा खां पोपों से भी एक क़दम आगे बढ़ गए हैं। वह फ़रिश्ता जिबराईल या उन्हीं के समान किसी दूसरे स्वर्गीय महाध्यक्ष के नाम एक पत्र देते हैं, जिसमें पत्र-वाहक के प्रति विशेष अनुग्रह करने की प्रार्थना रहती है। इस पत्र के लिए, निस्संदेह, काफ़ी बड़ी रक़म उन्हें मिलती है। जब इस पत्र को पानेवाला मरता है तब वह ख़त उसके साथ तावूत में दफ़ना दिया जाता है। श्रद्धा और धर्म्म का कैसा अद्भुत् और विलक्षण जादू है कि इस तरह की बातें होते हुए भी वे अटल बने हुए हैं। आग़ा खां स्वयमेव एक बहुत ही सुसंस्कृत सज्जन हैं। वह अधिकतर पैरिस और लंदन ही में रहते हैं। उन्हें घुड़दौड़ से बड़ा प्रेम है।

यदि तुम अमेरिका जाओ, जो आज दिन सब से अधिक समुन्नत माना जाता है, तो तुम्हें वहां भी यही पता चलेगा कि धर्म्म एक तरह का महाव्यापार है, जो जनता के शोषण का आश्रित है।

मैं मध्यकाल के श्रद्धामय युग से बहुत दूर भटक गया। आओ, फिर उस युग की ओर लौट चलें। इस युग में हम श्रद्धा को कला द्वारा साकार होते देखते हैं। ११ वीं और १२ वीं शताब्दियों का युग निर्माण का महायुग था। इस युग में पश्चिमी योरप में जहां देखो वहीं कैथीड्रल बने और शिल्प-कला की एक ऐसी नवीन शैली का आविर्भाव हुआ, जैसी योरप में इस युग के पूर्व कहीं नहीं दिखाई देती। एक चतुरता-पूर्ण हिकमत या तरक़ीब से कैथीड्रलों की भारी छतों का बोझ बड़े-बड़े पुश्तों में बाँट दिया जाता था। ये पुश्ते इमारत के बाहर बनाए जाते थे। लेकिन गिरजे के भीतर पहुँच कर दर्शक को यह मालूम होता था कि मानों छतों को सुकुमार खंभे सम्हाले हैं। अरबी शैली के अनुसरण में इन गिरजों की भी महराबें नुकीली होती थीं। समस्त प्रासाद के ऊपर उर्ध्वगामी मीनारें बनाई जाती थीं। शिल्प की जिस गाथिक शैली का विकास हुआ, उसके ये ही प्रधान लक्षण थे। इस शैली में अद्भुत सौंदर्य था। वह उर्ध्वगामिनी श्रद्धा और आकांक्षा की प्रतिमा है। वास्तव में, उसमें इस युग की आत्मा प्रतिबिंबित है। ऐसी इमारतों को वे ही शिल्पकार और कारीगर बना सकते हैं जिनको अपने काम से प्रेम हो और जो परम ध्येय की सिद्धि में परस्पर सहयोग के लिए तैयार हों।

पश्चिमी योरप में गाथिक शैली का अभ्युदय निस्संदेह विस्मयोत्पादक है। अव्यवस्था, अराजकता, अज्ञान और पक्षपातगर्भित विद्वेष के इस विप्लवकारी तुमुल के गर्भ से यह सौंदर्यमयी शैली स्वर्ग की ओर उठती हुई प्रार्थना के समान प्रस्फुटित हुई। फ्रांस, जर्मनी, उत्तरीय इटली, और इंगलैंड में एक साथ ही कैथीड्रलों का निर्माण हुआ। यह बताना कठिन है कि कैसे उनका आरंभ हुआ। उनके निर्माताओं के नाम तक किसी को, नहीं मालूम। ये रचनाएँ एक जाति-विशिष्ट की समष्टि रूप से प्रेरणा और परिश्रम को किसी एकाकी शिल्पकार की प्रेरणा और परिश्रम की अपेक्षा, कहीं अधिक अंश में प्रतिबिंबित करती हैं। कैथीड्रलों की दूसरी विशेषता यह थी कि इनकी राग-रंजित शीशे की खिड़कियों में सुंदर-सुंदर रंग-बिरंगे चित्र अंकित किए गए थे। इन शीशों को भेद कर जब सूर्य्य का प्रकाश कैथीड्रलों को आलोकित करता है, तब मंदिर का गंभीर और चमत्कारिक प्रभाव और भी बढ़ जाता है।

कुछ दिन हुए, मैंने एक पत्र में* योरप की एशिया से तुलना करते हुए कहा था कि मध्य युग में एशिया योरप की अपेक्षा अधिक सुसभ्य और सुसंस्कृत था। लेकिन तो भी भारत में बहुत कम रचनात्मक काम हो रहा था। मैंने यह भी बताया था कि रचनात्मक कार्य्य ही जीवन का लक्षण है। अर्ध-संस्कृत योरप में गाथिक शैली के उदय से हमें इस बात का पता चलता है कि वहां पर्याप्त मात्रा में जीवन विद्यमान था। अव्यवस्था और निम्नकोटि की

* देखो पत्र नं० ५८।

सभ्यता के कारण जो कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं; उन सब के होते हुए भी जीवन का एक स्रोत यहां फूट निकला और अभिव्यक्ति के साधन ढूंढ़ने लगा। गाथिक प्रासादमाला उसी की अभिव्यक्ति का एक रूप था। आगे चल कर चित्रकारी, शिल्पकला एवम् साहसपूर्ण कार्य्य-कलापों के प्रति अनुराग के रूप में इस जीवनधारा को प्रस्फुटित होते हम देखेंगे।

तुमने कई गाथिक कैथीड्रल देखे हैं। मुझे नहीं मालूम कि तुम्हें उनकी याद है या नहीं। तुमने जर्मनी में कोलोन का सुंदर कैथीड्रल देखा था। इटली में मिलान का भव्य कैथीड्रल है। ऐसे ही फ्रांस में शात्रे का कैथीड्रल है। लेकिन मैं सब स्थानों के नाम तो नहीं गिना सकता। ये कैथीड्रल जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड और उत्तरीय इटली में इधर-उधर फैले हैं। यह एक विचित्र बात है कि साक्षात् रोम में एक भी मार्के की गाथिक इमारत नहीं है। ११ वीं और १२ वीं सदियों के इस महानिर्माण-युग में गाथिक शैली से भिन्न शैली के भी गिरजे बने थे—जैसे, पैरिस का नात्रे-दाम-नामक विशाल कैथीड्रल और संभवतः वेनिस का सेंट मार्क। सेंट मार्क, जिसे तुम देख चुकी हो, विज़ेंटियन शैली का एक नमूना है। इसमें पच्चीकारी का बहुत ही सुंदर काम है।

श्रद्धा-युग का ह्रास हुआ, और उसके साथ ही गिरजों और कैथीड्रलों के निर्माण का भी अंत हो गया। लोगों के विचार दूसरी दिशाओं की ओर, व्यापार और व्यवसाय तथा नागरिक जीवन की ओर, झुक गए। कैथीड्रलों के स्थान में अब शहर-पनाहों का बनना शुरू हुआ। अतएव १५ वीं शताब्दी के आरंभ में हम बहुत-से सुंदर गाथिक टाउन-हालों या गिल्ड-हालों को उत्तरीय और पश्चिमी योरप में निर्मित होते देखते हैं। लंडन में पारलामेंट के भवन गाथिक शैली में बनाए गए थे, लेकिन मुझे नहीं मालूम कि उनका निर्माण किस समय हुआ। मेरा ख़याल है कि प्राचीन पारलामेंट-भवन के जल जाने पर उसके स्थान पर गाथिक शैली में यह नई इमारत बनाई गई थी।

जो विशाल गाथिक कैथीड्रल ११ वीं और १२ वीं शताब्दियों में बने, वे अधिकतर क़स्बों और नगरों में स्थित थे। पुराने शहर उन्नति करते और नए शहर आबाद होते जाते थे। सारे योरप में उलटफेर और नागरिक जीवन का प्रसार हो रहा था। रोमन साम्राज्य के ज़माने में भूमध्य-सागर के तटों पर बड़े-बड़े नगर थे। लेकिन रोम और ग्रीक-लैटिन सभ्यता के पतन के बाद इन नगरों का भी ह्रास हो गया। कानस्टेंटिनोपल को छोड़ कर, सारे योरप में मुश्किल से कोई बड़ा नगर बचा। स्पेन इस कथन का एक अपवाद था। वहां अरब-वासी शासन करते थे। एशिया में—भारत, चीन और अरबी जगत् में—इन दिनों बड़े-बड़े नगर फल-फूल रहे थे। उनकी जोड़ के शहर योरप में ढूंढ़े नहीं मिलते थे। नगर, सभ्यता और संस्कृति, मालूम होता है, हमेशा साथ-साथ रहते हैं। रोमन शांति-व्यवस्था का अंत हो जाने पर योरप इन सब से बहुत दिनों के लिए वंचित हो गया।

लेकिन अब नागरिक जीवन का फिर से पुनरुत्थान होने लगा। विशेष कर, इटली में नगरों की तादाद दिनोंदिन बढ़ने लगी। इन नगरों से पुनीत रोमन साम्राज्य के सम्राट् को बेहद चिंता रहती थी; क्योंकि ये अपने उन विशेषाधिकारों को त्यागने के लिए तैयार न थे, जो

उन्होंने प्राप्त कर लिए थे। इन नगरों का उदय व्यापारी-वर्ग और मध्यम श्रेणी के लोगों के विकास का द्योतक है।

ऐड्रियाटिक सागर पर प्रभाव जमा कर वैनिस एक स्वतंत्र राष्ट्र हो गया। आज दिन तो वह बड़ा रमणीक और सुरम्य नगर दिखाई देता है; क्योंकि उसकी चक्कर काटती हुई नहरों में समुद्र का ताजा जल हमेशा आता-जाता रहता है। लेकिन कहा जाता है कि जब इस नगर का निर्माण नहीं हुआ था तब वहां एक बहुत बड़ा दलदल था। जिस समय हूणों का सरदार, ऐटिला, एक्वीलिजा* को भस्मसात् और प्रजा का संहार करता हुआ इटली पहुँचा, उस समय कुछ लोग जान बचा कर वैनिस के दलदल में भाग गए। वहां पर उन्होंने अपने लिए एक नगर का निर्माण किया। ये लोग पूर्वीय और पश्चिमी रोमन साम्राज्यों के मध्य में थे, इसलिए अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखने में वे सफल हुए। भारत और पूर्वीय देशों के साथ वैनिस का बहुत बड़ा व्यापार होता था। इसके कारण वह मालामाल हो गया था। उसने एक ज़बरदस्त नौ-सेना तैयार की और शीघ्र हो वह एक शक्तिशाली सामुद्रिक राष्ट्र हो गया। वैनिस में धनिकों का प्रजातंत्र था। उसका राष्ट्रपति डोज कहलाता था। यह प्रजातंत्र १७९७ ई० प० तक स्थायी रहा। जब नैपोलियन ने विजेता के रूप में वैनिस में प्रवेश किया तब कहीं इस प्रजातंत्र का अंत हुआ। कहा जाता है कि जिस दिन नैपोलियन ने वैनिस में क़दम रक्खा उसी दिन वहां का डोज, जो बहुत वृद्ध हो गया था, एकाएक मर गया। यही वैनिस का अंतिम डोज था।

इटली के दूसरे तट पर जैनोआ था। वह भी समुद्रगामियों का एक विशाल व्यापारिक नगर था। वैनिस के साथ इसकी गहरी लाग-डांट रहती थी। इन दोनों नगरों के बीच के प्रदेश में बोलोना का विश्वविद्यालय-नगर, पीसा और वैरोना के नगर तथा फ्लोरैंस थे। फ्लोरैंस में अनतिदूर भविष्य में अनेक प्रसिद्ध कलाविद् उत्पन्न हुए। आगे चल कर विख्यात मैडिसी-परिवार के शासन-काल में यह नगर बहुत चमकने वाला था। उत्तरीय इटली में मिलान का नगर था, जो पक्के माल की तैयारी के कारण अभी से एक बहुत बड़ा व्यापारी केंद्र बन गया था। दक्षिण में नैपल्स का विकास हो रहा था।

उधर फ्रांस में पैरिस था, जहां कैपे ने अपनी राजधानी स्थापित की थी। ज्यों-ज्यों फ्रांस की वृद्धि होती जाती थी, त्यों-त्यों पैरिस का विभव भी बढ़ता जाता था। पैरिस सदा से फ्रांस का प्राण और हृदय रहा है। दूसरे देशों की भी अनेक राजधानियां हुई हैं, लेकिन पिछले एक हज़ार साल में ऐसी कोई दूसरी राजधानी अपने देश पर उतना प्रभाव नहीं जमा सकी, जितना पैरिस ने फ्रांस पर जमाया। फ्रांस में अन्य महत्त्वपूर्ण नगर भी थे; जैसे, लियां, मारसेई (जो बहुत ही प्राचीन बंदरगाह है), आरलियाँ, बोर्डो और बोलोन।

इटली की तरह जर्मनी में भी—विशेष रूप से १३ वीं और १४ वीं सदियों में—स्वाधीन नगरों का विकास महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। इन नगरों की जन-संख्या बढ़ गई; और ज्यों-ज्यों उनकी शक्ति और संपत्ति में वृद्धि हुई, त्यों-त्यों उनका साहस भी बढ़ता गया। थोड़े दिनों में ये नगर मनसबदारा सरदारों से टक्कर लेने लगे। कभी-

* भाग के अंत में टिप्पणी देखिए।

कभी सम्राट् तक को उनका साथ देना पड़ता था, क्योंकि वह सरदारों को नीचा दिखाने के लिए उत्सुक रहता था। इन नगरों ने अपनी रक्षा के लिए बड़े-बड़े व्यापारी संघ बनाए। ये संघ नगर-विरोधी सरदारों के संघों पर अकसर हमले भी कर देते थे। जर्मनी के इन उन्नतिशाली नगरों में से मुख्य थे हमबर्ग, ब्रैमैन, कोलोन, फ्रैंकफर्ट, म्यूनिच, डैंटिज, न्यूरैमबर्ग और ब्रैस्लो।

नैदरलैंडस में (जो अब हालैंड और बैलजियम के नाम से विख्यात है) ऐंटवर्प, ब्रुसैल्स और गैंट के व्यापारिक नगर मुख्य थे। इन नगरों का व्यापार बराबर बढ़ता जाता था। इंगलैंड में लंडन प्रधान नगर था, लेकिन उन दिनों वह न तो विस्तार और न व्यापार ही में योरप के बड़े-बड़े शहरों की बराबरी कर सकता था। हां, आक्सफर्ड और कैंब्रिज के विश्वविद्यालयों की महिमा, विद्या के केंद्र होने के कारण, दिनोंदिन बढ़ती जाती थी।

पूर्वीय योरप में वैनिस का नगर था, जो योरप के प्राचीनतम नगरों में से एक है। रूस में मास्को, कीव और नावगोराड के नगर प्रमुख थे।

इन नवोदित नगरों और प्राचीन ढंग के शाही नगरों में बड़ा अंतर था, जिसका ध्यान में रखना उचित है। योरप के इन नवोदित नगरों को किसी राजा या सम्राट् के कारण महत्व नहीं मिला था। इनकी महत्ता का मूल कारण था व्यापार, जिसके वे केंद्र थे। अतएव इन नगरों की शक्ति, सरदारों के बजाय, व्यापारी वर्गों के हाथ में रहती थी। ये व्यापारी नगर थे। इनके उत्थान का अर्थ था मध्यम श्रेणी के लोगों का अभ्युत्थान। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, मध्यम श्रेणी के लोगों की शक्ति निरंतर बढ़ती गई। वे यहां तक शक्तिशाली हो गए कि राजा और सरदारों तक से वे टक्कर लेने लगे। उन्होंने राजसत्ता तक छीन ली। लेकिन जिस समय की बात हम अभी कर रहे हैं, उसके बहुत दिनों बाद ये सब बातें हुईं।

ऊपर मैंने कहा है कि सभ्यता और नगर दोनों एक दूसरे के सहचर प्रतीत होते हैं। नगरों की वृद्धि के साथ विद्या की भी वृद्धि होती है। और उसी के साथ स्वाधीनता का भी भाव सबल होने लगता है। इसके विपरीत, देहातों में रहनेवाले लोग दूर-दूर बसते और प्रायः बहुत ही अंधविश्वासी होते हैं। वे आधिभौतिक और आधिदैविक घटनाओं से सशंकित रहते हैं। उन्हें कस कर मेहनत करनी पड़ती और विश्राम के लिए बहुत कम अवसर मिलता है। अतएव अपने स्वामियों की आज्ञाओं का उल्लंघन करना उनके लिए असंभव होता है। किंतु नगरों में बहुत-से आदमी एक साथ रहते हैं, उन्हें अधिक सभ्य और सुसंस्कृत जीवन बिताने के साधन प्राप्त होते हैं। साथ ही, पठन-पाठन, वाद-विवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना एवम् विचार-विनिमय के भी अवसर वहां सुलभ होते हैं।

अतएव मनसबदारी सरदारों और ताल्लुक़ेदारों के रूप में मूर्तिमती राजनीतिक सत्ता एवम् गिरजे के रूप में अभिव्यक्त धार्मिक सत्ता के विरुद्ध नगरों में स्वतंत्रता के भावों का उदय होने लगा। श्रद्धा का युग उठ गया, और संशय के युग का उदय हुआ। अब पोप और

गिरजे की सत्ता के प्रति अंध श्रद्धा का भाव लोगों में घटने लगा। हम देख चुके हैं कि फ्रेडरिक द्वितीय ने पोप के साथ कैसा व्यवहार किया था। आगे हम विरोध के इस भाव को उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पाएंगे।

१२ वीं सदी से विद्याध्ययन की ओर लोगों की प्रवृत्ति बराबर बढ़ती गई। उन दिनों योरप में पंडितों की भाषा लैटिन थी, और ज्ञान-लिप्सा की तृप्ति के लिए जिज्ञासु सुदूर विश्वविद्यालयों की यात्राएं किया करते थे।

१२६५ ई० प० में इटैलियन भाषा के विश्वविख्यात महाकवि, दांते अलीगिरी, * का जन्म हुआ। इसी समय, १३०४ ई० प० में, इटली के दूसरे महाकवि पैट्रार्क ने भी जन्म लिया था। इसके थोड़े दिन बाद इंगलैंड का आदिकवि, चासर, पैदा हुआ।

लेकिन ज्ञानोपार्जन की प्रवृत्ति के पुनरुत्थान से भी अधिक रोचक बात थी योरप के क्षितिज पर वैज्ञानिक प्रवृत्ति की उस क्षीण रेखा का परिस्फुटन, जो आगे चल कर अपनी ज्योति से सारे योरप को चकाचौंध करनेवाली थी। तुम्हें शायद मेरी यह बात याद होगी कि अरबों को विज्ञान से बहुत अनुराग था, और किसी अंश तक इस भाव से प्रेरित होकर उन्होंने काम भी शुरू किया था। लेकिन मध्यकालीन योरप में स्वच्छंद वैज्ञानिक अन्वेषण और प्रयोग की प्रवृत्ति का जीवित रहना कठिन था। ईसाई धर्म्म-संघ उसे कदापि नहीं पनपने देना चाहता था। किंतु अब, ईसाई धर्म्म-संघ के विरोध के होते हुए भी, यह वैज्ञानिक प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ने लगी। उन दिनों योरप के जिन महापुरुषों ने इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया, उनमें राजर बेकन-नामक एक अंगरेज विद्वान् भी था। यह महापुरुष १३ वीं सदी में पैदा हुआ था। वह आक्सफर्ड में निवास करता था।

* भाग के अंत में टिप्पणी देखिए।
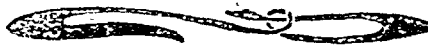
(६५)

अफ़गानों ने भारत पर हमला किया

जून २३, १९३२

कल तुम्हें जो पत्र मैं लिख रहा था, वह अधूरा ही पड़ा रहा। जब मैं लिखने बैठा, तब मुझे जेल और आसपास की किसी भी वस्तु की सुध-बुध न रह गई थी। मैं तो विद्युद्-गति से मध्यकालीन संसार में पहुँच गया था; लेकिन उससे भी अधिक तेज़ी के साथ मुझे वर्तमान की ओर लौटने और जेल का कटु अनुभव भोगने के लिए विवश होना पड़ा। मुझसे कहा गया कि ऊपर से आज्ञा आई है कि ममी और दिद्दाजी * से एक महीने तक मेरी मुलाक़ात न होने पाएगी। किसलिए ? यह मुझे नहीं बताया गया। क़ैदी को क्यों कोई किसी बात का कारण बताए ? दस दिन से वे देहरादून में आगामी मुलाक़ात के दिन की प्रतीक्षा कर रही हैं। अब उनकी सारी प्रतीक्षा निष्फल हो गई और उन्हें लौट जाना पड़ेगा। हमारे साथ इतनी सज्जनोचित विचारशीलता के साथ व्यवहार किया जाता है। ख़ैर, ख़ैर, हमें इन बातों की परवा न करनी चाहिए। यह सब कुछ तो हमारे दैनिक जीवन का अंग बन गया है; और जेल आख़िर जेल ही है। इन बातों को न भूलना ही अच्छा है।

इस तीव्र उत्तेजना के बाद वर्तमान को छोड़ कर भूतकाल की ओर लौटना मेरे लिए असंभव हो गया; लेकिन रात्रि के विश्राम के बाद मेरा चित्त अब कुछ सम्हल गया है। अतएव मैं फिर से पत्र को आरंभ करता हूँ। आओ, भारतवर्ष को लौट चलें। उससे बहुत दिनों तक हम विलग रह चुके हैं। आओ, देखें कि जब योरप मध्यकालीन युग के अंधकार से बाहर निकलने की चेष्टा कर रहा था; जब वहाँ की जनता मनसबदारी प्रथा, अव्यवस्था और अराजकता के बोझ से दबी जाती थी तथा पोप और सम्राट् आपस में लड़ रहे थे; जब योरप के देश साकार होने लगे थे और क्रूसेडों के समय में, ईसाई धर्म्म और इस्लाम में, प्रभुता के लिए संघर्ष हो रहा था; उस समय यहाँ भारत में क्या हो रहा था ? मध्य युग के प्रथम चरण में भारत की दशा की एक झलक तो हमें मिल चुकी है। हम सुलतान महमूद को उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित ग़ज़नी से उत्तरीय भारत के समृद्धिशाली प्रदेशों पर बाज़ की तरह टूटते और उनमें लूट-मार करते हुए देख चुके हैं। यद्यपि महमूद के हमले अत्यंत भीषण थे; परंतु उनके कारण भारत में कोई महत्त्व-पूर्ण स्थायी परिवर्त्तन नहीं हुआ। यह सच है कि भारत को, विशेष कर उत्तरीय भारत को, उसके आक्रमणों से भारी धक्का पहुँचा, और प्राचीनकाल के अनेक सुंदर स्मारकों एवं प्रासादों को उसने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया; लेकिन केवल सिंधु और पंजाब के कुछ भाग ही तक उसके राज्य का विस्तार था। शेष उत्तरीय भारत बहुत जल्द सम्हल गया और दक्षिणी भारत और बंगाल तो बिलकुल अछूते ही बने रहे।

* इंदिरा की नानी।

महमूद के बाद डेढ़ सौ वर्षों तक मुसलमानों को भारत पर अधिकार जमाने में बहुत ही कम सफलता मिली। बारहवीं शताब्दी के अंत में (अर्थात् ११८६ ई० प० के लगभग) उत्तर-पश्चिम से उमड़ कर आक्रमण की एक नवीन घटा भारत की ओर बढ़ी। अफ़गानिस्तान में एक अफ़गान सरदार का अभ्युदय हुआ, जिसने ग़जनो पर क़ब्ज़ा कर लिया और ग़ज़नवी साम्राज्य का अंत कर डाला। वह शिहाब-उद्-दीन ग़ूरी के नाम से प्रसिद्ध है। (ग़ूर अफ़गानिस्तान के एक छोटे से क़स्बे का नाम था।) ग़ूरी लाहौर पर चढ़ आया, और उस पर अपना अधिकार कर दिल्ली की ओर चल पड़ा। दिल्ली में इस समय पृथ्वीराज चौहान राज्य करता था। उसके झंडे के नीचे उत्तरीय भारत के अनेक राजा और सरदार इस नवीन आक्रमणकारी का सामना करने के लिए एकत्रित हुए; और उन्होंने ग़ूरी को पूर्ण रूप से परास्त कर दिया। लेकिन उसकी यह पराजय अल्पकालिक थी। अगले साल शिहाब-उद्-दीन एक बहुत बड़ी सेना लेकर फिर आ धमका; और इस बार उसने पृथ्वीराज को पराजित किया और मार डाला।

पृथ्वीराज इस समय तक एक लोकप्रिय वीर माना जाता है। उसके संबंध में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं और बहुत-से गीत उसकी प्रशंसा में गाए जाते हैं। इनमें से सब से प्रसिद्ध किंवदंती कन्नौज के राजा जयचंद की लड़की के अपहरण के संबंध में है; लेकिन इस अपहरण का उसे बहुत बड़ा मोल देना पड़ा। इस युद्ध में उसके बड़े-बड़े वीर सामंतों की जानें गईं; और इसी के कारण उत्तरीय भारत के एक शक्तिशाली राजा से उसका वैमनस्य हो गया। इस फूट और आपसी वैमनस्य ने मुसलिम आक्रमणकारियों की विजय का रास्ता बहुत सुगम बना दिया। ११९२ ई० प० में शिहाब-उद्-दीन ने अपनी पहली महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की, जिसके फल-स्वरूप भारत में मुसलिम साम्राज्य की नींव पड़ी। धीरे-धीरे मुसलमान पूर्व और दक्षिण की ओर फैलने लगे और अगले डेढ़ सौ वर्षों में (१३४० ई० प० में) दक्षिणी भारत के भी अधिकांश भाग पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया। किंतु कुछ दिनों बाद दक्षिण में उनकी शक्ति क्षीण होने लगी। वहां नए-नए राज्य स्थापित हो गए, जिनमें से कुछ तो मुसलमान और कुछ हिंदू थे। इन नवोदित रियासतों में विजयनगर के हिंदू साम्राज्य का उत्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सौ दो सौ वर्षों तक मुसलमानों के राज्य का विस्तार बराबर घटता गया। लेकिन सोलहवीं सदी के मध्य में जब अकबर महान् सिंहासन पर बैठा तब फिर एक बार मुसलमानों का सितारा चमक उठा और लगभग समस्त देश पर उनका अधिकार हो गया।

मुसलिम आक्रमणकारियों के आगमन के परिणाम-स्वरूप भारत में बहुत-से उलट-फेर हुए। याद रखना कि ये नवीन आक्रमणकारी अफ़गान थे। वे न तो अरब और न ईरान या पश्चिमी एशिया के सुसभ्य और सुसंस्कृत मुसलमान थे। सभ्यता में अफ़गान भारतीयों से बहुत पीछे थे। लेकिन उनमें नया जोश था और तत्कालीन भारत-वासियों से वे कहीं अधिक सजग थे। भारत तो पुरानी लीक को पीटता जाता था। वह अपरिवर्तनशाली और अप्रगतिशील होगया था। पुरानी रीति-नीति को वह पकड़ कर बैठ गया था। उनमें किसी तरह का सुधार वह नहीं करना चाहता था। इसी तरह, युद्ध

करने के उसके तरीक़े भी बहुत पिछड़े हुए थे। इसके विपरीत, अफ़गान कहीं अधिक सुसंघटित थे। अतएव वीरता और आत्मत्याग में किसी से कम न होने पर भी बूढ़े भारत को मुसलिम आक्रमणकारियों के सामने हार माननी पड़ी।

नवागंतुक मुसलमान एक तो प्रकृति ही से बहुत क्रूर और नृशंस थे; दूसरे वे ऐसे कर्मठ देश से आए थे, जहाँ कोमलता का विशेष मान न था। इसके साथ ही, यह भी बात थी कि वे लोग एक नवविजित देश में रहते थे, जहाँ चारो ओर शत्रु उन्हें घेरे रहते थे। लोग उनके विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाने को रोज़ ही तैयार रहते थे। बग़ावत का ख़तरा चौबीसो घंटे उनके सिर पर मँडराया करता था। भय से प्रायः क्रूरता और नृशंसता की उत्पत्ति होती है। अतएव जनता को डराने के लिए ये लोग भीषण नर-संहार किया करते थे। वास्तव में, यह संहार धर्म के नाम पर मुसलमानों द्वारा विधर्मी हिंदुओं की हत्या का प्रश्न न था। यह था एक विदेशी विजेता का पराजित के साहस को नष्ट कर देने का प्रश्न। क्रूरतापूर्ण घटनाओं की सफ़ाई देने के लिए लोग प्रायः धर्म को घसीट लाते हैं, लेकिन यह ठीक नहीं है। कभी-कभी धर्म की ओट में ऐसे कांड हो जाते थे; लेकिन उनके वास्तविक कारण तो राजनीतिक या सामाजिक ही होते थे। मध्य एशिया के जिन लोगों ने भारत पर चढ़ाई की थी, वे स्वदेश में भी अत्यंत उद्दंड और क्रूर होते थे। इस्लाम धर्म को ग्रहण करने के बहुत पहले से वे लोग उग्र और कठोर प्रकृतिवाले थे। अतएव एक नए देश को जीतने के बाद उसको अपने अधिकार में रखने का उन्हें एक ही तरीक़ा मालूम था। यह था आतंक का तरीक़ा।

लेकिन हम भारत को इन भीषण प्रकृति-वाले योद्धाओं को धीरे-धीरे शांत और सुसभ्य बनाते हुए देखते हैं। वे ऐसा अनुभव करने लगे कि वे इसी देश के निवासी थे, न कि विदेशी विजेता। उन्होंने इस देश की स्त्रियों के साथ विवाह करना शुरू कर दिया, और विजेता एवम् विजित का भेद-भाव धीरे-धीरे मिटने लगा।

तुम्हें यह बात रोचक मालूम होगी कि जिस महमूद गज़नवी से बढ़ कर कोई दूसरा विध्वंसकारी उत्तरीय भारत में नहीं आया और जो मूर्तिपूजकों का शत्रु और इस्लाम का समर्थक कहा जाता है, उसके भी पास हिंदुओं की एक सेना थी। इस सेना का सेनापति तिलक-नामक एक हिंदू था। तिलक और उसकी सेना को महमूद अपने साथ ग़ज़नी ले गया। इस सेना से उसे वहां के विद्रोही मुसलमानों को दबाने में काफ़ी मदद मिली। इस तरह तुम देखोगी कि महमूद का ध्येय महज़ विजय प्राप्त करना था। जिस तरह भारत में वह अपने मुसलिम सैनिकों की सहायता से मूर्तिपूजकों की हत्या करने को सदा तैयार रहता था; उसी तरह मध्य एशिया में अपने हिंदू सैनिकों की सहायता से मुसलमानों को मारने के लिए भी वह उद्यत रहता था।

इस्लाम ने भारत को जड़ से हिला दिया। एक ऐसे समाज में, जिसकी उन्नति का क्रम एकदम से रुक गया था, उसने फिर से जान फूंक दी और उसे प्रगति की ओर बढ़ने की उत्तेजना दी। हिंदू कला, जो निर्जीव और कुरुचिपूर्ण पुनरावृत्ति और गौण बातों पर

अत्यधिक ध्यान देने के कारण ठस हो गई थी, मुसलमानों के आगमन से उत्तरीय भारत में फिर पनप उठी। एक नवीन कला का आविर्भाव हुआ, जिसको भारतीय-मुसलिम कला कह सकते हैं। इस कला में शक्ति थी, सजीवता थी। प्राचीन परिपाटी में पले हुए भारतीय कला-विदों और शिल्पकारों को उन भावों और विचारों से, जिनको मुसलमान इस देश में लाए, उत्तेजना मिली। मुसलमानों के धर्म और जीवन-संबंधी दृष्टिकोण ने तात्कालिक शिल्प-निर्माण-कला को प्रभावित किया और उसमें फिर से सादगी और श्रेष्ठता के गुण पैदा कर दिए।

मुसलिम आक्रमण का पहला परिणाम यह हुआ कि बहुत से लोग दक्षिणी भारत को चले गए। महमूद के आक्रमणों और नर-संहार के बाद उत्तरीय भारत के लोग बर्बरता, क्रूरता और विनाश को इस्लाम का अंग समझने लगे। इसलिए जब फिर ऐसा भीषण हमला हुआ, जिसकी गति को रोकना असंभव हो गया, तब कुशल शिल्पकारों और उद्भट पंडितों के झुंड के झुंड दक्षिणी भारत में जा बसे। इसके कारण दक्षिणी भारत में आर्य्य संस्कृति को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

दक्षिणी भारत का कुछ हाल मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ। मैंने तुम्हें बताया था कि कैसे छठी शताब्दी के मध्य से लेकर दो सौ वर्षों तक पश्चिमी और मध्य भारत (महाराष्ट्र देश) में चालुक्यों का राष्ट्र सब से अधिक प्रभावशाली हो गया था। ह्युआन शाङ तत्कालीन चालुक्य सम्राट्, पुलकेशिन द्वितीय, से मिला था। चालुक्यों के बाद राष्ट्रकूट आए, जिन्होंने चालुक्यों को परास्त किया। आठवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी के अंत तक, अर्थात् २०० वर्षों तक, दक्षिण में राष्ट्रकूटों की धाक जमी रही। सिंध के अरब शासकों के साथ राष्ट्रकूटों की बड़ी मैत्री थी। उनके राज्य में अरब के अनेक व्यापारी और यात्री आते थे। ऐसे ही एक यात्री का यात्रा-विवरण हमें मिलता है। उसने लिखा है कि राष्ट्रकूटों का तात्कालिक (नवीं शताब्दी में) शासक, संसार के चार महासम्राटों में से एक था। उसका मत था कि बग़दाद का खलीफ़ा, और चीन तथा रोम (कॉनस्टेंटिनोपल) के सम्राट् संसार के अन्य तीन महासम्राट् थे। यह कथन मनोरंजक है, क्योंकि तत्कालीन एशिया में प्रचलित लोकमत का इससे हमें पता चलता है। राष्ट्रकूटों के राज्य के साथ उन दिनों के बग़दाद-साम्राज्य की, जब वह शक्ति और गरिमा के शिखर पर पहुँच चुका था, एक अरब यात्री द्वारा तुलना इस बात का द्योतक है कि महाराष्ट्र का राष्ट्र बहुत सबल और शक्तिसम्पन्न था।

राष्ट्रकूटों के बाद, दसवीं शताब्दी में (अर्थात् ९७३ ई० प० में) फिर चालुक्यों का राज्य स्थापित हुआ। यह दो सौ वर्षों से अधिक समय तक (११९० ई० प० तक) स्थायी रहा। एक चालुक्य राजा के विषय में एक महाकाव्य मिलता है। इस ग्रंथ में लिखा है कि उसको उसकी रानी ने स्वयंवर में वरा था। इस प्राचीन आर्य्य प्रथा को इतने दिनों बाद तक सजीव देख कर मनोरंजन होता है।

भारत के बिलकुल दक्षिण-पूर्वतम भाग में तामिल देश था। यहाँ तीसरी से नवीं शताब्दी तक, अर्थात् लगभग ६०० वर्षों तक, पल्लवों ने राज्य किया। छठी शताब्दी के मध्य से २०० वर्षों तक, दक्षिणी भारत में उन्हीं का बोलबाला था। तुम्हें याद होगा कि

इन्हीं पल्लवों ने मलयेशिया और पूर्वीय द्वीपों में उपनिवेशिकों को भेजने का प्रबंध किया था। पल्लव राज्य का राजधानी कांजी या कांजीवरम् में थी। यह उस समय का एक बड़ा सुंदर नगर था। आज दिन भी सुव्यवस्थित ढंग से निर्मित होने के कारण यह स्थान दर्शनीय है।

पल्लवों के वाद, दसवीं शताब्दी के आरंभ में, दुर्धर्ष चोलों का राज्य स्थापित हुआ। मैं तुम्हें राजराजा और राजेंद्र चोल के साम्राज्य का कुछ हाल बता चुका हूँ। मैं यह भी वता चुका हूँ कि इन राजाओं के पास विशाल नौ-सेनाएँ थीं, जिनके वल पर उन्होंने लंका, वर्मा तथा वंगाल में अपनी विजय-पताका फहरायी थी। इससे भी अधिक रोचक वात तो यह है कि तत्कालीन ग्राम-पंचायतें नियमित चुनाव द्वारा चुनी जाती थीं। इस प्रथा का सारा ढांचा ही नए तौर से रचा गया था। ग्राम-संघ विभिन्न कामों के लिए अलग-अलग उपसमितियां चुनते और जिला-पंचायतों के लिए प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते थे। कई जिलों का एक मंडल होता था। मैंने इन पत्रों में वहुधा ग्राम-पंचायतों का विस्तार-पूर्वक उल्लेख किया है; क्योंकि यही प्रणाली प्राचीन आर्य्य राज्य-व्यवस्था की मेरुदंड थी।

जिस समय उत्तरीय भारत में अफ़गानों के आक्रमण हो रहे थे, उस समय दक्षिणी भारत में चोलों की तूती बोलती थी। लेकिन थोड़े ही दिनों वाद चोलों का ह्रास होने लगा, और एक छोटी-सी रियासत, जो अव तक उनके अधीन थी, स्वतंत्र होकर वढ़ने लगी। यह नवीन राष्ट्र पांड्य राष्ट्र था, जिसकी राजधानी मदुरा में थी, और जिसके मुख्य वंदरगाह का नाम कयाल था। वैनिस का एक प्रसिद्ध यात्री, मारको पोलो, जिसके विषय में आगे चल कर मैं अधिक विस्तार से लिखूँगा, कयाल वंदरगाह से दो वार, १२८८ और १२९३ ई० प० में, गुजरा था। इस वंदरगाह का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि "वह एक विशाल और वैभवशाली नगर" था, जहाँ अरव और चीन के जहाज़ों की भीड़ लगी रहती थी। यह नगर अपने विस्तृत और सुसमृद्ध व्यापार के कारण वहुत प्रसिद्ध था। मारको पोलो स्वयं चीन से यहां तक जहाज़ पर आया था।

मारको पोलो हमें वताता है कि भारत के उत्तरीय तट पर उत्तम मलमल तैयार होती थी। यह मलमल इतनी वारीक़ होती थी कि देखने में वह "मकड़ी के जाले के तंतुओं" की वनी हुई मालूम होती थी। मारको ने लिखा है कि मदरास के उत्तर-पूर्वीय तट पर स्थित तैलगू देश में एक महिषी राज्य करती थी। इसका नाम रुद्रमणिदेवी था। इसने ४० वर्ष तक राज्य किया। मारको ने इसकी वड़ी प्रशंसा की है।

मारको से हमें एक और रोचक वात का पता लगता है कि समुद्र के द्वारा अरव और ईरान से दक्षिणी भारत में वहुत वड़ी संख्या में घोड़े विक्री के लिए आया करते थे। दक्षिण का जल-वायु घोड़ों की नस्ल पैदा करने के लिए उपयुक्त न था। यह कहा जाता है कि भारत के मुसलिम आक्रमणकारियों के श्रेष्ठ योद्धा होने का एक यह भी कारण था कि उनके पास हिंदुओं की अपेक्षा अच्छे घोड़े थे। एशिया के जिन स्थानों में उत्तम जाति के घोड़े पैदा होते हैं, उन सव पर मुसलमानों का अधिकार था।

तेरहवीं शताब्दी में—चोलों के ह्रास के बाद—पांड्य राष्ट्र ही प्रमुख तामिल राष्ट्र बन गया। चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में (१३१० ई० प० में) मुसलिम आक्रमण की नोक दक्षिण तक पहुँच गई और उसकी चोट से आहत होकर पांड्य राष्ट्र समाप्त हो गया।

मैंने इस पत्र में दक्षिणी भारत के इतिहास का पर्य्यालोचन किया है। ऐसा करने में संभवतः पहले कही हुई बातों को मैं दोहरा गया हूँ। लेकिन विषय कुछ पेचीदा है और लोग प्रायः पल्लवों, चालुक्यों, चोलों, आदि, के संबंध में भटक जाते हैं। लेकिन यदि तुम दक्षिणी भारत के इतिहास को समष्टि-रूप से देखोगी तो तुमको उसकी मोटी-मोटी रूप-रेखाओं को अपने स्मृति-पटल पर अंकित करने में अधिक कठिनाई न होगी। तुम्हें याद होगा कि अशोक का साम्राज्य (दक्षिण के एक क्षुद्र टुकड़े को छोड़ कर) समस्त भारत-वर्ष, अफ़गानिस्तान और मध्य एशिया के एक खंड में विस्तृत था। उसके बाद, दक्षिण में आंध्र-शक्ति का उदय हुआ, जिसका आसमुद्र समस्त दक्षिण पर आधिपत्य हो गया और ४०० वर्ष तक वह ज्यों-का-त्यों अटल बना रहा। यह उन दिनों की बात है, जब उत्तर में कुशाणों का सरहद्दी साम्राज्य था। तैलगू आंध्रों का जब ह्रास हो गया तब पूर्वीय तट और दक्षिण में तामिल पल्लवों की तूती बोलने लगी। बहुत काल तक वे राज्य करते रहे। उन्होंने मलयेशिया में भारतीय उपनिवेश बसाए। छः सौ वर्षों तक राज्य करने के बाद वे अंतर्धान हो गए, और उनके स्थान में चोलों ने अपनी सत्ता स्थापित की। चोलों ने सुदूर देशों को जीता और अपने बेड़ों से समुद्र का शासन किया। लेकिन तीन सौ वर्षों के बाद वे भी रंगमंच से हट गए और पांड्य राष्ट्र का अभ्युदय होने लगा। मदुरा का नगर दक्षिण में संस्कृति का मुख्य केंद्र बन गया। कयाल एक बड़ा बंदरगाह था, जहाँ से सुदूर देशों के साथ बहुत बड़ा व्यापार होता था।

दक्षिण और पूर्व के संबंध में इतना पर्याप्त होगा। पश्चिम में, महाराष्ट्र देश में पहले चालुक्य आए, उनके बाद राष्ट्रकूटों ने शासन किया और फिर चालुक्यों के हाथ में शक्ति चली गई।

यह सब केवल नाममात्र हैं। लेकिन उन विस्तृत कालावधियों का तो विचार करो, जिनमें ये राष्ट्र फलते-फूलते रहे और सभ्यता का विकास हुआ। मालूम होता है, इन राष्ट्रों में आभ्यंतरिक बल था, जिसके कारण योरप की रियासतों की अपेक्षा वे अधिक समय तक जीवित बने रहे। लेकिन सामाजिक संघटन के दिन पूरे हो गए थे। उसकी दृढ़ता नष्ट हो चुकी थी। अतएव ज्योंही चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में मुसलिम सेनाएँ दक्षिण में पहुँचीं त्योंही सामाजिक ढाँचा ढह पड़ा।

(६६)

दिल्ली के गुलाम सुलतान

जून २४, १९३२

मैं तुम्हें गजनी के महमूद का कुछ हाल बता चुका हूँ; और कवि फ़िरदौसी के संबंध में भी, जिसने महमूद के कहने पर फ़ारसी भाषा में 'शाहनामा' की रचना की थी, मैंने कुछ लिखा है। लेकिन महमूद के समय के एक दूसरे प्रसिद्ध व्यक्ति के विषय में, जो उसके साथ भारत में आया था, अभी तक मैंने तुम्हें कुछ भी नहीं बताया। यह अलबरूनी नामक एक बहुश्रुत विद्याव्यसनी पंडित था। उसमें और तात्कालिक उद्दंड एवम् असहिष्णु मुसलिम योद्धाओं में बहुत बड़ा अंतर था। उसने सारे भारत का भ्रमण किया; और इस नवीन देश और इसके निवासियों के संबंध में जानकारी प्राप्त करने की वह निरंतर चेष्टा करता रहा। भारतीय दृष्टिकोण को समझने की उसकी इतनी उत्कट लालसा थी कि उसने संस्कृत पढ़ना सीखा, हिंदुओं के मुख्य-मुख्य ग्रंथों का अध्ययन किया और भारतीय दर्शन, विज्ञान और कलाओं का—जिस रूप में उनकी यहां पढ़ाई होती थी उस रूप में—उसने अनुशीलन और मनन किया। भगवद्‌गीता से उसको विशेष प्रेम हो गया था। उसने दक्षिणी भारत के चोला राज्य की यात्रा की, और वहां के सिंचाई-संबंधी साधनों को देख कर वह चकित रह गया। उसकी भारत-यात्रा का विवरण प्राचीन काल के उन कतिपय यात्रा-विषयक महाग्रंथों में से एक है, जो आज दिन हमें उपलब्ध हैं। संहार, विनाश और असहिष्णुता के उस अशांति-पूर्ण युग में वह पर्वत-शृंग के समान हमारे ध्यान को विशिष्ट रूप से अपनी ओर आकर्षित करता है। धीर, गंभीर और ज्ञानव्रतधारी, वह निरीक्षण और अध्ययन में रत और सत्य की खोज में मस्त रहता था।

जिस शिहाब-उद्-दीन-नामक अफ़गान ने पृथ्वीराज को हराया था, उसकी मृत्यु के पश्चात् दिल्ली के राजसिंहासन पर कई सुलतान बैठे, जो गुलाम सुलतानों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें से पहले सुलतान का नाम कुतुब-उद्-दीन था। वह शिहाब-उद्-दीन का गुलाम रह चुका था। गुलाम उस युग में उच्च पदों को प्राप्त कर सकते थे। बढ़ते-बढ़ते कुतुब-उद्-दीन दिल्ली का प्रथम सुलतान बन गया। उसके बाद भी कई ऐसे सुलतान हुए, जो पहले गुलाम रह चुके थे। इसीलिए इस राजवंश का नाम ही गुलाम राजवंश पड़ा। इस वंश के सभी सुलतान थोड़े-बहुत क्रूर और उद्दंड होते थे। उनके शासन में विनाश और प्रजापीड़न साथ-साथ चलते थे। उन्हें इमारतें बनाने का बड़ा शौक़ था, और भवनों की विशालता उन्हें बहुत पसंद थी। कुतुब-उद्-दीन ने कुतुबमीनार को बनाना आरंभ किया। दिल्ली की निकटवर्ती इस बड़ी मीनार को तुम अच्छी तरह जानती हो। उसके उत्तराधिकारी, इलतमिश, ने इस मीनार को पूरा कराया और उसके पास ही कई सुंदर महराबें बनवाईं, जो अब तक मौजूद हैं। इन इमारतों में जो

मसाला लगा है, वह पुरानी भारतीय इमारतों, विशेष कर मंदिरों, से लिया गया था। इनको बनानेवाले कारीगर भी भारतीय थे। लेकिन, जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, वे मुसलिमों द्वारा संचारित नए भावों से बहुत-कुछ प्रभावित हुए थे।

महमूद गज़नवी से लेकर भारत का प्रत्येक विजेता अपने साथ बहुत-से भारतीय कारीगरों और शिल्पकारों को ले गया। इस प्रकार मध्य एशिया में भारतीय शिल्पकला का प्रभाव फैल गया।

अफ़ग़ानों ने बंगाल और बिहार को बड़ी आसानी से जीत लिया। ये लोग बड़े साहसी थे। साहस के साथ उन्होंने राजप्रासाद के द्वारपालों पर अचानक हमला कर दिया और उन्हें धर दबाया। साहस से प्रायः लाभ ही होता है। बंगाल की यह विजय बहुत-कुछ वैसी ही आश्चर्य-जनक है, जैसी अमेरिका में कारटेज़ और पिज़ारो की विजय-कथाएं।

इलतमिश के शासन-काल में (१२११ से १२३६ ई० प० तक) भारत की सीमा पर भयंकर काली घटाएँ उमड़ आईं। ये चंगीज़ खाँ के मंगोल सैनिकों की घटाएं थीं। चंगीज़ अपने शत्रु का पीछा करता हुआ सिंधु नदी तक चला आया था। किंतु वह वहाँ से आगे न बढ़ा। भारत उससे बच गया। इस घटना के लगभग दो सौ वर्ष बाद उसी के एक वंशज, तैमूर, ने भारत में आकर भीषण विध्वंस और संहार का तांडव रचा। यद्यपि चंगीज़ ख़ुद नहीं आया; किंतु बहुत-से मंगोल भारत पर हमले करते रहे। लाहौर तक वे बढ़ भी आए थे। उनकी वजह से जनता भयभीत और सशंकित रहती थी। कभी-कभी सुलतान भी डर कर उन्हें देश छोड़ कर चले जाने के लिए घूस देता था। कई हज़ार मंगोल पंजाब में बस गए।

इन सुलतानों में रज़िया नाम की एक औरत भी गद्दी पर बैठी थी। वह इलतमिश की लड़की थी। मालूम होता है कि वह बहुत योग्य और वीर थी। लेकिन भीषण अफ़ग़ान सरदारों और उनसे भी अधिक भीषण मंगोल आक्रमणकारियों के कारण उसके दिन बहुत संकट में कटे।

१२९० ई० प० में ग़ुलाम सुलतानों की गद्दी का अंत हो गया। इसके बाद अला-उद्-दीन ख़िलजी का अभ्युदय हुआ। अला-उद्-दीन अपने चचा को, जो उसका ससुर भी था, मार कर गद्दी पर बैठा था। उसने अपने उन तमाम मुसलमान अमीरों को भी मरवा डाला, जिनकी राजभक्ति के विषय में उसे संदेह था। मंगोलों के विद्रोह की आशंका से भयभीत होकर उसने आज्ञा निकाली कि उसके राज्य में एक भी मंगोल जीता न बचने पाए, जिसमें "दुनिया में इस जाति का कोई नामलेवा भी न रह जाय।" इस प्रकार २० या ३० हज़ार मंगोल, जिनमें से अधिकांश निर्दोष थे, मार डाले गए।

मुझे भय है कि नर-हत्याओं का बारंबार उल्लेख तुम्हें कदापि रुचिकर न होगा। इतिहास के सुदीर्घ दृष्टिकोण से भी इनका कोई विशेष महत्व नहीं है। इस पर भी इनसे इस बात को हृदयंगम करने में सहायता मिलती है कि उन दिनों उत्तरीय भारत की दशा कितनी अव्यवस्थित और अपरिष्कृत थी। किसी अंश में समाज बर्बरता की ओर लौट रहा था। जहां इस्लाम ने भारत को प्रगति की ओर प्रोत्साहित किया, वहां मुसलिम अफ़ग़ान बर्बरता

का कुछ अंश अपने साथ लेते आए। बहुत-से लोग इन दोनों बातों को एक समझने लगते हैं, लेकिन वास्तव में दोनों को अलग-अलग रखना चाहिए।

अला-उद्-दीन भी दूसरों की तरह असहिष्णु था। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि भारत के इन मध्य एशियाई शासकों का दृष्टिकोण अब बदलने लगा था। वे अब भारत ही को अपना स्वदेश समझने लगे थे। यहां बस कर अब वे विदेशी नहीं रह गए थे। अला-उद्-दीन ने एक हिंदू महिला के साथ शादी की और उसके लड़के का भी विवाह एक हिंदू महिषी के साथ हुआ था।

ऐसा मालूम होता है कि अला-उद्-दीन के ज़माने में राज्य-व्यवस्था को ठीक ढंग से संघटित करने की चेष्टा की गई थी। सेना के आने-जाने के लिए सड़कों की विशेष रूप से देखभाल की जाती थी। अला-उद्-दीन को अपनी सेना की विशेष रूप से चिंता रहती थी। उसने अपनी सेना के बल को बहुत-कुछ बढ़ाया, और उसके द्वारा उसने गुजरात के बहुत बड़े भाग को जीता। दक्षिण से उसका सेनापति बहुत धन-दौलत लेकर लौटा। कहा जाता है कि वह अपने साथ ५० हज़ार मन सोना, अतुलित रत्न-राशि और मोतियों की मालाएँ, २० हज़ार घोड़े और ३१२ हाथी लाया था।

चित्तौर वीरोचित शृंगार और सौजन्य का केंद्र था। वहाँ के सूरमा बड़े साहसी थे। लेकिन उन दिनों भी वह पुरातन का पुजारी और लड़ाई के तिरस्कृत साधनों का अनुयायी था, अतएव अला-उद्-दीन की रण-कुशल सेना से वह पराजित हो गया। १३०३ ई० प० में चित्तौर का विध्वंस हुआ। लेकिन उसके ध्वंस के पूर्व गढ़ के नर-नारियों ने पुरानी प्रथा के अनुसार जौहर की हृदय-विकंपी रस्म को पूरा किया। इस प्रथा के अनुसार जब युद्ध में हार साफ़ दिखाई देने लगती और बचाव का कोई दूसरा मार्ग नहीं सुझाई देता, तब पुरुष क़िले से बाहर निकल कर लड़ते हुए मैदान में मर जाते और स्त्रियां चिता में कूद कर भस्म हो जातीं थीं। विशेषकर स्त्रियों के लिए यह बड़ी ही भयंकर प्रथा थी। कहीं अच्छा होता, यदि स्त्रियाँ भी खड्गहस्त होकर रण-क्षेत्र में मौत को ललकारतीं। लेकिन इस सब के होते हुए भी दासता और अधःपतन की अपेक्षा मृत्यु अधिक वांछनीय है। उन दिनों की लड़ाई का परिणाम ही दासता और अधःपतन था।

उधर मूल देशवासियों, हिंदुओं, को मुसलमान बनाने का भी क्रम जारी था। लेकिन यह काम तेज़ी से नहीं हुआ। कुछ ने अपने धर्म्म को बदला, क्योंकि उन्हें इस्लाम धर्म्म पसंद आया; कुछ ने भय के कारण ऐसा किया; और कुछ इसलिए मुसलमान हो गए क्योंकि जीते जुँवाड़ी का साथी बनने की इच्छा स्वाभाविक है। लेकिन इस मत-परिवर्तन का प्रधान कारण सांपत्तिक था। जो लोग मुसलमान न थे, उन्हें एक विशेष राजकर देना पड़ता था, जिसे जजिया कहते थे। ग़रीबों को इसके कारण बहुत कष्ट होता था। इस राजकर से महज़ छुटकारा पाने ही के लिए, बहुत लोगों ने अपना धर्म्म बदल डाला। उच्च जातियों को राज-दरबार में संमान और उच्च पद की लालसा ने इस्लाम को ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। अला-उद्-दीन का प्रसिद्ध सेनापति, मलिक काफ़ूर, जिसने दक्षिण की विजय की थी, इसी प्रकार हिंदू से मुसलमान हुआ था।

दिल्ली के एक दूसरे सुलतान का हाल मैं तुम्हें ख़ास तौर से बताना चाहता हूँ। वह एक बहुत ही अपूर्व व्यक्ति था। उसका नाम था मुहम्मद बिन तुग़लक। वह अरबी और फ़ारसी भाषाओं का उद्भट विद्वान् और परिष्कृत पंडित था। उसने दर्शन और तर्कशास्त्र, यहां तक कि ग्रीक दर्शनशास्त्रों तक, का अध्ययन किया था। गणित, विज्ञान और आयुर्वेद का भी उसे थोड़ा बहुत ज्ञान था। वह बहुत ही वीर और अपने समय का अद्वितीय पंडित था। उस युग का वह, वास्तव में, अचंभा था। लेकिन यह अद्वितीय महापुरुष नृशंसता में राक्षस को भी मात करता था। ऐसा मालूम होता है कि वह पूरा पागल था। अपने बाप को मार कर वह गद्दी पर बैठा। ईरान और चीन को जीतने के संबंध में उसके विचार बड़े विलक्षण थे। जैसा स्वाभाविक था, उसके ये विचार निष्फल सिद्ध हुए। लेकिन उसका सब से विख्यात कार्य्य था राजधानी, दिल्ली, को नष्ट-भ्रष्ट कर देने का उसका संकल्प। इसका कारण यह था कि उस नगर के कुछ निवासियों ने गुमनाम पर्चों में उसकी नीति की आलोचना करने की धृष्टता की थी। उसने आज्ञा निकाली कि राजधानी दिल्ली से उठाकर देवगिरि (जो अब हैदराबाद रियासत के अंतर्गत है) ले जाई जाय। इस नवीन स्थान का नाम उसने दौलताबाद रक्खा। दिल्ली के नागरिकों को कुछ मुआवज़ा दिया गया और उसके बाद हर एक को आज्ञा दी गई कि तीन दिन के अंदर शहर खाली कर दो। यह हुक्म सब पर लागू था।

बहुत-से लोग शहर छोड़ कर भाग गए। कुछ छिप गए और जब वे पकड़े गए, तब उन्हें बड़ी निर्दयता के साथ सज़ा दी गई। इनमें से एक अंधा था और दूसरे को लकवा मार गया था। दिल्ली से दौलताबाद का ४० दिन का रास्ता था। इसीसे इसकी कल्पना की जा सकती है कि इस यात्रा में लोगों को कैसे भयंकर संकट का सामना करना पड़ा होगा; न जाने कितने आदमी मार्ग ही में गिर कर मर गए होंगे।

और दिल्ली के नगर की क्या दशा हुई? दो वर्ष बाद मुहम्मद बिन तुग़लक ने दिल्ली को फिर से बसाने की कोशिश की। लेकिन इसमें वह सफल न हुआ। एक प्रत्यक्षदर्शी के शब्दों में, उसने पहले उस नगर को "निरानिर उजाड़खंड" बना डाला था। किसी बाग़ को थोड़े समय में उजाड़खंड बना देना तो संभव है; लेकिन किसी उजड़ी हुई ज़मीन को फिर से उद्यान में परिवर्तित करना खेल नहीं है। अफ़्रीका का एक मूर यात्री, इब्न बतूता, जो सुलतान के साथ था, लौट कर दिल्ली गया था। उसका कहना है कि "विश्व में यह सब से बड़ा नगर है। जब हमने इस राजधानी में प्रवेश किया, तब उसकी वह दशा थी जिसका वर्णन हो चुका है। वह निर्जन, परित्यक्त, बस्ती थी। उसमें बहुत थोड़े से आदमी रहते थे।" एक दूसरे व्यक्ति ने लिखा है कि यह नगर ८ या १० मील तक फैला हुआ था। उसका कहना है कि "सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। यह नगर इतना अधिक उजाड़ डाला गया था कि एक भी बिल्ली या कुत्ता नगर के प्रासादों, राजमहलों या पड़ोस की बस्तियों में न बचा था।"

यह पागल २५ साल तक सुलतान रहा। १३५१ ई० प० में इसके शासन का अंत हुआ। यह एक आश्चर्य-जनक समस्या है कि किस हद तक प्रजा अपने शासकों की दुष्टता, नृशंसता

और अयोग्यता को सहती जाती है। लेकिन प्रजा की दासवृत्ति भी मुहम्मद-बिन-तुग़लक़ के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से न बचा सकी। उसका ऊल-जलूल योजनाओं और राजकरों के भारी बोझ से सारा देश बरबाद हो गया। बार-बार अकाल पड़ने लगे, और अंत में विद्रोह की ज्वाला भभक उठी। मुहम्मद के जीवन-काल ही में, १३४० ई० प० से, साम्राज्य के बड़े-बड़े सूबे स्वतंत्र होने लगे थे। बंगाल स्वाधीन हो गया। दक्षिण में कई रियासतें स्थापित हो गईं। इन सब में प्रमुख विजयनगर की हिंदू रियासत थी, जिसका उदय १३३६ ई० प० में हुआ। दस साल के अंदर ही इसकी गणना दक्षिणी भारत की बड़ी रियासतों में होने लगी।

दिल्ली के पास तुम तुग़लक़ाबाद के खंडहरों को देख सकती हो। इस नगर को मुहम्मद तुग़लक के पिता ने बनाया था।
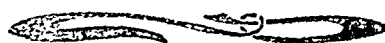
(६७)

चंगीज़ खाँ ने एशिया और योरप को जड़ से हिला दिया

जून २५, १९३२

पिछले कई पत्रों में मैंने मंगोलों का उल्लेख करते हुए उस आतंक और संहार की ओर इशारा किया है, जिसके वे मूल कारण थे। चीन में सुङ राजवंश का वृत्तांत मंगोलों के आगमन तक पहुँच गया है। पश्चिमी एशिया में भी मंगोलों से हमारी मुठभेड़ हो चुकी है, और वहां की प्राचीन पद्धति को नष्ट होते हमने देखा है। भारत में गुलाम राजवंश के सुलतान इस मंगोल-रूपी आपदा की चपेट से बच तो गए थे; लेकिन इस पर भी मंगोलों ने भारत में काफ़ी तहलका मचा दिया था। मालूम होता है कि मंगोलिया के इन वनचरों ने समस्त एशिया की गति को रोक कर न सिर्फ़ समस्त एशिया किंतु आधे योरप को भी बंदी बना कर धराशायी कर दिया था। कौन थे ये विस्मयोत्पादक लोग, जिन्होंने अकस्मात् प्रकट हो कर संसार को स्तंभित कर दिया। शक, हूण, तुर्क और तातार, जो सब मध्य एशिया में प्रकट हुए थे, इसके पहले ही अपने इतिहास-प्रसिद्ध कार्य्य-कलाप समाप्त कर चुके थे। इनमें से कुछ जातियाँ तो इस समय तक शक्तिशालिनी बनी थीं। पश्चिमी एशिया में सेलजुक तुर्क थे; उत्तरीय चीन और दूसरे प्रदेशों में तातार थे। लेकिन मंगोलों ने अभी तक कोई उल्लेखनीय काम नहीं किया था। पश्चिमी एशिया में, संभवतः, किसी को भी उनका कुछ भी हाल मालूम न था। उनकी भी मंगोलिया की अनेक जातियों में गणना होती थी। उनके ऊपर किन-नामक तातारों का शासन था। ये ही वे किन हैं, जिन्होंने चीन के उत्तरीय भाग को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया था।

अकस्मात् मंगोलों की शक्ति बढ़ती हुई दिखाई देने लगी। उनकी बिखरी हुई जातियाँ आपस में मिल कर एक हो गईं। उन्होंने अपना एक नेता चुना, जिसे वे प्रतापी खान कहते थे। उन्होंने शपथ उठाई कि उस नेता के प्रति उनकी भक्ति सदा अटल रहेगी और सभी उसकी आज्ञा का हर तरह से पालन करेंगे। उसके नेतृत्व में उन्होंने पैकिंग पर चढ़ाई की और किन-साम्राज्य को नष्ट कर डाला। वे पश्चिम की ओर बढ़ गए और उनके मार्ग में जो भी बड़े-बड़े राज्य पड़े, उनको उन्होंने समूल उखाड़ फेंका। वे रूस में गए और उसे परास्त कर उन्होंने अपने अधीन कर लिया। इसके बाद उन्होंने बग़दाद और उसके साम्राज्य को पूर्ण रूप से नष्ट कर डाला। ठेठ पोलैंड और मध्य योरप तक वे बढ़ गए। उनकी गति को रोकनेवाला कोई न था। भारत तो दैवयोग ही से इस बवंडर से बाल-बाल बचा। इस बात की कल्पना की जा सकती है कि इस ज्वालामुखी के विस्फोट से एशिया और योरप की दुनिया कितनी चकित और स्तंभित हो उठी होगी। मंगोलों का आक्रमण एक ऐसी आधिभौतिक महाव्याधि अथवा भीषण भूकंप के समान मालूम होता रहा होगा, जिसके सामने मनुष्य की एक भी नहीं चलती था।

क्या स्त्री, क्या पुरुष, सभी मंगोल वलिष्ठ होते थे। मंगोलिया के ये वनचर क...
के अभ्यस्त थे। उत्तरीय एशिया के विस्तीर्ण स्टेपे-प्रदेशों में—घास के सुविस्तृत मैदानों में—इन लोगों के निवास-स्थान थे। वहाँ ये लोग तंबुओं में रहा करते थे; लेकिन उनकी अपूर्व शक्ति तथा उनके कर्मठ जीवन, दोनों ही, अकारथ जाते, यदि उनकी जाति में उस अद्भुत महापुरुष का जन्म न हुआ होता जो चंगीज़ ख़ाँ के नाम से विख्यात है। वह ११५५ ई० प० में पैदा हुआ था और उसका असली नाम तिमुचिन था। जब वह बहुत ही छोटा था तब उसके बाप, एसुगेई बगातुर, की मृत्यु हो गई थी। मैं यहाँ पर इस बात का भी उल्लेख कर देना चाहता हूँ कि बगातुर मंगोल सरदारों का एक लोकप्रिय नाम था। इस शब्द का अर्थ है वीर। मेरा अनुमान है कि उर्दू का 'बहादुर' इसी शब्द से निकला है।

बाप की मृत्यु के समय चंगीज़ केवल १० वर्ष का बालक था, और उसे कोई सहायता देनेवाला न था; परंतु वह बराबर प्रयत्न करता रहा और अंत में सफल-मनोरथ हुआ। पग-पग वह बढ़ता गया और अंत में मंगोलों की बड़ी पंचायत ने—जिसे कुरुलतई कहते थे—उसको अपना प्रतापी ख़ान या कगन अथवा सम्राट् निर्वाचित किया। इसके कुछ ही साल पहले उसको चंगीज़ की उपाधि मिल चुकी थी।

'मंगोल जाति का गुप्त इतिहास'-नामक ग्रंथ में, जो तेरहवीं शताब्दी में लिखा गया और चौदहवीं शताब्दी में चीन में प्रकाशित हुआ था, इस चुनाव का वर्णन दिया है।......"और इस प्रकार फ़ेल्ट के ऊनी तंबुओं में रहनेवाली सब जातियाँ एक शासक के अधीन हो गईं। तब 'चीता'-नामक संवत्सर में ओनन नदी के उद्गम-स्थान पर वे सब जमा हुईं और श्वेत ध्वजा को नौ पादों पर फहरा कर उन्होंने चंगीज़ को 'कगन' की उपाधि दी।"

उस समय चंगीज़ ५१ वर्ष का था, जब वह प्रतापी ख़ान या कगन के पद पर पहुँचा। उसकी उच्छृंखल जवानी को बीते बहुत दिन हो चुके थे। बहुत-से लोग तो ढलती हुई उम्र में शांति और विश्राम के लोभी हो जाते हैं। किंतु चंगीज़ की विजय-लीला का श्रीगणेश इसी परिपक्वावस्था में हुआ था। यह ध्यान देने योग्य बात है; क्योंकि अनेक महाविजेताओं की विजय-लीला उनकी यौवनावस्था ही में समाप्त हो जाती है। यह घटना हमें इस बात की भी याद दिलाती है कि चंगीज़ ने महज़ जवानी के जोश में योरप के एक तट से दूसरे तट की दौड़ नहीं लगाई थी। वह सजग और विचार-शील वयोवृद्ध पुरुष था, और जिस बड़े काम में वह हाथ लगाता था, उसको करने के पहले वह अच्छी तरह सोच-विचार कर पूरी-पूरी तैयारी कर लेता था।

मंगोल वनचर थे, जिन्हें नगरों और नागरिक जीवन से घृणा थी। कुछ लोगों की धारणा है कि वे अवश्य ही बर्बर रहे होंगे; क्योंकि वे वनचर थे। यह भ्रांति-मूलक विचार है। उन्हें निस्संदेह बहुत-सी नागरिक कलाओं का कुछ भी ज्ञान न था; लेकिन उन्होंने जीवन-क्रम का अपना एक निराला ढंग बना लिया था। उनका संघटन बहुत ही पेचीदा था। यदि रणक्षेत्र में उन्होंने बहुत-सी लड़ाइयाँ जीतीं तो इसका कारण यह न था कि उनकी बहुत बड़ी संख्या थी। उनकी विजयों के आधार-स्तंभ थे रण-संचालन में उनका नैपुण्य

और उनका जातीय संघटन। लेकिन उनकी विजयों का मुख्य कारण था चंगीज़ का अपूर्व रण-कौशल ; क्योंकि चंगीज निस्संदेह इतिहास में रण-कला का सर्वश्रेष्ठ आचार्य्य और नेता हुआ है। सिकंदर और सीज़र उसके सामने बिलकुल बच्चे प्रतीत होते हैं। चंगीज़ स्वयमेव न केवल एक बहुत बड़ा सेनानायक था ; किंतु उसने अपने बहुत-से सेनापतियों को भी सिखा-पढ़ा कर नामी सेना-नायक बना दिया। स्वदेश से हज़ारों मील दूर, शत्रुओं और विद्रोही प्रजा से घिरे हुए, वे लड़ते और बहुत बड़ी-बड़ी शत्रु-सेनाओं पर, जो संख्या में इनसे बढ़ी-चढ़ी होती थीं, विजय प्राप्त करते थे।

जब चंगीज़ एशिया और योरप को अपने पैरों के नीचे कुचलता हुआ आगे बढ़ रहा था, उस समय उनके देशों के नक़्शों की क्या शक्ल थी ? मंगोलिया के पूर्व और दक्षिण में चीन कई टुकड़ों में छिन्न-भिन्न हो चुका था। दक्षिणी चीन में सुङ-साम्राज्य था, जिस पर दक्षिणी सुङ शासन करते थे। उत्तर में किन या सुनहले तातारों का साम्राज्य था, जिसकी पेकिंग में राजधानी थी। इन्हीं तातारों ने सुङों को उत्तर से खदेड़ भगाया था। पश्चिम में, गोबी मरुस्थल और उसके पारवाले प्रदेशों में सिया या टांगूटों का साम्राज्य था। यहां भी वनचरों का राज्य था। भारत में हम देख चुके हैं कि उन दिनों दिल्ली में ग़ुलाम सुलतान शासन कर रहे थे। ईरान और इराक़ में ख्वारज़्म या ख़ीवा का विशाल मुसलिम राज्य था, जो भारत की सीमा तक विस्तृत था। इसकी राजधानी समरकंद में थी। इस राज्य के पश्चिम में सेलजुक तुर्क थे, और मिस्र तथा फ़िलिस्तीन में सलादीन के उत्तराधिकारी राज्य कर रहे थे। बग़दाद के आसपास सेलजुक तुर्कों की संरक्षता में खलीफ़ा शासन करता था।

यह युग उत्तरकालीन क्रूसेडों का युग था। होहैनस्टाफ़ेन का फ़्रेडरिक द्वितीय, जो "संसार का चमत्कार" के नाम से प्रसिद्ध था, पुनीत रोमन साम्राज्य का सम्राट् था। इंगलैंड में यह युग मेगना चार्टा और उसके उत्तरकाल का युग था। फ़्रांस में लुई नवम राज्य करता था। वह क्रूसेडों में सम्मिलित होकर फ़िलिस्तीन गया था, जहाँ तुर्कों ने उसे बंदी बना लिया, और बाद में बहुत धन देने पर वह छूटा। पूर्वीय योरप में रूस था, जो दो राष्ट्रों में विभक्त था—उत्तर में नावगोराड और दक्षिण में कीफ़। रूस और पुनीत रोमन साम्राज्य के बीच में हंगरी और पोलैंड थे। बिजैंटियन साम्राज्य अब तक कानस्टैंनटिनोपल के समीपस्थ प्रदेशों तक सीमित था।

चंगीज़ ने विजय-प्राप्ति के लिए बहुत सोच-समझ कर तैयारी की। उसने अपनी सेना का सुंदर संघटन किया। सब से अधिक उसने अपने घोड़ों को सुशिक्षित बनाने की चेष्टा की ; क्योंकि वनचर जाति के लिए सब से अधिक आवश्यक चीज़ घोड़ा ही होता है। इसके बाद वह पूर्व दिशा की ओर बढ़ा, और उत्तरीय चीन और मंचूरिया के किन-साम्राज्य को प्रायः नष्ट कर उसने पेकिंग पर अपना अधिकार जमा लिया। उसने कोरिया को भी जीता। ऐसा मालूम होता है कि दक्षिणी सुङों के साथ उसका मित्रवत् व्यवहार था। किनों के विरुद्ध सुङों ने उसकी मदद भी की थी। किंतु वे यह न समझे थे कि किनों के बाद उनकी भी बारी आएगी। चंगीज़ ने बाद में टांगूटों को भी जीत लिया।

इन विजयों के बाद, चंगीज आनंद-पूर्वक अपने दिन बिता सकता था। मालूम होता है

कि पश्चिम में हमला करने की उसकी बिलकुल इच्छा न थी। ख्वारज्म के शाह के साथ वह मैत्री का संबंध स्थापित करना चाहता था। लेकिन यह कुछ न हुआ। एक प्राचीन लैटिन कहावत है, जिसका अर्थ है कि जिनको देवता मारना चाहते हैं, उनकी मति वे पहले ही हर लेते हैं। ख्वारज्म का शाह अपना ही विनाश करने पर तुला हुआ था। इस उद्देश की सिद्धि में उसने कोई बात न उठा रक्खी। उसके गवरनर ने मंगोल व्यापारियों को मरवा डाला। इस पर भी चंगीज़ शांत रहा। उसने राजदूत भेज कर यह कहलाया कि गवरनर को दंड दिया जाय। लेकिन मूढ़ शाह ने, जो घमंडी और अपनी महत्ता के मद से अंधा हो रहा था, इन राजदूतों का अपमान किया और उन्हें मरवा डाला। इसे चंगीज़ भी नहीं सह सकता था, लेकिन जल्दबाज़ी में कोई काम कर बैठना उसके स्वभाव के विरुद्ध था। बड़ी सावधानी से तैयारी करने के बाद वह पश्चिमी दिशा की ओर रवाना हुआ। इस चढ़ाई ने, जिसका सूत्रपात १२१९ ई० प० में हुआ, मंगोलों के उस नवीन आतंक के प्रति, जो नगरों और लाखों नर-नारियों को कुचलता हुआ अनवरुद्ध गति से बराबर बढ़ता ही चला जाता था, एशिया और अंशतः योरप की भी आँखें खोल दीं। ख्वारज्म के साम्राज्य का नाम ही मिट गया। विशाल राजप्रासादों से अलंकृत और १० लाख से भी अधिक जनसंख्या से परिपूर्ण, बोख़ारा का महानगर जला कर ख़ाक कर दिया गया। राजधानी, समरकंद, भी नष्ट हो गई और उसके १० लाख निवासियों में से केवल ५० हज़ार जीवित बचे। हेरात, बल्ख़ और दूसरे भी अनेक नगर मिट्टी में मिला दिए गए। लाखों आदमी मारे गए। तरह-तरह की कलाएँ और उद्योग-धंधे, जो मध्य एशिया में सैकड़ों वर्षों से फल-फूल रहे थे, विलुप्त हो गए। ऐसा मालूम होता था कि मानो ईरान और मध्य एशिया में सभ्य जीवन का अंत हो गया है। जहाँ कहीं चंगीज़ गया, वहीं वह अपने पीछे उजाड़-खंड छोड़ गया।

ख्वारज्म के शाह के पुत्र, जलाल-उद्-दीन, ने बड़ी बहादुरी के साथ इस बाढ़ का सामना किया। वह सिंधु नदी तक चला आया; और जब वहाँ उसे बचाव का कोई मार्ग न दिखाई दिया, तब कहा जाता है कि घोड़े की पीठ पर सवार होते हुए भी वह कगार से तीस फ़ीट नीचे नदी की धार में कूद पड़ा और तैर कर इस पार निकल आया। उसने दिल्ली के सुलतान के दरबार में आकर पनाह ली। वहाँ उसका पीछा करना चंगीज़ ने आवश्यक नहीं समझा।

सेलजुक़ तुर्कों और बग़दाद का सौभाग्य था कि चंगीज़ ने उन्हें नहीं छेड़ा। वह उत्तर की ओर रूस में चला गया और कीफ़ के ग्रांड ड्यूक को परास्त कर उसने उसे बंदी बना लिया। सिया या टांगूटों के विद्रोह को दबाने के लिए उसे पूर्व की ओर लौटना पड़ा। १२२७ ई० प० में ७२ वर्ष की अवस्था में चंगीज़ की मृत्यु हो गई। उसका साम्राज्य पश्चिम में काले समुद्र से पूर्व में प्रशांत महासगर तक फ़ैला था। यह साम्राज्य उसके मरने के समय तक शक्तिशाली बना रहा। वह निरंतर बढ़ता ही जाता था। इन दिनों भी उसकी राजधानी मंगोलिया के कराकोरम-नामक छोटे क़स्बे में बनी रही। चंगीज़ था तो बनचर, लेकिन वह संघटन करने में

परम कुशल था। वह इतना बुद्धिमान् था कि राज-काज में सहायता के लिए उसने सुयोग्य मंत्री नियुक्त किए। उसका साम्राज्य, जिसको उसने इतने थोड़े समय में स्थापित किया था, उसकी मृत्यु के बाद भी छिन्न-भिन्न न हुआ। ईरानी और अरबी इतिहास-लेखकों की दृष्टि में चंगीज़ एक दैत्य अथवा—जैसा उसे लोग कहते हैं—ईश्वरीय प्रकोप था।

इन लोगों ने उसको बहुत ही क्रूर और निर्दय पुरुष के रूप में चित्रित किया है। निस्संदेह वह क्रूर था, लेकिन तत्कालीन अनेक राजाओं से इस बात में वह भिन्न न था। भारत में अफ़ग़ान सुलतान भी छोटे परिमाण में उसी के समान आचरण करते थे। जब ११५० ई० प० में अफ़गानों ने गज़नी पर क़ब्ज़ा किया, तब उन्होंने अपने एक पुराने रक्त-कलह* का बदला लेने की नीयत से ग़ज़नी नगर को ख़ूब लूटा और बाद में आग लगा कर उसे ख़ाक में मिला दिया। सात दिनों तक "लूट-मार, विध्वंस और संहार का यह क्रम जारी रहा। जो कोई मर्द मिला, वह मार डाला गया, और सब स्त्रियाँ एवम् बच्चे बंदी बना लिए गए। महमूदी सुलतानों (सुलतान महमूद के वंशजों) के राजमहल और दूसरी इमारतें, जो संसार में अद्वितीय थीं, नष्ट कर डाली गईं।" यह था मुसलमानों का अपने बंधु मुसलमानों के प्रति व्यवहार! अफ़गान सुलतानों के शासन-काल में भारतवर्ष में जो कुछ हुआ, उसमें और मध्य एशिया तथा ईरान में चंगीज़ ख़ां के संहार-तांडव में, विशिष्टता की दृष्टि से, कुछ भी अंतर नहीं है। चंगीज़ ख़ां ख्वारज्म के शाह से विशेष रूप से अप्रसन्न था; क्योंकि उसके राजदूत को शाह ने मरवा डाला था। अतएव उसने मध्य एशिया में जो कुछ किया, वह उसके दूत की हत्या का बदला-मात्र था। दूसरे स्थानों में भी चंगीज़ के कारण बहुत संहार हुआ; लेकिन संभवतः वह उतना भीषण न था जितना मध्य एशिया में।

चंगीज़ द्वारा नगरों के विध्वंस का एक और प्रेरक कारण था। वह जन्म ही से वनचर था और वनचरों की-सी उसकी प्रकृति थी। उसे कस्बों और शहरों से घृणा थी। स्टेपे या बड़े-बड़े मैदानों ही में रहना उसे भाता था। एक समय चंगीज़ के मन में यह बात उठी कि चीन के सब नगर यदि नष्ट कर दिए जाएँ तो अच्छा हो। लेकिन सौभाग्य से उसने इस विचार को छोड़ दिया। वह वनचर-जीवन और सभ्यता का संमिश्रण करना चाहता था। लेकिन यह न तब संभव था, न अब संभव है।

चंगीज़ ख़ां के नाम से चाहे तुम यह समझ बैठो कि वह मुसलमान था; लेकिन वास्तव में ऐसी बात न थी। उसका नाम एक मंगोल नाम था। धार्मिक मामलों में वह बहुत ही उदार था। उसका धर्म शामा धर्म था, अर्थात् वह चिरंतन नीलाकाश का उपासक था। वह प्रायः चीनी लाओ-त्ज़े के धर्म को माननेवाले साधु-संतों से बहुत देर तक वार्तालाप किया करता था। लेकिन शामा धर्म में उसका विश्वास दृढ़ बना रहा और जब कभी कोई कठिनाई उपस्थित होती तब वह आकाश से परामर्श करता था।

तुमने इस पत्र के आरंभ में देखा होगा कि चंगीज़ को मंगोलों की एक पंचायत ने अपना ख़ान "चुना" था। यह पंचायत मनसबदारी सरदारों की पंचायत थी, न

* इस भाग के अंत में "रक्त-कलह" टिप्पणी देखिए।

कि सार्वजनिक पंचायत। अतएव चंगीज़ मंगोल जाति का मनसबदारी कुलपति या अधिनायक था।

चंगीज़ को पढ़ने-लिखने का कुछ भी ज्ञान न था। उसके सब साथियों का भी यही हाल था। शायद बहुत दिनों तक उसे इस बात का पता भी न था कि संसार में लेखन-कला नाम की कोई चीज़ है। उसके संदेश मौखिक भेजे जाते थे। साधारणतया वे पद्यात्मक होते थे और कहानियों और कहावतों के रूप में गढ़े जाते थे। यह विस्मयोत्पादक है कि इतने बड़े साम्राज्य का राज-काज मौखिक संदेशों द्वारा कैसे चलता होगा। जब चंगीज़ को मालूम हुआ कि लेखन-कला नाम की एक वस्तु है तब वह तुरंत ही समझ गया कि यह कला बहुत ही उपयोगी और अनमोल है। उसने तुरंत आज्ञा दी कि उसके लड़के तथा प्रधान अफ़सर लिखना सीख लें। उसने यह भी आज्ञा निकाली कि मंगोलों का परंपरागत क़ानून और उसके निजी कथनोपकथन लिपिबद्ध कर लिए जाएं। उसकी धारणा थी कि परंपरागत क़ानून अनंतकाल के लिए "अपरिवर्तनशाली विधान" है, जिसका उल्लंघन करना असंभव है। लेकिन वह अपरिवर्तनशील विधान अब लुप्त हो गया और आजकल के मंगोलों को न तो उसकी कुछ खबर है और न उसके संबंध में कोई अनुश्रुति ही प्रचलित है।

प्रत्येक देश और धर्म के अपने-अपने प्राचीन परंपरागत और लिखित विधान होते हैं। बहुधा लोग सोचते हैं कि यही "सनातन-धर्म" है, जो सब कालों में एक-सा बना रहेगा। कभी-कभी लोग इसे "इलहाम" या श्रुति के रूप में मानते हैं। अर्थात् वे समझते हैं कि उस ज्ञान को ईश्वर ने मनुष्य को दिया है; और जो कुछ ईश्वर द्वारा प्रकट हुआ है, उसे कैसे कोई परिवर्तनशील या अल्पकालिक मान सकता है। लेकिन विधान तो विद्यमान परिस्थिति के अनुरूप ही बनाए जाते हैं। उनका ध्येय तो यह रहता है कि हमें उनसे अपने को सुधारने में सहायता मिले। यदि परिस्थिति बदल जाय तो उस दशा में पुराने विधानों से कैसे काम चल सकता है। उन्हें तो बदलती हुई परिस्थितियों के साथ-साथ बदलते रहना चाहिए। नहीं तो वे लोहे की बेड़ियाँ बन कर हमें एक ही स्थान पर बाँध देंगे; यद्यपि संसार आगे की ओर बढ़ता चला जायगा। कोई भी विधान नित्य, सनातन, अपरिवर्तनशील नहीं हो सकता। उसे ज्ञान का आश्रित होना चाहिए। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाय, वैसे-वैसे उसे भी ज्ञान के साथ बढ़ना चाहिए।

चंगीज़ खाँ के संबंध में आवश्यकता से अधिक बातें मैं लिख गया हूँ, लेकिन यह आदमी मुझे मोह लेता है। क्या यह विचित्र बात नहीं है कि बनचर जाति का यह भीषण, क्रूर और उच्छृंखल मनसबदारी कुलपति मेरे समान शांतिप्रिय, अहिंसात्मक और नम्र स्वभाव वाले आदमी को, जो शहरों का निवासी है और जिसे मनसबदारी प्रथा की प्रत्येक बात से घृणा है, अपनी ओर आकृष्ट करे!
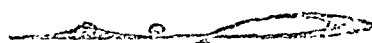
परिशिष्ट—(अ)

टिप्पणियाँ

लेखक—कृष्णवल्लभ द्विवेदी
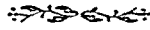
अज़टैक:—अमेरिका की एक प्राचीन सभ्य जाति का नाम। सोलहवीं शताब्दी में जब स्पेनवालों ने अमेरिका पर धावा किया तब मैक्सिको और उसके आसपास के प्रदेशों पर अज़टैकों का राज्य था। आरंभ में अज़टैक बड़े शक्तिशाली थे। १३२५ ई० प० में उन्होंने टेनोचाटितलन के महानगर की संस्थापना की। इसीके भग्नावशेषों पर मैक्सिको का आधुनिक नगर बसा है। सम्राट् मोंटीज़ूमा द्वितीय के काल में अज़टैक साम्राज्य अपनी गौरवगरिमा की चरम सीमा पर पहुँच गया था। किंतु इसी समय कारटेज़-नामक एक मामूली स्पेनिश लुटेरे ने मुट्ठी भर साथियों के सहयोग से उस पर आक्रमण कर दिया। उसके धावे की टक्कर से अज़टैक साम्राज्य, खोखली इमारत की तरह, ढह पड़ा। सम्राट् मोंटीज़ूमा बंदी बना लिया गया और १५२० ई० प० में उसकी मृत्यु हो गई। अज़टैकों के पतन के साथ-साथ मैक्सिको की प्राचीन सभ्यता का भी अंत हो गया।

अलादीन:—अलिफ़लैला की एक सुप्रसिद्ध कहानी के एक सुपरिचित नायक का नाम। जब वह चौदह वर्ष का था तब उसकी भेंट एक अजनबी जादूगर से हुई। जादूगर उससे अपना काम निकालना चाहता था। उसने अलादीन को एक ऐसी गुफ़ा का मार्ग दिखाया, जिसमें जादू का एक अद्भुत दीपक रक्खा था। अलादीन ने उस दीपक को अपने अधिकार में कर लिया और जादूगर को धता बताई। उस दीपक का यह गुण था कि जब कभी वह रगड़ा जाता तब जिन-जाति का एक प्रेत दीपक के स्वामी की सेवा के लिए प्रकट होता था। अलादीन को जादू का एक कालीन भी मिला था, जिस पर बैठ कर वह स्वेच्छानुसार जहाँ चाहता वहाँ उड़ कर पहुँच जाता था।

आरथोडाक्स ग्रीक चर्च:—ईसाई मत का एक पूर्वीय संप्रदाय, जिसका प्रधान केंद्र कानस्टैंटिनोपल में है। इसका पूरा नाम है पवित्र आरथोडाक्स कैथोलिक पूर्वीय चर्च। ईसाई चर्च की ग्रीक और रोमन शाखाओं में मुख्य भेद यह है कि ग्रीक चर्च में, रोमन चर्च के पोप की तरह, कोई एक प्रधान नहीं होता। उसमें अनेक धर्म्माध्यक्ष होते हैं, जो पैट्रिआर्क कहलाते हैं और जिनके समान अधिकार होते हैं। ग्रीक चर्च में, बिशपों और संन्यासियों को छोड़ कर, समस्त धर्माधिकारियों को विवाह करने की आज्ञा है। यह चर्च निसीन संप्रदाय के सिद्धांतों पर स्थापित हुआ था। इसमें प्रार्थना, आदि, में वर्नाक्यूलर भाषाओं का व्यवहार, रोमन चर्च की तरह, निषिद्ध नहीं है। इस संप्रदाय के अनुयायी पंद्रह करोड़ के लगभग हैं, जिनमें १२ करोड़

योरप में और शेष एशिया में रहते हैं। योरप में इस संप्रदाय को माननेवाले मुख्य देश रूस, ग्रीस और वालकन प्रदेश हैं। किंतु वोलशेविक शासनकाल के आरंभ से रूस में इस मत का प्रभाव वहुत-कुछ घट गया है।

इनका:—दक्षिणी अमेरिका के पीरू-नामक देश के प्राचीन शासकों की उपाधि। इनका एक प्रकार के दैवी पुरुष माने जाते थे। पीरू में इनकाओं ने लगभग तीन सौ वर्ष तक राज्य किया। उनका साम्राज्य क्वीटो से चाइल और पैसिफ़िक से एंडी पर्वत-माला तक—लगभग दस लाख वर्गमील में—फैला हुआ था। इस विशाल साम्राज्य की राजधानी क्यूज़ोओं थी, जिसके भग्नावशेष अब भी इनकाओं के प्राचीन वैभव की याद दिलाते हैं। इन भग्नाव-शेषों में १८०० फीट लंबी एक सुदृढ़ प्राचीर, अनेक मीनारें, राज-भवन, भव्य मंदिर और कई टूटे-फूटे दुर्गों के खंडहर हैं। इनकाओं की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ वहुत उच्च-कोटि की थीं। भूमि पर सब का समान अधिकार था। कृषि, आदि, का राजा विधिवत् नियंत्रण करता था। ग़रीबी का कहीं नामोनिशान भी न था। इनकाओं के राज्य में सुवर्ण का वाहुल्य था। ये लोग सूर्य के उपासक थे, किंतु एक सर्वव्यापी अगोचर महाशक्ति में भी उनका विश्वास था। इनका-साम्राज्य की स्थापना संभवतः १२५० ई० प० में मांको केपेक-नामक व्यक्ति ने की थी। १५३३ ई० प० में पिज़ारो-नामक एक स्पेन-निवासी ने परू के राज्य पर हमला कर वहाँ के अंतिम इनका को छल से मार डाला। उसकी मृत्यु के साथ ही पीरू का राज्य स्पेनवालों के अधिकार में चला गया।

इनडलजैंस:—एक प्रकार का धार्मिक पर-वाना, जिसे पोप अथवा रोमन कैथलिक चर्च के दूसरे उच्च धर्म्माधिकारी रुपए लेकर वेचा करते थे। रोमन कैथलिक ईसाइयों की यह धारणा है कि मरने पर मनुष्य की आत्मा परगेटरी-नामक लोक में जाती है और वहाँ उसे अपने पापों का फल भोगना पड़ता है। इस धारणा का अनुचित लाभ उठाते हुए ईसाई धर्म्मा-धिकारियों ने लोगों को ठगना और उनसे रुपया वसूल करना शुरू किया। जो लोग उन्हें एक निश्चित् रक़म देना स्वीकार करते थे, उन्हें वे इस आशय का एक लिखित पत्र दे देते थे कि उन्हें परगेटरी का दुःख नहीं भोगना पड़ेगा; वे सीधे स्वर्ग चले जाएँगे। इस प्रकार इनडलजैंस एक प्रकार से स्वर्ग का पासपोर्ट माना जाने लगा। इसके द्वारा ईसाई धर्म्माधिकारियों ने खूब रुपया लूटा। ये परवाने दो तरह के होते थे। एक में समस्त पापों से छुट-कारे का वादा होता था। दूसरे में कुछ पाप क्षमा किए जाते थे। पहले प्रकार के इनडलजैंसों को देने का अधिकार केवल पोप को था। किंतु साधारण इनड-लजैंस विशप, आदि, साधारण धर्म्माधि-कारी भी दे सकते थे। इनडलजैंसों की प्रथा से ईसाई जगत् में अनाचार की खूब वृद्धि हुई, और चर्च के प्रति लोगों की श्रद्धा भी दिनोंदिन घटने लगी। अंत में कुछ लोगों ने इसके खिलाफ़ आवाज़ उठाई, जिसके फलस्वरूप ईसाइयों में दो संप्रदाय

हो गए। ये संप्रदाय प्रोटेस्टेंट और रोमन कैथलिक संप्रदाय कहलाए। पोप के प्रति लूथर के विद्रोह का मुख्य कारण यही इनडलजैंस थे।

एक्वीलिजाः—इटली का एक छोटा-सा नगर। रोमन साम्राज्य के ज़माने में यह एक महानगर हो गया था। इसके आसपास के भूभाग की खुदाई से उसके प्राचीन वैभव के अनेक अद्भुत स्मारक मिले हैं। वे सब वहीं पर स्थापित एक अजायबघर में सुरक्षित रूप से संग्रहीत हैं। इस नगर की स्थापना २०० ई० पू० के लगभग हुई थी। ६५२ ई० प० में हूण एटिला ने इस नगर का विध्वंस कर डाला। एक्वीलिजा प्राचीन काल में समुद्र तट पर बसा था, किंतु अब समुद्र वहाँ से हट कर छः मील दूर चला गया है।

ऐक्सकम्यूनिकेशनः—धर्म्मच्यूतीकरण अथवा जाति-बहिष्कार। ईसाई मत के अनुसार उसके सब से बड़े धर्म्माधिकारी, पोप, को यह अधिकार है कि वह ईसाई चर्च के किसी भी अनुयायी को धर्म्मच्युत या जाति-च्युत कर दे। यह एक प्रकार से हुक्का-पानी बंद करने के समान था। आदि में यह अस्त्र ईसाई चर्च के अनुशासन की रक्षा तथा नैतिक और धार्मिक अनाचार को रोकने के उद्देश से गढ़ा गया था। किंतु बाद में पोपों ने अपने व्यक्तिगत झगड़ों में इसका उपयोग करना शुरू किया। तात्कालिक ईसाई जगत् में पोप की आज्ञा का राजाज्ञा से भी अधिक प्रभाव था, अतएव उसका यह अस्त्र एक अमोघ अस्त्र हो गया, जिसके आतंक से वह चाहे जिसको भयभीत कर सकता था। किंतु ज्यों-ज्यों चर्च और पोप के प्रति लोगों की श्रद्धा कम होती गई त्यों-त्यों इस अस्त्र का असर भी कम होता गया।

कारटेज़ः—मैक्सिको का स्पेनिश विजेता। इसका जन्म १४८५ ई० प० में मेडेलीन-नामक गाँव में हुआ था। १५०४ ई० प० में उसने पश्चिमी द्वीपों की यात्रा की, और चौदह वर्ष बाद मुट्ठीभर साथियों के बल पर उसने मैक्सिको के प्राचीन अज़टैक-साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। कारटेज़ ने टेनोचालितलन के महानगर का विध्वंस कर डाला और वेराक्रूज़-नामक एक नवीन नगर की संस्थापना की। १५२२ ई० प० में वह नवीन स्पेन का गवरनर नियुक्त हुआ, और छः वर्ष बाद स्पेन के सम्राट् ने उसे मार्क्विस की उपाधि से संमानित किया। १५६७ ई० प० में उसकी मृत्यु हुई।

कार्डिनलः—रोमन कैथलिक चर्च में पोप के बाद सब से उच्च धर्म्माधिकारियों की उपाधि। कार्डिनलों की संख्या अधिक से अधिक सत्तर तक हो सकती है। किंतु वास्तव में वे इससे कम ही होते हैं। उनका एक मंडल होता है, जो कार्डिनलों का कालेज कहलाता है। यही मंडल, एक पोप के मरने पर, दूसरे पोप का निर्वाचन करता है। इस मंडल की स्थापना पोप ग्रेगरी सप्तम ने की थी। कार्डिनलों को नियुक्त या पदच्युत करने का अधिकार केवल पोप को होता है। अधिकांश कार्डिनल बिशप भी होते हैं। इनके परिधान लाल रंग के होते हैं।

कैन्यूटः—इंगलैंड और डेनमार्क का एक

प्राचीन शासक। वह कैन्यूट महान् के नाम से प्रसिद्ध है। कैन्यूट डेनमार्क के राजा, स्वेन फ़ार्के-विअर्ड, का पुत्र था। १०१६ ई० प० में वह इंगलैंड और डेनमार्क, दोनों, का शासक हो गया। उसके विषय में यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि अपने राजदरबारियों की चापलूसी में आकर उसने समुद्र की उमड़ती हुई लहरों को एक बार आज्ञा दी कि तुम पीछे की ओर लौट जाओ। किंतु लहरें क्यों उसकी आज्ञा को सुनने लगीं?

कालोसियमः—रोम की सुप्रसिद्ध प्राचीन रंगभूमि। इसकी इमारत अंडाकार थी। उसकी लंबाई ६०० फ़ीट और चौड़ाई ५०० फ़ीट थी। मध्य में विशाल रंगभूमि थी और आसपास ऊँची गैलरियाँ दर्शकों के बैठने के लिए बनी थीं। मैदान में ग्लैडिएटरों की कुश्तियाँ और जंगली जानवरों के साथ मनुष्य के द्वंद-युद्ध के भयंकर तमाशे होते थे। कई ईसाई संत इस अखाड़े में जंगली जानवरों द्वारा मरवा डाले गए। कालासियम की नींव ७२ ई० प० में पड़ी और उसकी इमारत ८० ई० प० में बन कर तैयार हुई। आज भी रोम के निकट उसके भग्नावशेष दर्शकों को प्राचीन रोम की याद दिलाते हैं।

ख़्वारज़्मः—मध्य एशिया का एक प्राचीन राज्य। इसे खीवा भी कहते हैं। इसकी राजधानी समरकंद थी और मंगोलों के आक्रमण के समय इसका विस्तार दक्षिण में ईरान और अफ़ग़ानिस्तान तक था। आजकल यह बोखारा और ताजिक के साथ उज़्बेकिस्तान के सोविएट गणतंत्र में मिला दिया गया है। इसका क्षेत्रफल २६ हजार वर्गमील और आबादी ६ लाख के लगभग है। यहाँ की मुख्य पैदावार गेहूँ, जौ, चावल और फल-फूल हैं।

ग्रीक अग्निः—एक दाह्य पदार्थ, जिसका प्रयोग कानस्टैंटिनोपल के ग्रीक शत्रु को मारने में किया करते थे। यह द्रव्य गंधक, राल, कोयला, सन और धूप, आदि, पदार्थों को मिला कर बनाया जाता था। एक बार सुलग उठने पर उसको बुझाना असंभव था। वह पानी में भी जलता रहता था। इसकी सहायता से कानस्टैंटिनोपल वाले शत्रुओं के बड़े-बड़े जहाज़ जला डालते थे।

ग्रेगरी सप्तमः—इसका असली नाम हिलब्रैंड था। १०७३ ई० प० में पोप एलैक़जैंडर द्वितीय के मरने पर वह ग्रेगरी सप्तम के नाम से पोप हुआ। यह बड़ा प्रतापी और चतुर पुरुष था। पवित्र रोमन सम्राट् के साथ उसकी निरंतर लाग-डांट छिड़ी रहती थी। यह तना-तनी इतनी बढ़ गई कि सम्राट् ने पोप को पदच्युत और पोप ने सम्राट् को धर्मच्युत कर दिया। किंतु अंत में पोप ही की विजय हुई और सम्राट् को बर्फ़ से ढके हुए रास्ते से नंगे पैर चल कर कनोसा में पोप के सामने सिर झुकाना पड़ा। किंतु इससे पारस्परिक विद्वेष का अंत नहीं हुआ। रोम में एक नया पोप उठ खड़ा हुआ और ग्रेगरी को भाग कर सेलेरिनो-नामक स्थान में शरण लेनी पड़ी। वहीं १०८५ ई० प० में उसकी मृत्यु हो गई।

चासरः—अँगरेजी भाषा का आदिकवि। इसका जन्म १३४० ई० प० में हुआ था। वह इटालियन महाकवि पेट्रार्क का समसा-

मयिक था। इंगलैंड के बादशाह, एडवर्ड तृतीय, के राजदरबार में वह नौकर था। उसकी ख्याति "कैंटरबरी टेल्स"-नामक उसके पद्य-ग्रंथ पर है।

जज़िया:—मुसलमान शासकों द्वारा विधर्मियों पर लगाया जानेवाला धार्मिक कर। भारत में यह कर मुख्यतया हिंदुओं पर लगाया जाता था। सम्राट् अकबर ने इस कर को हटा लिया था, किंतु औरंगजेब ने अपने शासनकाल में फिर से इसे जारी कर दिया। इस कर के कारण मुसलमानों के शासन-काल में भारत में बहुत अधिक असंतोष फैला था। अन्य देशों में भी समय-समय पर मुसलिम शासकों द्वारा यह कर लगाया जाता था। किंतु जो लोग इस्लाम को स्वीकार कर लेते थे, वे इसके भार से मुक्त कर दिए जाते थे।

डिसपेंनसेशन:—रोमन कैथलिक चर्च के अनुसार, किसी धार्मिक आज्ञा या अनुशासन को उल्लंघन करने का विशेष परवाना या अनुमति-पत्र। जिस प्रकार इनडलजेंस परलोक का उसी तरह डिसपेंनसेशन इहलोक का परवाना था। इसको पाकर बिना पाप का फल भोगने के भय के किसी नियम-विशेष को तोड़ने के लिए मनुष्य स्वतंत्र हो जाता था। इनडलजेंसों की तरह डिसपेंनसेशनों को भी देने का अधिकार पोप के हाथ में था। पृथिवी पर ईसा मसीह के प्रतिनिधि की हैसियत से पोप किसी को भी अपनी प्रतिज्ञा के बंधन से मुक्त कर सकता था। इसी विशेषाधिकार के बल पर वह तलाक़ की भी मंजूरी देता था। इनडलजेंसों की तरह डिसपेंनसेशनों का भी व्यापार खूब फला-फूला। पर अंत में लोगों के प्रबल विरोध के कारण इसका प्रचार बंद हो गया।

दांते अलीगिरी:—"डिवाइना कामेडिया"-नामक महाकाव्य का रचयिता। इसका जन्म १२६५ ई० प० में इटली के फ्लोरैंस नगर में हुआ था। दांते को पोप बोनिफेस अष्टम् ने फ्लोरैंस से निर्वासित कर दिया था और कई दिनों तक उसे भिखारी की तरह उत्तरीय इटली में दर-दर भटकना पड़ा था। १३१५ ई० प० में फ्लोरैंस की सरकार ने निर्वासितों को स्वदेश में लौट आने की अनुमति दे दी। किंतु दांते ने निरपराध घोषित हुए बिना फ्लोरैंस में पैर तक रखने से इनकार कर दिया। उसके अंतिम दिवस वेरोना और रेवेना-नामक नगरों में व्यतीत हुए। १३२२ ई० प० में उसकी मृत्यु हो गई। दांते का सब से महान् स्मारक उसकी अमर रचना 'डिवाइना कामेडीया' है, जिसमें उसने बिएट्रिस-नामक एक कल्पित रमणी के प्रति अपने प्रेम की कथा के रूप में मानव-जीवन का अति सुंदर चित्र खींचा है। रामायण, महाभारत, इलियड, ओडैसी और पेरेडाइस लास्ट की तरह इस ग्रंथ की भी संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में गणना होती है।

नाइट:—लार्डों या सरदारों से निम्न श्रेणी के पदवीधारियों का एक वर्ग। इस वर्ग के लोगों को अपने नाम के आगे "सर" की पदवी लगाने का अधिकार है। मध्य-युग में 'नाइट' शब्द शूरवीर का द्योतक था। लार्डों या सरदारों की तरह नाइट भी मनसबदारी व्यवस्था के अंग होते थे। उन्हें सरदारों द्वारा कुछ भूमि मिलती थी, जो "नाइटस् फ़ी" कहलाती

थी। इस भूमि के बदले वे अपने सरदार की सैनिक सेवा करते थे। ग्रेट ब्रिटेन में आज दिन भी संमानसूचक पदवी के रूप में नाइट की उपाधि देने की रीति है। इन पदवियों की कई श्रेणियां और नाम हैं, जैसे—नाइट आफ़ दि गार्टर, नाइट आफ़ बाथ, नाइट आफ़ दि ब्रिटिश ऐंपायर, आदि।

नारमन—फ्रांस के नारमैंडी-नामक प्रांत के निवासी, जो बाद में इंगलैंड और दक्षिणी इटली तथा सिसली को जीत कर वहीं जा बसे थे। 'नारमन' शब्द "नार्थमैन" का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ होता है, उत्तर के निवासी। विलियम, उपनाम विजेता, के नेतृत्व में नारमनों नें इंगलैंड को जीत लिया और वे वहां के सर्वेसर्वा बन बैठे। सैक्सनों को वे हिकारत की निगाह से देखते थे। धीरे-धीरे इंगलैंड में नारमनों की सभ्यता फैल गई और उन्होंने इस देश को मातृभूमि के रूप में अंगीकार कर लिया।

पिज़ारो:—पीरू का स्पेनिश विजेता। उसका जन्म १४७५ ई० प० में स्पेन के एक छोटे-से गांव में हुआ था। वह एक साधारण सैनिक था, किंतु १५२६ ई० प० में वह अमेरिका पहुँचा और केवल १८३ आदमियों की सहायता से उसने पीरू के इनका-साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। पीरू में इस समय अताहुआलपा-नामक इनका राज्य करता था। वह हुआसकार-नामक इनका को, जो गद्दी का वास्तविक उत्तराधिकारी था, हटा कर खुद शासक बन बैठा था। पिज़ारो ने छल-छंद से अताहुआलपा को पकड़ लिया और उसे मरवा कर एक दूसरे ही व्यक्ति को इनका की गद्दी पर बिठा दिया। उसके बाद स्पेन-वाले ही पीरू के वास्तविक शासक हो गए। १५४१ ई० प० में पिज़ारो को उसी के कुछ साथियों ने मार डाला।

पुनीत स्तूप:—जेरूसलम में ईसा मसीह का पवित्र समाधि-स्थल। इस स्थान को ईसाई अपना पुनीत तीर्थ-स्थल मानते हैं। हज़रत मसीह सूली के बाद इसी स्थान में दफ़नाए गए थे; और यहीं से तीन दिन बाद वह पुनर्जीवित होकर उठ खड़े हुए थे। इस स्थान पर सम्राट् कानस्टैंटाइन ने एक गिरजा बनवा दिया था। इसके समीप ही वह स्थान भी है, जहां हज़रत मसीह सूली पर लटकाए गए थे। वह स्थान केलवेरी के नाम से प्रसिद्ध है।

पैट्रार्क:—इटैलियन महाकवि। इसका जन्म टस्कैनी के अरेंज़ो-नामक गांव में, १३०४ ई० प० में, हुआ था। आरंभ में पैट्रार्क ने क़ानून की पढ़ाई शुरू की, किंतु शीघ्र ही उसने उसका अध्ययन छोड़ दिया। १३२७ ई० प० में एविगनान के गिरजाघर में उसकी दृष्टि एक सुंदर रमणी पर पड़ी और वह उस पर आसक्त हो गया। इस रमणी को संबोधित कर उसने लगभग ३०० पद लिखे, जिनके कारण इटैलियन साहित्य में उसका नाम सदा के लिए अमर हो गया। १३४१ ई० प० में उसे रोम में पोएट लारियट, अर्थात् कविश्रेष्ठ, की उपाधि प्रदान की गई। उसने अपने अंतिम दिवस एक छोटे-से गांव में बिताए। १३७४ ई० प० में उसकी मृत्यु हुई। सन १९२८ में उसके गांव में उसी के नाम से एक अजायबघर की स्थापना की गई है।

मारको पोलो:—प्रसिद्ध इटैलियन यात्री। उसका जन्म संभवतः १२५४ ई० प० में हुआ था। सत्रह साल की उम्र में वह अपने पिता और चचा के साथ वैनिस से चीन की यात्रा को रवाना हुआ और सीरिया, इराक़, ईरान, खोतान तथा गोबी के रेगीस्तान को पार करता हुआ १२७५ ई० प० में वह चीन की राजधानी, पेकिंग, में पहुँचा। चीन में उस समय मँगोल सरदार, कुबलाई खां, राज्य करता था। मारको उसका प्रियपात्र बन गया और तीन बरस तक यांगचो नगर के गवरनर के पद पर उसने काम किया। १२९२ ई० प० में चीनी सम्राट् ने मारको पोलो और उसके पिता तथा चचा को राजदूत बना कर समुद्र-मार्ग से ईरान भेजा। वहीं से ये तीनों १२९५ ई० प० में वैनिस वापस पहुँचे। किंतु तीन वर्ष बाद वैनिस और जेनोआ में भीषण युद्ध छिड़ गया, जिसमें मारको बंदी हो गया। जेनोआ के कारागार ही में मारको ने फ्रैंच भाषा में अपनी यात्रा का विवरण लिखा, जो 'मारको पोलो की यात्राएँ' के नाम से प्रसिद्ध है।

मारसेई:—भूमध्यसागर पर अवस्थित फ्रांस का प्रसिद्ध नगर और बंदरगाह। मध्य युग में यह नगर पश्चिमी योरप के दास-व्यापार का मुख्य केंद्र हो गया था। उत्तरीय अफ़्रीका के साथ फ्रांस का अधिकांश व्यापार इसी बंदरगाह के द्वारा होता था। जब दास-प्रथा का अंत हुआ तब इस नगर का व्यापार बहुत कुछ घट गया। किंतु स्वेज़ की नहर के बनने पर वह एक बार फिर चमक उठा। आज दिन मारसेई की गणना संसार के प्रमुख बंदरगाहों में होती है। फ्रांस और इंगलैंड को जानेवाले पूर्वीय देशों के यात्री प्रायः इसी बंदरगाह पर जहाज से उतरते हैं। इस नगर की आबादी आठ लाख के लगभग है। यहां बैजेंटियन और गाथिक शैली की कई दर्शनीय इमारतें हैं।

मैगना चारटा:—अँगरेज़ जाति की स्वाधीनता का महापत्र। इंगलैंड के सरदारों ने सम्राट् जान से रनीमीड-नामक स्थान में, १२१५ ई० प० में, इस पत्र पर ज़बर्दस्ती हस्ताक्षर करा लिए थे। अँगरेज़ जाति की राजनीतिक स्वाधीनता के विकास में इस पत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें इंगलैंड के बादशाह ने अपने सरदारों और नागरिकों के कुछ अधिकार-विशेषों को अनुलंघनीय स्वीकार करते हुए उनकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा की थी। इसमें इस बात की भी घोषणा की गई है कि राजा न्यायपूर्वक विचार किए बिना किसी भी अपराधी को उसके अपराध के लिए सज़ा न दे सकेगा, अर्थात् उस नागरिक के समवर्गियों की अनुमति के बिना उसकी स्वाधीनता या संपत्ति का अपहरण करने का शासक को अधिकार न होगा। इस महापत्र के द्वारा अँगरेज़ जाति को अपने स्वत्वों की रक्षा करने में बड़ी सहायता मिली।

रक्त-कलह:—किसी एक परिवार-विशेष द्वारा दूसरे परिवार के व्यक्ति या व्यक्तियों की हत्या के कारण उत्पन्न होनेवाला कलह। मध्य-युग में शक्तिशाली राजघरानों में ऐसे झगड़ों के कारण प्रायः बड़े-बड़े हत्याकांड हो जाते थे। खून का बदला खून से लिया जाता था और कभी-कभी एक

व्यक्ति की हत्या के लिए विरोधी परिवार के छोटे-बड़े सभी व्यक्तियों को मृत्यु के घाट उतार दिया जाता था।

विलियम, उपनाम विजेता,—इँगलैंड का प्रथम नारमन सम्राट्। यह नारमैंडी के ड्यूक, रावर्ट, का अनौरस पुत्र था। इँगलैंड के वादशाह, एडवर्ड उपनाम कनफ़ैसर, और हेराल्ड गाडविंसन ने उसको वचन दिया था कि एडवर्ड के वाद वही इँगलैंड की गद्दी का उत्तराधिकारी होगा। किंतु जव एडवर्ड के मरने पर हेराल्ड स्वयं वादशाह वन वैठा तव विलियम ने नारमनों की फौज लेकर इँगलैंड पर चढ़ाई की, और हेस्टिंग्ज़ के युद्ध में हेराल्ड को परास्त किया। १०६६ ई० प० में वेस्टमिनिस्टर एवी में धूमधाम के साथ उसका राज्याभिषेक हुआ। विलियम के हाथ में शासन आने पर इँगलैंड में नारमनों की शक्ति दिन-पर-दिन वढ़ने लगी। नारमन रीति-रस्मों का भी अधिकाधिक प्रचार होता गया और सैक्सन हिक़ारत की निगाह से देखे जाने लगे। १०८७ ई० प० में विलियम की मृत्यु हो गई।

साधु पीटर:—मध्यकालीन ईसाई धर्म्मोपदेशक और संन्यासी। यह फ्रांस के एमिंस-नामक नगर के एक गिरजे में पादरी था। १०९५ ई० प० में जव पोप अरवन द्वितीय ने तुर्कों के विरुद्ध धर्म्म-युद्ध की घोषणा की, तव पीटर ने जेरुसलम को विधर्म्मियों के चंगुल से छुड़ाने के लिए ज़ोरों का आंदोलन करना शुरू किया। वह स्वयं ईसाई धर्मवीरों का एक दल लेकर कोलोन से कानस्टैंटिनोपल को गया और वहां से फ़िलिस्तीन की युद्ध-भूमि में जा पहुँचा। क्रूसेडों के ज़माने में योरप में उसका नाम वहुत प्रसिद्ध हो गया था।

इसी नाम का ईसाइयों में प्राचीन काल में एक महापुरुष हो गया है। वह ईसा के वारह प्रधान शिष्यों में से एक था। ईसा की मृत्यु के वाद उसने एशिया माइनर में ईसाई मत के प्रचार में काफ़ी योग दिया था। कहते हैं कि वह रोम भी गया था और वहीं ६८ ई० प० में सम्राट् नीरो द्वारा वह सूली पर चढ़ा दिया गया था।

अनुक्रमणिका

(भाग–४)

अ

आ

ख

ग

ब

य

र

ल

व

श

स

ह

अनुक्रमणिका

(भाग–३)

अ

आ

ख

ग

ड

त

थ

द

ध

न

प

भ

म

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

(६८)

मंगोलों ने संसार पर अपना आतंक जमाया

जून २६, १९३२

चंगीज़ खाँ के मरने पर उसका लड़का, अघोतई, गद्दी पर बैठा। अपने बाप की तरह वह भी 'प्रतापी खान' कहलाता था। चंगीज और तात्कालिक अन्य मंगोलों की अपेक्षा, अघोतई अधिक दयालु और शांतिप्रिय था। उसका कहना था कि 'हमारे कगन, चंगीज, ने हमारे इस राजवंश को बड़े परिश्रम से स्थापित किया है। अब समय आ गया है कि लोग सुख-शांति से जीवन बिताएँ और उनके बोझ हलके कर दिए जाएँ।' यह ध्यान देने की बात है कि वह, एक मनसबदारी सरदार की तरह, कुटुंब या कुल की शब्दावली में विचारों को व्यक्त करता था।

लेकिन दिग्विजय अभी समाप्त नहीं हुई थी और मंगोलों की शक्ति भी अक्षुण्ण थी। महासेनानी सुबुकतई के नेतृत्व में मंगोलों ने योरप पर फिर हमला किया। आक्रमण के पहले शत्रु-देशों में, समाचार संग्रह करने के लिए, दूतों को भेज कर उसने बड़ी सावधानी से युद्ध की तैयारी की। इस प्रकार, चढ़ाई करने के पहले, उसे इस बात का अच्छी तरह से पता लग गया कि जिन देशों पर वह आक्रमण करनेवाला था, उनकी सैनिक और राजनीतिक दशा कैसी थी। वह युद्धकला का महाचार्य्य था। योरप के सेनापति उसके सामने नौसिखिए बच्चे मालूम होते थे। दक्षिण-पश्चिम में बग़दाद और सेलजुक तुर्कों को छोड़ता हुआ, वह सीधा रूस में जा पहुँचा। छः वर्ष तक वह बराबर आगे ही बढ़ता चला गया। उसके मार्ग में जो पड़ा, उसीका उसने तहस-नहस कर डाला। रूस की राजधानी, मास्को, कीफ़ के नगर, तथा पौलैंड, हंगरी, और क्रैकाक को उसने विध्वंस किया। १२४१ ई० प० में मध्य योरप के साइलेशिया-नामक दक्षिणी प्रांत के लुबनीज-नामक स्थान पर पोलिश और जर्मन सेनाओं को मंगोलों ने पूर्ण रूप से नष्ट कर डाला। ऐसा मालूम होने लगा कि सारे योरप

का अब नाश हो जायगा। मंगोलों की गति को रोकनेवाला एक भी न दिखाई देता था। यद्यपि फ्रेडरिक द्वितीय 'संसार का चमत्कार' कहलाता था; लेकिन मंगोलिया के इस असली चमत्कार को देख कर वह भी भय से पीला पड़ गया होगा। जब अनायास ही एक अचिंतित कारण से योरप के राजा-महाराजाओं को इस विपत्ति से छुटकारा मिला तब उनकी जान में जान आई।

अघोतई की मृत्यु हो गई और गद्दी के लिए झगड़ा शुरू हुआ। इसलिए योरप में जो मंगोल सेनाएँ थीं, उनको अपराजित होने पर भी स्वदेश की ओर लौटना पड़ा। १२५२ ई० प० में जब वे अपने घरों के लिए रवाना हुईं, तब कहीं योरप निर्भय हुआ।

इसी अवधि में मंगोल चीन में भी फैल गए थे। उत्तर में उन्होंने उत्तरीय चीन के किनों का और दक्षिणी चीन के सुङों तक का अंत कर डाला था। १२५२ ई० प० में मंगू खां प्रतापी खान की गद्दी पर बैठा। उसने कुबलाई खां को चीन का गवरनर नियुक्त किया। कराकोरस-नामक नगर में मंगू की राजसभा जुटती थी। वहां योरप और एशिया के विभिन्न देशों के निवासियों का ठट्ठ बँधा रहता था। अब तक प्रतापी खान, वनचरों की तरह, डेरे-तंबुओं ही में रहा करता था, लेकिन उसके तंबू विभिन्न महाद्वीपों की लूट के अनमोल पदार्थों से सुसज्जित रहते थे। देश-देश के व्यापारी, विशेषकर मुसलिम व्यापारी, वहाँ आते और मंगोलों के हाथ माल बेच कर खूब रुपया कमाते थे। डेरे-तुंबुओं के इस नगर में, जिसके आतंक से सारा संसार काँपता-सा दिखाई देता था, कलाकार, ज्योतिषी, गणितज्ञ और तात्कालिक विज्ञान के धुरंधर पंडित पहुँचा करते थे। विशाल मंगोल साम्राज्य में बहुत कुछ शांति और व्यवस्था थी और एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक उसके विस्तृत राजपथ देश-विदेश के यात्रियों से खचाखच भरे रहते थे। इस तरह योरप और एशिया में घनिष्ठ संपर्क स्थापित हो गया था।

विभिन्न मतों के अनुयायी भी कराकोरम की ओर दौड़ पड़े। सब की इच्छा थी कि वे संसार-विजयी मंगोलों को अपने-अपने धर्म-विशिष्ट का अनुयायी बना लें। जिस मत या धर्म को यह सर्वशक्तिशालिनी जाति मानने लगेगी, वही मत या धर्म स्वयंमेव अन्य सब धर्मों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होकर दूसरे मतों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होगा। रोम से पोप ने दूत भेजे। नैस्टोरियन संप्रदाय के ईसाई धर्माचार्य्य भी आए। उधर मुसलमान और बौद्ध भी पधारे। किसी नए धर्म को अंगीकार करने की अधिक उत्सुकता मंगोलों को न थी। धर्म्म के प्रति उन लोगों में बहुत अधिक उत्साह न था। ऐसा मालूम होता है कि प्रतापी खान एक समय ईसाई मत को ग्रहण करने के अनुकूल था, लेकिन पोप के इस दावे को कि पृथ्वी पर वही सब से बड़ा है मानने के लिए खान कदापि तैयार न हुआ। अंत में, जिन देशों में मंगोल बस गए, उन देशों में प्रचलित मत-मतांतरों को भी उन्होंने अंगीकार कर लिया।

चीन और मंगोलिया के अधिकांश मंगोल बौद्ध हो गए; मध्य एशिया में बसनेवाले मंगोल मुसलमान हो गए; और जो मंगोल रूस और हंगरी में जा बसे थे, उनमें से कुछ ने संभवतः ईसाई मत को ग्रहण कर लिया।

जो पत्र मंगू ने पोप के पास भेजा था, उसकी असली पांडुलिपि रोम में वेटिकन (पाप का

निवास-भवन) के पुस्तकालय में अब तक मौजूद है। मूल पत्र अरबी में है। ऐसा मालूम होता है कि अबोतई की मृत्यु के बाद पोप ने मंगू खान के पास, योरप पर फिर हमला न करने की प्रार्थना करने के लिए, दूत भेजे थे। खान ने योरप पर चढ़ाई करने का कारण बताते हुए उत्तर दिया कि योरप पर हमला करने का यह कारण था कि योरप-निवासी उसके प्रति सद्व्यवहार नहीं करते हैं।

मंगू के शासनकाल में विजय और संहार की एक दूसरी लहर उठी। उसका भाई, हलागू, ईरान का गवरनर था। बग़दाद के खलीफा से किसी बात के लिए रुष्ट होकर उसने उसके पास दूत भेज कर प्रतिज्ञा न पालन करने का उलहना दिया और कहलाया कि भविष्य में यदि वह ठीक ढंग से आचरण न करेगा तो उसे राज्य से हाथ धोना पड़ेगा। खलीफ़ा न तो अधिक बुद्धिमान् था, और न वह अनुभव से लाभ ही उठाना जानता था। उसने उत्तेजना-वर्द्धक उत्तर भेजा और बग़दाद की जनता ने मंगोल राजदूतों का अपमान तक किया। हलागू का मंगोल-रक्त इस पर उबल पड़ा और क्रोध के आवेश में उसने बग़दाद पर चढ़ाई कर दी। ४० दिन तक घेरा डालने के बाद उसने उस पर क़ब्जा कर लिया। इस प्रकार अलिफ़लैला के नगर और साम्राज्य की ५०० वर्षों में संग्रहीत विभूति का अंत हो गया। खलीफा और उसके निकट संबंधी मार डाले गए। हफ़्तों तक मार-काट मची रही। टाइग्रस (फ़रात) नदी का पानी मीलों तक खून से लाल हो गया। कहा जाता है कि १५ लाख प्राणी मृत्यु के घाट उतारे गए। कला-विषयक और साहित्यिक संग्रहालय और पुस्तकालय विनष्ट कर डाले गए। बग़दाद पूर्ण रूप से विध्वंस हो गया। पश्चिमी एशिया के सिंचाई के युगप्राचीन साधनों को भी हलागू ने नष्ट कर डाला।

एलप्पो, यदस्सो तथा और भी अनेक नगरों की यही दशा हुई; और पश्चिमी एशिया को रात्रि की तमोमयी छाया ने घेर लिया। एक तात्कालिक इतिहास-लेखक ने लिखा है कि यह समय "विज्ञान और धर्म-संमत आचार-व्यवहार के लिए दुर्भिक्ष का समय था।" जो मंगोल सेना फ़िलिस्तीन गई थी, उसे मिस्र के सुलतान, बैबर्स, ने परास्त कर दिया। इस सुलतान का एक बड़ा रोचक उपनाम—बंदूकदार—था; क्योंकि उसकी सेना में बंदूकों से सुसज्जित सिपाहियों का एक जत्था था। अब हम बंदूकों के युग में आ पहुँचे हैं। किंतु इसके बहुत पहले से चीनियों को बारूद का ज्ञान था। संभवतः, मंगोलों ने उन्हीं से बारूद बनाना सीखा था; और यह भी संभव है कि बंदूकों और तोपों ने उनको विजयी बनाने में बहुत सहायता पहुँचाई हो। मंगोलों के द्वारा योरप में तोपों और बंदूकों का प्रचार हुआ। १२६८ ई० प० में बग़दाद के विध्वंस के कारण अब्बासी साम्राज्य के बचे बचाए अंश का भी सदा के लिए अंत हो गया। इसीके साथ-साथ पश्चिमी एशिया में अरब-सभ्यता का भी अंत हो गया। सुदूर दक्षिणी स्पेन में ग्रेनाडा में अरब आचार-विचार की पद्धति इसके बाद भी बनी रही। किंतु दो सौ वर्ष तक स्थायी रहने के बाद वह भी विलुप्त हो गई। स्वतः अरब देश का महत्व दिनोंदिन कम होता गया और तब से उसके निवासियों ने इतिहास में कोई उल्लेखनीय काम नहीं किया। बाद में वह आटोमन तुर्कों के साम्राज्य का अंग बन गया। १९१४–१८ के महायुद्ध में तुर्कों के विरुद्ध अँगरेजों द्वारा प्रेरित अरब-विद्रोह हुआ। तब से अरब देश कुछ-कुछ स्वतंत्र हो गया है।

बग़दाद के विनाश के बाद दो वर्षों तक ख़लीफ़ा का स्थान खाली पड़ा रहा। मिस्र के सुलतान वैवर्स ने अंतिम अब्बासी ख़लीफ़ा के एक संबंधी को इस पद के लिए मनोनीत किया; लेकिन उसके हाथ में कुछ भी राजनीतिक शक्ति न थी। वह केवल धार्मिक नेता था। तीन सौ वर्ष बाद कानस्टैंटिनोपल के तुर्की सुलतान ने अंतिम ख़लीफ़ा से उसके पद को छीन लिया। तब से तुर्की सुलतान ही ख़लीफ़ा होते रहे। किंतु आज से कुछ वर्ष पहले मुस्तफ़ा कमालपाशा ने सुलतान और ख़लीफ़ा दोनों ही का अंत कर दिया।

मैं अपनी कहानी से भटक गया। प्रतापी ख़ान, मंगू, की मृत्यु १२५९ ई० प० में हुई थी। मरने के पहले उसने तिब्बत को जीत लिया था। उसके बाद कुबलाई ख़ाँ, जो चीन का गवरनर था, प्रतापी ख़ान की गद्दी पर बैठा। कुबलाई बहुत दिनों तक चीन में रह चुका था। उसे चीन से प्रेम हो गया था। अतएव कराकोरम से वह अपनी राजधानी पेकिंग को उठा ले गया। पेकिंग का नाम भी बदल कर उसने ख़ान बलीक—'ख़ान का शहर'—रक्खा। चीनी मामलों में दिलचस्पी लेने के कारण कुबलाई अपने विशाल साम्राज्य के राज-काज से विरक्त-सा रहने लगा। धीरे-धीरे बड़े मंगोल गवरनर स्वतंत्र बन गए।

कुबलाई ने चीन को पूर्ण रूप से विजय कर लिया; लेकिन प्राचीन मंगोल-युद्धों और कुबलाई के युद्धों में बड़ा अंतर था। मंगोलों में अब न तो पुरानी नृशंसता ही रह गई थी, और न अब पहले की-सी मार-काट ही होती थी। इधर चीन ने भी कुबलाई को बहुत-कुछ प्रभावित किया था। वह सुसंस्कृत बन गया था। चीनियों को उसके प्रति स्नेह-सा हो गया था, और वे उसे अपना स्वदेशीय मानने लगे थे। कुबलाई ने एक ठेठ चीनी राजवंश—युआन राजवंश—की संस्थापना की। उसने टांगकिंग, अनाम और बर्मा को अपने विजित का अंग बनाया। उसने जापान और मलयेशिया को भी जीतने की चेष्टा की; लेकिन इस कार्य में वह असफल रहा। इसका यह कारण था कि मंगोल न तो समुद्र-यात्रा के अभ्यस्त थे और न उन्हें जहाज बनाना ही आता था।

मंगूख़ाँ के शासनकाल में फ़्रांस के सम्राट्, लुई नवम, ने उसके पास अपने राजदूत भेजे थे। मुसलमानों के विरुद्ध सहयोग प्राप्त करने के लिए लुई ने मंगोलों और योरप के राष्ट्रों में संधि का प्रस्ताव किया था। लुई को बहुत मुसीबतें उठानी पड़ी थीं; क्योंकि क्रूसेडों के सिलसिले में मुसलमानों ने उसे क़ैद कर लिया था। लेकिन मंगोलों को इस तरह के संधि-प्रस्तावों में कुछ भी दिलचस्पी न थी, और न वे धर्म के कारण किसी जाति-विशेष के विरुद्ध लड़ने ही को तैयार थे।

योरप के छोटे-बड़े रावों और राजाओं के साथ मैत्री करने की उन्हें ज़रूरत ही क्या थी? और किसके ख़िलाफ़ वे संघ बनाते? उन्हें न तो पश्चिमी योरप की रियासतों और न इस्लामी राष्ट्रों की सैनिक शक्ति ही का कुछ भय था। दैवयोग ही से पश्चिमी योरप उनके चंगुल से बच गया था।

सेलजुक़ तुर्कों ने मंगोलों के सामने सिर झुकाया था और वे उन्हें करद देते थे। सिर्फ़ मिस्र के सुलतान ने मंगोल-सेना को एक बार पराजित किया था। लेकिन इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि

यदि मंगोल अपनी पूरी शक्ति लगा देते तो वे उसे भी पछाड़ सकते थे। एशिया और योरप के एक कोने से दूसरे कोने तक विशाल मंगोल साम्राज्य फैला था। इतिहास में मंगोलों की विजय की समता किसी दूसरी चीज़ से नहीं की जा सकती। इतना विशाल साम्राज्य इसके पहले न कभी देखा और न सुना ही गया था। उस समय तो मंगोल, वास्तव में, संसार के महाप्रभु समझे जाते रहे होंगे। भारत उनकी चपेट से बच गया था; लेकिन इसका यह कारण था कि वे इस ओर आए ही नहीं। पश्चिमी योरप भी, जो विस्तार में भारत से मिलता-जुलता है, मंगोलों के साम्राज्य के बाहर था; लेकिन इन देशों का स्वतंत्र अस्तित्व मंगोलों की उदासीनता पर अवलंबित था। उसी समय तक उनका अस्तित्व बना था, जब तक मंगोलों के मन में उनको हड़प जाने की बात नहीं उठती थी। ऐसा तेरहवीं शताब्दी के लोगों को भासित होता रहा होगा।

कालांतर में मंगोलों की अपार शक्ति धीरे-धीरे घटने लगी। उनकी विजय-लालसा भी क्षीण होती गई। तुम्हें याद रखना चाहिए कि उन दिनों लोग पैदल या घोड़े पर धीरे-धीरे यात्रा करते थे। इससे अधिक द्रुत गति से जाने के लिए तब कोई और साधन ही न थे। स्वदेश, मंगोलिया, से योरप तक विस्तृत साम्राज्य की पश्चिमी सीमा तक पहुँचने में मंगोल सेना को लगभग एक साल लगता था। मंगोलों को विजय की इतनी उत्कट लालसा न थी कि वे अपने साम्राज्य को पार करते हुए उन देशों की, जहाँ लूट-मार की कुछ संभावना न थी, इतनी लंबी-लंबी यात्राएँ करें। इसके अतिरिक्त युद्ध और लूट-मार में बारंबार की सफलता से मंगोल सिपाही मालामाल हो गए थे। बहुतों के पास दास भी थे। अतएव इन लोगों का जोश ठंढा हो गया और वे शांति-पूर्वक रहने लगे। जिसे इच्छानुसार सब कुछ उपलब्ध होता है, वह पूर्ण रूप से अमन-चैन का पक्षपाती बन जाता है। विशाल मंगोल साम्राज्य का शासन बहुत ही दुस्तर और दुःसाध्य रहा होगा; अतएव यह कोई अचरज की बात नहीं कि वह खंड-खंड होने लगा। कुबलाई खाँ १२९२ ई० प० में मरा। उसके बाद फिर कोई प्रतापी ख़ान की गद्दी पर नहीं बैठा। मंगोल साम्राज्य पाँच बड़े-बड़े टुकड़ों में बँट गया था:—

(१) चीन का साम्राज्य, जिसमें मंगोलिया, मंचूरिया और तिब्बत शामिल थे। यही प्रधान साम्राज्य था। इस पर कुबलाई के वंशज, युआन राजवंश वालों, का आधिपत्य था।

(२) सुदूर पश्चिम की ओर रूस, पोलैंड और हंगरी में सुवर्ण-यूथ—वहाँ इसी नाम से मंगोल प्रसिद्ध थे—का राज्य था।

(३) ईरान, इराक़ और मध्य एशिया के एक खंड में इलख़ान साम्राज्य था, जिसे हलागू ने स्थापित किया था। इसे सेलजुक तुर्क करद देते थे।

(४) तिब्बत के उत्तर में मध्य एशिया में जगतई का साम्राज्य था, जो महा टर्की कहलाता था।

(५) मंगोलिया और सुवर्ण-यूथ के मध्य में साइबेरिया का मंगोल साम्राज्य था।

यद्यपि विशाल मंगोल साम्राज्य के खंड-खंड हो गए थे; परंतु उसके उपर्युक्त पाँच खंडों में से प्रत्येक खंड एक शक्तिशाली साम्राज्य था।

(६९)

सुप्रसिद्ध यात्री मारको पोलो

जून २७, १९३२

मैं तुम्हें कराकोरम के महाप्रतापी खान के राज-दरबार की बाबत यह बता चुका हूँ कि किस प्रकार मंगोलों की कीर्ति और दिग्विजय के अनुपम आलोक से आकर्षित हो कर देश-देशांतरों के व्यापारियों, कलाविदों, विद्वानों और धर्म-प्रचारकों के झुंड वहाँ पहुँचा करते थे। इन लोगों के वहाँ पहुंचने का यह भी एक कारण था कि मंगोल शासक उन्हें आश्रय देकर सदैव प्रोत्साहित करते रहते थे। सचमुच ही, मंगोल अद्भुत प्रकृति के लोग थे। कई बातों में महासामर्थ्यवान् होते हुए भी बहुत-सी बातों के संबंध में वे बच्चों-जैसा आचरण करने लगते थे। उनकी हृदय-विकंपी नृशंसता और क्रूरता तक में लड़कपन की एक मात्रा थी। मेरी धारणा है कि उनके इस बालोचित स्वभाव ही के कारण इन रौद्रमूर्ति योद्धाओं के प्रति हमारे मन में आकर्षण पैदा हो जाता है। जिन दिनों का हम उल्लेख कर रहे हैं, उनसे कुछ ही सौ वर्ष बाद एक मंगोल या मुग़ल—इसी नाम से वे भारत में पुकारे जाने लगे—इस देश में विजेता के रूप में आया था। इस व्यक्ति का नाम बाबर था और उसकी माता चंगीज़ ख़ाँ के वंश की थी। अपनी भारत-विजय को समाप्त कर लेने पर वह फिर काबुल और उत्तरीय प्रदेशों की शीतल समीर तथा वहां के बग़ीचों, पुष्पों और तरबूजों के लिए तड़पने लगा। उनकी याद में वह प्रायः ठंडी आहें खींचा करता था। वास्तव में, वह एक अद्भुत और मनोहर व्यक्ति था और उसकी आत्मकथा ने उसको और भी अधिक आकर्षक बना दिया है।

इस प्रकार मंगोल शासक दूर-दूर के यात्रियों को अपने दरबार में आने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। वे जिज्ञासु थे और नवागंतुकों से विशेष बातें सीखने के लिए सदा उत्सुक रहा करते थे। कदाचित् तुम्हें मेरा यह कथन याद होगा कि ज्योंही चंगीज़ ख़ाँ को यह बात मालूम हुई कि लेखन-कला नाम की भी कोई वस्तु है, त्योंही वह इस कला की महत्ता को समझ गया और उसने अपने सब अफ़सरों को आज्ञा दी कि वे शीघ्र से शीघ्र इस कला को सीख लें। मंगोलों के विचार संकीर्ण नहीं थे। नवीन बातों को ग्रहण करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। अतएव जो भी बात उन्हें दूसरों में अच्छी दिखाई देती थी, उसे वे तुरंत ही सीख लेते थे। मंगोल शासकों में कुबलाई ख़ाँ, जो पेकिंग में चीनी महा-सम्राट् के पद पर प्रतिष्ठित था, विदेशी यात्रियों को अपने राजदरबार में आने के लिए विशेष रूप से प्रोत्साहित करता रहता था। उसके राजदरबार में वीनिस के दो व्यापारी—निकोलो पोलो और मैफ़िओ पोलो—भी पहुँचे। ये दोनों सगे भाई थे। व्यवसाय की खोज में वे बोख़ारा तक जा पहुँचे थे। वहाँ अचानक उनकी भेंट कुबलाई ख़ाँ के कुछ दूतों से हो गई, जो

ईरान के मंगोल शासक, हलागू, के पास से लौट कर आ रहे थे। उन लोगों ने पोलो-बंधुओं को अनुरोध-पूर्वक अपने कारवाँ में संमिलित कर लिया। इस प्रकार लंबी यात्रा के बाद ये दोनों बोखारा से पेकिंग के महाप्रतापी खान के राजदरबार में पहुँच गए।

कुबलाई खाँ ने निकोलो और मेफिओ पोलो का बड़ा आदर-सत्कार किया। पोलो-बंधुओं ने उसे योरप, ईसाई धर्म्म और पोप की बाबत बहुत-सी बातें बताईं। इन बातों में कुबलाई ने बड़ी दिलचस्पी ली। मालूम होता है कि ईसाई मत के प्रति उसका विशेष रूप से झुकाव हो गया था। १२६६ ई० प० में उसने पोप के नाम एक संदेश देकर पोलो-बंधुओं को योरप वापस भेजा। अपने संदेश में उसने पोप को ऐसे सौ विद्वानों को भेजने के लिए लिखा था, जो "सातों कलाओं में पारंगत और बुद्धिमान्" और ईसाई धर्म्म का योग्यता-पूर्वक प्रतिपादन करने में कुशल हों। किंतु स्वदेश में वापस लौटने पर पोलो-बंधुओं ने योरप और पोप को बुरे चक्कर में फँसे हुए देखा। कुबलाई की रुचि के सौ पंडित भी उन्हें न मिल सके। अंत में, दो वर्ष तक व्यर्थ में समय नष्ट करने के बाद वे अपने साथ दो ईसाई पादरियों को लेकर पुनः चीन के लिए रवाना हुए। किंतु इस बार की उनकी यात्रा में एक विशेषता थी। वे अपने साथ निकोलो के पुत्र, नवयुवक मारको, को भी लेते गये थे।

पोलो-त्रय अपनी दुर्गम यात्रा के लिए रवाना हुए, और सारे एशिया को स्थल-मार्ग से लांघते हुए वे सुदूरतम चीन में जा पहुँचे। उस युग की वे यात्राएँ कितनी अधिक कठिन होती थीं! आज दिन भी यदि पोलो-बंधुओं के मार्ग का अनुसरण करते हुए यात्रा की जाय तो उस यात्रा में वर्ष का अधिकांश भाग खप जायगा। पोलो-बंधुओं ने कुछ अंश तक ह्यान शाङ्ग ही के प्राचीन मार्ग का अनुसरण किया। फ़िलिस्तीन होते हुए वे आरमीनिया पहुँचे, और तब इराक़ को पार कर ईरान की खाड़ी के तट पर उन्होंने अपना डेरा जमाया। यहाँ भारत के कुछ व्यापारियों के साथ उनकी भेंट हुई। ईरान से चल कर पोलो और उनके साथी बलख़ की सीमा पर पहुँचे। तब काशगर की सुदीर्घ पर्वतमाला को लांघते हुए वे खोतान और लापनोर-नामक सुप्रसिद्ध झील के किनारे आए। यह झील "अस्थिर झील" के नाम से प्रसिद्ध है; क्योंकि यह बार-बार अपना स्थान बदलती रहती है। यहाँ से आगे बढ़कर उन्होंने फिर रेगिस्तान को पार किया। अंत में, चीन के मैदानों और खेतों के मार्ग से, वे पेकिंग पहुँचे। इस यात्रा में उनके पास सुवर्ण की तख़्ती पर अंकित एक शाही परवाना या पासपोर्ट था। यह परवाना उन्हें स्वयं प्रतापी खान से मिला था।

जिस मार्ग का मैंने ऊपर उल्लेख किया है, वह प्राचीन रोमन साम्राज्य के युग में चीन और सीरिया के बीच कारवानों के आने-जाने का प्रधान राजपथ था। कुछ दिन हुए, मुझे स्वेन हेडिन-नामक एक स्वेडिश अन्वेषक और यात्री की गोबी रेगिस्तान की साहस-पूर्ण यात्रा का विवरण पढ़ने को मिला था। स्वेन पेकिंग से पश्चिम की ओर रवाना हुआ था और सुविस्तृत रेगिस्तान को पार करता तथा लापनोर झील के समीप होता हुआ वह खोतान से भी आगे निकल गया था। उसे अपनी यात्रा में कई आधुनिक साधन प्राप्त थे, इस पर भी उसे अनेक मुसीबतें झेलनी पड़ीं। तब सात और तेरह शताब्दियों पूर्व की वे दीर्घ यात्राएं कैसी रही होंगी, जब

ह्युयान शाङ और पोलो-बंधुओं ने उस मार्ग को तय किया था। स्वेन हेडिन ने अपनी यात्रा में एक बड़ी मनोरंजक खोज की। उसे मालूम हुआ कि लापनोर झील अपना स्थान बदल कर अब दूसरे ही स्थान पर चली गई है। बहुत काल पूर्व, चौथी शताब्दी में, तारिन नदी—जो लापनोर झील में गिरती है—अपनी धारा छोड़ कर दूसरे मार्ग से बहने लगी थी और उसके उजड़े हुए पुराने तटों को शीघ्र ही रेगिस्तान की बालू ने पाट दिया था। इसके कारण लुआन का प्राचीन नगर, जो तारिन के तट पर बसा हुआ था, बाह्य जगत् के संपर्क से बिलकुल कट-सा गया और उसके निवासी उसे छोड़ कर चल दिए। नदी के मार्ग-परिवर्त्तन के कारण झील ने भी अपनी पुरानी जगह को छोड़ दिया, और उसी के साथ कारवानों का युगप्राचीन राजपथ भी बदल गया। स्वेन हेडिन ने पता लगाया कि अभी हाल में, कुछ वर्ष पूर्व, तारिन नदी फिर अपने भूतपूर्व मार्ग पर बहने लगी है और उसी का अनुसरण करते हुए झील, लापनोर, भी पुनः अपनी पुरानी जगह पर आ गई है। अब तारिन फिर से लुआन के प्राचीन नगर के भग्नावषेशों के समीप बहती है। बहुत संभव है कि वह प्राचीन जनपथ भी, जो पिछले सोलह सौ वर्षों से बेकार पड़ा है, फिर से आबाद हो जाय। किंतु अब ऊँट का स्थान, संभवतः, मोटरकार ले लेगी। इसी बारंबार के स्थान-परिवर्त्तन के कारण लापनोर का नाम 'अस्थिर झील' पड़ गया है। तारिन और लापनोर के पथ-परिवर्त्तन का हाल मैंने तुम्हें विशेष रूप से इसलिए बतलाया है, ताकि तुम्हें इस बात का बोध हो जाय कि किस तरह जलाशय विस्तृत भूभागों की परिस्थिति को पलट कर इतिहास की धारा को प्रभावित करते रहते हैं। जैसा हम देख चुके हैं, प्राचीनकाल में, मध्य एशिया की जनसंख्या अपार थी। वहां अनेक जातियाँ, एक के बाद एक, लहरों की तरह उठीं और विजय प्राप्त करती हुई पश्चिम तथा दक्षिण दिशाओं में फैल गईं। आज वही मध्य एशिया लगभग उजाड़-सा है; उसमें इने-गिने क़स्बे रह गए हैं और उसकी आबादी भी नाम-मात्र की रह गई है। संभवतः, पूर्वकाल में वहाँ पानी का बाहुल्य था। इसीसे काफ़ी जनसमुदाय का वहाँ निर्वाह हो जाता था। किंतु बाद में ज्यों-ज्यों वहाँ की आबहवा शुष्क होती गई त्यों-त्यों पानी की मात्रा भी घटती गई। इस प्रकार कालांतर में वहाँ की जन-संख्या अत्यधिक क्षीण हो गई।

पूर्वकाल की इन सुदीर्घ यात्राओं में एक बड़ा लाभ था। इन यात्राओं को करते समय यात्रियों को मार्ग में पड़नेवाले देशों की भाषा या भाषाओं को सीखने के लिए काफ़ी समय मिल जाता था। वैनिस से पैकिंग तक पहुँचने में पोलो-बंधुओं को पूरे साढ़े तीन वर्ष लगे थे। इस अवधि में मारको ने मंगोल तथा चीनी भाषा पर पूर्ण अधिकार कर लिया था। चीन में मारको महाप्रतापी ख़ान का प्रियपात्र बन गया। उसे अनेक बार राजकीय कार्य के लिए चीन के विभिन्न भागों में जाने का अवसर भी प्राप्त हुआ था। यद्यपि मारको और उसके पिता को स्वदेश की याद बहुत सताया करती और वैनिस को लौट जाने की उनकी इच्छा बलवती हो उठी थी, लेकिन महान् ख़ान की अनुमति प्राप्त करना सरल नहीं था। अंत में, अनायास ही, उन्हें स्वदेश लौट जाने का एक सुयोग प्राप्त हुआ। ईरान के ईलख़ान साम्राज्य के मंगोल शासक की धर्मपत्नी का

अचानक देहांत हो गया। ईरान का शासक कुबलाई खां का चचेरा भाई था। वह फिर से शादी करने के लिए लालायित था। किंतु मृत्यु के पहले उसकी स्वर्गीया धर्म्मपत्नी ने उससे यह वादा करा लिया था कि अपनी जाति के बाहर की किसी भी स्त्री से वह विवाह न करेगा। अतएव आरगान ने (यही उसका नाम था) पेकिंग में कुबलाई के पास दूत द्वारा संदेश भेज कर उससे अपने लिए एक सजातीय योग्य स्त्री भेजने की प्रार्थना की।

कुबलाई ने आरगान के लिए एक युवती मंगोल राजकुमारी को चुन कर उसे ईरान को रवाना कर दिया। उसने उसके साथ बतौर साथियों के तीनों पोलो को भी कर दिया, क्योंकि ये लोग अनुभवी यात्री थे। ये सब दक्षिणी चीन से रवाना होकर समुद्र-मार्ग द्वारा सुमात्रा पहुंचे, और कुछ काल तक वहीं ठहरे रहे। उन दिनों सुमात्रा में श्रीविजय का महान् बौद्ध साम्राज्य स्थापित था, जो धीरे-धीरे क्षीण होता जा रहा था। सुमात्रा से ये लोग दक्षिणी भारत में आए। दक्षिणी भारत के पांड्य राष्ट्र के सुसमृद्ध बंदरगाह, कयाल, में मारको के जाने का हाल मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूं। मंगोल राजकुमारी और उसके साथी बहुत दिनों तक भारत में टिके रहे। मालूम होता है कि उन्हें ईरान पहुँचने की कोई विशेष जल्दी नहीं थी। चीन से ईरान तक पहुंचने में उन्होंने दो वर्ष बिता दिए। इस अवधि में भावी वर, आरगान, का देहांत हो गया। वह बेचारा राह देखते-देखते थक गया था। लेकिन उसकी मृत्यु से राजकुमारी की कोई विशेष हानि नहीं हुई। उसने आरगान के बदले उसके पुत्र के साथ विवाह कर लिया। वह उसके लिए अधिक समवयस्क भी था।

राजकुमारी को ईरान ही में छोड़ कर पोलो-बंधु कानस्टैंटिनोपल की राह स्वदेश की ओर चल दिए। पिछली बार अपने घर से चीन के लिए रवाना होने के चौबीस वर्ष बाद, १२९५ ई० प० में, वे वैनिस वापस पहुंचे। किंतु वहां उन्हें कोई पहचान भी नहीं पाया। कहते हैं कि अपने पुराने मित्रों और अन्य लोगों को प्रभावित करने के उद्देश से उन्होंने उन सब को एक दावत दी। उस दावत के समय अपने मैले कपड़े-लत्तों की गठरियां खोल कर उन्होंने सब के सामने अमूल्य जवाहरातों के ढेर लगा दिए। इससे उपस्थित मेहमान बड़े चकित हुए। लेकिन इस पर भी बहुत कम लोगों को पोलो-बंधुओं की चीन और भारतवर्ष की दुर्गम यात्राओं की कथा पर विश्वास हुआ। वे तो यही सोचते थे कि मारको और उसके पिता और चचा महज़ गप्पें हांक रहे हैं। वैनिस के अपने छोटे-से गण-तंत्र ही से परिचित होने के कारण, चीन और अन्य एशियाई देशों के विस्तार और वैभव की वे लोग कल्पना ही नहीं कर सकते थे।

तीन वर्ष बाद, १२९८ ई० प० में, वैनिस और जैनोआ के नगर-राष्ट्रों में घोर युद्ध छिड़ा। ये दोनों प्रबल नौ-राष्ट्र थे और एक दूसरे के घोर प्रतिद्वंदी थे। जैनोआवालों ने एक भीषण सामुद्रिक युद्ध में वैनिसवालों को परास्त कर उन्हें हज़ारों की तादाद में बंदी बना लिया। इन्हीं बंदियों में हमारा मित्र, मारको पोलो, भी था। जैनोआ के कारागार की कोठरी में बैठ कर उसने अपनी यात्रा का वर्णन लिखना अथवा लिखवाना आरंभ किया। इस तरह उस महत्व-पूर्ण ग्रंथ का निर्माण हुआ, जो आज दिन 'मारकोपोलो की यात्राएँ'

के नाम से प्रसिद्ध है। सत्कार्य के लिए कारागार कितना अधिक उपयोगी स्थान है।

मारको ने अपने यात्रा-विवरण में चीन का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। उसने चीन के विभिन्न भागों में अपनी यात्राओं का विशद वृत्तांत लिखा है। श्याम, जावा, सुमात्रा, लंका और दक्षिणी भारत का भी उसने संक्षिप्त में कुछ हाल दिया है। उसने लिखा है कि चीन के विशाल बंदरगाहों में समस्त पूर्वीय देशों के जहाजों और जलपोतों की भीड़ लगी रहती थी। इनमें से कई जलपोत तो इतने बड़े होते थे कि उन्हें खेने के लिए ३०० से ४०० तक मल्लाह लगते थे। मारको ने अपनी पुस्तक में चीन को एक ऐसे समृद्धिशाली महादेश के रूप में चित्रित किया है, जहाँ अनेक नगर और क़स्बे फल-फूल रहे थे। "रेशम और ज़री के अमूल्य परिधानों; महीन तोफ़्ता के कारख़ानों"; "अंगूर की सुरम्य बाड़ियों; हरे-भरे खेतों तथा बगीचों"; और सुदीर्घ राजपथों के तट पर निर्मित "धर्मशालाओं और विश्राम-गृहों" का भी उसने उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि शाही डाक को लाने-लेजाने का विशेष रूप से प्रबंध था। यह डाक थोड़ी-थोड़ी दूर पर तैनात घुड़-सवारों द्वारा चौबीस घंटे में चार सौ मील दूर तक पहुँच जाती थी। सचमुच ही यह काफ़ी तेज़ चाल थी। मारको से हमें इस बात का भी पता लगता है कि चीन में लोग ईंधन के लिए लकड़ी के बजाय ज़मीन से खोद कर निकाले हुए एक प्रकार के काले पत्थरों का उपयोग करते थे। इससे स्पष्ट है कि वे लोग खदानों से कोयला खोद कर उसे जलाने के काम में लाते थे। कुबलाई ख़ाँ ने एक प्रकार का कागज़ी सिक्का भी चलाया था। आजकल की तरह उसने कागज़ के नोट निकाले थे और उनके बदले में वह सुवर्ण देने का वादा करता था। यह बात बहुत मनोरंजक है, क्योंकि इससे हमें मालूम होता है कि कुबलाई ने चीन में लेन-देन के बिलकुल आधुनिक साधनों का प्रयोग किया था। मारको ने एक और बात का उल्लेख किया है, जिसके कारण तात्कालिक योरप-निवासी बड़े चकित हुए थे और उनमें एक अजीब खलबली मच गई थी। मारको ने लिखा है कि चीन में उन दिनों एक ईसाई उपनिवेश विद्यमान था, जिसका प्रधान प्रेस्टर जान नामक एक व्यक्ति था। संभवतः, यह उपनिवेश प्राचीन नैस्टो-रियन संप्रदाय के ईसाइयों का था, जो मंगोलिया में जा बसे थे।

जापान, बर्मा और भारत के विषय में भी मारको ने कुछ बातें लिखी हैं। इनमें से कुछ बातें उसने प्रत्यक्ष देख कर और कुछ सुन कर लिखी थीं। मारको का यात्रा-विवरण उस ज़माने के लिए एक अद्भुत यात्रा-वृत्तांत था, और आज दिन भी वह अमूल्य माना जाता है। इस पुस्तक ने संकुचित सीमा-बंधन तथा पारस्परिक राग-द्वेष के पंक में फँसे हुए योरप के लोगों की आँखें खोल दीं। इसको पढ़कर उन्हें अपनी परिमित दुनिया से परे की विशद दुनिया के अनंत वैभव, और आश्चर्यमय कौतुक की एक झलक मिल गई। मारको की कहानी ने योरप-वासियों की कल्पना को जाग्रत कर उनमें साहस-पूर्ण कार्य-कलापों की एक उमंग पैदा कर दी। उसने उनकी गुप्त लालसाओं को गुदगुदा दिया और समुद्र की ओर विशेष रूप से अपनी शक्ति लगाने के लिए उन्हें प्रेरित किया। यह योरप के नवविकास की वेला थी। उसकी नवजात सभ्यता अपने

पैरों पर खड़े होने और मध्यकालीन युग के अंधकार-रूपी बंधनों को तोड़ फेंकने के लिए व्यग्र हो उठी थी। योरप-वासियों के मन में उस समय वैसी ही नवीन उमंगें उमड़ रही थीं जैसी यौवन के द्वार पर खड़े हुए नवयुवक की नसों में उमड़ती रहती हैं। समुद्र की ओर झुकने तथा संपत्ति की खोज में साहस-पूर्ण कार्य-कलापों के मार्ग की ओर अग्रसर होने की जो प्रेरणा योरपवालों को उन दिनों मिली थी, वही कालांतर में उन्हें अमेरिका, आशा अंतरीप, पेसिफ़िक महासागर, भारत, चीन और जापान तक खींच ले गई। इस तरह समुद्र दुनिया के विस्तृत भूभागों में यातायात का प्रधान मार्ग बन गया, और विशाल महाद्वीपों के एक छोर से दूसरे छोर तक जानेवाले कारवानों के प्राचीन मार्गों का महत्व क्रमशः घटने लगा।

मारको के चीन से विदा होते ही महाप्रतापी खान, कुबलाई, की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद चीन में युआन राजवंश—जिसका वह संस्थापक था—अधिक काल तक स्थायी नहीं रह सका। चीन में मंगोलों का द्रुत गति से ह्रास होने लगा और विदेशी शासकों के विरुद्ध वहाँ एक ज़बर्दस्त राष्ट्रीय लहर उठ खड़ी हुई। साठ वर्ष की अल्पावधि ही में मंगोल दक्षिणी चीन से खदेड़ कर भगा दिए गए। वहाँ एक चीनी शासक ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली; उसने नानकिंग में अपने आपको चीन का सम्राट् घोषित कर दिया। आगामी १२ वर्षों में—अर्थात् १३६८ ई० प० में—युआन-वंश का रहा-सहा ढाँचा भी ढह पड़ा, और मंगोल खदेड़ कर चीन की बड़ी दीवार के उस पार भगा दिए गए। अब एक दूसरा महान् राजवंश—टाई मिङ वंश—चीन की रंगभूमि में उपस्थित हुआ। इस वंश ने सुदीर्घ काल तक, लगभग तीन सौ वर्षों तक, चीन पर शासन किया। कहते हैं कि इस वंश के शासनकाल में चीन में संस्कृति, सुशासन और समृद्धि का साम्राज्य स्थापित था। इस युग में चीन ने बाहरी देशों को जीत कर अपनी साम्राज्यिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने का कोई प्रयत्न नहीं किया।

चीन में मंगोल साम्राज्य के विध्वंस के फल-स्वरूप सुदूर पूर्व और योरप के प्राचीन संपर्क का अंत हो गया। अब स्थल-मार्ग सुरक्षित न रहे और जल-मार्गों से विरले ही लोग यात्रा किया करते थे।

(७०)

रोमन ईसाई संघ ने तलवार उठा ली

जून २८, १९३२

मैं तुम्हें वता चुका हूँ कि कुबलाई खाँ ने पोप के नाम एक संदेश भेज कर उससे सौ ईसाई पंडितों को चीन भेजने की प्रार्थना की थी, किंतु पोप इस मामले में उदासीन बना रहा। इसका कारण यह था कि वह उन दिनों वड़े बुरे संकट में फँसा था। यदि तुम्हें याद हो तो यह उस समय की वात है जब सम्राट्र फ्रैडरिक द्वितीय की मृत्यु के वाद, १२५० से १२७३ ई० प०, तक पवित्र रोमन सम्राट् की गद्दी खाली पड़ी थी। इस अवधि में मध्य योरप की दशा बड़ी विकट थी। चारो ओर अराजकता का साम्राज्य था और आवारा डाकू सरदारों ने मनमानी लूट-मार मचा रक्खी थी। १२७३ ई० प० में हैप्सवर्ग वंश का रुडाल्फ़ सम्राट् की गद्दी पर वैठा। लेकिन इससे भी परिस्थिति में सुधार न हुआ। इटली साम्राज्य से अलग हो चुका था।

इस समय योरप में न केवल राजनीतिक अराजकता ही का वातावरण छा रहा था, किंतु रोमन ईसाई संघ की दृष्टि में, धार्मिक अराजकता के भी लक्षण प्रकट होने लगे थे। अब लोग पहले की भाँति भेड़-बकरियों की तरह चर्च की आज्ञाओं को चुपचाप मान लेने को तैयार न थे। उनके मन में शंकाएँ उठने लगी थीं, और धर्म के मामले में शंका बड़ी ख़तरनाक़ वस्तु होती है। इसके पहले ही हम सम्राट् फ्रैडरिक को पोप और उसके वहिष्कार-रुपी अमोघ अस्त्र की अवहेलना करते हुए देख चुके हैं। फ्रैडरिक ने तो पोप के साथ लिखित शास्त्रार्थ तक छेड़ दिया था, जिसमें पोप वगलें झाँकने लगा था। फ्रैडरिक ही के ज़माने में उसी के समान और भी कई व्यक्ति थे, जो चर्च की बातों में शंका करते थे। ऐसे भी अनेक व्यक्ति थे जो पोप या ईसाई धर्म्म-संघ की सत्ता को तो स्वीकार करते थे, किंतु तात्कालिक चर्च की दुर्दशा और उसके धर्म्माचार्य्यों की विलासलीला के वे घोर विरोधी थे।

ईसाई धर्म्म-युद्धों की ज्योति दिनोंदिन लज्जाजनक रूप से मंद होती जा रही थी। इन युद्धों का श्रीगणेश तो वड़े हौसले और उत्साह के साथ किया गया था, लेकिन उनसे किसी लक्ष्य-विशेष की सिद्धि न हुई। ऐसे असफल कार्यों का परिणाम सदैव भीषण प्रतिक्रिया के रुप में होता है। तात्कालिक ईसाई चर्च की कुदशा से असंतुष्ट होकर योरप के लोग धीरे-धीरे ज्ञान-रुपी प्रकाश के लिए अन्य दिशाओं में निगाह दौड़ाने लगे। इसके प्रतिकार-स्वरूप रोमन ईसाई संघ ने तलवार उठा ली। वह आतंक तथा भय के साधनों द्वारा लोगों के मस्तिष्क पर अधिकार जमाने को उतारू हो गया। वह इस वात को भूल गया कि मनुष्य का मन एक ऐसी मायावी वस्तु है, जिस पर अधिकार करने के लिए पाशविक वल अत्यंत असमर्थ और निर्वल अस्त्र है। रोमन चर्च व्यक्तियों और समुदायों के अंतःकरण की हलचल को पशु-वल द्वारा दवाने का प्रयत्न करने लगा। उसने तर्क और विवेक के पथ को छोड़ कर डंडे और चिता द्वारा शंकाओं का समाधान करने का मार्ग ग्रहण कर लिया।

बहुत पहले, ११५५ ई० प० में, ईसाई धर्म-संघ के वज्रकोप का प्रहार इटली के बेसकिया-नामक गांव के एक सच्चे और लोकप्रिय धर्मोपदेशक, आरनाल्ड, पर हो चुका था। आरनाल्ड ने ईसाई धर्म्माचार्यों के अनाचार और विलासलीला के खिलाफ़ अपनी आवाज़ बलंद करना शुरू किया था। इसी अपराध में वह पकड़ कर फांसी पर लटका दिया गया और उसका शव जला कर भस्म कर दिया गया। उसकी हड्डियों की राख तक टाइबर नदी में बहा दी गई, जिसमें लोग उसे स्मारक के रूप में अपने पास न रख लें। किंतु मृत्यु के सन्मुख भी अंतिम क्षण तक आरनाल्ड ज्यों-का-त्यों शांत और दृढ़ बना रहा।

क्रमशः पोप इतने उग्र हो गए कि उन्होंने उन समस्त ईसाई संप्रदायों और व्यक्तियों को, जो धार्मिक मामले में उनसे ज़रा भी मतभेद रखते अथवा धर्म्मोपदेशकों और पादरियों के दुराचरण की कटु आलोचना करने का दुस्साहस करते थे, समुदाय-रूप से बहिष्कृत करना आरंभ किया। इन लोगों के विरुद्ध विधिवत् धर्म-युद्ध की घोषणा की जाती थी और उनके साथ हर तरह की घृणित पाशविकता का व्यवहार किया जाता था। दक्षिणी फ़्रांस के टूलू नगर के एलबिजि-ओज़ (अथवा एलबिजियनों) तथा वालडो-नामक व्यक्ति के अनुयाइयों, वालडेंसियों, के साथ इसी तरह का व्यवहार किया गया था।

इसी काल के लगभग, अथवा इससे कुछ ही समय पूर्व, इटली में एक महापुरुष हुआ, जो ईसाई मत की सब से आकर्षक विभूतियों में से एक है। यह महापुरुष असीसी का संत फ़्रांसिस था। आरंभ में वह बहुत धनवान था, किंतु अपनी समस्त संपाति को त्याग तथा आजन्म ग़रीबी का व्रत ले कर वह पीड़ितों की सेवा करने के लिए निकल पड़ा। उसने देखा कि सब से अधिक दुःखी और अपाहिज कोढ़ी हैं, अतएव उसने विशेषकर उन्हीं की सेवा में अपने आपको संलग्न करने का संकल्प किया। उसने बौद्ध संघ से मिलते-जुलते एक नवीन संघ या ईसाई मंडल की स्थापना की, जो 'संत फ़्रांसिस का संघ' के नाम से प्रसिद्ध है। फ़्रांसिस ने हज़रत मसीह के जीवन का अनुकरण किया। वह गांव-गांव घूम कर उपदेश देता और लोगों की सेवा किया करता था। उसके उपदेशों को सुनने के लिए हज़ारों स्त्री-पुरुष इकट्ठा होने लगे और कई उसके शिष्य भी हो गए। वह मिस्र और फ़िलिस्तीन को भी गया, जहाँ उस समय क्रूसेड छिड़ी हुई थी। यद्यपि वह एक विधर्म्मी ईसाई था, परंतु मुसलमान इस सौम्य और स्नेहार्द्र साधु पुरुष का संमान करते और किसी भी तरह से उसके कार्यों में बाधा नहीं डालते थे। फ़्रांसिस ११८१ से १२२६ ई० प० तक जीवित रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात्, फ़्रांसिस्कन संघ और ईसाई चर्च के उच्च पदाधिकारियों में गहरी लाग-डांट छिड़ गई। संभवतः, तात्कालिक चर्च के आधि-कारी अपरिग्रह के सिद्धांत को निरर्थक समझते थे। इस आदिम ईसाई सिद्धांत से वे कोसों दूर निकल चुके थे। १३१८ ई० प० में मारसेई में चार फ़्रांसिस्कन संन्यासियों पर विधर्म्मी होने का आरोप लगाया गया और वे ज़िंदा जला दिए गए।

कुछ वर्ष हुए, असीसी के छोटे-से गाँव में संत फ़्रांसिस के संमान में एक महोत्सव मनाया गया था। मुझे याद नहीं है कि किस बात के उपलक्ष्य में वह उत्सव विशेषतया उसी अवसर पर मनाया गया था। संभवतः, वह संत फ़्रांसिस की सप्त-शतवर्षीय जयंति का महोत्सव था।

संघटन में फ्रांसिस्कन संघ के समान, किंतु उद्देश में उससे बिलकुल विपरीत, एक और नवीन संघ ईसाई चर्च के अंतर्गत उठ खड़ा हुआ। इसकी स्थापना सेंट डामिनिक-नामक एक स्पेन-निवासी ने की थी, अतएव यह संघ डोमिनिकन संघ के नाम से मशहूर हुआ। यह संघ धार्मिक मामलों में कट्टर विचारों का प्रतिपादक और उग्र नीति का पोषक था। डामिनिकनों का मूल सिद्धांत ही यह था कि सद्धर्म की रक्षा के सर्वोपरि कर्तव्य के सामने हर एक वस्तु को तुच्छ समझना चाहिए, और साधारण अनुरोध से यदि निर्धारित लक्ष्य की सिद्धि न हो तो तलवार के ज़ोर पर बलपूर्वक हर एक से अपना मत स्वीकार कराना चाहिए।

१२३५ ई० प० में ईसाई धर्म्म-संघ ने इनक्वीज़ीशन की स्थापना द्वारा विधिवत् संघटन के साथ धर्म में तलवार के शासन का श्रीगणेश किया। इनक्वीज़ीशन एक तरह की धार्मिक अदालत थी, जो लोगों के धर्म-संबंधी विचारों को कट्टर धर्म्म की कसौटी पर परखती और यदि वे निश्चित् प्रमाण-दंड के उपयुक्त नहीं जंचते थे तो उन लोगों को, जो उन विचारों का प्रतिपादन करते थे, जीवित जला कर मारने का दंड देती थी। "विधर्मियों" की धरपकड़ के लिए विधिवत् प्रबंध किया गया था। इस तरह सैकड़ों स्त्री-पुरुष चिता पर जीवित जला कर मार डाले जाते थे। किंतु चिता के दंड से भी अधिक भयंकर तो थीं वे नारकीय यंत्रणाएँ, जो लोगों को उनके विचार बदलवाने के लिए दी जाती थीं। कई अभागिनी स्त्रियां भी, जादूगरनियां करार दी जा कर, चिता में जीवित जला दी गईं। लेकिन ऐसे बीभत्स कांड प्रायः इंगलैंड और स्काटलैंड ही में होते थे, और वे उत्तेजित जनता द्वारा, न कि इनक्वीज़ीशन की आज्ञा से, होते थे।

इन्हीं दिनों पोप ने "सद्धर्म का आदेश"-नामक एक घोषणा-पत्र निकाला था, जिसमें आज्ञा दी गई थी कि प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य होगा कि वह धर्म-संघ को विधर्म्मियों की बाबत नियमित सूचना देता रहे। रसायनविद्या को पोप ने पैशाचिक विद्या घोषित किया। उसने उसे अधार्मिक और निंदनीय बतलाया। आश्चर्य की बात तो यह थी कि यह सब किसी छल-कपट से नहीं प्रत्युत् अंतःकरण की सच्चाई और अनन्य विश्वास के साथ किया जाता था। हृदय ही से लोग इस बात को मानते थे कि विधर्म्मी को चिता पर जीवित जला कर वे न सिर्फ़ अन्य लोगों की किंतु स्वयं मरनेवाले की आत्मा को भी नरक में गिरने से बचा लेंगे। धर्म के ठेकेदारों ने प्रायः दूसरों पर सवार हो कर उनसे बलपूर्वक अपने विचार मनवाने का प्रयत्न किया है। ऐसा करते समय उनकी यही धारणा रही है कि वे महत् परोपकार और जन-सेवा का कार्य करने जा रहे हैं। ईश्वर के नाम पर उन्होंने न जाने कितनों को तलवार के घाट उतार दिया और कितनों ही का खून कर डाला। उन्होंने "अमर आत्मा" की रक्षा की डींग हाँकते हुए नश्वर शरीर को जला कर ख़ाक कर देने में कभी हिचहिचाहट न की। वास्तव में, धर्म की करतूतों का कच्चा चिट्ठा अति भयंकर है। किंतु मेरी धारणा है कि धर्म के नाम पर होनेवाले नग्न अनाचारों में इनक्वीज़ीशन से बढ़ कर दूसरा अत्याचार शायद ही कभी हुआ होगा। आश्चर्य की बात तो यह है कि इसके लिए जो लोग उत्तरदायी थे, उनमें से अधिकांश किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं, किंतु इसी दृढ़ विश्वास की प्रेरणा से उसका समर्थन करते थे कि यही उनका सच्चा कर्त्तव्य था।

ज्यों-ज्यों पोप योरप पर अपने आतंक और भय का साम्राज्य स्थापित करने का

विशेष प्रयत्न करने लगे त्यों-त्यों वे अपनी उस सर्वोपरि प्रतिष्ठा और सत्ता को गँवाने लगे, जिसके बल पर वे राजाओं के भी राजाधिराज और सम्राटों के महाप्रभु बन बैठे थे। अब पोपों के वे दिन हवा हो गए थे, जब बहिष्कार के अमोघ अस्त्र द्वारा वे महासम्राटों तक को वशीभूत कर लेते थे। अब तो जब कभी पवित्र रोमन साम्राज्य की दशा संकटापन्न होती और सम्राट् की गद्दी खाली हो जाती, अथवा जब कभी सम्राट् रोम से अधिक दूर रहने लगता, तब फ़्रांस का नरेश तुरंत पोप के साथ छेड़खानी शुरू कर देता था। १३०३ ई० प० में फ़्रांस का राजा किसी बात पर पोप से नाराज़ हो गया। इस पर उसने अपने एक आदमी को पोप के पास भेजा। वह व्यक्ति पोप के राजभवन में घुस कर सीधे उसके शयनगृह में जा पहुँचा और वहाँ उसने पोप का जी भर कर अपमान किया। इस दुर्व्यवहार के विरुद्ध योरप में किसी ने आवाज़ तक न उठाई। इस घटना से कनोसा में पोप के द्वार पर बर्फ़ से ढके मैदान में नंगे पैर खड़े हुए सम्राट् के चित्र की तुलना तो करो!

कुछ वर्ष बाद, १३०९ ई० प० में, एक नवीन पोप, जो जाति से फ़्रेंचमैन था, रोम से अपना डेरा उठा कर एविगनान में जा बसा। एविगनान आजकल फ़्रांस के अंतर्गत है। १३७७ ई० प० तक पोप इसी स्थान में टिके रहे। इस कालावधि में वे प्रायः फ़्रांस के राजा की अँगुलियों पर नाचा करते थे। १३७८ ई० प० में कार्डिनलों के मंडल में, मतभेद के कारण, दो दल हो गए। यह घटना महाविभाजन के नाम से प्रसिद्ध है। इसके फल-स्वरूप योरप में दो पोप उठ खड़े हुए, जो कार्डिनलों के दो दलों द्वारा अलग-अलग चुने गए थे। इनमें से एक पोप, जो रोम में निवास करता था, पवित्र रोमन सम्राट् तथा उत्तरीय योरप के अधिकांश देशों द्वारा पूजनीय माना जाता था। दूसरा, जो एंटी-पोप कहलाता था, एविगनान में रहता था। इसे फ़्रांस के सम्राट् का समर्थन प्राप्त था। लगभग चालीस साल तक योरप में यही परिस्थिति बनी रही। इस बीच दोनों पोपों में गहरी लाग-डांट छिड़ी रहती थी। वे प्रायः एक दूसरे को गालियाँ देते और धर्म्म-च्युत करते रहते थे। १४१७ ई० प० में कार्डिनलों के दोनों दलों में समझौता हो गया, और उन्होंने मिल कर अपना एक संमिलित पोप चुन लिया। यह पोप रोम में रहने लगा। किंतु इतने दिनों तक प्रतिस्पर्धी पोपों में जो भद्दा और अनुचित झगड़ा होता रहा, उससे योरप के लोगों पर निस्संदेह बहुत गहरा प्रभाव पड़ा होगा। यदि वे ही, जो अपने आपको पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि और धर्म्माध्यक्ष कहते हैं, इस प्रकार लड़ने-झगड़ने लगें तो लोगों के मन में उनकी सचाई और पवित्रता के संबंध में संदेह होना स्वाभाविक ही है। पोपों के इस पारस्परिक कलह ने लोगों के मन में धार्मिक सत्ता के प्रति अंध आज्ञापालन की भावना को डिगाने में बड़ी मदद पहुँचाई। किंतु अभी पूर्ण रूप से इस भावना को उखाड़ने के लिए बहुत बड़े धक्के की आवश्यकता थी।

जिन लोगों ने स्वतंत्रता-पूर्वक ईसाई धर्म्म-संघ की आलोचना करना शुरू किया था, उनमें विकलिफ़-नामक एक अंगरेज़ पादरी भी था। वह आक्सफोर्ड में प्रोफ़ेसर था और बाईबिल के सर्वप्रथम अंगरेजी अनुवादक के नाम से प्रसिद्ध था। अपने जीवन-काल में तो विकलिफ़ रोम के प्रहार से किसी प्रकार बच गया, किंतु उसकी मृत्यु के ३१ साल बाद, १४१५ ई० प० में, ईसाई

धर्म्म-समिति ने आज्ञा दी कि उसकी हड्डियां क़ब्र में से खोद कर जलाई जाएं; और इस आज्ञा का अक्षरशः पालन किया गया।

यद्यपि विकलिफ़ की हड्डियां जला कर राख कर दी गईं, किंतु उसके विचारों को दवाना आसान नहीं था। वे फैलते गए, और सुदूर वोहीमिया या जेकोस्लोवाकिया में—जैसा वह आज दिन कहलाता है—जान हस-नामक एक विचारक को उन्होंने प्रभावित किया। हस प्रेग-विश्वविद्यालय का महाचार्य्य था। उसको पोप ने धर्मच्युत कर रक्खा था, किंतु अपने गांव में वह इतना लोकप्रिय था कि वहां कोई उसका कुछ विगाड़ नहीं सकता था। अतएव ईसाई अधिकारियों ने उसके साथ एक चाल चली। सम्राट् ने अभय वचन दे कर हस को स्वीटज़रलैंड के कानस्टैंस-नामक स्थान में, जहां ईसाई धर्म-समिति का अधिवेशन हो रहा था, निमंत्रित किया। जब हस वहां गया तब उससे अपना अपराध स्वीकार करने के लिए कहा गया। किंतु उसने तब तक ऐसा करने से साफ़ इनकार कर दिया जब तक अंतःकरण से उसे विश्वास न हो जाय कि वह वास्तव में दोषी है। इस पर अभय वचन और रक्षा की प्रतिज्ञा को ताक पर रख कर ईसाई धर्म्माधिकारियों ने उसे दिन-दहाड़े चिता पर जीवित जला दिया। यह १४१५ ई० प० की घटना थी। हस वीर पुरुष था। वह जिस बात को असत्य मानता था, उसको स्वीकार करने की अपेक्षा मृत्यु को गले लगाना अधिक पसंद करता था। विचार-स्वातंत्र्य और स्वाधीनता के नाम पर शहीद की तरह वह हँसते-हँसते बलिदान हो गया। आज दिन जेक जाति उसे अपने वीर पुरुष के रूप में पूजती है और जेकोस्लोवाकिया में उसका नाम श्रद्धा-पूर्वक याद किया जाता है।

जान हस का बलिदान व्यर्थ नहीं गया। उसकी मृत्यु ने वोहीमिया के उसके अनुयाइयों में विद्रोह की आग सुलगाने में चिनगारी का काम दिया। इन विद्रोहियों के विरुद्ध पोप ने तुरंत धर्म्मयुद्ध या जेहाद की घोषणा कर दी। उन दिनों धर्म्मयुद्ध काफ़ी सस्ते होते थे; उनमें दमड़ी भी ख़र्च नहीं होती थी। ऐसे हज़ारों आवारा गुंडे और लड़ाकू आदमी थे, जो अपना मतलब गांठने के लिए इन युद्धों में शरीक होने को सदा तैयार रहते थे। (एच० जी० वेल्स के शब्दों में) इन क्रूसेडरों ने निर्दोष जनता पर "घोरतम और वीभत्स अत्याचार" किए। किंतु जब हस के अनुयाइयों की सेना, अपना रण-गीत गाती हुई, सन्मुख आई तब ये क्रूसेडर मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए। वे तेज़ी के साथ उसी मार्ग से भाग निकले, जिस रास्ते वे आए थे। जहां तक ग़रीब देहातियों को लूटने-मारने का सवाल था वहां तक तो इन लोगों में शूरता का अभाव नहीं रहता था, किंतु सुसंघटित सेना का सामना पड़ते ही वे नौ-दो-ग्यारह हो जाते थे।

इस तरह धार्म्मिक आप्तता और एकाधिपत्य के विरुद्ध उस विद्रोह का श्रीगणेश हुआ, जिसके कारण आगे चल कर ईसाई मत कैथलिक और प्रोटेस्टैंट-नामक दो विभिन्न संप्रदायों में बंट गया।

(७१)

आप्तता* के विरुद्ध विद्रोह

जून ३०, १६३२

मुझे भय है कि योरप के धार्मिक लड़ाई-झगड़ों का यह नीरस वृत्तांत तुम्हें रोचक प्रतीत न होगा। किंतु इन झगड़ों का महत्व है, क्योंकि इनसे हमें यह मालूम होता है कि किस प्रकार आधुनिक योरप का विकास हुआ। ये झगड़े हमें योरप की परिस्थिति को समझने में सहायता देते हैं। वास्तव में, धार्मिक स्वतंत्रता के लिए योरप में चौदहवीं शताब्दी और उसके बाद के युग में जो संघर्ष हुआ, उसमें तथा आगे आनेवाले राजनीतिक स्वतंत्रता के युद्ध में कोई अंतर नहीं है; दोनों एक ही संघर्ष के दो पहलू हैं। यह संघर्ष था आप्त सत्ता और साधिकारिता के विरुद्ध जनसाधारण का विद्रोह। योरप में पवित्र रोमन साम्राज्य और पोप, दोनों, सर्वमान्य होने का दावा करते थे। उनका अस्तित्व ही मनुष्य के अंतःकरण की स्वतंत्रता को कुचलने की नीति पर अवलंबित था। सम्राट् अपने 'ईश्वरप्रदत्त अधिकारों' के बल पर साम्राज्य के सर्वोच्च पद पर आसीन था। यही हाल पोप का भी था। किसी को उनकी सत्ताओं के विरुद्ध आवाज़ उठाने अथवा उनकी आज्ञाओं का उल्लंघन करने का अधिकार न था। अपने से बड़ों का आज्ञापालन ही सर्वोपरि गुण माना जाता था; यहां तक कि किसी बात के संबंध में व्यक्तिगत राय रखना भी भीषण अपराध समझा जाता था। इस प्रकार अंध आज्ञापालन और स्वतंत्रता में साफ़-साफ़ विरोध दिखाई देता था। अंतःकरण की स्वाधीनता तथा राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए योरपवासियों को कई शताब्दियों तक लड़ाई लड़ना पड़ी। जब काफ़ी उथल-पुथल हुई और अनेक संकटों का सामना करना पड़ा, तब कहीं उन्हें इस प्रयास में कुछ-कुछ सफलता प्राप्त हुई। किंतु जिस समय स्वतंत्रता-रूपी परम ध्येय की प्राप्ति पर अपने आपको बधाई देते हुए वे अपनी पीठ ठोक रहे थे, उसी समय सहसा उन्हें अनुभव हुआ कि वे भारी भ्रम में हैं। वास्तव में, जब तक मनुष्य आर्थिक बंधनों से मुक्त न हो जाय तब तक सच्ची स्वतंत्रता के स्वप्न देखना अपने आपको धोखे में डालना है। जो मनुष्य भूख की

* धार्मिक तथा राजनीतिक सत्ताधारी प्रायः यह कह कर अपना समर्थन करते रहे हैं कि उनकी सत्ता ईश्वरप्रदत्त है, उसको सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण की आवश्यकता नहीं है; वह अतर्क्य और अकाट्य है, अतएव किसी को भी उसकी सच्चाई में शंका करने अथवा उसका उल्लंघन करने का अधिकार नहीं है। वेदवाक्यों और धर्मग्रंथों को निर्विवादसिद्ध एवम् अचिंत्य स्वीकार करने में यही भाव निहित है। योरप में, ईसाई मत के प्रचार के बाद, आप्तता की यह भावना अत्यंत प्रबल हो उठी थी। इसका मुख्य प्रतिनिधि पोप था, और उसी की तरह पवित्र रोमन सम्राट् भी अपने को सर्वमान्य घोषित करता था। साधिकारिता की इस भावना को व्यक्त करने के लिए मूल अंगरेज़ी में "ऑथारिटेरियानिज़्म" शब्द का प्रयोग किया गया है। हिंदी में इसका कोई उपयुक्त पर्यायवाची शब्द प्रचलित नहीं है, अतएव भाव के लिए हमने ऊपर लिखे शब्द का प्रयोग किया है—सं०।

ज्वाला में तड़पता हो, उसे आजाद कहना उसकी खिल्ली उड़ाने के समान है। अतएव अब अगला क़दम आर्थिक बंधनों से मुक्ति पाने के लिए बढ़ाया जा रहा है और आज दिन सारे संसार में एक कोने से दूसरे कोने तक लोग इस उद्देश की सिद्धि के लिए घोर संग्राम छेड़ते हुए दिखाई देते हैं। किंतु आज दिन संसार में केवल एक ही देश है, जिसकी बावत यह कहा जा सकता है कि वहां के लोगों ने समष्टि रूप से आर्थिक बंधनों से मुक्ति पा ली है। यह देश है रूस अथवा सोविएट प्रजातंत्रों का यूनियन।

योरप की तरह, भारत में विचार-स्वातंत्र्य के लिए कभी कोई लड़ाई नहीं छेड़ी गई। इसका कारण यह था कि संभवतः आरंभिक काल ही से हमारे यहाँ कभी किसी ने मनुष्य के विचार-स्वातंत्र्य के जन्मसिद्ध अधिकार को अस्वीकार न किया। भारत में लोग किसी भी मत को मानने के लिए स्वतंत्र थे। वे कभी किसी बात को मानने के लिए विवश नहीं किए जाते थे। हमारे यहाँ लोगों के विचारों को प्रभावित करने के साधन तर्क और वादविवाद, न कि लाठी और चिता के धधकते अंगारे, थे। संभव है कि कभी एकाध बार बल अथवा हिंसा का भी उपयोग किया गया हो, किंतु सिद्धांत रूप में प्राचीन आर्य्य-व्यवस्था में विचार-स्वातंत्र्य का अधिकार पूर्णरूपेण स्वीकृत था। यह एक आश्चर्यजनक बात प्रतीत होती है कि इस विचार-स्वातंत्र्य का परिणाम संपूर्णतया शुभ नहीं हुआ। सिद्धांत रूप से विचार-स्वातंत्र्य का मार्ग सब के लिए समान रूप से खुला होने के कारण लोग उसकी ओर से धीरे-धीरे निश्चिंत बन बैठे। उन्होंने उसकी ओर से अपना ध्यान ही खींच लिया। वे अधोगत धार्मिक कर्मकांड और अंध-विश्वासयुक्त थोथी रूढ़ियों के जाल में उलझने लगे। धीरे-धीरे उन्होंने एक ऐसी धार्मिक विचार-पद्धति की रचना कर डाली, जो उन्हें कोसों पीछे घसीट ले गई और जिसने अंत में उन्हें धार्मिक आप्तता का पक्का गुलाम बना दिया। यह सत्ता पोप के समान किसी व्यक्ति-विशेष की सत्ता नहीं थी। यह थी आप्त वचनों अथवा श्रुति-स्मृतियों और परंपरागत प्राचीन रूढ़ियों तथा आचार-विचारों की सत्ता। अतएव मुँह से तो हम लोग (भारतवासी) विचार-स्वातंत्र्य की डींग हांकते हुए फूले न समाते थे, किंतु वास्तव में हम स्वाधीनता से कोसों दूर चले गए थे। प्राचीन शास्त्रों और रूढ़ियों ने हम पर जिन विचारों का प्रभाव जमा रक्खा था, उन विचारों की जंजीरों में हम बंधे थे। हमारे मन पर आप्त सत्ता और साधिकारिता की भावनाओं का प्रभुत्व था; उनकी अंगुलियों पर हम कठपुतली की तरह नाचा करते थे। जो जंजीरें हमारे स्थूल शरीर को कभी-कभी जकड़ लेती हैं, वे अति कष्टप्रद होती हैं। किंतु उनसे भी अधिक बुरी होती हैं विचारों और रूढ़ियों की जंजीरें, जिनमें हमारा मस्तिष्क जकड़ जाता है। इन जंजीरों के रचयिता वास्तव में हम ही होते हैं, और यद्यपि हमें प्रायः उनका भान नहीं रहता, किंतु वे हर घड़ी हमें अपने भयंकर शिकंजे में जकड़े रहती हैं।

विजता के रूप में भारत में मुसलमानों के आगमन से धर्म में कुछ-कुछ बल-प्रयोग होना शुरू हुआ। वास्तव में, भारत में अब जो संघर्ष शुरू हुआ था वह विजेता और विजित का विशुद्ध राजनीतिक संघर्ष था। यह सच है कि उस संघर्ष को किसी अंश तक धार्मिक रूप दे दिया गया था

और प्रायः धर्म के नाम पर अनाचार भी होते थे। किंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना सरासर भूल होगी कि इस्लाम द्वारा इस प्रकार के अत्याचार का पोषण और समर्थन होता था। इस संबंध में, १६१० ई० प० में, अपने जाति-भाइयों के साथ स्पेन से निर्वासित किए जाने पर एक स्पेनिश मूर ने जो भाषण दिया था, उसका उल्लेख करना रुचिकर होगा। इनक्वीज़िशन का विरोध करते हुए उसने कहा था—"क्या हमारे विजयी पुरखों ने, अपने शक्ति के दिनों में, स्पेन से ईसाई मत की जड़ को उखाड़ फेंकने की कभी कोशिश की थी? क्या उन्होंने तुम्हारे पूर्वजों को बेड़ियों में कस कर भी अपनी धार्मिक रीति-रस्मों का पालन करने की आज़ादी नहीं दे रक्खी थी? .... यदि बलपूर्वक मत-परिवर्त्तन की कुछ मिसालें मिलती हैं तो वे इतनी इनी-गिनी हैं कि उनका उल्लेख करना व्यर्थ है। ऐसा दुराचार उन्हीं लोगों ने किया होगा, जिन्हें ईश्वर और महान् पैगंबर का भय नहीं था। उन लोगों का आचरण इस्लाम के उन पुनीत विधानों और आदेशों के बिलकुल विपरीत है, जिनको कोई भी सच्चा मुसलमान धर्मदूषण का पाप किए बिना उल्लंघन नहीं कर सकता। तुम हमारे यहाँ धार्मिक मतभेद के कारण ऐसी रक्तशोषक संस्था की स्थापना का एक भी उदाहरण नहीं बता सकते, जो तुम्हारे घृणित इनक्वीज़िशन की समता कर सके। यह सच है कि जो हमारे धर्म्म को अंगीकार करने को तैयार हों, उन्हें गले लगाने को हम सदा हाथ बढ़ाए रहते हैं, किंतु कुरान में अंतःकरण पर बलात्कार करने की कदापि अनुमति नहीं है।"

इस प्रकार, धार्मिक सहिष्णुता और अंतःकरण की स्वाधीनता, जो प्राचीन भारतीय जीवन-धारा की प्रधान अंग थीं, धीरे-धीरे विलुप्त हो गईं, और शताब्दियों के तुमुल संघर्ष के बाद, जब योरप हमारी स्थिति तक पहुँचा तब इन्हीं सिद्धांतों का डंका पीट कर वह हम से एक क़दम आगे बढ़ने का गर्व करने लगा। आज दिन, भारत में प्रायः सांप्रदायिक दंगे हो जाते और हिंदू-मुसलमान आपस में लड़ने तथा एक-दूसरे का गला काटने को उतारू हो जाते हैं। यह सच है कि ऐसी दुर्घटनाएँ कुछ स्थानों ही में कभी-कभी होती हैं। साधारणतया, हम लोग शांति और मित्रता का व्यवहार करते हुए घुल-मिल कर रहते हैं, क्योंकि वास्तव में हमारे हित एक ही हैं। इसमें भी संदेह नहीं कि इस सांप्रदायिक वैमनस्य को उभाड़ने के लिए किसी अंश तक विदेशी शासक भी उत्तरदायी हैं, क्योंकि इस घरेलू फूट से हमारी स्थिति कमज़ोर और उनकी नींव मजबूत होती है। लेकिन यह सब होते हुए भी धर्म के नाम पर हिंदू या मुसलमान का अपने भाई के साथ लड़ना अत्यंत लज्जाजनक है। इस वैमनस्य को हमें शीघ्र ही दूर कर देना चाहिए, और इसमें संदेह नहीं कि जल्दी ही हम इससे छुटकारा पा लेंगे। लेकिन इसके पहले यह जरूरी है कि हम अपने आपको दकियानूसी रूढ़ियों, रीति-रस्मों और अंध-विश्वास की उस थोथी धार्मिक विचार-शैली के जाल से मुक्त कर लें, जिसने हमें बुरी तरह जकड़ रक्खा है।

धार्मिक सहिष्णुता की तरह राजनीतिक स्वतंत्रता के मामले में भी भारत आदि में बहुत उच्च कोटि की स्थिति तक पहुँच चुका था। भारत के ग्राम-प्रजातंत्रों की बाबत तुम्हें कदाचित् यह याद होगा कि किस तरह आरंभ में राजाओं की शक्ति परिमित मानी जाती थी। योरप में प्रचलित

राजाओं के ईश्वर-प्रदत्त अधिकारों की भावना के समान हमारे यहाँ कोई वस्तु न थी। इसका कारण यह था कि हमारे यहाँ की राज-व्यवस्था का सारा ढांचा ही गांवों की स्वाधीनता की नींव पर रचा गया था। लोगों को इस बात की परवा ही नहीं रहती थी कि कौन उनका शासक है। जब उन्हें अपने ग्रामों में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी तब इस बात की वे चिंता ही क्यों करने लगे कि उनका प्रभु कौन है? किंतु एक दृष्टि से उनकी यह भावना खतरनाक और मूर्खतापूर्ण थी। धीरे-धीरे वह व्यक्ति, जो इस राजव्यवस्था के सर्वोच्च शिखर पर आसीन था, अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। उसने गांवों की स्वतंत्रता का अपहरण करना शुरू किया। इस तरह अंत में, वही एक दिन देश का एकाधिपति सम्राट् या सर्वेसर्वा हो गया, और गाँवों में स्वतंत्रता या स्वराज्य की छाया तक शेष न रही। इस नवीन राज-व्यवस्था में नख से शीश तक स्वतंत्रता की कहीं बू भी न थी। परंतु अब तो भारत में वह समय आ गया है कि सारा आडंबर ताक पर रख दिया गया है और खुले आम काले क़ानूनों और संगीनों की नोक के बल पर देश का शासन हो रहा है। एक प्रकार से यह अच्छा ही है, क्योंकि इससे कम से कम हमें यह तो अनुभव होने लगा है कि हमारी क्या परिस्थिति है और किसके साथ हमें लोहा लेना है।

(७२)

मध्यकालीन युग का अवसान

जुलाई १, १९३२

आओ, तेरहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक के योरप पर फिर एक बार सरसरी नजर दौड़ा लें। इस युग में योरप में भीषण मार-काट, अराजकता और लड़ाई-झगड़ों का वातावरण था। समसामयिक भारत की भी दशा उन दिनों अत्यधिक शोचनीय थी। लेकिन इस पर भी योरप की तुलना में तात्कालिक भारत कहीं अधिक सुख-शांति-संपन्न था।

मंगोलों ने योरप में वारूद का प्रचार किया और बंदूकों तथा तोपों का प्रयोग बढ़ने लगा। इन नवीन अस्त्र-शस्त्रों की सहायता से राजाओं को अपने विद्रोही मनसबदारी सरदारों को दबाने में बड़ी सफलता प्राप्त हुई। इस काम में नगरों के नवोदित व्यापारी वर्गों ने भी राजाओं को काफ़ी मदद पहुँचाई। मनसबदारी सरदार प्रायः आपस में लड़ा-भिड़ा करते थे। वे सदैव छोटे-छोटे पारस्परिक युद्धों में उलझे रहते थे। इसके कारण उनकी शक्ति बहुत ज्यादा क्षीण हो गई थी। इसके साथ ही अनवरत लूटमार और मारकाट के कारण आसपास के देश उजाड़-खंड बनते जा रहे थे। किंतु ज्यों-ज्यों राजा की शक्ति बढ़ती गई, त्यों-त्यों वह सरदारों के इन पारस्परिक द्वंद-युद्धों को दबाने लगा। प्रायः राजगद्दी के दो प्रतिद्वंदी उम्मीदवारों में भी युद्ध छिड़ जाते थे। ये युद्ध भयंकर घरेलू युद्ध का रूप धारण कर लेते थे। ऐसा ही एक युद्ध इंगलैंड में यार्क और लैंकेस्टर के शक्तिशाली घरानों में छिड़ा था। इस युद्ध की एक विशेषता यह थी कि इसमें भाग लेनेवाले दलों के निशान विभिन्न रंगों के गुलाब थे। एक दलवाले श्वेतवर्ण के गुलाब और दूसरे रक्तवर्ण के गुलाब धारण करते थे। इसीलिए यह युद्ध इतिहास में गुलाब-युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। इन युद्धों में बहुत-से मनसबदारी सरदारों का नाश हो गया। बहुतेरे सरदार क्रूसेडों ही में काम आ चुके थे। इस तरह, धीरे-धीरे मनसबदारी सरदारों की शक्ति नष्ट हो गई। लेकिन इसका कहीं तुम यह अर्थ न लगा डालो कि सरदारों के हाथ से निकल कर अब शक्ति जनता के हाथों में चली गई थी। वास्तव में, शक्ति की बागडोर अब राजा या सम्राट् के हाथ में थी। जनता की दशा तो अब भी वैसी थी, जैसी पहले थी। यदि कुछ अंतर था तो केवल इतना था कि अमीर-उमरावों के पारस्परिक लड़ाई-झगड़ों के दब जाने के कारण जनसाधारण का दुःख-दैन्य किसी अंश में कम हो गया था। कालांतर में, राजा सर्वशक्तिशाली एकाधिपति बन गया। किंतु अभी राजा और नगरों के नवोदित व्यापारिक वर्गों में पारस्परिक संघर्ष होना बाक़ी था।

लगभग १३४८ ई० प० में, युद्ध और रक्तपात से भी अधिक भीषण प्लेग-रूपी महाव्याधि का योरप पर आक्रमण हुआ। कुछ ही दिनों में यह रोग रूस और एशिया माइनर से इंगलैंड तक सारे योरप में फैल गया। मिस्र, उत्तरीय अफ़्रीका तथा मध्य एशिया तक उसकी छूत

से न बच पाए। अंत में, वह चीन में भी फैल गया। कहा जाता है कि इस महाव्याधि का जन्म दक्षिण रूस या मध्य एशिया में हुआ था और वहीं से वह क्रमशः पश्चिम की ओर फैली थी। यह रोग योरप में मृत्यु या काल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वहाँ उसने लाखों नर-नारियों को अपने उदर का ग्रास बना लिया। इस रोग ने इंगलैंड की एक-तिहाई जन-संख्या का ख़ात्मा कर डाला। चीन, आदि, अन्य देशों की मृत्यु-संख्या का तो अनुमान ही लगाना कठिन था। यह सचमुच ही आश्चर्य की बात है कि भारत इस भीषण व्याधि से बाल-बाल बच गया।

इस प्लेग के कारण योरप की आबादी अत्यधिक क्षीण हो गई। वहाँ ज़मीन जोतने तक को आदमी नहीं मिलते थे। मज़दूरों की संख्या में कमी होने के कारण, स्वभावतया, मज़दूरी की दर कुछ बढ़ गई। लेकिन पारलामैंटों में भी उन्हीं लोगों की तूती बोलती थी, जो ज़मीन-जायदादों के मालिक थे। अतएव मज़दूरों से पुराने वेतन ही पर बल-पूर्वक काम कराने के उद्देश से उन्होंने पारलामैंटों द्वारा कड़े कानून पास करवाना शुरू किया। जब अनाचार और शोषण की मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई कि लोगों के लिए उसे सहन करना असंभव हो गया, तब लाचार होकर ग़रीब किसानों और मज़दूरों ने विद्रोह का झंडा उठा लिया। धीरे-धीरे सारे योरप के एक सिरे से दूसरे सिरे तक किसानों के विद्रोह की आग भभक उठी। १३५८ ई० प० में, फ़्रांस में किसानों का एक बलवा हुआ, जो जेकरी के नाम से मशहूर है। इंगलैंड में भी वाट टेलर का सुप्रसिद्ध बलवा हुआ, और १३८१ ई० प० में इंगलैंड के बादशाह की उपस्थिति में वाट टेलर सरे-आम तलवार की धार मौत के घाट उतार दिया गया। प्रायः सभी बलवे निर्दयता-पूर्वक कुचल दिए गए। लेकिन समानता के नवीन विचारों को, जो क्रमशः सारे योरप में फैलने लगे थे, कोई न दबा सका। अब लोगों के मन में यह प्रश्न उठने लगा था कि जहाँ अधिकांश लोग ग़रीबी और भूख की ज्वाला में झुलस रहे हों वहाँ कुछ लोगों को गुलछर्रे उड़ाने का क्या अधिकार है? क्यों कुछ लोग अमीर बने रहें और दूसरे उनकी गुलामी करने को मजबूर किए जाएँ? जब दूसरों के पास शरीर ढकने को चिथड़े तक न हों तब कुछ लोगों को बेशक़ीमती वस्त्रों पहनने का क्या अधिकार है? सर्वोपरि सत्ता के सामने सिर झुकाने की प्राचीन भावना, जो मनसबदारी प्रथा की मेरुदंड थी, अब लड़खड़ाने लगी थी। किसानों के बार-बार बलवे हुए, किंतु उस समय वे असंघटित और निर्बल थे, अतएव वे आसानी के साथ दबा दिए गए। लेकिन यह अवस्था कुछ ही दिनों के लिए स्थाई रहनेवाली थी। अनतिदूर भविष्य ही में वे फिर आँधी की तरह उठ खड़े हुए।

इस युग में इँगलैंड और फ़्रांस में निरंतर लाग-डाँट छिड़ी रहती थी। १४ वीं शताब्दी के आरंभ से १५ वीं शताब्दी के मध्यकाल तक इन दोनों देशों में घोर युद्ध छिड़ा रहा। यह लड़ाई शतवर्षीय युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। फ़्रांस के पूर्व में बरगैंडी का राज्य था। यह एक शक्तिशाली रियासत थी, जो नाम-मात्र के लिए फ़्रांस के अधीन थी। बरगैंडी बड़ा झगड़ालू और आफ़त मचानेवाला राज्य था। अँगरेज़ तथा अन्य लोग प्रायः इस रियासत के साथ मिल कर फ़्रांस के विरुद्ध षड्यंत्र रचा करते थे। कुछ दिनों के लिए फ़्रांस शत्रुओं से चारों ओर से घेर लिया गया। पश्चिमी फ़्रांस के एक बहुत बड़े अंश पर अँगरेजों ने अधिकार कर लिया

और बहुत दिनों तक वे उस पर अपना पंजा जमाए रहे। उन दिनों इँगलैंड का बादशाह अपने आपको फ्रांस का बादशाह भी कहता था। किंतु जब फ्रांस की दुर्दशा की पराकाष्ठा हो गई और उसके उद्धार की कोई आशा शेष न रही, तब एक अल्पवयस्का सामान्य किसान कन्या के रूप में उसकी आशा की क्षीण रेखा प्रकट हुई। इस रेखा के प्रकाश से उसका बुझता भाग्य-दीप पुनः एक बार जगमगा उठा। जीन-द-आर्क (अथवा जोन आफ़ आर्क) के बारे में कुछ बातें तो तुम्हें मालूम ही हैं। वह तो तुम्हारी प्रिय वीरांगना ही है। जीन ने अपने देशवासियों के मृण्मय प्राणों में शक्ति और आत्म-विश्वास की एक नूतन लहर उत्पन्न कर दी। उसने उन्हें एक महान् लक्ष्य की ओर प्रेरित किया। उसके नेतृत्व में फ्रांसवासियों ने अँगरेज़ों को सफलतापूर्वक अपने देश से मार भगाया। किंतु इन सब के बदले में जीन को पुरस्कार मिला इनक्वीज़ीशन की अदालत द्वारा जीवित जलाए जाने का दंड। अँगरेज़ों ने छल-छंद से जीन को बंदी बना लिया और चर्च द्वारा बलपूर्वक आरोप लगवा कर १४३० ई० प० में उन्होंने उसे रून-नगर के रूरे बाज़ार जीवित जला कर मार डाला। इसके कई वर्ष बाद रोमन कैथलिक चर्च ने जीन को निर्दोष घोषित कर अपने कलंक को धोने की कोशिश की थी और बाद में तो ईसाई धर्म्माचार्य्यों ने उसे ईसाई संतों की श्रेणी तक में शामिल कर लिया था।

जीन ने अपनी मातृभूमि, फ्रांस, को विदेशियों के चंगुल से मुक्त करने के लिए अपनी आवाज़ बलंद की थी। उस युग के लिए वह एक नई आवाज़ थी। तात्कालिक जनता के मन पर मनसब-दारी विचारों का इतना प्रबल प्रभाव जमा हुआ था कि राष्ट्रीय विचारों के लिए उनके मन में गुंजाइश ही न थी। इसीलिए जीन का संदेश उन्हें अजनबी प्रतीत हुआ। वे उसे बहुत अंश तक समझ भी न पाए। जीन-द-आर्क के समय से हम फ्रांस के आकाश-मंडल में राष्ट्रीयता की एक क्षीण रेखा को प्रकट होते देखते हैं।

अँगरेज़ों को अपने देश से बाहर निकाल कर, फ्रांस के राजा ने बरगंडी की ओर—जिसने उसे इतना अधिक परीशान कर रक्खा था—अपना मोर्चा बाँधा और कालांतर में वह इस शक्तिशाली रियासत को कुचलने में सफल हुआ। १४८३ ई० प० में बरगंडी फ्रांस के राज्य का अंग बन गया। इस तरह फ्रांस का शासक एक शक्तिशाली सम्राट् बन गया। वह अपने मनसबदारी सरदारों को तो पहले ही कुचल कर काबू में कर चुका था। फ्रांस में बरगंडी के सम्मिलित हो जाने से फ्रांस और जर्मनी की सीमाएँ एक-दूसरे को छूने लगीं। किंतु उस समय जहाँ फ्रांस एक सुसंगठित शक्तिशाली राज्य था, वहाँ जर्मनी अत्यंत निर्बल और अनेक छोटी-छोटी रियासतों में विभाजित था।

फ्रांस की तरह इँगलैंड भी अपने पड़ोसी, स्काटलैंड, को जीतने के लिए लालायित था। स्काटलैंड के साथ उसकी पुरानी शत्रुता थी। स्काटलैंड अँगरेज़ों के विरुद्ध फ्रांस को मदद देता था। १३१४ ई० प० में राबर्ट ब्रूस के नेतृत्व में स्काटों ने बेनाकबर्न के युद्ध में अँगरेज़ों को बुरी तरह परास्त किया।

जिस युग की हम बात कर रहे हैं, उससे बहुत समय पूर्व १२ वीं शताब्दी ही से अँगरेज़ों

ने आयर्लैंड पर प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करना शुरू किया था। यह आज से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व की बात है। तब से आज तक आयर्लैंड में लगातार युद्ध, विद्रोह, हत्याकांड और दमन की आग सुलगती रही है। इस पर भी उस देश की समस्या अभी तक नहीं सुलझ पाई है। इस छोटे-से देश ने विदेशीशासकों के सामने सिर झुकाने से साफ़ इनकार कर दिया है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी से वह विद्रोह का झंडा उठाता और उच्च स्वर से इस बात की घोषणा करता रहा है कि उसे कभी किसी की गुलामी स्वीकार न होगी। भारत की तरह, आयर्लैंड के प्रश्न का भी हल केवल पूर्ण स्वतंत्रता ही से हो सकता है।

१३ वीं शताब्दी में योरप के एक और छोटे से देश, स्वीटज़रलैंड, ने स्वाधीनता के लिए अपनी आवाज़ उठाई थी। स्वीटज़रलैंड उन दिनों पवित्र रोमन साम्राज्य के अंतर्गत था। उस पर आस्ट्रियावालों का राज्य था। संभवतः, तुमने विलियम टैल और उसके लड़के की कहानी पढ़ी होगी। ऐसा मालूम होता है कि उस कहानी में सत्य का अंश अधिक नहीं है। लेकिन विलियम टैल की कहानी से भी अधिक आश्चर्यजनक तो शक्तिशाली पवित्र रोमन साम्राज्य के विरुद्ध स्विटज़रलैंड के उन ग़रीब किसानों का विद्रोह था, जिन्होंने अपनी गुलामी की जंजीरों को तोड़ फेंकने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। आरंभ में केवल तीन कैंटनों* ने बलवा किया। १२९१ ई० प० में, उन्होंने अपना एक संघ बनाया, जिसको वे "चिरकालिक संघ" कहते थे। किंतु शीघ्र ही दूसरे कैंटनों ने भी उनका अनुसरण किया और १४९९ ई० प० में स्वीटज़रलैंड एक स्वतंत्र प्रजातंत्र बन गया। यह प्रजातंत्र, वास्तव में, विभिन्न कैंटनों या ज़िलों का संघ था, जो स्विस संघ के नाम से पुकारा जाता था। क्या तुम्हें उन होलियों की याद है, जो हमें अगस्त की पहली तारीख़ को स्वीटज़रलैंड में ऊंची पहाड़ियों की चोटियों पर जलती हुई दिखाई दी थीं? वह दिन स्विस जाति के राष्ट्रीय त्यौहार का दिन था। उसी दिन वहां राज्य-क्रांति हुई थी। इस अवसर पर अब भी वहां जो होलियां जलाई जाती हैं, वे उन होलियों की स्मारक हैं, जिन्हें स्विस जाति के पूर्वजों ने आस्ट्रियन शासकों के विरुद्ध विद्रोह करने का संकेत देने लिए वर्षों पूर्व जलाई थीं।

पूर्वीय योरप में, कानस्टैंटिनोपल की इस समय क्या दशा थी? यह तो तुम्हें याद ही है कि १२०४ ई० प० में लैटिन क्रूसेडरों ने इस नगर को ग्रीकों से छीन कर अपने अधिकार में कर लिया था। १२६१ ई० प० में ग्रीकों ने लैटिनों को मार भगाया। इस तरह कानस्टैंटिनोपल पर फिर ग्रीकों का झंडा फहराने लगा। लेकिन इसी समय साम्राज्य के सिर पर एक ऐसा ख़तरा मंडराने लगा, जो पहले के ख़तरों से कहीं अधिक भयंकर था।

जिस समय एशिया में मंगोल उठ खड़े हुए थे, उस समय उन्होंने लगभग ५० हज़ार आटोमन तुर्कों को खदेड़ कर मार भगाया था। आटोमन तुर्क सेलजुक़ तुर्कों से विभिन्न थे। वे अपने को आथमान या उस्मान-नामक किसी प्राचीन व्यक्ति के वंशज कहते थे। उसको वे एक राजवंश का संस्थापक मानते थे। उसी के नाम पर ये लोग आटोमन या उस्मानी तुर्क कहलाए। आटोमन तुर्कों ने भाग कर पश्चिमी एशिया में सेलजुक तुर्कों की शरण

* स्विटज़रलैंड में ज़िले को कैंटन कहते हैं।

ली। जब सेलजुकों की शक्ति क्षीण हो गई तब शक्ति की बागडोर धीरे-धीरे आटोमनों के हाथ में चली आई। ये लोग निरंतर बढ़ते गए। किंतु भूतपूर्व आक्रमणकारियों की तरह उन्होंने कानस्टैंटिनोपल को जीतने का प्रयत्न न किया। उसको अछूता छोड़ कर १३५३ ई० प० में वे लोग सीधे योरप की ओर बढ़ गए, और बलगेरिया तथा सरविया पर अधिकार कर वे शीघ्रता के साथ उन प्रदेशों में बस गए। उनकी राजधानी एड्रियानोपल में थी और उनका साम्राज्य कानस्टैंटिनोपल के चारो ओर एशिया और योरप में फैला था। इस साम्राज्य ने कानस्टैंटिनोपल को चारो ओर से घेर लिया, किंतु वह अभी तक उसके विजित का अंग नहीं बन पाया था। एक हज़ार वर्ष प्राचीन पूर्वीय रोमन साम्राज्य अब सिकुड़ते-सिकुड़ते कानस्टैंटिनोपल ही की सीमा तक परिमित हो गया था। पूर्वीय साम्राज्य को तुर्क तेज़ी के साथ हड़पते जा रहे थे, लेकिन ऐसा मालूम होता है कि पूर्वीय रोमन सम्राटों और तुर्की सुलतानों में आपस में मैत्री का संबंध था। वे एक दूसरे के परिवार में विवाह तक किया करते थे। अंत में, १४५३ ई० प० में तुर्कों की शक्ति के आगे कानस्टैंटिनोपल ढह पड़ा। अब तुर्क शब्द से हम आटोमन तुर्कों ही का उल्लेख करेंगे, क्योंकि हमारे चित्रपट से सेलजुक़ अब से हमेशा के लिए अंतर्धान हो जाते हैं।

यद्यपि कानस्टैंटिनोपल के पतन के लक्षण बहुत दिनों से दिखाई देने लगे थे, तो भी वह एक ऐसी घटना थी, जिसके कारण सारा योरप हिल उठा। कानस्टैंटिनोपल के पतन का अर्थ था ग्रीकों के हज़ार वर्ष पुराने पूर्वीय साम्राज्य का अंत; उसका अर्थ था योरप पर मुसालिम आक्रमणों का पुनरारंभ। तुर्क निरंतर आगे बढ़ते जाते थे, और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अब योरप सदा के लिए उनके पंजे में जकड़ जायगा। किंतु इसी समय विएना के द्वार पर सहसा उनकी गति रोक दी गई।

कानस्टैंटिनोपल में सैंट सोफ़िया के विशाल कैथीड्रल को तुर्कों ने एक मसजिद में परिणत कर दिया। इस कैथीड्रल का निर्माण सम्राट् जस्टीनियन ने छठी शताब्दी में किया था। तुर्क उसे आया सूफ़िया कहने लगे। उन्होंने उसके विशाल ख़ज़ाने को भी लूट लिया। इससे योरप में बड़ी खलबली मची। किंतु योरपवासी असहाय थे, अतएव वे कुछ भी न कर सके। लेकिन वास्तव में आरथाडाक्स ग्रीक चर्च के प्रति तुर्की मुसलमानों का बर्ताव बहुत सहिष्णुता-पूर्ण था। सुलतान मोहम्मद द्वितीय ने तो, कानस्टैंटिनोपल की विजय के पश्चात्, अपने आपको ग्रीक चर्च का संरक्षक तक घोषित कर दिया था। इसी तरह उसका एक वंशज, सुलेमान महान्, अपने आप को पूर्वीय सम्राटों का वास्तविक उत्तराधिकारी मानता था। इसी आधार पर उसने सीज़र की उपाधि तक धारण कर ली थी। यह है प्राचीन परंपरा का बल।

कानस्टैंटिनोपल के ग्रीकों को आटोमन तुर्कों का आगमन, संभवतः, अधिक खला नहीं। उन्होंने देखा कि प्राचीन साम्राज्य का पतन निकट और अनिवार्य्य है, अतएव पोप और पश्चिमी ईसाइयों के शासन के बजाय तुर्कों के शासन में रहना उन्होंने श्रेयस्कर समझा; क्योंकि लैटिन क्रूसेडरों के कारण उन्हें जो कड़ुवा अनुभव हुआ था, उसे वे अभी नहीं भूल पाए थे। कहते हैं कि १४५३ ई० प० में जब कानस्टैंटिनोपल पर तुर्कों ने घेरा डाल रक्खा था, तब एक बैज़ेंटियन सरदार ने कहा था कि "पोप के ताज से पैग़ंबर की पगड़ी लाख गुना बेहतर है।"

तुर्कों ने एक नवीन और अद्भुत सैनिक रिसाले का संघटन किया था, जिसके सदस्य जाँनिसारी कहलाते थे। तुर्की सुलतान प्रायः ईसाइयों से राजकर के रूप में छोटे बच्चे लिया करते थे और उन्हें विशेष शिक्षा देकर इस रिसाले में भर्ती कर देते थे। छोटे बच्चों को मां-बाप से छीन लेना, निस्संदेह, घोर पाशविकता है, लेकिन इससे उन बालकों को तो लाभ ही होता था; क्योंकि उन्हें उत्तम शिक्षा दी जाती थी। कालांतर में, इन लोगों का एक पृथक् सैनिक वर्ग बन गया, जिसकी गणना उच्च श्रेणियों में होने लगी। जाँनिसारी शब्द जान (जीवन) और निसार (बलिदान) इन दो शब्दों से बना है। इसका अर्थ होता है—जीवन का बलिदान करनेवाला।

तुर्की जाँनिसारी रिसाले के समान मिस्र में भी एक सैनिक रिसाला था, जो मामलुकों का रिसाला कहलाता था। मामलुक धीरे-धीरे इतने शक्तिशाली हो गए थे कि उनमें से कई मिस्र के सुलतान तक हुए थे।

आटोमन सुलतानों ने कानस्टैंटिनोपल को तो जीत लिया, किंतु अपने पूर्वगामी बैजैंटाइन सम्राटों की बहुत-सी दुराचार-पूर्ण बुरी आदतों के वे शिकार बन बैठे। बैजैंटाइनों की पतित शाही राजव्यवस्था के घिरौंदे में तुर्की सुलतान क़ैद हो गए और उस घिरौंदे ने शनैः शनैः उनकी शक्ति को चाट कर खोखला बना दिया। किंतु आरंभिक दिनों में कुछ समय तक वे बड़े प्रतापी थे और ईसाई योरप उनके भय से थर-थर कांपता रहता था। उन्होंने मिस्र को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया और अब्बासियों के निर्बल वंशधर से खलीफ़ा की उपाधि छीन कर वे स्वयं खलीफ़ा बन बैठे। तब से आज से आठ वर्ष पूर्व तक, जब मुस्तफ़ा कमाल पाशा ने टर्की में ख़िलाफ़त और राजसत्ता का सदा के लिए अंत कर दिया, आटोमन सुलतान अपने को बराबर खलीफ़ा की उपाधि से विभूषित करते रहे।

कानस्टैंटिनोपल के पतन की तिथि इतिहास की युगांतरकारी महातिथियों में से एक है। लोगों की धारणा है कि इस तिथि से एक महायुग का अंत और दूसरे का प्रारंभ होता है। मध्यकालीन युग का अवसान हो गया; उसकी अंधकारमयी सहस्राब्दी समाप्त हो गई। अब योरप में पुनः एक नवीन शक्ति और उत्तेजना की लहर दिखाई देने लगी। यह नवजागृति रेनासाँ या पुनरुज्जीवन, अर्थात् प्राचीन कला और पांडित्य के पुनर्जन्म, के नाम से प्रसिद्ध है। इस युगांतर के उपस्थित होते ही, योरपवासी मानों अँगड़ाई लेकर एक सुदीर्घ निद्रा से जाग उठे और प्राचीन ग्रीस के वैभवशाली युगों की ओर मुड़ कर उनमें एक नूतन प्रेरणा की खोज करने लगे। इस युग के आरंभ होते ही योरप में ईसाई चर्च द्वारा प्रतिपादित जीवन-संबंधी मलीन और निराशाजनक दृष्टिकोण तथा मनुष्य की स्वतंत्र प्रवृत्ति को जकड़ रखनेवाले बंधनों के विरुद्ध मानसिक विद्रोह की एक लहर उठती हुई दिखाई देने लगी। सौंदर्य-प्रेम की प्राचीन ग्रीक भावना फिर से लोगों के मन में जाग्रत हो उठी और योरप पुनः एक बार चित्रकारी, शिल्प और वस्तु-निर्माण कला के सुललित प्रसाद के आलोक से जगमगा उठा।

निस्संदेह, यह महत्परिवर्तन कानस्टैंटिनोपल के पतन के साथ ही पलक मारते नहीं हो गया था। ऐसा सोचना वास्तव में भारी मूर्खता होगी। तुर्कों ने तो कानस्टैंटिनोपल को जीत कर परिवर्त्तन के चक्र की गति को महज़ कुछ तेज़ कर दिया था। कानस्टैंटिनोपल के पतन

के परिणाम-स्वरूप पंडितों और विद्वानों के झुंड उस नगर को छोड़ कर पश्चिम की ओर चल दिए। ठीक उन्हीं दिनों, जब पश्चिम में नवीन वस्तुओं और विचारों के प्रति आकर्षण की प्रवृत्ति का उदय हुआ था, वे ग्रीक वाङ्मय की अमूल्य निधि को लेकर इटली पहुँचे। इस दृष्टि से कानस्टैंटिनोपल के पतन ने योरप के पुनर्जागरण में किसी अंश तक सहायता दी।

किंतु सच पूछा जाए तो कानस्टैंटिनोपल का पतन योरप के पुनरुज्जीवन का बहुत ही क्षुद्र कारण था; क्योंकि इटली अथवा मध्यकालीन पश्चिमी योरप प्राचीन ग्रीक वाङ्मय से बिलकुल अपरिचित नहीं थे। योरप के अनेक विश्वविद्यालयों में प्राचीन ग्रीक साहित्य का अध्ययन बराबर जारी था। वहां के पंडितों को प्राचीन साहित्य का पूरा-पूरा ज्ञान था। लेकिन यह जानकारी इने-गिने लोगों ही तक सीमित थी। इसके अतिरिक्त, प्राचीन विचारों के अनुशीलन की प्रवृत्ति और जीवन-संबंधी तात्कालिक दृष्टिकोण में कोई सामंजस्य नहीं था, इसलिए उसका विस्तार नहीं बढ़ पाता था। धीरे-धीरे लोगों के मन में संशय का उदय होने लगा और उसके साथ ही जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण के लिए उपयुक्त वातावरण भी तैयार होने लगा। लोगों के मन में वर्तमान के प्रति असंतोष की भावना बढ़ने लगी। वे किसी ऐसी वस्तु के लिए आंखें दौड़ाने लगे, जिसके द्वारा उनकी चिरलालसा तृप्त हो सके। जिस समय वे इस तरह की डावांडोल अवस्था में संशय और आशा के दुकूल पर डगमगा रहे थे, उसी समय सहसा उन्हें प्राचीन ग्रीस के दार्शनिक विचारों की एक झलक देखने का अवसर मिल गया। वे उसके विशाल और अथाह वाङ्मय को देख कर चकित हो गए और उसमें डुबकी लगा कर अपनी चिरतृष्णा बुझाने लगे। इस रत्नराशि के रूप में उन्हें मानो अपनी वांछित वस्तु मिल गई। इस नवीन खोज ने योरपवासियों को एक अद्भुत और अदम्य उत्साह से भर दिया।

पुनर्जागरण का आरंभ पहले-पहल इटली में हुआ था। कालांतर में उसकी लहर फ्रांस, इंगलैंड, आदि अन्य देशों में भी फैल गई। यह केवल ग्रीक वाङ्मय और विचार-धारा ही की पुनरावृत्ति न थी। वास्तव में, यह इससे कहीं व्यापक और महान् घटना थी। यह थी उस आंतरिक गुह्य प्रतिक्रिया की बाह्य अभिव्यक्ति, जो सुदीर्घ काल से योरप की तह के नीचे भीतर ही भीतर हलचल मचा रही थी। इस प्रतिक्रिया का परिणाम आगे चल कर कई धाराओं में प्रकट हुआ। उन्हीं में से एक का नाम रेनाँसा या पुनर्जन्म है।
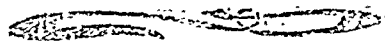
(७३)

समुद्र-मार्गों की खोज

जुलाई ३, १९३२ ई०

भारतीय इतिहास के विकास-क्रम की एक ऐसी मंज़िल तक हम आ पहुँचे हैं, जहाँ मध्य-कालीन जगत् का छिन्न-भिन्न होना शुरू हो जाता है और उसके स्थान में एक नवीन विधान का उदय होने लगता है। योरपीय देशों की तात्कालिक दुर्व्यवस्था के कारण जनता अशांति और असंतोष से विचलित हो उठी थी। असंतोष का यही भाव परिवर्त्तन और प्रगति का जन्मदाता है। मनसवदारी प्रथा और धर्म-प्रणाली द्वारा जिन-जिन वर्गों का शोषण होता था, उन सब में घोर अशांति फैल गई थी। हम देख चुके हैं कि योरप में किसानों के विद्रोह होने लगे थे, लेकिन अभी तक किसान वहुत पिछड़े हुए थे; इसलिए विद्रोह का झंडा उठाने पर भी उनको सफलता न मिली। वास्तव में उनका भाग्य अभी तक नहीं चमका था। अभी उनके अच्छे दिन दूर थे। इस समय तो वास्तव में जो संघर्ष हो रहा था, वह पुरानी मनसवदारी श्रेणी और नवोदित सजग मध्यम वर्ग के वीच में था। इस मध्यम वर्ग की शक्ति दिनोदिन बढ़ती जा रही थी। मनसवदारी प्रथा का अर्थ ही यह था कि संपत्ति भूमि की आश्रित है, अर्थात् भूमि ही वास्तविक संपत्ति है। लेकिन अब एक नए प्रकार की संपत्ति लोगों के पास जमा होने लगी थी, जो भूमि से उत्पन्न नहीं हुई थी। इस संपत्ति की उत्पत्ति पक्के माल की उपज और व्यापार से होती थी। इस नई संपत्ति से लाभ उठा कर नवीन मध्यम श्रेणी के लोग अधिकाधिक मालामाल और शक्तिशाली होने लगे। वास्तव में, यह संघर्ष वहुत पहले ही से चला आता था; किंतु अब विरोधी दलों की सापेक्षिक स्थिति में परिवर्त्तन हो गया था। मनसवदारी प्रथा अभी तक जारी थी, लेकिन उसकी समग्र शक्ति आत्मरक्षा करने में लगी थी। मध्यम श्रेणीवाले अपनी नवीन शक्ति के वल पर मनसवदारी वर्गों पर लगातार हमले कर रहे थे। इन दोनों में कई सौ वर्षों तक निरंतर संघर्ष होता रहा; लेकिन दिन-पर-दिन मध्यम श्रेणी-वालों ही का पक्ष सवल होता गया। इस संघर्ष ने योरप के विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रूप धारण किए और उसका गतिक्रम भी सब स्थानों में एक-सा नहीं रहा। पूर्वीय योरप में तो यह संघर्ष नाम-मात्र ही का था; लेकिन पश्चिमी योरप में मध्यम श्रेणी वालों ने अंत में मनसवदारी वर्गों पर विजय पाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की।

पुराने वंधनों के टूट जाने के परिणाम-स्वरूप विज्ञान, कला, वाङ्मय, शिल्प तथा अन्वेषण के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति होने लगी। ऐसा प्रायः सदैव होता है। जब-जब मनुष्य की आत्मा अपने वंधनों को तोड़ कर मुक्त हो जाती है, तब-तव उसका विकास होने लगता है। इसी तरह हमारे देश में भी जब कभी स्वाधीनता का झंडा फहराने लगेगा, तभी हमारे भाई-वंधुओं तथा हमारी जातीय प्रतिभा का पूर्णतया विकास होगा।

ज्यों-ज्यों ईसाई धर्म का जनता के ऊपर प्रभाव घटने लगा, त्यों-त्यों लोग गिरजों और कैथिड्रलों के बनवाने में कम पैसा खर्च करने लगे। बहुत से स्थानों में रमणीक प्रासाद बनते रहे, लेकिन ये प्रासाद प्रायः नगरों के पंचायतघर या उसी तरह के अन्य संस्था-भवन होते थे। गाथिक शैली भी अब अंतर्धान हो गई और उसके स्थान में एक नई शैली का विकास होने लगा। ठीक इसी समय पश्चिमी योरप में एक नई चहल-पहल की धूम मच रही थी। पूर्व की सुवर्ण-राशि का प्रलोभन लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगा। मारको पोलो और चीन तथा भारत से लौटे हुए अन्य यात्रियों की कहानियों को सुन कर योरपवासी तरह-तरह के सुनहले स्वप्न देखने लगे। पूर्वीय देशों की अपार संपत्ति के प्रलोभन से उत्तेजित होकर बहुत-से लोग समुद्र-मार्गों के पथिक बन गए। ठीक इन्हीं दिनों कानस्टैंटिनोपल का पतन हुआ। इसके कारण पूर्व के जल-थल-मार्गों पर तुर्कों का अधिकार हो गया। तुर्क लोग व्यापार को बहुत ज्यादा प्रोत्साहन देने के विरोधी थे। उनकी यह नीति बड़े-बड़े व्यापारियों और सौदागरों को खलने लगी। उधर साहसी लोगों का दल पूर्व के सुवर्ण को येन-केन-प्रकारेण हस्तगत करने के लिए लालायित था। वह अत्यधिक उत्तेजित हो उठा था। इस तरह सुवर्ण से परिपूर्ण देशों में पहुँचने के लिए नए मार्गों को ढूँढ़ निकालने की चेष्टाओं का श्रीगणेश हुआ।

स्कूलों में शिक्षा पानेवाली एक छोटी लड़की तक को आज दिन यह बात मालूम है कि हमारी पृथ्वी गोल है और वह सूर्य्य के चारो ओर चक्कर लगाया करती है। आज दिन यह बात हम सब के लिए एक प्रत्यक्ष और स्वयंसिद्ध बात है; लेकिन पुराने ज़माने के लोगों को यह बात इतनी प्रत्यक्ष या स्वयंसिद्ध नहीं मालूम देती थी। जो लोग ऐसा सोचने या कहने का साहस करते थे, उनसे ईसाई संघ के नेता बेतरह बिगड़ उठते थे। लेकिन ईसाई संघ के आतंक के होते हुए भी दिन-पर-दिन लोगों का यह विश्वास बढ़ता गया कि पृथ्वी गोल है। कुछ लोगों के मन में यह विचार उठने लगा कि यदि पृथ्वी गोल है तो पश्चिम दिशा में यात्रा करते हुए चीन और भारत को पहुँच जाना अवश्य संभव होना चाहिए। दूसरे अफ्रीका का चक्कर लगा कर भारत में पहुँचने की बात सोचते थे। यह याद रखना चाहिए कि उन दिनों स्वेज़ नहर न थी, अतएव भूमध्यसागर की ओर से जहाज़ लालसागर में नहीं जा सकते थे। सारा सामान, संभवतः, ऊँटों पर लाद कर स्थल-मार्ग से भूमध्यसागर या लालसागर तक पहुँचाया जाता, और वहाँ से उसे जहाजों पर लाद कर रवाना किया जाता था। लेकिन जब मिस्र और सीरिया में तुर्कों का राज्य हुआ, तब इस मार्ग से माल भेजना कठिन हो गया।

लेकिन भारत की संपत्ति का आकर्षण लोगों को बराबर अपनी ओर खींचता और उत्तेजित करता रहा। इन खोज की यात्राओं में स्पेन और पुर्तगाल ने प्रमुख भाग लिया। इन दिनों स्पेन बचे-खुचे मूरों या सरासीनों को ग्रेनाडा से मार भगाने में व्यस्त था। आरागान के फर्डिनैंड के साथ केस्टील की इसाबेला के विवाह से समस्त स्पेन पर ईसाइयों का एकच्छत्र राज्य स्थापित हो चुका था। १४९२ ई० प० में, अर्थात् कानस्टैंटिनोपल पर तुर्कों का कब्जा होने के लगभग ४० वर्ष बाद, अरबों के हाथ से ग्रेनाडा भी निकल गया। अब वहाँ भी स्पेन के ईसाइयों की विजय-पताका फहराने लगी। तब से स्पेन की गणना योरप के बड़े-बड़े राष्ट्रों में होने लगी।

इधर पुर्तगीज़ पूर्वीय दिशा से भारत पहुँचने की चेष्टा कर रहे थे, उधर स्पेनवाले पश्चिम दिशा की ओर से भारत का मार्ग खोजने के प्रयत्न में व्यस्त थे। १४४५ ई० प० में पुर्तगीज़ केपवर्डे तक जा पहुँचे। इसके कारण उन्हें अपने लक्ष्य की सिद्धि में बहुत बड़ी सहायता मिली; क्योंकि अफ्रीका का चक्कर काट कर भारत तक पहुँचने के लिए वे जिस सामुद्रिक मार्ग की तलाश में भटक रहे थे, उस मार्ग का पहला अड्डा केपवर्डे ही था। यह अंतरीप अफ्रीका महाद्वीप की पश्चिमतम नोक पर स्थित है। यदि तुम अफ्रीका के नक़्शे को देखोगी तो तुम्हें मालूम होगा कि जब योरप से इस अंतरीप के लिए जहाज़ रवाना होता है तब वह दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर मुड़ता है, और केपवर्डे के कोने को कतराते हुए दक्षिण-पूर्व की ओर चलने लगता है। इस अंतरीप की खोज बहुत ही आशाजनक थी, क्योंकि इसके कारण लोगों को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि अफ्रीका की परिक्रमा कर लेने पर वे भारत पहुँच जाएँगे।

लेकिन इस घटना के लगभग ४० वर्ष बाद अफ्रीका की वह परिक्रमा पूरी हुई। १४८६ ई० प० में बरथोलोनियो डियाज़-नामक एक पुर्तगीज़ ने अफ्रीका की दक्षिणतम नोक का चक्कर लगाने में सफलता प्राप्त की। इस नोक को केप-आफ़-गुडहोप अथवा आशा-अंतरीप कहते हैं। इसके कुछ ही वर्ष बाद एक दूसरा पुर्तगीज़, वास्को-डि-गामा, इस खोज का लाभ उठा कर केप-आफ़-गुडहोप का चक्कर लगाता हुआ भारतवर्ष तक जा पहुँचा। वास्को-डि-गामा मलाबार के तट पर कालीकट-नामक बंदरगाह में, १४९८ ई० प० में, उतरा था। इस प्रकार पुर्तगीज़ों ने भारत पहुँचने में सफलता प्राप्त की। लेकिन इसी अवधि में दुनिया के दूसरे गोलार्द्ध में भी बड़ी महत्वपूर्ण घटनाएँ हो रही थीं। उन घटनाओं से आगे चल कर स्पेन को बड़ा लाभ हुआ। १४९२ ई० प० में क्रिस्टाफ़र कोलंबस अमेरिका महाद्वीप में जा पहुँचा। कोलंबस एक ग़रीब जेनोआ-निवासी था। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि पृथ्वी गोल है। इसी धारणा के बल पर वह पश्चिम दिशा से जापान और भारत तक पहुंचने की आशा रखता था। संभवतः, उसे जापान और भारत की यह यात्रा उतनी लंबी नहीं प्रतीत होती थी, जितनी वह वास्तव में सिद्ध हुई। इस आशा से कि कोई न कोई राजा इस यात्रा के लिए उसे धन से सहायता करने को तैयार हो जायगा, कोलंबस बहुत दिनों तक योरप के राज-दरबारों की ख़ाक छानता फिरा। अंत में, स्पेन के फ़र्डिनैंड और इसाबेला उसकी मदद करने को राज़ी हो गए। कोलंबस तीन छोटे जहाज़ों और ८८ आदमियों को लेकर रवाना हुआ। उसकी यह यात्रा अदृष्ट की ओर यात्रा थी। ऐसे कार्य में वीरता और साहस, दोनों ही, की परम आवश्यकता थी; क्योंकि यह किसी को भी न मालूम था कि आगे क्या मिलेगा। लेकिन कोलंबस को अपने में दृढ़ आत्म-विश्वास था और उसकी धारणा ठीक निकली। ६९ दिन तक यात्रा करने के बाद अंत में उसे ज़मीन दिखाई दी। कोलंबस ने समझा कि यही भारत है। किंतु वास्तव में वह वेस्ट इंडिज़ (पश्चिमी गोलार्द्ध के द्वीप-समूहों) का एक टापू था। कोलंबस अमेरिका के महाद्वीप में कभी भी नहीं पहुंचा; लेकिन जीवन के अंत तक वह यही समझता रहा कि वह एशिया तक पहुंच गया था। उसकी वह विचित्र भ्रांति आज तक सजीव बनी हुई है। जिस द्वीपसमूह की

उसने खोज की थी, वह आज दिन भी वेस्ट इंडीज़ अर्थात् पश्चिमी भारत के नाम से प्रसिद्ध है। आज भी अमेरिका के आदिम निवासियों को लोग इंडियन या रेड इंडियन कहते हैं।

कोलंबस स्वदेश को वापस लौट आया और अगले साल वह फिर पश्चिम की ओर रवाना हुआ। इस बार उसके साथ पहले की अपेक्षा अधिक जहाज़ थे। भारत के नए मार्ग की कथित खोज से योरप में बड़ी हलचल मच गई। इसके थोड़े ही दिन बाद वास्को-डि-गामा पूर्वीय मार्ग से तेज़ी के साथ भारत की ओर बढ़ कर कालीकट पहुंचा था। नित्य नई-नई खोजों के ताज़े समाचार योरप में आने लगे। इन समाचारों से योरपवासियों का जोश दिन-पर-दिन बढ़ने लगा। इन नवीन प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए जिन देशों में प्रतिद्वंदिता शुरू हुई, उनमें स्पेन और पुर्तगाल मुख्य थे। कालांतर में पोप ने भी रंगमंच पर प्रकट हो कर इस मामले में दिलचस्पी लेनी शुरू की। स्पेन और पुर्तगाल में संघर्ष को रोकने के उद्देश से उसने दूसरों के मत्थे उदारता दिखाने की कोशिश की। उसने एक बुल निकाला, जिसे बुल आफ़ डेमारकेशन अर्थात् बटवारे का व्यवस्था-पत्र कहते हैं। (पोप की घोषणाओं या व्यवस्था-पत्रों को किसी कारण वश 'बुल' कहते हैं।) उसने अटलांटिक महासागर में स्थित एज़ोर-नामक द्वीपसमूह के २०० मील पश्चिम में उत्तर से दक्षिण की ओर एक काल्पनिक रेखा खींच कर यह व्यवस्था दी कि इस रेखा के पूर्व में जितने ग़ैर-ईसाई देश हैं, उन सब पर पुर्तगाल का अधिकार होगा, और रेखा के पश्चिम में स्थित भू-खंडों पर स्पेन का आधिपत्य होगा। योरप को छोड़ कर शेष दुनिया का यह दान वास्तव में अपूर्व था! मार्के की बात तो यह थी कि इसके लिए पोप को एक कौड़ी भी न खर्च करना पड़ी! एज़ोर अटलांटिक महासागर में स्थित उस द्वीप-समूह का नाम है, जिसके पश्चिम में यदि लगभग ३०० मील की दूरी पर उत्तर से दक्षिण को रेखा खींची जाय तो उस रेखा के पश्चिम में समस्त उत्तरीय अमेरिका तथा दक्षिणी अमेरिका के भी अधिकांश भाग आ जाएँगे। इस प्रकार पोप ने व्यावहारिक रूप से स्पेन को दोनों अमेरिका, और पुर्तगाल को भारत, चीन, जापान, आदि, पूर्वीय देश एवम् अफ़्रीका का महाद्वीप भेंट कर दिए। उस विशाल साम्राज्य पर अधिकार करने के लिए पुर्तगीज़ों ने फ़ौरन् प्रयत्न करना शुरू कर दिया। यद्यपि उसको जीतना आसान नहीं था, किंतु उन्होंने थोड़ी बहुत सफलता प्राप्त की। वे पूर्व की ओर बराबर बढ़ते गए। १५१० ई० प० में वे गोआ पहुँचे, और १५११ ई० प० में मलय प्रायद्वीप के मलक्का में भी जा धमके। इसके थोड़े ही दिनों बाद वे जावा गए और १५७६ ई० प० में उन्होंने चीन तक में अपना डेरा जमा दिया। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने इन सभी स्थानों पर क़ब्ज़ा कर लिया। महज़ पैर भर रखने की उन्हें कहीं-कहीं जगह मिल गई थी। इसके बाद पूर्व में उन्होंने जो-जो लीलाएँ कीं, उनका वर्णन हम किसी आगामी पत्र में करेंगे। पूर्व में जो पुर्तगीज़ गए थे, उनमें से एक का नाम फ़र्डिनैंड मैगेलेन था। अपने पुर्तगीज़ महाप्रभुओं से खटपट हो जाने के कारण वह योरप वापस चला आया था। वहां आकर उसने स्पेन के राजा की अधीनता स्वीकार कर ली। इसके पहले ही वह पूर्वीय मार्ग से, अर्थात् केप-आफ़-गुडहोप के रास्ते से, भारत और पूर्वीय द्वीपों में हो आया था। अब उसे पश्चिमी मार्ग, अर्थात् अमेरिका के रास्ते, से भारत जाने

की उत्कंठा हुई। संभवतः, उसे यह मालूम था कि जिस भूखंड का कोलंबस ने पता लगाया था, वह किसी तरह एशिया में न था; एशिया उससे बहुत दूर था। १५७३ ई० प० में बालब्रोआ-नामक एक स्पेन-निवासी मध्य अमेरिका में पनामा के पर्वत-शृंगों को पार कर प्रशांत महासागर के तट तक पहुँच चुका था। उसने न जाने क्यों प्रशांत महासागर का नाम दक्षिणी समुद्र रक्खा। इस महासागर के तट पर खड़े हो कर उसने अपने प्रभु स्पेन-नरेश की ओर से यह घोषणा की कि इस नवीन समुद्र तथा उसके जल से अभिषिक्त समस्त स्थल-प्रदेशों पर स्पेन का अधिकार होगा।

१५१६ ई० प० में मैगेलेन ने अपनी पश्चिमी यात्रा का श्रीगणेश किया। अभी तक पश्चिम की ओर जितनी यात्राएँ की गई थीं, उन सब से यह यात्रा कहीं अधिक सुदीर्घ थी। आगे चल कर यह यात्रा बहुत अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। मैगेलेन के साथ ५ जहाज़ और २७० नाविक थे। वह अटलांटिक महासागर को पार कर दक्षिण अमेरिका में पहुँचा। वहाँ से वह बराबर दक्षिण की ओर बढ़ता गया, जब तक वह इस महाद्वीप की अंतिम नोक पर न पहुँच गया। उसका एक जहाज़ चट्टानों से टकरा कर नष्ट हो गया और दूसरे जहाज के लोग उसका साथ छोड़ कर भाग खड़े हुए। अब उसके पास केवल तीन जहाज़ बचे थे। इन जहाज़ों को लेकर उसने उस संकीर्ण जल-डमरूमध्य को पार किया, जो दक्षिणी अमेरिका और एक छोटे से द्वीप के बीच में स्थित है। इस जल-डमरूमध्य को पार कर लेने पर वह फिर खुले समुद्र में पहुँच गया। यह समुद्र प्रशांत महासागर था। मैगेलेन ही ने उस समुद्र का यह नाम रक्खा था, क्योंकि अटलांटिक महासागर की अपेक्षा वह बहुत अधिक शांत था। प्रशांत महासागर तक पहुँचने में मैगेलेन को पूरे १४ महीने लगे थे। इस यात्रा में उसने जिस जल-डमरूमध्य को पार किया था, वह आज दिन भी उसी के नाम से मैगेलेन का जल-डमरूमध्य कहलाता है।

मैगेलेन बड़ी वीरता के साथ उत्तर की ओर बढ़ा, और उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर बढ़ते हुए वह अज्ञात महासमुद्र को पार करने का प्रयत्न करने लगा। उसकी यात्रा का यह अंश सब से कठिन और भयंकर था। यह किसी को भी नहीं मालूम था कि इस यात्रा में कितना समय लगेगा। लगभग चार महीने, अर्थात् १०८ दिन, तक मैगेलेन और उसके साथियों को ज़मीन का दर्शन न हुआ। उनके पास न खाने को रह गया और न पीने को शुद्ध जल ही बचा। अंत में, अनेक प्रकार के संकटों का सामना करते हुए वे फ़िलीपाइन द्वीप-समूह में पहुंचे। वहाँ के निवासियों ने इन लोगों का बड़ा आदर-सत्कार किया। उन्होंने इन्हें भोजन दिया और दोनों ने एक-दूसरे को उपहार दिए। लेकिन स्पेनवासी गर्वोद्धत और उद्दंड थे। इन्हीं दिनों फ़िलीपाइन के किन्हीं दो मामूली सरदारों में लड़ाई छिड़ गई। इस लड़ाई में मैगेलेन ने भी भाग लिया और उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। उस टापू के निवासियों ने मैगेलेन के कई साथियों को भी उनके उद्दंड आचरण के कारण मार डाला।

स्पेनवाले इस द्वीप-समूह तक मसाले के टापुओं की खोज में पहुंचे थे। इन टापुओं में बहुमूल्य मसाले पैदा होते थे। स्पेनवालों ने इन टापुओं की खूब छानबीन की। उन्होंने एक और जहाज को जला कर नष्ट कर दिया; क्योंकि वे उसे साथ नहीं ले जा सकते थे। अब

सिर्फ़ दो जहाज़ उनके पास बचे थे। अंत में, उन्होंने यह निश्चय किया कि इन दो जहाज़ों में से एक जहाज़ प्रशांत महासागर के मार्ग से और दूसरा केप-आफ़-गुडहोप के मार्ग से स्पेन के लिए रवाना हो। पहला जहाज़ तो अधिक दूर न जा सका; क्योंकि पुर्तगीज़ों ने उसे पकड़ लिया। लेकिन दूसरा जहाज़, जिसका नाम 'विटोरिया' था, धीरे-धीरे अफ़्रीका की परिक्रमा लगा कर १५२२ ई० प० में तेरह आदमियों के साथ स्पेन के शेवील-नामक बंदरगाह में पहुँच गया। इस यात्रा में पूरे ३ साल लगे थे। 'विटोरिया' जहाज़ ने पूरी पृथिवी-परिक्रमा कर डाली थी। यह पहला जहाज़ था, जिसने इस तरह की परिक्रमा की थी।

मैंने 'विटोरिया' जहाज़ की यात्रा का कुछ विस्तार के साथ वर्णन किया है। वह सचमुच ही एक आश्चर्यमयी यात्रा थी। आजकल हम समुद्र को बड़े आराम के साथ पार कर सकते हैं। अब बड़े-बड़े जहाज़ों पर बैठ कर आसानी से लंबी-लंबी यात्राएं की जा सकती हैं। लेकिन उन पूर्वकालीन यात्रियों की तो याद करो, जो विकट आपदाओं की परवा न करते हुए निर्भीकता के साथ अज्ञात के गर्भ में कूद पड़े थे, और जिन्होंने अनेक कष्ट उठा कर अपने अनुवर्त्तियों के लिए सुदीर्घ समुद्र-मार्गों का पता लगाया था। यह सच है कि तात्कालिक स्पेनवासी और पुर्तगीज़ बड़े घमंडी, उद्धत और क्रूर थे; लेकिन उनमें अपूर्व वीरता तथा संकटों के झेलने का अदम्य साहस और उत्साह भरा था।

जिन दिनों मैगेलेन पृथिवी-प्रदक्षिणा कर रहा था, उन्हीं दिनों उसका एक देशवासी, कारटेज़, मैक्सिको में प्रवेश कर स्पेन-नरेश के नाम में प्राचीन अज़टेक साम्राज्य को विजय करने में लगा था। मैं तुम्हें कारटेज़ द्वारा मैक्सिको की विजय तथा अमेरिका की माया सभ्यता का कुछ हाल बता चुका हूं। १५१९ ई० प० में कारटेज़ मैक्सिको पहुंचा। १५३० ई० प० में एक दूसरे स्पेनवासी, पिज़ारो, ने दक्षिणी अमेरिका के इनका-साम्राज्य (आधुनिक पीरू) पर अधिकार कर लिया। कारटेज़ और पिज़ारो ने किसी अंश तक अपनी वीरता और साहस तथा कुछ अंश तक विश्वासघात और छल-कपट द्वारा पीरू और मैक्सिको के निवासियों की घरेलू फूट से लाभ उठाते हुए वहां के दो प्राचीन साम्राज्यों का अंत करने में सफलता प्राप्त की। वास्तव में, ये दोनों ही साम्राज्य कुछ बातों में बहुत दक़ियानूसी थे। समय की गति भी उनके अनुकूल न थी। अतएव पहले ही धक्के में ताशों के क़िले के समान वे ढह पड़े।

जहाँ-जहाँ बड़े-बड़े अन्वेषक और खोज करनेवाले पहुँचे थे, वहाँ अब योरप के साहसी लुटेरों के झुंड पहुँचने लगे। इन लोगों को केवल लूट-मार की धुन थी। लुटेरों के इस गिरोह से विशेषकर दक्षिणी अमेरिकावालों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। कोलंबस तक के प्रति इन लोगों ने दुर्व्यवहार किया। इन्हीं दिनों में स्पेन में पीरू और मैक्सिको से सोने और चाँदी के रूप में धन की अटूट धारा बहने लगी थी। इन बहुमूल्य धातुओं की अनंत राशियों को लगातार स्पेन में उमड़ते हुए देख कर योरप चकित हो उठा। इस अपार संपत्ति की बदौलत स्पेन योरप का सब से शक्तिशाली राष्ट्र हो गया। दक्षिणी अमेरिका का यह सोना-चाँदी योरप के दूसरे देशों में भी फैल गया। इस प्रकार पूर्वीय देशों का माल ख़रीदने के लिए योरप में प्रचुर मात्रा में धन इकट्ठा हो गया।

पुर्तगाल और स्पेन की सफलता को देख कर दूसरे देशों के निवासियों—विशेषकर फ्रांस, इंगलैंड, हालैंड और उत्तरीय जर्मनी के नगर-निवासियों—का भी मन ललचाने लगा। एशिया और अमेरिका को जाने के लिए इन लोगों ने पहले तो उत्तर दिशा की ओर से, अर्थात् नारवे के उत्तर से, पूर्व का मार्ग और ग्रीनलैंड के रास्ते से पश्चिम का मार्ग ढूँढ़ निकालने की कोशिश की। लेकिन जब इस उद्देश में उन्हें सफलता न मिली, तब अंत में उन्होंने भी उन्हीं चिरपरिचित मार्गों से आना-जाना शुरू किया, जिन्हें स्पेन और पुर्तगालवाले काम में लाते थे।

कितना आश्चर्यजनक वह युग रहा होगा, जब संसार के मुख से अंधकार का घूंघट हटाया जा रहा था और धीरे-धीरे उसकी अनंत रत्न-राशि और विभूतियां प्रकट होने लगी थीं। एक के बाद एक, नई-नई खोज होती जाती थीं और बड़े-बड़े समुद्रों और महाद्वीपों का पता लगता जाता था। उनमें संचित अनंत धन-राशि को बटोरने के लिए महज़ जादू के मंत्र की ज़रूरत थी। उस युग के पवन तक में इन साहसिक कृत्यों का जादू भरा होगा।

आज दिन संसार पहले की अपेक्षा बहुत अधिक संकीर्ण स्थान बन गया है। ऐसा मालूम होता है, मानो उसमें खोजने के लिए कुछ भी नहीं बचा है। लेकिन वास्तव में बात ऐसी नहीं है; क्योंकि विज्ञान ने ऐसे अनेक नए-नए क्षेत्रों का उद्घाटन कर दिया है, जिनका कोई अंत नहीं दिखाई देता और जिनमें अभी अन्वेषण की बहुत अधिक आवश्यकता है। साहसिक कृत्यों के लिए क्षेत्र का अंत नहीं है, विशेषकर आजकल के भारत में।
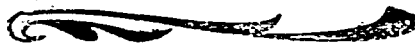
(७४)

मंगोल साम्राज्यों का छिन्न-भिन्न होना

जुलाई ६, १९३२

मैंने तुमको इधर कई दिनों से कुछ नहीं लिखा। मैं लिखना तो बहुत चाहता था, लेकिन मेरी छोटी-सी अँगुली को यह बात पसंद न थी। यह नन्हीं-सी अँगुली स्वेच्छाचारिणी होती जाती है। ऐसा मालूम होता है कि वह अत्याधिक लिखने के पक्ष में नहीं है। एक सप्ताह हुआ, जब मैं तुम्हें अपना पिछला पत्र लिखने बैठा, तब इस अँगुली ने सहसा मेरे हाथ से असहयोग करना आरंभ कर दिया। बड़ी कठिनाई से मैं उस पत्र को समाप्त कर सका। वह इतनी चंचल और दुराग्रही हो गई थी कि उसकी इच्छा के सामने नतमस्तक होकर मुझे कुछ दिनों के लिए लिखना स्थगित कर देने को विवश होना पड़ा। उसे काफ़ी विश्राम देने के बाद आज मैं फिर लिखने को बैठा हूँ। अभी तो वह ठीक ढंग से काम कर रही है, लेकिन मुझे आशंका है कि कहीं वह मुझे फिर न सताने लग जाय।

मैं तुमको मध्यकालीन युगों के अवसान, योरप में नवीन विचारों के जागरण और उस अभिनव शक्ति के उदय के संबंध में, जो विविध रूपों में अभिव्यक्त होने लगी थी, कुछ हाल बता चुका हूँ। ऐसा मालूम होता है कि सारे योरप में क्रियाशीलता और रचनात्मक चेष्टाओं की एक लहर उठ खड़ी हुई थी। सदियों तक संकीर्ण विरौंदे में बंद रहने के बाद योरपवासी अकस्मात् अपने संकुचित बंधनों को तोड़ कर सुविस्तृत महासागरों और सुदूर देशों में पहुँचने लगे। उन्हें अपने बल और पराक्रम में अटल विश्वास था, अतएव बहुत शीघ्र वे विजेता के रूप में चारो ओर फैल गए। इस आत्म-विश्वास के कारण उनके मन में अपूर्व साहस पैदा हो गया, और उस साहस के बल पर उन्होंने बड़े-बड़े आश्चर्य्यजनक करतब कर दिखाए।

लेकिन तुम्हें इस बात से अवश्य ही अचरज होता होगा कि अकस्मात ही यह परिवर्तन कैसे हो गया। तेरहवीं शताब्दी के मध्य में मंगोल एशिया और योरप पर हावी थे। पूर्वीय योरप तो मंगोलों के विजित का अंग ही बन गया था, और पश्चिमी योरप भी इन पराक्रमशाली और दुर्जेय वीरों के सामने थर-थर काँपता था। मंगोलों के प्रतापी खान के एक साधारण सेनापति तक की तुलना में योरप के राजे-महाराजे किस गिनती में थे?

दो शताब्दी बाद कानस्टैंटिनोपल के शाही नगर और दक्षिण-पूर्वीय योरप के एक बहुत बड़े भाग पर आटोमन तुर्कों का अधिकार हो गया। ईसाइयों और मुसलमानों में आठ सौ वर्ष तक तुमुल द्वंद होने के पश्चात् आटोमन तुर्कों के हाथ वह बड़ा उपहार लगा, जिसको हस्तगत करने के लिए अरब-निवासी और सेलजुक तुर्क इतने अधिक लालायित थे। किंतु आटोमनों को इससे तृप्ति न हुई। आटोमन सुलतान पश्चिमी योरप तथा रोम की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखा करते थे। उनके आक्रमणों के भय से जर्मन (पुनीत रोमन) साम्राज्य और इटली सर्वत्र सशंकित

रहते थे। आटोमनों ने हंगरी को जीत लिया और विएना के शहरपनाह तक वे बढ़ आए। इटली के सीमा-प्रांत तक उनके रण-घोषों से गूँजने लगे। उनका साम्राज्य पूर्व में बग़दाद और दक्षिण में मिस्र तक फैल गया था। उन्होंने समुद्र पर भी अपने जंगी बेड़ों के बल पर धाक जमा रक्खी थी।

तो फिर यह अद्भुत परिवर्तन कैसे हो गया? कैसे योरप ने मंगोलों के आतंक से छुटकारा पाने में सफलता प्राप्त की? कैसे योरपवासी तुर्कों के आघातों से बच गए? केवल बच ही नहीं गए, किंतु स्वयमेव आक्रमणकारी का रूप धारण कर उन्होंने दूसरों को विकंपित और भयातुर करना भी आरंभ कर दिया!

वास्तव में, मंगोलों ने योरप को बहुत दिनों तक नहीं सताया। नए ख़ान के निर्वाचन के हेतु वे स्वेच्छा से स्वदेश चले गए और फिर लौट कर योरप पर चढ़ाई करने की उन्हें फ़ुरसत ही न मिली। पश्चिमी योरप उनके स्वदेश, मंगोलिया, से बहुत ज्यादे दूर भी था। यह भी संभव है कि पश्चिमी योरप से उन्हें विशेष रुचि ही न रही हो; क्योंकि उन दिनों वहाँ सघन वनोपवन थे, जो मंगोलों को नहीं भाते थे। वे तो खुले स्टेपे-प्रदेशों और सुविस्तृत मैदानों में रहने के अभ्यस्त थे। मंगोलों के योरप के हट जाने का कारण चाहे जो भी रहा हो, किंतु यह स्पष्ट है कि पश्चिमी योरप के बचाव का कारण उसका निजी बाहुबल नहीं था। उसके बचाव का असली कारण और रहस्य यह था कि मंगोल आरंभ ही से पश्चिमी योरप के प्रति उदासीन थे। उन्हें दूसरे कामों से छुट्टी ही नहीं मिलती थी। पूर्वीय योरप में मंगोल कुछ अधिक समय तक बने रहे, लेकिन वहाँ भी उनकी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो गई।

मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि १४५२ ई० प० में तुर्कों द्वारा कानस्टैंटिनोपल की विजय योरपीय इतिहास की एक युग-परिवर्तनकारिणी घटना समझी जाती है। सुविधा के लिए इसी घटना से योरप में मध्यकालीन युगों का अंत और नवीन दृष्टिकोण का उदय होना माना जाता है। इसी समय से योरप में "पुनरुज्जीवन"—रैनेसैंस—का आरंभ हुआ था, जिसने विभिन्न रूपों में प्रस्फुटित होकर योरप की सभ्यता और संस्कृति को अपनी सुरभि से परिपूर्ण कर दिया। यह सचमुच ही एक मनोरंजक बात है कि जिस समय तुर्कों के कारण योरप की दशा संकटाकीर्ण हो रही थी और दिन-पर-दिन यह आशंका बढ़ती जा रही थी कि तुर्कों का योरप पर अधिकार होने में अब कोई संदेह नहीं है, ठीक उसी समय योरप उठ खड़ा हुआ और उसकी शक्ति दिन-पर-दिन बढ़ने लगी। कुछ दिनों तक तो तुर्क पश्चिमी योरप में बराबर बढ़ते रहे; लेकिन इधर तुर्क बढ़ते जाते थे, उधर योरपीय अन्वेषक और साहसिक यात्री नए-नए देशों और समुद्रों का पता लगाने तथा पृथ्वी की परिक्रमा करने में अग्रसर हो रहे थे। वैभवशाली सुलेमान के शासन-काल में (१५२० से १५६६ ई० प० तक) तुर्की साम्राज्य विएना से बग़दाद और कैरो तक फैल गया था। लेकिन इसके पश्चात् तुर्कों की प्रगति रुक गई और वे ग्रीकों की नगरी, कानस्टैंटिनोपल, के कलुषित और क्षयकारी विलासमय जीवन के वातावरण से प्रभावित होने लगे। इस तरह ज्यों-ज्यों योरप की शक्ति बढ़ती गई, त्यों-त्यों तुर्कों की शक्ति का क्षय होने लगा और वे अधिकाधिक कमज़ोर होते गए।

विगत युगों के विस्तृत क्षेत्र की सैर करते हुए हमने अनेक बार एशिया को योरप पर हमला करते हुए देखा है। कभी-कभी योरप ने भी एशिया पर हमले किए थे, लेकिन इन आक्रमणों का अधिक महत्व नहीं था। सिकंदर ने एशिया को पार कर भारत पर विजय प्राप्त की थी; लेकिन उसकी इस विजय का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। रोमन तो इराक़ के आगे कभी बढ़ ही नहीं पाए। इसके विपरीत एशियाई जातियाँ आरंभ ही से योरप पर चढ़ाई करती रहीं। इन एशियाई आक्रमणों में अंतिम आटोमन तुर्कों का आक्रमण था। धीरे-धीरे एशिया और योरप, दोनों, ने अपने प्राचीन क्रमों को बदल दिया और अब योरप ने एशिया पर हमला करना शुरू किया। यह परिवर्तन सोलहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ था। अमेरिका, जिसकी खोज कुछ ही दिन पहले हुई थी, चुटकी बजाते योरप के अधिकार में आ गया। लेकिन अमेरिका की अपेक्षा एशिया अधिक टेढ़ी खीर सिद्ध हुआ। दो सौ वर्षों तक जब योरपवासियों ने एशियाई महाद्वीप के विभिन्न भूभागों में पैर रखने की जगह पाने के लिए परिश्रम किया, तब कहीं अठारहवीं सदी के मध्य में वे एशिया के कुछ भागों पर अपनी धाक जमाने में सफल हुए। इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए; क्योंकि कुछ लोग, जो इतिहास से अनभिज्ञ हैं, यह मान बैठे हैं कि अनादिकाल ही से एशिया पर योरप का प्रभुत्व जमा हुआ है। जैसा हम देखेंगे, योरप का यह प्रभुत्व बहुत ही अल्पकालिक है। आज दिन यह दृश्य फिर बदल रहा है। ऐसा मालूम होता है कि योरप का वर्तमान रूप समयानुकूल नहीं है। पूर्व के देशों में नए-नए विचार उथल-पुथल मचा रहे हैं। जगह-जगह स्वाधीनतामूलक शक्तिशाली आंदोलन उठ रहे हैं। वे योरप की प्रभुता को ललकारते हुए उसकी जड़ को हिलाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन राष्ट्रीय भावों से भी अधिक व्यापक और शक्तिशाली हैं समानता के वे नवीन सामाजिक विचार, जो सब प्रकार के सत्ताधारियों द्वारा पददलित लोगों के रक्तशोषण का अंत कर देना चाहते हैं। भविष्य में न तो एशिया पर योरप की प्रभुताई का सवाल उठेगा, न योरप पर एशिया की प्रभुता ही का कोई प्रश्न रहेगा। अब तो एक देश के द्वारा दूसरे देश के शोषण का कोई मसला ही न रह जायगा।

यह तो हुई लंबी भूमिका। अब हमें मंगोलों के विषय को उठाना चाहिए। आओ, कुछ समय के लिए हम उनके भाग्य-चक्र के प्रत्यावर्तन का अनुसरण करते हुए देखें कि उन लोगों की अंत में क्या दशा हुई। तुम्हें याद होगा कि कुबलाई ख़ाँ अंतिम प्रतापी खान था। कुबलाई की मृत्यु १२९२ ई० प० में हुई। उसकी मृत्यु के बाद सुविस्तृत मंगोल साम्राज्य, जो कोरिया से लेकर एशिया के इस छोर से उस छोर तक पोलैंड और हंगरी तक विस्तृत था, पाँच टुकड़ों में विभक्त हो गया। इनमें से प्रत्येक भाग एक विशाल साम्राज्य था। इन पाँच महासाम्राज्यों के नाम अपने एक पिछले पत्र (नं० ६८) में मैं तुम्हें बता चुका हूँ।

इन पाँच महासाम्राज्यों में प्रमुख चीन का साम्राज्य था, जिसके अंतर्गत मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत, कोरिया, अनम, टांङ किङ और बर्मा, आदि, देश संमिलित थे। इस साम्राज्य के अधीश्वर कुबलाई के वंशज थे। उनका वंश युआन-राजवंश के नाम से

विख्यात है। इस वंश ने अधिक दिनों तक राज्य नहीं किया। थोड़े ही समय बाद चीन के मंगोल साम्राज्य के दक्षिणी भाग उससे जुदा हो गए। जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, कुबलाई की मृत्यु से ठीक ७६ वर्ष बाद, १३६८ ई० प० में, युआन राज-वंश का अंत हो गया और मंगोल चीन से निकाल कर भगा दिए गए।

सुदूर पश्चिम में मंगोलों का एक और विशाल साम्राज्य था, जो सुवर्ण-यूथों का साम्राज्य कहलाता था। इन लोगों के नाम कितने मनमोहक होते थे! कुबलाई की मृत्यु से लगभग २०० वर्ष बाद तक रूस के सरदार सुवर्ण-यूथों के इस साम्राज्य को करद देते रहे। इस अवधि में, १४८० ई० प० के लगभग, साम्राज्य कुछ-कुछ कमजोर हो गया और रूस के प्रमुख सरदार, मास्को के ग्रांड ड्यूक, ने इसे करद देने से इनकार कर दिया। यह ग्रांड ड्यूक आइवन महान् के नाम से विख्यात था। रूस के उत्तर में नावगोराड का प्राचीन प्रजातंत्र था, जहाँ व्यापारियों और सौदागरों की तूती बोलती थी। आइवन ने इस प्रजातंत्र को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। इसी समय के लगभग कानस्टैंटिनोपल पर तुर्कों का अधिकार हो गया और उसके प्राचीन बैजैंटियन राज-परिवारवालों को नगर छोड़ कर भागना पड़ा। आइवन ने इस प्राचीन शाही वंश की एक लड़की से शादी कर ली और तब से वह अपने को उस वंश का वंशधर तथा प्राचीन बैजैंटियन साम्राज्य का उत्तराधिकारी कहने लगा। आइवन प्रथम ही के समय से रूस के साम्राज्य की नींव पड़ी, जिसका १९१७ ई० प० के विप्लव में अंत हुआ। आइवन का पौत्र बहुत ही क्रूर था। वह भयंकर आइवन के नाम से प्रसिद्ध था। उसने अपने आपको ज़ार कहना शुरू किया। यह शब्द सीज़र या सम्राट् का रूपांतर है।

इस प्रकार योरप में मंगोलों का अंत हो गया। सुवर्ण-यूथों के अवशिष्ट अंशों अथवा मध्य एशिया के अन्य मंगोल साम्राज्यों के विषय में सविस्तर लिखने की न आवश्यकता ही है, न उनका अधिक हाल ही मुझे मालूम है। लेकिन एक व्यक्ति की बाबत विस्तारपूर्वक हाल बताना ज़रूरी है। यह तैमूर था, जो दूसरा चंगीज़ खाँ होने की इच्छा रखता था। वह अपने को चंगीज़ का वंशज बताता था। लेकिन वास्तव में वह एक तुर्क था। इसीलिए वह तैमूर-ए-लंग अर्थात् लंगड़ा तैमूर कहलाता है। १३६९ ई० प० में तैमूर अपने बाप की मृत्यु के बाद समरकंद की गद्दी पर बैठा। गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिनों बाद उसने विजय और नृशंसता के लीला-क्रम का श्रीगणेश कर दिया। तैमूर था तो बहुत बड़ा सेनानी, लेकिन क्रूरता में वह राक्षस को भी मात करता था। इस कालावधि में मध्य एशिया के मंगोल मुसलमान हो गए थे। तैमूर भी मुसलमान था, किंतु यह जानते हुए भी कि जिन लोगों के प्रति वह नृशंस व्यवहार कर रहा था वे उसी के सहधर्मी थे, उसका हृदय रत्ती भर भी दया से न पसीजा। जहाँ कहीं भी वह गया, वहाँ उसने सर्वनाश और संहार का दारुण तांडव रचा। तैमूर को नरमुंडों के बड़े-बड़े पिरेमिड (स्तूप) बनाने का बेहद शौक़ था। पूर्व में दिल्ली से पश्चिम में एशिया-माइनर तक हज़ारों-लाखों आदमियों को मरवा कर उसने उनके मुंडों के पिरेमिडों का ताता-सा बाँध दिया था। चंगीज़ भी क्रूर और विध्वंसकारी था; वह इस मामले में अपने समसामयिक शासकों के समान था। लेकिन तैमूर तो बहुत ही अधम था। अकारण ही राक्षसों जैसी नृशंसता दिखलाने में

उसने सब को मात कर दिया। कहा जाता है कि एक स्थान पर उसने दो हज़ार ज़िंदा आदमियों की एक मीनार रचवा कर उसे चूना और ईंट से चुनवा दिया था। यह राक्षस भारत की अपार संपत्ति से आकृष्ट होकर इस देश में भी आ धमका। भारत पर चढ़ाई करने के प्रस्ताव को अपने सरदारों और सेनापतियों से स्वीकार कराने में तैमूर को बड़ी कठिनाई हुई। इस संबंध में समरकंद में एक बड़ी सभा की गई थी, जिसमें तुर्की सरदारों ने भारत में जाने के प्रस्ताव का तीव्र विरोध किया था। उनका कहना था कि भारत बहुत अधिक गरम देश है। अंत में, तैमूर को वचन देना पड़ा कि वह भारत में अधिक दिनों तक नहीं ठहरेगा; महज़ उस देश को उजाड़ कर तथा वहाँ का धन लूट कर वह लौट आएगा। उसने अपने वचन का पूरा-पूरा पालन किया। तुम्हें याद होगा कि उत्तरीय भारत में उन दिनों मुसलमानों का राज्य था। दिल्ली में सुलतान राज्य करता था; लेकिन उसका राज्य बहुत कमज़ोर हो गया था। सीमा-प्रांतों में मंगोलों के साथ निरंतर संघर्ष के कारण उसकी कमर टूट गई थी। अतएव, जब मंगोलों की सेना के साथ तैमूर भारत में उतरा, तब कोई भी उसका सबल विरोध नहीं कर सका। तैमूर स्वेच्छा-पूर्वक जन-संहार करता तथा नर-मुंडों के पिरेमिड बनाता आगे बढ़ता चला गया। हिंदू और मुसलमान, दोनों ही, उसकी क्रूरता के शिकार हुए। मालूम होता है कि वह किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करता था। जब बंदियों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गई कि वे भार मालूम होने लगे तब आज्ञा देकर उसने उन सब को मरवा डाला। इस तरह लगभग एक लाख आदमी मार डाले गए। कहा जाता है कि इसी अवसर पर एक स्थान के हिंदू-मुसलमानों ने मिल कर राजपूती जौहर किया था, अर्थात् रण-क्षेत्र में लड़ते हुए वे मरने-मारने के लिए अपने गढ़ से निकल पड़े थे। लेकिन इस हृदय-विकंपी दारुण कथा को मैं क्यों दोहराऊँ? तैमूर के मार्ग में जो भी स्थान पड़े, उन सब की एक-सी दशा हुई। जहाँ भी तैमूर की सेना निकल जाती थी, वहीं दुर्भिक्ष और महामारी का साम्राज्य छा जाता था। तैमूर दिल्ली में केवल १५ दिनों तक रहा; लेकिन इतने ही समय में उसने इस विशाल नगरी को उजाड़ कर बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। तत्पश्चात् मार्ग में काश्मीर को लूटता हुआ वह समरकंद को वापस लौट गया।

क्रूरता में राक्षस को मात करते हुए भी तैमूर को कला से प्रेम था। वह समरकंद और मध्य एशिया के अन्य स्थानों में सुंदर इमारतें बनवाने का इच्छुक था। इसी उद्देश्य से, जैसा उसके पहले सुलतान महमूद ने किया था, वह भारत से अनेक कुशल कलाविद और शिल्पी अपने साथ ले गया था। इनमें से कुछ चुने हुए शिल्पियों और कारीगरों को अपने शाही शिल्प-विभाग में रख कर, दूसरों को उसने पश्चिमी एशिया के प्रमुख नगरों में भेज दिया था। इस प्रकार, मध्य एशिया में निर्माण-कला की एक नई शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

तैमूर के जाने के बाद दिल्ली श्मशानवत् हो गई। वहाँ दुर्भिक्ष और महामारी का अनियंत्रित साम्राज्य छा गया। दो महीने तक वहाँ न तो कोई शासक या शांति-रक्षक था, न कोई राज्य-व्यवस्था ही थी। इने-गिने आदमी ही वहाँ बच पाए थे। जिस आदमी को

तैमूर ने दिल्ली का वाइसराय बनाया था, वह भी उस शहर को छोड़ कर मुलतान चला गया था।

इसके बाद तैमूर ईरान और इराक़ को नष्ट-भ्रष्ट करता हुआ पश्चिम की ओर बढ़ गया। १४०२ ई० प० में अंगोरा में आटोमन तुर्कों की एक विशाल सेना से उसकी मुठभेड़ हुई, जिसे उसने अपने अपूर्व रण-कौशल से आसानी के साथ परास्त कर दिया। लेकिन समुद्र से उसे भी हार मानना पड़ी। वह बास्फोरस-नामक जल-डमरूमध्य को पार करने में असफल रहा। इस तरह, अनायास ही योरप उसकी चपेट से बच गया।

तीन वर्ष बाद, १४०५ ई० प० में, चीन की ओर लौटते समय मार्ग ही में तैमूर की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के साथ ही उस विशाल साम्राज्य का अंत हो गया, जो समस्त पश्चिमी एशिया में फैला था। इस साम्राज्य को आटोमन कर दे देते थे, मिस्र उसकी अधीनता को स्वीकार करता था और सुवर्ण-यूथों का साम्राज्य भी उसके अधीन था। लेकिन तैमूर की योग्यता और शक्ति उसके सैन्य-संचालन ही तक परिमित थी। यद्यपि वह उच्च कोटि का रण-कुशल सेनापति था, और साइबेरिया के बर्फ़िस्तानों में उसकी कुछ लड़ाइयाँ, युद्ध-कला की दृष्टि से, अपूर्व थीं; लेकिन हृदय से वह बर्बर वनचर था। चंगीज़ के समान न वह राज्य-व्यवस्था को कोई संघटित रूप दे सका, न अपने पीछे ऐसे योग्य सेनापतियों ही को छोड़ गया, जो साम्राज्य को क़ायम रख सकते। इसीलिए उसकी मृत्यु के साथ ही उसका साम्राज्य विलीन हो गया। केवल उसके संहार और सत्यानाश की स्मृति बच रही। मध्य एशिया में अनेक साहसी वीर और विजेता समय-समय पर प्रकट हुए हैं। उनमें से चार के नाम अब तक याद किए जाते हैं। वे हैं सिकंदर, सुलतान महमूद, चंगीज खाँ और तैमूर।

तैमूर ने आटोमन तुर्कों को परास्त कर उनकी शक्ति को जड़ से हिला दिया। लेकिन शीघ्र ही वे फिर सँभल गए और, जैसा हमें मालूम है, अगले ५० वर्षों में (१४५३ ई० प० में) उन्होंने कानस्टैंटिनोपल पर अधिकार कर लिया।

अब हमें मध्य एशिया को छोड़ कर दूसरी ओर ध्यान देना चाहिए। इसके बाद मध्य एशिया सभ्यता की श्रेणी में बहुत ही पिछड़ गया और अंत में घोर अंधकार के गर्त्त में जा गिरा। वहाँ की कोई ऐसी उल्लेखनीय घटनाएँ नहीं हैं, जिनकी ओर अब हमें ध्यान देने की जरूरत हो। मनुष्य के हाथ से विनष्ट की हुई प्राचीन सभ्यताओं की स्मृतियाँ भर अब बाक़ी हैं। प्रकृति ने भी इस प्रदेश को बहुत-कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। धीरे-धीरे उसका जलवायु अधिक शुष्क और निवास के लिए अनुपयुक्त हो गया।

मंगोलों से भी अब हम विदा होते हैं। हां, उनकी एक शाखा से हमारा संबंध बना रहेगा। इस शाखा ने भारतवर्ष में एक विशाल और सुप्रसिद्ध साम्राज्य की स्थापना की थी। लेकिन चंगीज खाँ और उसके वंशजों का साम्राज्य सदा के लिए छिन्न-भिन्न हो चुका था। अब मंगोल अपने छोटे-छोटे सरदारों की अधीनता में फिर से पहले की तरह वनचर-जीवन बिताने लगे थे।

छोटी अँगुली में फिर पीड़ा होने लगी। मुझे अब समाप्त कर देना चाहिए।

(७५)

भारतवर्ष ने एक जटिल समस्या के समाधान की चेष्टा आरंभ की

जुलाई १२, १६३२

मैंने तुम्हें तैमूर तथा उसकी नर-हत्याओं और नर-मुंडों के पिरेमिडों का हाल बताया है। यह सब कितना बर्बर और हृदय को दहलानेवाला कांड मालूम होता है। इस तरह की बातों का हमारे सुसभ्य युग में होना असंभव प्रतीत होता है; परंतु निश्चय के साथ ऐसा कहना भी कठिन ही है। हाल ही में हम देख और सुन चुके हैं कि आज दिन भी कैसे-कैसे कांड रचे जाते हैं। चंगीज़ या तैमूर ने विनाश का जो तांडव रचा था, वह सन् १६१४-१८ के महायुद्ध के संहार और विनाश को देखते हुए बिलकुल ही क्षुद्र और नगण्य प्रतीत होता है। जो-जो अत्याचार मंगोलों ने किए, उनमें से प्रत्येक की जोड़ के उदाहरण आधुनिक समय में हमें मिल सकते हैं।

लेकिन इसमें कुछ संदेह नहीं कि हम लोग चंगीज या तैमूर के जमाने से सैकड़ों बातों में बहुत आगे बढ़ गए हैं। तब से अब जीवन न केवल अधिक जटिल हो गया है, किंतु उस युग की अपेक्षा अब हमारे जीवन में अधिक व्यापकता और गंभीरता भी आ गई है। आज दिन हम प्रकृति की अनेक शक्तियों को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक समझने और लोक-संग्रह के लिए उनका उपयोग करने लगे हैं। निस्संदेह, अब संसार बहुत अधिक सुसभ्य और सुसंस्कृत हो गया है। तो फिर क्या कारण है कि युद्ध के समय में हम अपनी संस्कृति और सभ्यता को भुला कर बर्बर बन जाते हैं ? केवल इस बात को छोड़ कर कि युद्ध में भीषण और शक्तिशाली शस्त्रास्त्रों के आविष्कार और निर्माण में मस्तिष्क का अधिकाधिक उपयोग होता है, युद्ध स्वतः सभ्यता और संस्कृति का विपर्यय और प्रतिवाद है। सभ्यता और युद्ध, ये दोनों, परस्पर-विरोधी बातें हैं। लड़ाई के छिड़ते ही उसमें भाग लेनेवाले अधिकाँश मनुष्य बेतरह उत्तेजित हो उठते हैं, और जो कुछ उन्होंने सभ्यता से सीखा है उसमें से बहुत-कुछ को वे भूल जाते हैं। वे सत्य और जीवन की चारुता तक को भुला बैठते हैं और कई हजार वर्ष पूर्व के अपने बर्बर पूर्वज़ों के समान आचरण करने लगते हैं। ऐसी दशा में यह कोई अचरज की बात नहीं है कि जब कभी युद्ध छिड़ता है तब वह बहुत ही रौद्र और बीभत्स रूप धारण कर लेता है।

यदि किसी दूसरे लोक का निवासी लड़ाई के जमाने में हमारी इस दुनिया में आए और हमारी करतूतों को देखे तो वह हम लोगों के संबंध में क्या सोचेगा ? मान लो कि वह हमें युद्धकाल ही में आकर देखे; यह भी मान लो कि जब हमारे संसार में शांति का साम्राज्य हो, उस समय उसे हम लोगों को देखने का सुअवसर न मिला हो। ऐसी दशा में, वह लड़ाई के दिनों में जो कुछ देखेगा उसी के आधार पर हमारे संबंध में अपनी संमति स्थिर करेगा।

उसके लिए इस परिणाम पर पहुँचना स्वाभाविक होगा कि हम लोग ऐसे नृशंस बर्बर हैं, जो कभी-कभी भले ही बहादुरी और आत्मत्याग के काम कर दिखाते हों, लेकिन जिनमें समष्टि रूप से उत्तम गुणों का प्रायः अभाव है और जिनकी सदा एक ही धुन लगी रहती है कि एक दूसरे को मार डालें और सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर दें। हमारे तथा हमारी दुनिया के संबंध में उसकी यह संमति सर्वथा अनुचित और भ्रांतिमूलक होगी। क्योंकि उसकी यह संमति हमारे जीवन के किसी विशेष, किंतु बहुत अंशों में प्रतिकूल, पहलू ही को देख कर स्थापित की गई होगी।

इसी तरह, यदि हम भूतकाल का निरीक्षण करते हुए केवल संग्रामों और नर-हत्याओं ही पर जोर देते रहेंगे तो हम उसके साथ अन्याय करेंगे। दुर्भाग्यवश, संग्रामों और नर-हत्याओं की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से खिंच जाता है। किसी देश के निवासियों की साधारण दिनचर्य्या बहुधा शुष्क और नीरस होती है। उसके संबंध में इतिहास-लेखक कहे तो क्या कहे! अतएव इतिहासकार किसी संग्राम या युद्ध को लेकर उसके हृदयविकंपी वर्णन से पाठक को प्रभावित करने की चेष्टा करता है। निस्संदेह, ऐसे संग्रामों को न तो हम भूल सकते हैं और न उनकी उपेक्षा ही की जा सकती है। लेकिन हमें लड़ाई-झगड़ों को उचित से अधिक महत्व कदापि न देना चाहिए। हमें भूतकाल को वर्तमान समय ही की तरह और तात्कालिक प्राणियों को अपने ही समान समझना चाहिए। जब हम ऐसा करेंगे तभी उन लोगों के संबंध में हमारी धारणा अधिक उदार और मानवता रंजित होगी। तब हम इस बात का अनुभव कर सकेंगे कि हम उन युगों का सार-तथ्य आकस्मिक संग्रामों में नहीं किंतु जनसाधारण की दैनिक जीवन-चर्य्या और तात्कालिक विचार-क्रम के विकास में पा सकते हैं। इस बात को तुम्हें विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि तुम्हारे इतिहास-ग्रंथ प्रायः लड़ाइयों के वर्णनों ही से भरे पड़े हैं। मेरे ये पत्र भी बहुधा उसी दिशा में भटक जाते हैं। इसका असली कारण यह है कि विगत युगों के दैनिक जीवन के संबंध में कुछ लिखना बड़ा कठिन है। मुझे तो इसका बहुत कम ज्ञान है।

जैसा हम देख चुके हैं, तैमूर उन भीषण महाव्याधियों में से था, जो समय-समय पर भारत को दुःख देती रही हैं। जहाँ-जहाँ वह गया, वहाँ-वहाँ वह अपने पीछे दारुण दुःख का ऐसा कारुणिक क्रंदन छोड़ गया कि आज भी उसके स्मरण से हृदय काँपने लगता है। लेकिन दक्षिणी भारत पर उसका कुछ भी असर न हुआ, क्योंकि दक्षिण तक वह कभी पहुँच ही न पाया। इसी प्रकार पूर्वीय, पश्चिमी और मध्यभारत भी उसके प्रहार से बच गए। दिल्ली और मेरठ के समीप के एक छोटे-से उत्तरीय हिस्से को छोड़ कर, आधुनिक संयुक्त प्रांत भी उसके चंगुल से बचा रहा। दिल्ली नगर के अतिरिक्त, केवल पंजाब ही एक ऐसा प्रांत था, जिसे तैमूर के आक्रमण से सब से अधिक हानि उठानी पड़ी। लेकिन पंजाब में भी उन्हीं लोगों को विशेष रूप से कष्ट पहुँचा, जो उसके मार्ग में पड़े। शेष पंजाब के लोगों की जीवन-चर्य्या पूर्ववत् ही बनी रही। उनकी जीवन-धारा तैमूर के आक्रमण के कारण न तो रुकी और न खंडित ही हुई। ऐसी दशा में, इन लड़ाइयों और आक्रमणों के महत्व को बढ़ाने के प्रलोभन से बचने के लिए हमें सदैव सतर्क रहना चाहिए।

आओ, चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दियों के भारतवर्ष का संक्षेप में सिंहावलोकन करने का प्रयत्न करें। दिल्ली की सल्तनत निरंतर घटती और संकुचित होती जाती थी। तैमूर के आक्रमण के बाद तो वह लगभग अंतर्धान ही हो गई। उन दिनों भारत में जगह-जगह पर बड़ी-बड़ी स्वतंत्र रियासतें स्थापित थीं। इनमें से अधिकतर रियासतें मुसलिम थीं, अर्थात् उनमें मुसलमान शासक राज्य करते थे। लेकिन दक्षिणी भारत में एक शक्तिशाली हिंदू राष्ट्र—विजयनगर—विद्यमान था। यह राष्ट्र बहुत ही सुदृढ़ और सुसंघटित नींव पर स्थापित था। आर्म्भ-कालीन आक्रमणकारियों तथा गुलाम सुलतानों की भीषणता और नृशंसता अब बहुत कुछ घट गई थी। चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दियों के भारत के मुसलिम शासकों का दृष्टिकोण हिंदुओं ही की तरह भारतीय रंग से रंजित हो गया था। बाहरी दुनिया से उनका संपर्क टूट गया था। तात्कालिक भारतीय रियासतें प्रायः एक-दूसरे से लड़ती झगड़ती रहती थीं, लेकिन उनकी लड़ाइयां राजनीतिक थीं न कि धार्मिक। प्रायः मुसलिम रियासतों के पास हिंदू फ़ौजें और हिंदू रियासतों के पास मुसलिम सेनाएं भी होती थीं। मुसलिम नवाब और सुलतान बहुधा हिंदू महिलाओं से विवाह भी किया करते थे। वे हिंदुओं को अपना वज़ीर बनाते और उन्हें ऊँचे-ऊँचे पद दिया करते थे। इन दिनों में विजेता और विजित अथवा शासक और शासित का भाव बहुत कम दिखाई देता था। सच तो यह है कि इस युग के अधिकांश मुसलमान—जिनमें कई शासक भी थे—जन्मना भारतवासी थे। यदि अंतर था तो केवल यही था कि उन्होंने अपना मत त्याग कर इस्लाम को ग्रहण कर लिया था। इनमें से बहुतों ने केवल नवाब या सुलतान के कृपा-भाजन बनने अथवा सांपत्तिक लाभ उठाने ही की लालसा से प्रेरित हो इस्लाम को अंगीकार किया था। किंतु अपना मज़हब बदल लेने पर भी बहुत-सी बातों में वे अभी तक पुरानी रीति-नीति ही को काम में लाते थे। कुछ मुसलिम शासकों ने हिंदुओं को बल-पूर्वक मुसलमान बनाने की भी कोशिश की, लेकिन उनके इन प्रयत्नों में जो प्रेरक भाव था वह राजनीतिक था, क्योंकि वे यह जानते थे कि जो हिंदू मुसलमान हो जाएंगे, वे कट्टर हिंदुओं की अपेक्षा अधिक राजभक्त सिद्ध होंगे। लेकिन बल-प्रयोग के द्वारा बहुत कम हिंदू मुसलमान बनाए जा सके। हिंदुओं को मुसलमान बनाने में मुसलिम शासकों को जिस वस्तु से सब से अधिक सफलता मिली, वह सांपत्तिक प्रलोभन था। जो लोग मुसलमान नहीं थे, उन्हें जज़िया-नामक एक राज-कर देना पड़ता था। इस राज-कर से बचने की नीयत से बहुत-से हिंदू मुसलमान हो गए। लेकिन यह प्रायः शहरों ही में हुआ। देहातों में इसका बहुत कम असर पड़ा। गाँवों में रहनेवाले करोड़ों आदमी पूर्ववत् ही हिंदू बने रहे। यह सच है कि पहले की अपेक्षा राज-कर्मचारी अब गांववालों के जीवन में अधिक हस्तक्षेप करने लगे थे; और ग्राम-पंचायतों के अधिकार भी अब बहुत घट गए थे। लेकिन पंचायतों का रूप अब भी ज्यों-का-त्यों बना था। अब भी वे ग्राम-जीवन की केंद्र और आधार थीं। सामाजिक, धार्मिक और आचार-व्यवहार-संबंधी मामलों में भारत के गाँव प्रायः अछूते ही बने रहे। आज भी भारतवर्ष में लाखों गाँव हैं। यह ग्राम-प्रधान देश है। ऐसा मालूम होता है कि क़स्बे और नगर इसकी ऊपरी सतह पर स्थित हैं; और सारा भारत, सदा

से और आज दिन भी, देहातों ही में है। इस ग्रामीण भारत में इस्लाम के कारण कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इस्लाम के आगमन का हिंदू-धर्म पर दुहरा प्रभाव पड़ा; लेकिन यह एक विचित्र बात है कि इन दोनों प्रभावों में विषम विरोधाभास था। इस्लाम के कारण हिंदू-धर्म एक ओर तो कट्टर पुरातन-पंथी हो गया; वह बाह्य आक्रमण से बचने के अनवरत प्रयत्न में अधिकाधिक कठोर होता गया। उसने बाह्य जगत् से संबंध-विच्छेद कर अपने आपको एक घिरौंदे में बंद कर लिया। भारत की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था भी अब पहले की अपेक्षा अधिक कठोर हो गई और छुआछूत तथा निषेध की नीति का जोरों के साथ प्रयोग होने लगा। इसके साथ-साथ स्त्रियों को परदे में रखने की प्रथा का भी विस्तार और मान बढ़ने लगा। दूसरी ओर, हिंदू-समाज में जाति-पाँति और पूजा-पाठ के विरुद्ध विद्रोह की जबर्दस्त आग सुलग उठी और हिंदू-धर्म में सुधार करने की अनेक चेष्टाएँ होने लगीं।

इतिहास के आरंभ ही से हिंदू-धर्म में समय-समय पर अनेक सुधारक पैदा होते और उसकी बुराइयों को दूर करने की बारंबार चेष्टा करते आए हैं। इन सुधारकों में बुद्ध का स्थान सब से ऊँचा है। मैंने तुम्हे शंकराचार्य्य का भी हाल बताया है, जो आठवीं शताब्दी में पैदा हुए थे। उनके २०० वर्ष बाद, ग्यारहवीं शताब्दी में, दक्षिणी भारत के चोला राज्य में, एक दूसरे प्रसिद्ध सुधारक ने जन्म लिया। इन्होंने शांकरमत के विरोधी मत का प्रतिपादन किया। उनका नाम रामानुज था। शंकराचार्य्य शैव थे; वह प्रतिभा-संपन्न (बुद्धि-विशिष्ट) महापुरुष थे। इसके विपरीत रामानुज वैष्णव तथा निष्ठा-विशिष्ट भक्त पुरुष थे।

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि इतिहास के आरंभ ही से भारतवर्ष सांस्कृतिक मामलों में सदा अविच्छिन्न और अखंडित रहा है। राजनीतिक दृष्टि से वह प्रायः अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित रहा है, किंतु जब कभी इस देश में किसी महापुरुष का अभ्युदय हुआ, अथवा किसी व्यापक आंदोलन की लहर उठ खड़ी हुई उस समय उसका प्रभाव प्रायः राजनीतिक सीमा-बंधनों को लाँघ कर सारे देश में फैल गया।

भारत में इस्लाम की जड़ पूर्ण रूप से जम जाने पर मुसलिम समाज में एक नए प्रकार के सुधारक उत्पन्न होने लगे। इन लोगों ने दोनों मजहबों को एक-दूसरे के समीप लाने की चेष्टा करना शुरू किया। इस धुन में उन्होंने उन समान बातों पर जोर दिया जो दोनों धर्मों में मौजूद थीं। दोनों ही मजहबों की बुरी रीति-रस्मों का उन्होंने समान रूप से तीव्र खंडन करना शुरू किया। इस प्रकार इस्लाम और हिंदू-धर्म में सामंजस्य स्थापित करने तथा दोनों की अच्छी-अच्छी बातों को लेकर एक नवीन सम्मिलित धर्म के प्रचार की कोशिश की गई। यह बहुत कठिन काम था; क्योंकि दोनों ही संप्रदायों में एक दूसरे के प्रति बहुत अधिक विद्वेष और वैमनस्य के भाव मौजूद थे। लेकिन हम देखेंगे कि दोनों को मिलाने की यह चेष्टा सदियों तक जारी रही। कुछ मुसलिम शासकों ने भी—विशेषकर अकबर महान् ने—इस समन्वय को स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस समन्वय तथा समानता के सिद्धांत का प्रचार करनेवाले सुधारकों में रामानंद अग्रगण्य थे। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का खंडन किया, और उसके नियमों और बंधनों की प्रायः आचार-व्यवहार में उपेक्षा की। उनके

शिष्यों में कबीर-नामक एक मुसलिम जुलाहा भी था, जो आगे चल कर अपने गुरु से भी अधिक प्रसिद्ध हुआ। रामानंद का जन्म दक्षिणी भारत में चौदहवीं शताब्दी में हुआ था। कबीर कुछ ही दिनों में बहुत लोकप्रिय हो गया। तुम्हें मालूम होगा कि आज दिन भी कबीर के हिंदी भजनों और पदों का उत्तरीय भारत के छोटे-छोटे गाँवों में प्रचार है। कबीर न हिंदू था, न मुसलमान। वह हिंदू भी था, और मुसलमान भी था। उसका स्थान हिंदू और मुसलमानों के बीच में था। हर जाति के तथा दोनों ही मज़हबों के माननेवाले लोग उसके शिष्य थे। किंवदंती है कि जब उसका देहांत हुआ, तब उसके शव पर एक चादर डाल दी गई। उसके हिंदू चेले उसके शव को जलाने के लिए ले जाना चाहते थे और मुसलमान उसे दफनाने के इच्छुक थे। इस प्रकार दोनों आपस में लड़ने-झगड़ने लगे, लेकिन जब शव पर से चादर उठाई गई तब उन्होंने देखा कि जिस शव के लिए वे दोनों लड़ रहे थे, उसका पता भी न था। वह लोप हो गया था और उसके स्थान में कुछ ताज़ा फूल पड़े थे। कहानी चाहे बिलकुल काल्पनिक ही हो, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि वह बड़ी रोचक है।

कबीर के पश्चात् उत्तरीय भारत में एक दूसरे प्रतापी सुधारक और धार्मिक नेता का जन्म हुआ। यह गुरु नानक थे, जिन्होंने सिक्ख-मत को चलाया। नानक के बाद सिक्खों के और भी दस गुरु हुए, जिनमें अंतिम गुरु गोविंदसिंह थे।

यहाँ पर मैं एक दूसरे प्रसिद्ध महापुरुष के नाम का भी उल्लेख कर देना चाहता हूँ, जिनकी भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में बड़ी ख्याति है। यह महापुरुष चैतन्य थे, जो सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में बंगाल में उत्पन्न हुए थे। चैतन्य बड़े उद्भट विद्वान थे, लेकिन युवावस्था ही में उन्हें एक दिन अपने पांडित्य की निस्सारता का बोध हो गया। अतएव, पंडिताई को लात मार कर वह श्रद्धा-मार्ग के पथिक बन गए। थोड़े ही दिनों में उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गई और वह परम भक्त माने जाने लगे। चैतन्य ने अपनी शिष्य-मंडली के साथ हरि-कीर्तन करते हुए सारे बंगाल का भ्रमण किया। उन्होंने एक विशिष्ट वैष्णव संप्रदाय की भी स्थापना की। आज दिन बंगाल में उनका बहुत अधिक प्रभाव है।

धार्मिक सुधार तथा समन्वय के संबंध में हम जो कुछ लिख चुके हैं, वह पर्याप्त है। जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी समन्वय की यह प्रवृत्ति, कभी-कभी प्रकट-रूप से किंतु बहुधा अज्ञात रूप से, काम कर रही थी। एक नवीन संस्कृति, शिल्प-शैली और भाषा का विकास हो रहा था। लेकिन यह चहल-पहल देहातों की अपेक्षा शहरों ही में—विशेष रूप से शाही राजधानी, दिल्ली, तथा प्रांतों और रियासतों की राजधानियों ही में—दिखाई देती थी। समाज के शिखर पर आसीन सुलतान अब पहले की अपेक्षा कहीं अधिक स्वेच्छाचारी हो गया था। प्राचीनकाल में राजाओं की निरंकुशता पर प्रायः परंपरागत विधानों और रूढ़ियों का अंकुश रहता था; लेकिन इन मुसलिम शासकों को उस अंकुश का भय नहीं रह गया। यद्यपि सिद्धांत रूप से हिंदू-समाज की अपेक्षा मुसलमानों में समानता के भाव का कहीं अधिक आदर होता था, और जैसा हम देख चुके हैं, एक गुलाम तक सुलतान के पद पर पहुँच सकता था, लेकिन इस पर भी सुलतानों की अनियंत्रित सत्ता दिनोंदिन बढ़ती ही जाती थी। इस कथन की सत्यता को प्रमा-

शित करने के लिए उस पागल तुग़लक़ के उदाहरण से बढ़ कर अधिक विस्मयकारी कौन-सा दूसरा उदाहरण मिल सकता है, जो अपनी राजधानी को दिल्ली से उठा कर दौलताबाद ले गया था ?

ग़ुलामों को रखने की प्रथा भी, विशेष कर सुलतानों के महलों में, बहुत बढ़ती जा रही थी। लड़ाइयों में लोगों को पकड़ कर ग़ुलाम बनाने की विशेष रूप से चेष्टा की जाती थी। जो ग़ुलाम कलाविद् होते थे, उनका विशेष मान होता था। उनमें से कई सुलतान के शरीर-रक्षक भी बनाए जाते थे।

नालंद और तक्षशिला के प्रसिद्ध विश्व-विद्यालयों का तो बहुत पहले ही अंत हो गया था, लेकिन उनके स्थान में नवीन शैली के अनेक विश्व-विद्यालय स्थापित हो गए थे, जो 'टोल' कहलाते थे। इनमें प्राचीन पद्धति के अनुसार संस्कृत पढ़ाई जाती थी। किंतु इन विद्यालयों की पठन-पाठन की प्रणाली समयानुकूल न थी। वे अब तक पुरातन ही के पुजारी बने थे। उनके कारण अपरिवर्तनशीलता की प्रवृत्ति और भी अधिक सुदृढ़ और सजीव होती जाती थी। काशी, जो अनादि काल से भारत में विद्या और पांडित्य का जगत-प्रसिद्ध केंद्र रहा है, इस युग में भी विद्या का मुख्य केंद्र था।

ऊपर मैंने कबीर के हिंदी भजनों का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि पंद्रहवीं शताब्दी में हिंदी न केवल सर्व-साधारण की बोली किंतु साहित्यिक भाषा भी हो गई थी। संस्कृत तो बहुत पहले ही मृत भाषा हो चुकी थी। कालिदास और गुप्तों के समय में भी संस्कृत केवल पंडितों ही की भाषा थी। जन-साधारण में एक प्रकार की प्राकृत भाषा का प्रचार था, जो संस्कृत की अपभ्रंश थी। संस्कृत की दूसरी कन्यकाएँ—हिंदी, बँगला, मराठी और गुजराती—भी धीरे-धीरे विकसित हो रही थीं। बहुत-से मुसलमान कवि और लेखक भी हिंदी में रचना करने लगे थे। पंद्रहवीं शताब्दी में जौनपुर के एक मुसलिम शासक ने महाभारत और श्रीमद्भागवत का संस्कृत से बँगला में अनुवाद कराया था। बीजापुर के मुसलिम शासकों के तो बही-खाते तक मराठी में लिखे जाते थे। इस प्रकार पंद्रहवीं शताब्दी में हम संस्कृत की इन कन्यकाओं को बहुत-कुछ समुन्नत होते देखते हैं। दक्षिणी भारत में तामिल, तेलगू, मलयालम और कनाड़ी, आदि, द्राविड़ भाषाएँ प्रचलित थीं, जो बहुत प्राचीन थीं।

जिन पढ़े-लिखे लोगों का मुसलिम राज-दरबारों या सरकारी दफ़्तरों से कुछ भी संबंध था, उनके लिए फ़ारसी जानना अत्यंत आवश्यक था। इस प्रकार बहुत-से हिंदुओं को फ़ारसी भाषा और साहित्य का ज्ञान हो गया। धीरे-धीरे छावनियों और बाज़ारों में एक नई भाषा का प्रचार होने लगा। यह भाषा 'उर्दू' कहलाने लगी, जिसका अर्थ होता है 'छावनी'। वास्तव में, यह कोई नवीन भाषा न थी। यह भिन्न परिधान में हिंदी ही थी। इसमें फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य था; शेष सब बातों में वह हिंदी ही थी। यह हिंदी-उर्दू भाषा, जिसे हिंदुस्तानी भी कहते हैं, समस्त उत्तरीय और मध्य भारत में फैल गई। आज दिन भारत के लगभग पंद्रह करोड़ प्राणी इस भाषा का व्यवहार करते हैं और इससे भी अधिक संख्या में लोग इसको समझ लेते हैं। इस प्रकार, संख्या की दृष्टि से इसकी गणना संसार की प्रमुख भाषाओं में हो सकती है।

निर्माण-कला में भी इस युग में नई-नई शैलियों का विकास हुआ और अनेक भव्य प्रासादों की रचना हुई। ये रचनाएँ मुख्यतया दाक्षिणी भारत में—विशेष कर बीजापुर, विजयनगर और गोलकुंडा—तथा अहमदाबाद में और इलाहाबाद के समीप जौनपुर में हुई थीं। अहमदाबाद उन दिनों एक विशाल और रमणीक नगर था, किंतु अब वह उतना सुंदर नहीं है! क्या तुम्हें गोलकुंडा के प्राचीन खंडहरों की अपनी यात्रा की याद है? हम लोग पुराने क़िले पर चढ़ गए थे और वहाँ से हमें प्राचीन नगर, तथा उसके राजमहल और बाज़ार का—जो आज दिन बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो गए हैं—सुविस्तृत दृश्य देखने को मिला था।

इस प्रकार एक ओर भारत के राजे-महाराजे आपस में लड़ने-झगड़ने और एक दूसरे को बर्बाद करने में संलग्न थे; दूसरी ओर अनेक मूक शक्तियां भारतवर्ष में समन्वय स्थापित करने का निरंतर प्रयत्न कर रही थीं। उनका उद्देश यह था कि भारतवासी एक-दूसरे के साथ हिल-मिल कर शांतिपूर्वक जीवन बिताएँ और अपनी दशा सुधारने का प्रयत्न करें। कई शताब्दियों तक अथक प्रयत्न करने के बाद उन्हें कुछ-कुछ सफलता प्राप्त हो सकी, लेकिन पूर्ण सफलता प्राप्त होने के पहले ही एक ऐसा अड़ंगा लग गया, जिसने सारे बने-बनाए खेल को बिगाड़ दिया। जिस मार्ग से हम आए थे, उसी मार्ग से हमें वापस लौटना पड़ा। आज दिन हमें फिर उसी मार्ग से बढ़ना है और जो कुछ शिव और सुंदर है, उसके समन्वय की चेष्टा करना है। लेकिन इस बार हमें समन्वय के ढांचे को अधिक दृढ़ और स्थायी आधार पर स्थापित करना होगा। हमें उसको स्वतंत्रता और सामाजिक समानता की नींव पर रचना चाहिए। हमारा यह समन्वय समुन्नत विश्व-व्यवस्था के अनुकूल होना चाहिए। तभी वह चिरस्थायी बन सकता है।

धर्म और संस्कृति के समन्वय की इस समस्या के समाधान की चेष्टा में भारत के महापुरुष कई सौ वर्षों तक लगे रहे। उन्हें इसकी इतनी अधिक लगन थी कि राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता के मसले को वे लोग बिलकुल भुला बैठे। इस प्रकार जब योरप ने विभिन्न दिशाओं में द्रुत गति से उन्नति करना शुरू किया तब भारत पीछे ही पड़ा रह गया। वह न तो आगे बढ़ सका और न किसी प्रकार की उन्नति ही कर पाया।

जैसा मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ, एक समय विदेशी मंडियों में भारत की गहरी धाक थी। उसकी इस प्रभुता के अनेक कारण थे। उसने रसायन-शास्त्र में—विशेषकर रंगों और फ़ौलाद के बनाने में—विशेष रूप से उन्नति की थी। उसके विशाल जहाज़ दूर-दूर देशों में माल पहुँचाया करते थे। लेकिन जिस समय का हम यहाँ पर वर्णन कर रहे हैं, उसके बहुत पहले ही भारत अपनी इस प्रभुता को खो चुका था। सोलहवीं शताब्दी में नदी का प्रवाह सहसा बदल गया। उसकी धारा पश्चिम से पूर्व की ओर बहने लगी। आरंभ में यह धारा बहुत ही क्षीण थी; लेकिन धीरे-धीरे उसने बढ़ कर एक विशाल महानदी का रूप धारण कर लिया।
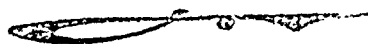
(७६)

दक्षिणी भारत की रियासतें

१४ जुलाई, १९३२

आओ, भारत पर एक और नजर डालें और राष्ट्रों और साम्राज्यों के निरंतर बदलते हुए दृश्य को देखने का प्रयत्न करें। यह पट-परिवर्त्तन उस विशाल और अनंत चित्रपट के दृश्य से मिलता-जुलता है, जिसके मूक चित्र एक के बाद एक पर्दे पर प्रकट और विलीन हुआ करते हैं। कदाचित् तुम्हें विक्षिप्त सुलतान, मुहम्मद तुग़लक, की याद न भूली होगी। तुम्हें याद होगा कि किस तरह उसने दिल्ली के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने में योग दिया। उसके राज्यकाल ही में दक्षिणी भारत के बड़े-बड़े प्रांत स्वतंत्र हो गए थे। वहां कई नए राष्ट्र पैदा हो गए थे, जिनमें विजयनगर का हिंदू साम्राज्य और गुलबर्गा का मुसलिम राष्ट्र प्रमुख थे। पूर्व में गौड़ था, जिसमें बंगाल और बिहार शामिल थे। वह भी एक मुसलिम शासक के नेतृत्व में स्वतंत्र हो गया था। मुहम्मद तुग़लक के बाद उसका भतीजा फ़िरोज़शाह गद्दी पर बैठा। फिरोज़ अपने चचा की अपेक्षा अधिक समझदार और दयालु था। परंतु असहिष्णुता में वह मुहम्मद ही के समान था। फिरोज़ एक कुशल शासक था। उसने राज्य-व्यवस्था में अनेक सुधार किए। वह दक्षिण या पूर्व के उन प्रांतों को तो अपने अधिकार में न ला सका जो स्वतंत्र हो चुके थे। किंतु साम्राज्य को संपूर्णतया छिन्न-भिन्न होने से उसने बचा लिया। फिरोज़ को नए-नए नगर बसाने, महल और मसजिद बनवाने तथा बाग़-बगीचे तैयार करने का बड़ा शौक़ था। दिल्ली से कुछ ही दूर फिरोजाबाद और इलाहाबाद के समीप जौनपुर-नामक शहरों को उसीने बसाया था। फिरोज़ ने यमुना से एक बहुत बड़ी नहर भी निकाली थी। उसने बहुत-सी पुरानी टूटी-फूटी इमारतों की मरम्मत भी करवाई। इन कामों का उसे बड़ा गर्व था। उसने उन सब नई और पुरानी इमारतों की एक लंबी तालिका तैयार की थी, जिनको उसने बनवाया अथवा जिनकी उसने मरम्मत करवाई थीं। वह तालिका आज दिन भी मौजूद है। फिरोज़शाह की माँ एक राजपूत महिला थी। उसका नाम बीबी नैला था। वह एक बड़े राजपूत सरदार की लड़की थी। कहते हैं कि नैला के पिता ने फिरोज़ के पिता के साथ अपनी पुत्री की शादी करने से इनकार कर दिया था। इस पर लड़ाई के बाजे बज उठे और मुसलमानों ने नैला के देश पर चढ़ाई कर दी। जब वहां लूट-मार मचने लगी और नैला को मालूम हुआ कि उसके कारण प्रजा को कष्ट भोगना पड़ रहा है, तब उनकी विपदाओं को दूर करने के उद्देश से उसने फिरोज़ के पिता के हाथ अपने आपको समर्पित कर दिया। इस प्रकार, फिरोज़ राजपूती रक्त से पैदा हुआ था। तुम देखोगी कि मुसलिम शासकों और राजपूत महिलाओं में संबंध स्थापित होने की यह प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ती गई। इससे राष्ट्रीयता और समानता के भाव के विकास में अवश्य ही सहायता पहुंची होगी।

२७ वर्ष की सुदीर्घ अवधि तक शासन करने के बाद, १३८८ ई० प० में, फिरोज़ की मृत्यु हो गई। उसके मरते ही दिल्ली के साम्राज्य का ढांचा, जिसको वह संभाले हुए था, गिर कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। अब देश में कोई केंद्रीय शासन-शक्ति न रह गई। चारो ओर छोटे-छोटे शासक उठ खड़े हुए और वे मनमानी करने लगे। इस तरह जिस समय भारत में अराजकता और दुर्व्यवस्था का वातावरण छा रहा था, उसी समय उत्तर दिशा से तैमूर भारत के मैदानों में उतरा। जिस दिन उसने भारत में प्रवेश किया उस समय फिरोज़ की मृत्यु हुए केवल दस रोज़ हुए थे। तैमूर ने सारी दिल्ली को तहस-नहस कर डाला। कालांतर में, यह शहर फिर पनपा और ५० वर्ष बाद वहां पुनः केंद्रीय शासन की स्थापना हो गई। वहां फिर से सुलतान राज्य करने लगे; लेकिन उनकी सल्तनत इतनी छोटी थी कि दक्षिणी, पश्चिमी और पूर्वीय भारत की सामान्य रियासतों की भी वह बराबरी नहीं कर सकती थी। इन दिनों में दिल्ली में जो सुलतान थे वे अफ़गान जाति के थे। वे इतने अयोग्य थे कि उनके निजी अफ़गान सरदार तक उनसे ऊब उठे। इन सरदारों ने लज्जा और ग्लानि से प्रेरित होकर एक विदेशी को भारत का शासन-सूत्र संभालने के लिए आमंत्रित किया। इस व्यक्ति का नाम बाबर था। वह मंगोल अथवा मुग़ल था, जैसा अब हम उन्हें पुकारने लगे हैं। बाबर तैमूर का ठेठ वंशज था और उसकी माता चंगीज़ खाँ के वंश की थी। भारत पर चढ़ाई करने के लिए जब बाबर को अफ़ग़ान सरदारों की ओर से निमंत्रण मिला तब वह काबुल का शासक था। इस निमंत्रण को उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया। सच तो यह है कि यदि उसे ऐसा निमंत्रण न मिलता तो भी वह संभवतः भारत पर चढ़ाई करने से न चूकता। १५२६ ई० प० में दिल्ली के पास पानीपत के मैदान में बाबर ने भारत के साम्राज्य को जीतने में सफलता प्राप्त की। इस तरह भारत में फिर एक नए साम्राज्य की स्थापना हुई। यह साम्राज्य इतिहास में मुग़ल साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी स्थापना से दिल्ली की महिमा फिर बढ़ गई, क्योंकि उसी को इस साम्राज्य का केंद्रस्थान बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लेकिन इसके पहले कि हम इन बातों पर विचार करें, यह आवश्यक है कि भारत के दूसरे भागों पर भी हम एक नज़र डाल लें और यह जानने का प्रयत्न करें कि १५० वर्षों की इस सुदीर्घ अवधि में, जब दिल्ली शक्तिहीन हो गई थी, इस देश के अन्य भागों में क्या हो रहा था।

इस युग में भारत में अनेक छोटी और बड़ी रियासतें विद्यमान थीं। जिन दिनों की हम बात कर रहे हैं उनसे कुछ ही दिन पूर्व जौनपुर में एक छोटी-सी मुसलिम रियासत की स्थापना हुई थी। यहाँ के नवाब शरक़ी कहलाते थे। यह रियासत न तो अधिक बड़ी थी, न शक्तिशालिनी ही थी। राजनीतिक दृष्टि से इस राज्य का कुछ भी महत्व न था। लेकिन संस्कृति और धर्म के मामलों में पंद्रहवीं शताब्दी में यह राष्ट्र लगभग १०० वर्षों तक समभाव का बड़ा प्रसिद्ध केंद्र बना रहा। जौनपुर के मुसलिम विद्यालयों से धार्मिक सहिष्णुता के भाव चारो ओर फैल गए। वहाँ के एक नवाब ने तो हिंदुओं और मुसलमानों को मिलाने तक का प्रयत्न किया था। इसके संबंध में अपने पिछले पत्र में मैं तुम्हें कुछ हाल बता चुका हूँ। जौनपुर के शासक कला और शिल्प को हर तरह से प्रोत्साहन देते थे। इसी तरह हिंदी और बँगला,

आदि, देश की नवोदित भाषाओं को भी वे अपने दरबार में उदार प्रश्रय दिया करते थे। एक दृष्टि से, जौनपुर का यह छोटा और अल्पवयस्क राष्ट्र धार्मिक असहिष्णुता के समुद्र में पांडित्य, संस्कृति और उदारता के शांतिप्रद बंदरगाह के समान था।

पूर्व में गौड़ की रियासत थी, जिसके अंतर्गत विहार और बंगाल थे। यह रियासत इलाहाबाद तक विस्तृत थी। गौड़ का नगर उस युग का एक प्रसिद्ध बंदरगाह था। वहाँ भारत के सभी समुद्रतटवर्ती नगरों के लोग समुद्र-मार्ग द्वारा आया-जाया करते थे। मध्यभारत में मालवा की रियासत थी, जो प्रयाग के पश्चिम से गुजरात तक विस्तृत थी। इसकी राजधानी मांडू में थी, जो एक विशाल दुर्ग और नगर था। मांडू में मालवा के शासकों ने अनेक भव्य और मनोहर इमारतें वनवाई थीं, जिनके खंडहर आज दिन भी दर्शकों को आकर्षित करते हैं। मालवा के उत्तर-पश्चिम में राजपूताना था। यहाँ अनेक राजपूत रियासतें थीं, जिनमें चित्तौर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चित्तौर और मालवा तथा गुजरात में प्रायः गहरी लाग-डांट छिड़ी रहती थी। मालवा और गुजरात जैसे शक्तिशाली राष्ट्रों की तुलना में चित्तौर का राज्य बहुत छोटा था। लेकिन राजपूत सदा से शूरवीर होते आए हैं, अतएव अल्पसंख्यक होते हुए भी वे अपने शत्रुओं को हराने में प्रायः सफल होते थे। चित्तौर के राणा ने मालवा पर विजय प्राप्त करने की स्मृति में चित्तौर में एक सुंदर विजय-स्तंभ वनवाया था। उधर मालवा के सुलतान ने भी चित्तौर के राणा को जवाव देने की नीयत से मांडू में एक ऊँची मीनार वनवाई थी। चित्तौर का विजय-स्तंभ तो आज दिन भी खड़ा है; लेकिन मांडू की मीनार का अब पता नहीं लगता।

मालवा के पश्चिम में गुजरात की रियासत थी। यह एक बहुत शक्तिशाली राष्ट्र था। इसकी राजधानी अहमदाबाद में थी, जिसे अहमदशाह ने वसाया था। अहमदाबाद धीरे-धीरे एक महानगर हो गया। उसकी जन-संख्या १० लाख से भी अधिक हो गई। इस नगर में अनेक सुंदर इमारतें थीं। कहते हैं कि पंद्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक, लगभग ३०० वर्षों तक, अहमदाबाद की गणना संसार के सर्वोत्तम नगरों में होती थी। यह देख कर मनोरंजन होता है कि इस नगर की एक मसजिद राङ्पुर के उस जैन-मंदिर से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है, जिसे चित्तौर के राणा ने इसी समय के लगभग वनवाया था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय शिल्पकार नवीन भावों से प्रभावित होकर एक नई शिल्पशैली की सृष्टि कर रहे थे। अहमदाबाद की शिल्प-रचनाओं में हमें कला के क्षेत्र में समन्वय की प्रवृत्ति की एक झलक मिलती है, जिसके संबंध में मैं तुम्हें पहले ही लिख चुका हूँ। आज दिन भी इस नगर में बहुत-सी प्राचीन इमारतें मौजूद हैं। उनमें जो पत्थर की नक्काशी की गई है, उसे देख कर आश्चर्य होता है। लेकिन अब इन इमारतों के चारो ओर नया व्यापारिक नगर वस गया है, जो अत्यंत वीभत्स और रोमांचकारी है। वहां पहुंच जाने पर यही जी होता है कि आँखे वंद कर फ़ौरन् वहां से दूर भाग निकलें।

इसी समय के लगभग भारत में पुर्तगीज़ों का आगमन हुआ था। तुम्हें याद होगा कि केप-आफ़-गुडहोप के मार्ग से भारत को आनेवालों में वास्को-डि-गामा सर्वप्रथम था। वास्को-डि-गामा १४९८ ई० प० में दक्षिणी भारत के कालीकट-नामक वंदरगाह में उतरा था।

उसक पहले भी बहुत-से योरपियन भारत में आए थे, लेकिन वे या तो व्यापारी थे या महज़ दर्शकों के रूप में यहां आए थे। इसके विपरीत पुर्तगीज़ों ने बिलकुल नवीन उद्देश के साथ भारत में प्रवेश किया। उनमें गर्व और आत्म-विश्वास ठूस-ठूस कर भरा था। अतएव, पोप से पृथिवी के पूर्वार्द्ध की भेंट पाकर उन्होंने विजय-कामना से पूर्व की ओर क़दम बढ़ाया था। आरंभ में तो उनकी संख्या बहुत थोड़ी थी, लेकिन एक के बाद एक उनके जहाज़ आते गए और शीघ्र ही कई तटवर्ती नगरों को उन्होंने हड़प लिया। इन नगरों में गोआ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। किंतु भारत में पुर्तगीज़ इससे अधिक कुछ भी न कर पाए। वे तटवर्त्ती नगरों को छोड़ कर देश के आंतरिक भागों में कभी भी नहीं बढ़ पाए। योरपियनों में वही सर्वप्रथम व्यक्ति थे, जो भारत पर चढ़ाई करने के उद्देश से समुद्र को पार कर इतनी दूर पहुंचे थे। फ्रेंच और अंगरेज़ों ने उनके आगमन के बहुत दिनों बाद भारत की ओर क़दम बढ़ाया। किंतु सामुद्रिक मार्गों के उद्‌घाटन से यह बात प्रकट हो गई थी कि समुद्र की ओर से आक्रमण की दृष्टि से भारत कितना कमजोर और अरक्षित है। अब दक्षिणी भारत की पुरानी रियासतें भी क्षीण हो चली थीं और उन्हें स्थल-मार्ग से आनेवाले संकटों की आशंका सताने लगी थी।

गुजरात के सुलतानों ने पुर्तगीज़ों से सामुद्रिक क्षेत्र में लोहा लेने की कोशिश की। उन्होंने आटोमनों से मैत्री की और एक पुर्तगीज़ बेड़े को परास्त किया। लेकिन अंत में पुर्तगीज़ ही विजयी हुए और उन्होंने समुद्र पर अपना निष्कंटक अधिकार जमा लिया। इन्हीं दिनों में दिल्ली के मुग़लों के भय से सशंकित हो कर गुजरात के सुलतानों ने पुर्तगीज़ों के साथ मैत्री कर ली। लेकिन पुर्तगीज़ों ने उन्हें बाद में बहुत बड़ा धोखा दिया।

चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में दक्षिणी भारत में दो महाराष्ट्रों का उदय हुआ, जिनमें एक गुलबर्गा का बहमनी राष्ट्र और दूसरा उसके दक्षिण में स्थित विजयनगर का हिंदू राज्य था। बहमनी राज्य के अधीन समस्त महाराष्ट्र का प्रांत था। उसमें कर्नाटक का भी कुछ हिस्सा शामिल था। यह राष्ट्र डेढ़ सौ वर्षों से भी अधिक समय तक स्थायी रहा। लेकिन उसका इतिहास बहुत ही निंदनीय और हेय है। बहमनी राज्य में असहिष्णुता, पाशविक उद्दंडता और हिंसा का साम्राज्य स्थापित था। वहां के सुलतान और अमीर-उमराव तो मौज से गुलछर्रे उड़ाते थे, किंतु बेचारी प्रजा दारुण दुख-दैन्य के दावानल में झुलसती रहती थी। सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में महज़ कुशासन ही के कारण इस राष्ट्र का अंत हो गया और उसके स्थान में दक्षिण में पाँच मुसलिम रियासतें उठ खड़ी हुईं। ये थीं बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुंडा, बिदार और बरार की रियासतें। विजयनगर के राष्ट्र को स्थापित हुए लगभग दो सौ वर्ष हो चुके थे, परंतु इस समय भी वह समुन्नत दशा में था। दक्षिण की इन छः रियासतों में गहरी लाग-डांट छिड़ी रहती थी। उनमें से प्रत्येक रियासत दक्षिणी भारत पर प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा किया करती थी। उनमें तरह-तरह की पारस्परिक संधियाँ भी होती थीं। जो एक दिन साथी होता, वही दूसरे दिन दुश्मन बन जाता और जो एक दिन दुश्मन होता वही अगले दिन साथी बन जाता था। इस तरह के उलट-फेर प्रायः रोज़ हुआ करते थे। कभी कोई

मुसलिम रियासत हिंदू राष्ट्र से लड़ बैठती, तो कभी हिंदू रियासत से मिल कर वह दूसरी मुसलिम रियासत की जड़ खोदने लगती थी। इन संघर्षों का एकमात्र कारण राजनीतिक था। जब कभी कोई रियासत विशेष शक्तिशाली होने लगती, उस समय बाक़ी रियासतें उसका विरोध करने के लिए एक हो जाती थीं। अंत में, विजयनगर की शक्ति और संपत्ति को बढ़ते देख कर मुसलिम रियासतें उसका विरोध करने के उद्देश से पारस्परिक संधि द्वारा एक हो गईं, और १५६५ ई० प० में तालीकोटा के संग्राम में उन्होंने उसको नष्ट करने में पूरी सफलता प्राप्त की। इस तरह ढाई शताब्दियों के बाद विजयनगर के राष्ट्र का अंत हो गया और उसका वैभवशाली महानगर भी समूल नष्ट हो गया। इसके थोड़े ही दिनों बाद विजयी मुसलिम राष्ट्र आपस में लड़ने-झगड़ने लगे, और उन्हें कमजोर देख कर कुछ समय के बाद दिल्ली के मुग़ल सम्राटों ने उनसे छेड़छाड़ करना शुरू कर दिया। १५१० ई० प० में पुर्तगीज़ों ने गोआ पर अधिकार कर लिया, अतएव उनसे भी दक्षिण की ये रियासतें भयभीत रहने लगीं। गोआ बीजापुर रियासत में था। वहां से पुर्तगीज़ों को निकाल भगाने के लिए बीजापुर के शासकों ने लाख कोशिशें कीं, लेकिन पुर्तगीज़ टस-से-मस न हुए। उनके नेता एलबुकर्क ने, जो 'पूर्व का वायसराय' कहलाता था, तरह-तरह के अत्याचार करना शुरू किया। पुर्तगीज़ों ने बहुत-से आदमियों को मार डाला। उन्होंने स्त्रियों और बच्चों तक को न छोड़ा। तब से आज तक पुर्तगीज़ गोआ के शासक बने हुए हैं।

दक्षिण की इन रियासतों में—विशेषकर विजयनगर, गोलकुंडा और बीजापुर में—अनेक सुंदर और भव्य इमारतें थीं। गोलकुंडा में तो अब उन इमारतों के केवल भग्नावशेष ही बचे हैं, लेकिन बीजापुर में आज भी बहुत-सी पुरानी इमारतें मौजूद हैं। विजयनगर जला कर ख़ाक कर दिया गया था, अतएव उसकी एक ईंट भी न बचने पाई। इन्हीं दिनों गोलकुंडा के पास हैदराबाद के नगर की स्थापना हुई थी। कहते हैं कि इसके बाद दक्षिण के शिल्पकार और कारीगर उत्तरीय भारत को चले गए, जहाँ उन्होंने आगरा के ताजमहल के निर्माण में भाग लिया।

इस युग में यद्यपि लोग आम तौर पर एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता का बर्ताव करते थे, परंतु प्रायः धार्मिक कट्टरता और असहिष्णुता का भी तांडव होता रहता था। युद्ध के समय बहुत भयंकर मार-काट और संहार-लीला होती थी। तो भी इस बात का उल्लेख करते हुए विस्मय होता है कि बीजापुर की मुसलिम रियासत में हिंदू घुड़सवार और विजयनगर के हिंदू-राष्ट्र में मुसलिम सैनिक भी थे। इस युग में दक्षिण में एक प्रकार की बनावटी सभ्यता दिखाई देती थी। लेकिन वह केवल अमीरों की वस्तु थी; खेतों में काम करनेवाले दीन किसान का उससे कुछ भी संबंध न था। वह ज्यों-का-त्यों ग़रीब बना हुआ था, और जैसा सदा होता आया है, उसी को अमीरों के विलासी जीवन का भारी बोझ ढोना पड़ता था।

(७७)

विजयनगर

जुलाई १५, १६३२

पिछले पत्र में हमने दक्षिणी भारत की रियासतों का उल्लेख किया था। इनमें विजयनगर का इतिहास अन्य रियासतों के इतिहास की अपेक्षा अधिक विस्तृत और सुदीर्घ है। बात यह है कि बहुत-से विदेशी यात्री इसे देखने गए थे और उन्होंने इस महान् राष्ट्र तथा नगर का विस्तृत वृतांत लिखा है। उदाहरणार्थ, १४२० ई० प० में निकोलो कांटी-नामक एक इटैलियन यात्री विजयनगर पहुँचा था। उसके कुछ ही दिन बाद, १४४३ ई० प० में, हेरात का अब्दुल रज्जाक-नामक व्यक्ति, जो मध्य एशिया के महाप्रतापी खान के राज-दरबार में रह चुका था, विजयनगर को देखने गया था। पाएज़-नामक एक पुर्तगीज़ भी १५५२ ई० प० में विजयनगर में मौजूद था। और भी बहुतेरे यात्री वहां पहुंचे थे। उस समय का एक इतिहास भी मिलता है, जिसमें दक्षिणी भारत की रियासतों, विशेषकर बीजापुर, का विवरण दिया हुआ है। इस इतिहास की रचना अकबर के समसामयिक फरिश्ता-नामक एक विद्वान् ने फ़ारसी भाषा में की थी; अर्थात्, जिन दिनों का हम इस समय ज़िक्र कर रहे हैं, उनके थोड़े ही दिन बाद यह इतिहास लिखा गया था। सामयिक लेखकों द्वारा लिखे हुए इतिहास प्रायः बहुत ही पक्षपातपूर्ण और अतिरंजित होते हैं, लेकिन फिर भी उनसे हमें काफी सहायता मिलती है। प्राग्मुसलिम युगों के इतिहासों में काश्मीर की राज-तरंगिणी को छोड़ कर विरला ही कोई इतिहास-ग्रंथ आज दिन हमें उपलब्ध है। अतएव, फरिश्ता ने अपना इतिहास लिख कर एक अभूतपूर्व कार्य किया। अन्य कई व्यक्तियों ने भी उसका अनुसरण किया। विदेशी लेखकों ने विजयनगर के जो अनेक विवरण लिखे हैं, उनसे हमें इस नगर का बहुत ही रोचक और निष्पक्ष हाल मालूम होता है। उनमें तात्कालिक लड़ाई-झगड़ों ही का वर्णन नहीं है, बल्कि लड़ाइयों के अतिरिक्त और भी कई बातों पर प्रकाश डाला गया है। तो फिर, आओ, उन लोगों ने जो कुछ कहा है, उसके आधार पर संक्षेप में हम इस पत्र में विजयनगर का हाल जानने का प्रयत्न करें।

विजयनगर की स्थापना १३३६ ई० प० के लगभग हुई थी। दक्षिणी भारत का जो भाग आज दिन कर्नाटक के नाम से प्रसिद्ध है, उसी भू-भाग में यह राज्य स्थापित हुआ था। हिंदू रियासत होने के कारण दक्षिणी भारत की मुसलिम रियासतों के लोग हज़ारों की तादाद में वहां आकर बस गए थे। इस प्रकार बहुत तेज़ी के साथ यह राष्ट्र बढ़ने लगा और थोड़े ही वर्षों में इसने सारे दक्षिणी भारत पर अपनी धाक जमा ली। कालांतर में, विजयनगर के राज-नगर की अगाध संपत्ति और वैभव की चारो ओर चर्चा होने लगी और वह दक्षिणी भारत का सर्वश्रेष्ठ राज्य माना जाने लगा।

फरिश्ता ने अपने इतिहास में विजयनगर की संपत्ति का विशेष रूप से वर्णन किया है।

१४०६ ई० प० में इस नगर की गौरव-गरिमा कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, इसका उल्लेख करते हुए उसने लिखा है कि उसी साल, अर्थात् १४०६ ई० प० में, गुलबर्गा का मुसलिम राजा विजय-नगर की राजकुमारी से विवाह करने के लिए वहां आया था। उस समय बहमनी राजा के स्वागत में ६ मील तक सड़कों पर मखमल की कालीन और इसी तरह के दूसरे बहुमूल्य वस्त्र बिछाए गए थे। धन का कितना भयंकर और आपत्तिजनक अपव्यय किया जाता था।

१४२० ई० प० में इटली का निकोलो कांटी-नामक यात्री विजयनगर पहुंचा था। उससे हमें पता लगता है कि विजयनगर का शहर ७ मील के घेरे में बसा था। इस नगर के इतना अधिक विस्तृत होने का कारण यह था कि उसमें जगह-जगह पर उद्यान और उपवन बने हुए थे। कांटी ने लिखा है कि विजयनगर का राजा, जो राय कहलाता था, तात्कालिक भारत का सब से अधिक शक्तिशाली शासक था।

कांटी के पश्चात् मध्य एशिया का अब्दुल रज्जाक-नामक यात्री विजयनगर को देखने गया था। उसने मार्ग में मंगलौर के समीप ढले हुए विशुद्ध ताँबे का एक अपूर्व मंदिर देखा था। यह मंदिर १५ फ़ीट ऊँचा था और ३० फ़ीट लंबी तथा उतनी ही चौड़ी कुर्सी पर बना हुआ था। आगे बढ़ने पर बेलूर में एक दूसरे मंदिर को देख कर वह इतना अधिक चकित हो गया कि उसने इस मंदिर का विवरण देने की चेष्टा ही नहीं की; क्योंकि उसे भय था कि ऐसा करने पर लोग उसे अतिशयोक्ति का दोषी ठहराएंगे। जब वह विजय-नगर के शहर में पहुँचा, तब उसका हृदय आनंदातिरेक से नाच उठा। वह लिखता है कि "यह नगर इतना सुंदर है कि इसकी जोड़ का दूसरा नगर दुनिया में न कहीं सुनने और न देखने ही को मिल सकता है।" वहां के सुरम्य बाज़ारों का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि "हर बाज़ार के निकास पर ऊँचा छत्रपथ (छत्ता) और परम रम्य अलिंद बने हैं; लेकिन राजमहल इन सब से ऊँचा है।" "बाज़ार बहुत लंबे-चौड़े हैं।......................इस नगर में हर समय सुगंधित ताज़ा फूल बिका करते हैं। जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओं के समान वे भी आवश्यक समझे जाते हैं। मालूम होता है, उनके बिना इस नगर के निवासी जीवित ही नहीं रह सकते। हर उद्योग-धंधे के व्यापारियों की दूकानें पास-पास बनी हुई हैं। जौहरी खुले आम बाज़ारों में हीरा, पन्ना, मोती और लाल बेचते हैं।" इसके बाद उसने उस सुरम्य स्थान का वर्णन किया है, जहाँ राजमहल था। वह लिखता है कि "वहाँ गढ़े हुए चिकने पत्थरों की नालियों में बहुत-सी छोटी-छोटी नदियां और नहरें बहती हैं।.................... इस देश की जनसंख्या इतनी अधिक है कि उसका अनुमान लगाना कठिन है।" पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में मध्य एशिया से आनेवाले इस यात्री ने इसी प्रकार की और भी अनेक बातें लिखी हैं। उसने विजयनगर की गौरव-गरिमा का जो वर्णन लिखा है वह बहुत ही सुंदर और ओजस्वी है।

यह शंका उठ सकती है कि संभवतः अब्दुल रज्जाक ने दूसरे महानगरों को नहीं देखा था, इसीलिए विजयनगर को देख कर वह चकित हो गया था। लेकिन जिस दूसरे यात्री का अब हम उल्लेख करने जा रहे हैं, उसके संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका नाम पाएज़

था और वह पुर्तगाल का निवासी था। पाएज़ १५२२ ई० प० में भारत में आया था। यह उन्हीं दिनों की बात है, जब इटली में रैनेसैंस—या पुनरुज्जीवन—का युग आरंभ हुआ था। उस समय इटैलियन नगर भव्य प्रासादों से सुशोभित हो रहे थे। इन नगरों से पाएज़ जरूर परिचित रहा होगा। अतएव विजयनगर के संबंध में उसने जो संमति दी है, उसका विशेष मूल्य है। उसने लिखा है कि विजयनगर "रोम के समान विस्तृत और सुरम्य है।" उसने इस नगर की आश्चर्यजनक विभूतियों, उसके अगणित तड़ागों, नहरों और फल-फूलों से लदे हुए हरे-भरे उद्यानों की अनंत शोभा का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। वह कहता कि "यह संसार का सब से अधिक समृद्धिशाली और धन-धान्य से परिपूर्ण नगर है।.................. ......इस शहर की दशा उन शहरों से भिन्न है, जिनमें प्रायः आवश्यक सामग्रियों तक का मिलना कठिन हो जाता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो यहाँ;प्रचुर मात्रा में न मिलती हो।" पाएज़ ने वहाँ के राजमहल को भी देखा था। इस महल में अनेक विशाल कमरे थे। एक कमरे का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि "इस कमरे में नीचे से ऊपर तक, क्या दीवारों और क्या छत पर, हाथी-दाँत का काम बना हुआ है। छत की कड़ियों में हाथी-दाँत ही के गुलाब और कमल बने हुए हैं। सारा काम इतनी कुशलता से बनाया गया है कि उससे बढ़ कर सुंदर काम और कहीं देखने को मिलना असंभव है। इस प्रासाद का निर्माण इतना भाव-पूर्ण और सुंदर है कि इसकी समता की दूसरी इमारत मिलना कठिन है।" पाएज़ ने विजयनगर के तात्कालिक शासक के बारे में भी विस्तारपूर्वक लिखा है। वह दक्षिणी भारत के इतिहास का एक परम प्रसिद्ध राजा था। आज भी दक्षिणवाले उसके पराक्रम, वीरोचित सौजन्य, विद्वानों और पंडितों के प्रति उसकी दानशीलता तथा उसकी सहृदयता और लोकप्रियता का बखान करते नहीं थकते हैं। उसका नाम कृष्णदेव राय था। उसने १५०९ से १५२९ ई० प० तक, २० वर्ष तक, राज्य किया। पाएज़ ने उसके ऊँचे क़द तथा उसकी बनावट और रंग का भी उल्लेख किया है। वह लिखता है कि "उसका रंग गोरा था। शत्रु उससे सदा भयभीत रहते थे। वह सर्वगुणसंपन्न प्रफुल्लवदन व्यक्ति था। विदेशियों का वह आदर-सत्कार करता और उनका सानुग्रह स्वागत करता था। सभी श्रेणियों के लोगों से वह समान रूप से मिलता और उनसे बात-चीत करता था।" उसकी अनेक उपाधियों का वर्णन करते हुए पाएज़ ने लिखा है कि "यह महापुरुष सभी बातों में इतना वीर और निर्दोष है कि ऐसी कोई उपाधि नहीं है, जो उसके गुणों का पूरा-पूरा बखान कर सके।"

निस्संदेह यह उच्चकोटि की प्रशंसा है। विजयनगर का साम्राज्य इन दिनों समस्त दक्षिणी भारत में दक्षिणी और पूर्वीय तट तक फैला हुआ था। मैसूर, ट्रावंकोर और (आधुनिक) मदरास का सारा प्रांत उसके विजित के अंग थे। एक और बात का उल्लेख मुझे कर देना चाहिए। १४०० ई० प० में इस नगर में पानी लाने के लिए राज्य की ओर से बड़ी-बड़ी नहरें बनाई गई थीं। इस काम के लिए नदी में बाँध बांध कर एक बहुत बड़ा जलाशय तैयार किया गया था। इस जलाशय से १५ मील लंबी पक्की नहरों द्वारा, जो अनेक स्थानों पर

पर्वतों को काट कर बनाई गई थीं, नगर तक पानी पहुँचाया जाता था। ऐसा था विजयनगर का वैभवशाली नगर। उसे अपनी समृद्धि और सुंदरता का गर्व था। अपनी शक्ति में भी उसे अत्याधिक विश्वास था। किसी को यह स्वप्न में भी विश्वास न था कि इस राष्ट्र का अंत इतना समीप है। किंतु पाएज़ के आगमन के सिर्फ ४३ वर्ष बाद विजयनगर पर सहसा विपत्ति के बादल टूट पड़े। उसके वैभव को देख कर दक्षिण की अन्य रियासतें ईर्ष्या से जली जाती थीं। उन्होंने उसके विरोध में एक संघ बनाकर उसे समूल नष्ट कर डालने का निश्चय किया। किंतु इस पर भी मूढ़ता-वश विजयनगर विचलित न हुआ। उसको यह दृढ़ विश्वास था कि कोई भी उसका बाल बाँका न कर सकेगा। इस तरह द्रुत गति से उसके विनाश की घड़ी आ पहुँची; और जिस निर्दयता के साथ वह मिट्टी में मिलाया गया, उसका हाल पढ़ कर आज भी हृदय काँप उठता है।

जैसा मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ, दक्षिण की रियासतों ने संमिलित होकर १५६५ ई० प० में विजयनगर को युद्ध में परास्त कर दिया था। इस युद्ध में हजारों-लाखों आदमी निर्दयतापूर्वक मार डाले गए और कुछ ही समय बाद विजयनगर का महानगर लूट लिया गया। उसके भव्य प्रासादों और मंदिरों को शत्रुओं ने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। उसकी सुंदर नक्काशी की रचनाएँ और प्रतिमाएँ भी तोड़-फोड़ डाली गईं। जहां-कहीं जलाने के लिए कुछ मिला, वहां शत्रुओं ने घेरा डाल कर आग लगा दी। यह विनाश-तांडव उस समय तक जारी रहा, जब तक सारा नगर संपूर्णतया जल कर खाक हो गया। एक अँगरेज़ इतिहास-लेखक ने लिखा है कि संसार के इतिहास में किसी दूसरे नगर का इतनी क्रूरता के साथ और इतने आकस्मिक रूप में सत्यानाश होते न कभी देखा न सुना ही गया।

एक दिन पहले यही नगर धन-धान्य से परिपूर्ण था। उसमें चारों ओर समृद्धिशाली और व्यवसायी नगर-निवासियों की चहल-पहल दिखाई देती थी। लेकिन एक ही रात में भाग्य ने ऐसा पलटा खाया कि सुबह होते ही शत्रुओं ने उसे आ घेरा और जी भर कर लूट-पाट कर उसे संपूर्णतया नष्ट कर डाला। यह विनाश-तांडव इतना भीषण, क्रूर और पैशाचिक था कि उसका वर्णन करना मनुष्य की लेखनी की शक्ति के परे है।

(७८)

मदजापहित और मलका के मलयेशियाई साम्राज्य

जुलाई १७,१९३२

इधर काफी दिनों से हम मलयेशिया और पूर्वीय द्वीपों के प्रति उदासीन रहे हैं। बहुत दिनों से मैंने उनके संबंध में कुछ नहीं लिखा। जब मैंने पिछले पत्रों को उलट कर देखा तब पता चला कि अंतिम बार मैंने उनका उल्लेख अपने ४६ वें पत्र में किया था। तब से अब तक ३१ पत्र लिखे जा चुके और अब ७८ वें पत्र की बारी है। किंतु सब देशों का साथ ही साथ हाल बताना भी तो कठिन है।

क्या तुम्हें याद है कि आज से ठीक दो महीने पहले मैंने तुम्हें क्या लिखा था ? क्या तुम्हें कंबोडिया, अंगकोर, सुमात्रा और श्रीविजय की सुधि है अथवा यह याद है कि कैसे हिंदी चीन के प्राचीन भारतीय उपनिवेश कई शताब्दियों के बाद बढ़ते-बढ़ते एक विशाल साम्राज्य—कंबोडिया के साम्राज्य—में परिणत हो गए; और तब किस तरह प्रकृति ने बाधा डाली और उस विशाल साम्राज्य तथा उसके राज-नगर का अंत हो गया ? यह १३०० ई० प० की बात है। इन्हीं दिनों समुद्र-पार सुमात्रा में एक दूसरा महाराष्ट्र पनप रहा था, जो कंबोडिया के राष्ट्र का समसामयिक था। श्रीविजय के इस साम्राज्य का सितारा कंबोडिया के विकास के कुछ समय बाद चमकने लगा था, किंतु कंबोडिया की अपेक्षा वह अधिक काल तक स्थायी रहा। इस राष्ट्र का भी अंत बहुत अंशों में आकस्मिक ही था, लेकिन उसके विनाश में मनुष्य का, न कि प्रकृति का, हाथ था। श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य ३०० वर्षों तक फलता-फूलता रहा। वह प्रायः पूर्व के सभी द्वीपों का नियंत्रण करता था। कुछ दिनों तक उसने भारत, लंका और चीन के भी कुछ भागों पर अधिकार कर लिया था। वास्तव में, यह एक व्यापारिक राष्ट्र था। वाणिज्य ही इसका प्रधान व्यवसाय था। लेकिन थोड़े ही दिनों बाद पड़ोसी जावा द्वीप के पूर्वीय खंड में एक दूसरे व्यापारी राष्ट्र का उद्‌भव हुआ। यह एक हिंदू राष्ट्र था। इसने श्रीविजय की अधीनता को स्वीकार करने से साफ इनकार कर दिया।

९ वीं शताब्दी के आरंभ से ९०० वर्षों तक श्रीविजय अपने पड़ोसी जावा राष्ट्र की बढ़ती हुई शक्ति के खतरे की आशंका से सतर्क रहा। लेकिन जावा अपनी स्वाधीनता को ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण बनाए रहा। इस युग में वहाँ पत्थर के अनेक सुंदर मंदिरों का निर्माण हुआ। इन मंदिरों में सब से बड़े मंदिर बोरबुडर के मंदिर कहलाते हैं। वे आज दिन भी विद्यमान हैं। उन्हें देखने के लिए हजारों यात्री जाते हैं। जब जावा श्रीविजय के खतरे की आशंका से बिलकुल निश्चिंत हो गया तब उसने स्वयमेव रण-क्षेत्र की ओर बढ़ कर अपने पुराने शत्रु, श्रीविजय, को दबाने की चेष्टा करना शुरू किया। ये दोनों ही प्रबल व्यापारी राष्ट्र थे। दोनों ही के जहाज व्यापार के लिए दूर-दूर तक समुद्र की यात्राएं

किया करते थे। अतएव, दोनों में काफ़ी लाग-डांट छिड़ी रहती थी। जावा और सुमात्रा की प्रतिद्वंदिता को देख कर आधुनिक राष्ट्रों—उदाहरणार्थ, जर्मनी और इंगलैंड—से उनकी तुलना करने को जी चाहता है। जब जावा ने देखा कि श्रीविजय की शक्ति को दबाने और अपने व्यापार को दृढ़ करने का केवल एक ही रास्ता है; और वह यह है कि अपनी नौ-सेना को बढ़ाया जाय, तब उसने अपनी समस्त शक्ति इसी उद्देश की सिद्धि में लगा दी। वह अपने जंगी बेड़े को प्रायः शत्रु की टोह में भेजा करता था, लेकिन शत्रु के नाविक बेड़ों से उसकी वर्षों तक मुठभेड़ न हो पाई। इस प्रकार, जावा निरंतर बढ़ता और शत्रुओं को अधिकाधिक दबाता गया। तेरहवीं शताब्दी के अंत के जावा में एक नगर की स्थापना हुई, जिसका नाम मदजापहित रक्खा गया। कुछ ही दिनों में यह नगर बढ़ते-बढ़ते जावा-राष्ट्र का राज-नगर बन गया।

धीरे-धीरे जावा का राष्ट्र इतना धृष्ट और घमंडी हो गया कि उसने प्रतापी ख़ान, कुबलाई, के राजदूतों तक का अपमान कर डाला। इन राजदूतों को कुबलाई ने जावा से करद वसूल करने के लिए भेजा था। किंतु करद देने की कौन कहे, जावावालों ने एक राजदूत के ललाट पर बड़ा ही अपमानजनक प्रत्युत्तर अंकित कर दिया। मंगोल ख़ान के साथ इस तरह का अनुचित व्यवहार करना वास्तव में बहुत ही मूर्खता-पूर्ण और भयावह काम था। ऐसे ही अपमान के परिणाम-स्वरूप चंगीज़ ख़ाँ ने मध्य एशिया को और हलागू ने बग़दाद को तहस-नहस कर डाला था। किंतु यह सब जानते हुए भी जावा की छोटी-सी रियासत ने मंगोलों के साथ इस तरह का अपमानजनक दुर्व्यवहार करने की धृष्टता की। सौभाग्य से पहले की अपेक्षा अब मंगोल अधिक शांत और सहिष्णु हो गए थे और उनकी विजय-लालसा भी तृप्त हो चुकी थी। उन्हें सामुद्रिक लड़ाई से अधिक प्रेम न था। वे तो स्थल-युद्ध में अपने भुज-बल का भरोसा रखते थे। किंतु इस पर भी कुबलाई ने अपराधी को दंड देने के लिए अपना एक जंगी बेड़ा जावा को रवाना किया। चीनियों ने जावा-निवासियों को आसानी से हरा दिया और उनके राजा को मार डाला। लेकिन मालूम होता है कि उन्होंने जावा-राज्य को कोई क्षति नहीं पहुँचाई। चीनी संस्कृति से प्रभावित होकर मंगोल कितने अधिक बदल गए थे। वास्तव में, चीनी आक्रमण के कारण जावा या मदजापहित का साम्राज्य—इसी नाम से अब हम उसका उल्लेख करेंगे—और भी अधिक शक्तिशाली हो गया। जावावालों ने चीनियों से बंदूक़ों का प्रयोग करना सीख लिया था। इन्हीं बंदूकों के बल पर भविष्य में मदजापहित ने युद्धों में लगातार विजय प्राप्त की। मदजापहित का साम्राज्य लगातार बढ़ता ही गया। उसका उद्भव न तो आकस्मिक घटना ही का परिणाम था और न वह अव्यवस्थित रूप ही से हुआ था। उसका विस्तार तो वास्तव में उसके साम्राज्यिक प्रसार का परिणाम था, जिसके लिए उसने विधिवत् संघटन किया था और जिसको कार्य्यरूप में परिणत करने में उसकी रणकुशल स्थल और जल-सेनाओं ने काफ़ी मदद दी थी। इन्हीं दिनों में कुछ समय के लिए मदजापहित की राजगद्दी पर सुहिता-नामक एक राजमहिषी बैठी थी। ऐसा मालूम होता है कि इस राज्य की शासन-प्रणाली बहुत ही सुगठित और सुव्यवस्थित थी। पश्चिमी इतिहास-कारों का कथन है कि जावा-राज्य में राजकर, चुंगी, आदि, की बहुत ही उत्तम व्यवस्थाएँ थीं।

राज-काज के लिए पृथक्-पृथक् विभाग थे, जैसे औपनिवेशिक विभाग, व्यापार-संबंधी विभाग, स्वास्थ्य-विभाग, गृह-विभाग और रण-विभाग। वहां एक उच्च न्यायालय भी था, जिसमें दो प्रधान और सात साधारण न्यायाधीश होते थे। संभवतः, इस राज्य में ब्राह्मण पुरोहितों का बोलबाला था, लेकिन उन पर राजा का काफी नियंत्रण रहता था। उपर्युक्त विभाग और उनमें से कुछ के नाम कुछ-कुछ चाणक्य के अर्थशास्त्र की याद दिलाते हैं। लेकिन इनमें औपनिवेशिक विभाग बिलकुल नवीन विभाग था। अर्थशास्त्र में उसका कोई उल्लेख नहीं है। जावा राज्य में घरेलू मामलों की देख-रेख करनेवाला राज-कर्मचारी मंत्री कहलाता था। इससे प्रकट होता है कि जिस समय दक्षिणी भारत के पल्लव उपनिवेशकों ने इन द्वीपों में पहले-पहल अपनी बस्तियाँ स्थापित की थीं, उस समय से १२०० वर्ष बाद तक वहाँ भारतीय संस्कृति और विचार-परंपरा जीती-जागती बनी रही। ऐसा केवल उसी दशा में संभव हो सकता था, जब स्वदेश और उपनिवेशों का पारस्परिक संपर्क अविच्छिन्न बना रहा हो, और इसमें संदेह नहीं कि व्यापार के द्वारा उनमें बराबर इस तरह का संपर्क बना रहा।

मदजापहित एक व्यापारी राष्ट्र था। अतएव, उसने अपने आयात-निर्यात के व्यापार— अर्थात् बाहर माल भेजने और विदेशों से माल मँगाने के व्यवसाय—को बहुत ही विचार-पूर्वक संघटित किया। इस राष्ट्र का व्यापार मुख्यतया भारत, चीन तथा उसके निजी उपनिवेशों के साथ होता था। किंतु जब तक जावा की श्रीविजय के साथ लड़ाई छिड़ी रही, तब तक उसके और उसके उपनिवेशों के व्यापार में काफी बाधा पहुँची। जावा-राष्ट्र कई शताब्दियों तक स्थायी रहा; लेकिन मदजापहित के साम्राज्य का महायुग १३३५ से १३८० ई० प० तक माना जाता है। ४५ वर्ष की इस अवधि में यह राज्य अपनी गौरवगरिमा की चरम सीमा को पहुँच गया था। इसी युग में, १३७७ ई० प० में, जावावालों ने श्रीविजय पर अधिकार कर उसे सदैव के लिए नष्ट कर डाला। किंतु अनम, श्याम और कंबोडिया के साथ जावावालों का मैत्री का व्यवहार था।

मदजापहित का राज-नगर बहुत सुरम्य और समृद्धिशाली था। उसके मध्य में शिव का एक विशाल मंदिर और अनेक भव्य प्रासाद बने हुए थे। सच तो यह है कि मलयेशिया के सभी भारतीय उपनिवेशों को भव्य प्रासादों के निर्माण से विशेष अनुराग था। मदजापहित के अतिरिक्त, जावा में और भी अनेक महानगर और बंदरगाह थे।

अपने पुराने शत्रु, श्रीविजय, को नष्ट करने के बाद मदजापहित का साम्राज्यिक राष्ट्र अधिक दिनों तक स्थायी नहीं रह सका। उसमें गृह-कलह की आग सुलग उठी। उसकी चीन से खटपट शुरू हो गई और चीन के विशाल सामुद्रिक बेड़ों ने जावा पर चढ़ाई कर उसे घेर लिया। धीरे-धीरे उसके कई उपनिवेश उससे संबंध तोड़ कर अलग हो गए। इसके पश्चात् १४२६ ई० प० में जावा पर दुर्भिक्ष का आक्रमण हुआ और दो वर्ष बाद मदजापहित के साम्राज्य का अंत हो गया। लेकिन जावा इसके बाद भी ५० साल तक एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में बना रहा, जब अंत में मलका के मुसलिम राष्ट्र ने उस पर अधिकार कर लिया।

इस तरह मलयेशिया के प्राचीन भारतीय उपनिवेशकों द्वारा स्थापित साम्राज्यों में

से तीसरे साम्राज्य का अंत हुआ। इन पत्रों में हमने संक्षेप में इतिहास के सुदीर्घ युगों का वर्णन कर डाला है। भारतीय उपनिवेशक पहले-पहल इन द्वीपों में ईसवी-संवत् के आरंभ में आए थे और अब हम पंद्रहवीं शताब्दी में पहुँच गए हैं। इस प्रकार हमने इन बस्तियों के लगभग १४०० वर्षों के इतिहास का सिंहावलोकन कर डाला है। इस अवधि में हमने जिन तीन साम्राज्यिक राष्ट्रों—कंबोडिया, श्रीविजय और मदजापहित— का विशेष रूप से निरीक्षण किया है, उनमें से प्रत्येक राष्ट्र सैकड़ों वर्षों तक स्थायी रहा। हमें इन सुदीर्घ कालावधियों को ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि उनसे हमें इन राष्ट्रों के स्थायित्व और सुगठित राज्यशासन का कुछ-कुछ आभास मिलता है। इन राज्यों के निवासी सुरम्य शिल्पकला के प्रेमी थे। उनका प्रमुख व्यवसाय व्यापार था। उन्होंने भारतीय संस्कृति की परंपरा को जीवित रक्खा और चीनी संस्कृति के साथ उसका बहुत सुंदर और सुरुचिपूर्ण सम्मिश्रण किया।

तुम्हें याद होगा कि जिन तीन उपनिवेशों का मैंने विशेष रूप से उल्लेख किया है, उनके अतिरिक्त दूसरे भी कई भारतीय उपनिवेश मलयेशिया में थे। लेकिन उन सब का अलग-अलग ज़िक्र करना असंभव है। इसी तरह पड़ोसी बर्मा और श्याम के विषय में भी विशेष रूप से कुछ कहना कठिन है। इन दोनों ही देशों में शक्तिशाली राष्ट्रों का अभ्युदय हुआ और उन्नत दिनों में वहां काफ़ी कला-परक चहल-पहल रही। इन दोनों ही राष्ट्रों में बौद्ध धर्म स्थापित था। बर्मा पर एक बार मंगोलों का आक्रमण हुआ था, लेकिन श्याम पर चीन की ओर से कभी कोई हमला नहीं हुआ। बर्मा और श्याम, दोनों ही, समय-समय पर चीन को करद दिया करते थे। किंतु यह तो एक प्रकार की भेंट थी, जिसे एक श्रद्धालु छोटा भाई प्रायः अपने बड़े भाई को देता है। इस कर के बदले में चीन अपने छोटे भाइयों को बहुमूल्य उपहार भेजा करता था। मंगोलों का आक्रमण होने के पहले बर्मा की राजधानी उत्तरीय बर्मा के पगन-नामक नगर में थी। यह नगर २०० से अधिक वर्षों तक बर्मा की राजधानी बना रहा। कहा जाता है कि यह बहुत ही सुरम्य नगर था और इसकी जोड़ का केवल एक ही नगर उस भूभाग में था। वह था अंगकोर का महानगर। पगन का सर्वोत्तम प्रासाद आनंदमंदिर-नामक भवन था, जो संसार-भर में बौद्ध निर्माण-कला का एक परम सुंदर उदाहरण माना जाता है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत-सी सुंदर इमारतें वहां मौजूद थीं। आज दिन भी पगन के भग्नावशेष बहुत सुंदर हैं। पगन के वैभव का महायुग ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी तक था। इसके पश्चात् बर्मा में उपद्रव उठ खड़े हुए और कुछ दिनों के लिए वहां अराजकता का साम्राज्य छा गया। इसके परिणाम-स्वरूप दक्षिणी और उत्तरीय बर्मा एक-दूसरे से अलग हो गए। लेकिन सोलहवीं शताब्दी में दक्षिणी बर्मा में एक प्रतापी महासम्राट् पैदा हुआ, जिसने बर्मा को फिर एक कर दिया। उसकी राजधानी पीगू में थी। यह नगर दक्षिणी बर्मा में स्थित है।

मुझे आशा है कि बर्मा और श्याम के संबंध में इस संक्षिप्त और आकस्मिक उल्लेख से तुम भ्रम में न पड़ जाओगी। हम मलयेशिया और हिंदी चीन के इतिहास के एक अध्याय के अंत तक पहुँच गए हैं, इसलिए मैं अपने सिंहावलोकन की पूर्ति कर लेना चाहता हूं। इस अवधि में पूर्वीय द्वीपों पर जिन प्रमुख राजनीतिक और सांस्कृतिक विचारों का प्रभाव पड़ा, उनके उद्गम-

स्थान भारत और चीन थे। जैसा मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, एशिया के दक्षिण-पूर्वीय देशों पर चीन का और मलय प्रायद्वीप तथा पूर्वीय द्वीप-समूह पर भारत का प्रभाव पड़ा था। किंतु अब एक बिलकुल नवीन प्रभाव इस भू-भाग में दृष्टिगत होने लगा। यह प्रभाव अरब-वासियों का था। इसका बर्मा और श्याम पर तो कोई असर नहीं हुआ, लेकिन पूर्वीय द्वीप-समूह को उसने अपने वश में कर लिया और थोड़े ही समय में वहां एक मुसलिम राष्ट्र उठ खड़ा हुआ।

इन द्वीपों में अरबी व्यापारी १००० वर्ष पहले से आया-जाया करते थे। उनमें से कई तो वहां बस भी गए थे। लेकिन वे व्यापार ही में व्यस्त रहते थे। उन्होंने अभी तक राज-काज में कोई दिलचस्पी नहीं ली थी। चौदहवीं शताब्दी में जब अरब के धर्मोपदेशक और प्रचारक इन द्वीपों में पहुंचे तब उन्होंने वहां के कई शासकों को मुसलमान बना लिया।

इसी कालावधि में वहां अनेक राजनीतिक परिवर्तन भी हुए। मदजापहित बढ़ता और श्रीविजय को दबाता जाता था। जब श्रीविजय का अंत हो गया, तब बहुत-से लोग भाग कर मलय प्रायद्वीप के दक्षिणतम भाग में जा बसे। वहाँ उन्होंने मलक्का-नामक एक नगर बसाया। यह नगर तथा इसी नाम का राष्ट्र, दोनों ही, कुछ समय में पनप उठे। १४०० ई० प० में मलक्का एक महानगर हो गया। मदजापहित के जावा-निवासी शासकों के प्रति वहां की प्रजा का स्नेह का भाव नहीं था। सदा से साम्राज्यवादियों का जो हाल होता आया है, वही हाल मदजापहित के शासकों का भी था। वे बड़े अत्याचारी थे, इसलिए बहुत-से लोगों को उनके शासन में रहने की अपेक्षा मलक्का की इस नई रियासत में जाकर बसना अधिक रोचक प्रतीत हुआ। इन्हीं दिनों में श्याम भी रणोद्धत था, अतएव वहां के भी बहुत-से लोग आश्रय के लिए मलक्का में भाग आए। इस राज्य के निवासियों में कुछ बौद्ध और कुछ मुसलमान थे। पहले तो यहाँ के शासक बौद्ध थे, लेकिन बाद में वे मुसलमान हो गए। मलक्का के नवोदित राष्ट्र को जावा और श्याम से सदा खतरा बना रहता था। इसलिए उसने पूर्वीय द्वीपों की छोटी-छोटी रियासतों से मित्रता स्थापित करने की चेष्टा की। उसने चीन से भी सहायता माँगी। उन दिनों चीन में मिङ-राजवंश के राजा राज्य करते थे। ये वही मिङ थे, जिन्होंने चीन से मंगोलों को मार भगाया था। यह एक उल्लेखनीय बात है कि कैसे मलयेशिया की सभी छोटी-छोटी इस्लामी रियासतों ने एक साथ ही चीन से सहायता की याचना की। मालूम होता है कि उस समय इन सब को किसी शक्तिशाली शत्रु के आक्रमण की आशंका सता रही थी।

मलयेशिया के देशों के प्रति अब तक चीन की यही नीति थी कि उनके साथ मित्रवत् व्यवहार तो किया जाय, लेकिन घनिष्टता न बढ़ाई जाय। चीनवाले इनके निजी झगड़ों में नहीं फँसना चाहते थे। वे मैत्रीपूर्ण गौरवयुक्त पृथकत्व की नीति का अनुसरण करते आ रहे थे। उनकी धारणा थी कि मलयेशिया से उनको लाभ की आशा नहीं है। किंतु उनको अपनी सभ्यता का पाठ पढ़ाने के लिए वे सदैव तैयार थे। मिङ सम्राटों ने इस पुरातन नीति को बदलने और इन देशों के मामलों में पहले की अपेक्षा अधिक दिल-चस्पी लेने का निश्चय किया। ऐसा मालूम होता है कि श्याम और जावा की उग्र नीति को

देख कर तात्कालिक मिङ सम्राट् कुपित हो उठा था। उनकी उद्दंडता को रोकने तथा उन पर चीन की शक्ति का आंतक जमाने के उद्देश्य से उसने अपने महा-नाविक-बलाधिकृत, चेङ-हो, के संचालन में एक बहुत बड़ा जंगी बेड़ा भेजा। चेङ-हो फ़िलीपाइन, जावा, सुमात्रा, मलय प्रायद्वीप, आदि, सभी जगहों में गया। उसने लंका पर भी चढ़ाई की और उस द्वीप को जीत कर वह वहाँ के राजा को चीन ले गया। अपनी अंतिम यात्रा में वह चीन की खाड़ी तक जा पहुँचा था। चेङ-हो की इन यात्राओं का उन देशों पर बड़ा प्रभाव पड़ा, जहाँ वह पंद्रहवीं शताब्दी के आदि में गया था। उसने हिंदू मदजापहित और बौद्ध श्याम की शक्ति और गति को रोकने की नीयत से जान-बूझकर इस्लाम को प्रोत्साहन दिया था। उसके विशाल बेड़े की संरक्षकता में मलक्का का राष्ट्र सुदृढ़ और चिरस्थायी हो गया। किंतु चेङ-हो का ध्येय बिलकुल राजनीतिक था। उसे धर्म से कोई संबंध न था। वह स्वयमेव बौद्ध धर्म को मानता था।

इस प्रकार मलक्का का राष्ट्र मदजापहित के विरोधियों का खज़ाना बन गया। उसकी शक्ति लगातार बढ़ती गई और धीरे-धीरे उसने जावा के सभी उपनिवेशों को हड़प लिया। १४७८ ई० प० में स्वयं मदजापहित पर भी उसने अपना कब्ज़ा कर लिया। तब से इस्लाम ही वहाँ के नगरों का राजधर्म बन गया। लेकिन जैसे भारत में वैसे ही मलयेशिया में प्राचीन धर्म, गाथा-पुराण और आचार-व्यवहार में ग्रामीण जनता की निष्ठा ज्यों-की-त्यों बनी रही।

श्रीविजय और मदजापहित के समान ही मलक्का का साम्राज्य भी विशाल और चिरस्थायी हो गया होता, लेकिन उसको इसका अवसर ही न मिला। उसके मार्ग में पुर्तगीजों ने रोड़ा अटका दिया। इस तरह उसकी प्रगति सहसा रुक गई। थोड़े समय बाद, १५११ ई० प० में, पुर्तगीजों ने मलक्का को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार मलयेशिया के चौथे साम्राज्य के भग्नावशेषों पर पाँचवे साम्राज्य—पुर्तगीज साम्राज्य—की स्थापना हुई। किंतु यह साम्राज्य बहुत थोड़े दिनों तक स्थायी रह सका। यह इतिहास में पहला ही अवसर था, जब योरपवालों ने पूर्वीय समुद्रों पर विजय प्राप्त कर वहां अपना आंतक जमाया था।

(७९)

योरप पूर्वीय एशिया के देशों को हड़पने लगा

जुलाई १६, १९३२

हमने अपने पिछले पत्र को मलयेशिया में पुर्तगीज़ों के आगमन का उल्लेख कर समाप्त किया था। तुम्हें याद होगा कि कुछ ही समय पहले मैं तुम्हें यह बता चुका हूँ कि किस तरह योरप-वाले समुद्र-मार्गों का पता लगाने में सफल हुए थे। मैंने यह भी बताया था कि पूर्व में पहले पहुँचने के लिए किस तरह पुर्तगीज़ और स्पेनवालों ने दौड़ लगाई थी। पुर्तगीज़ पूरब की ओर से चले और स्पेनवाले पश्चिम के मार्ग से रवाना हुए थे। पुर्तगीज़ तो अफ़्रीका का चक्कर लगा कर भारत में पहुँच गए; किंतु स्पेनवाले ग़लती से अमेरिका में जा टपके। बहुत दिनों बाद वे दक्षिण अमेरिका का चक्कर काट कर मलयेशिया में पहुँच पाए। अब हम अपने सूत्रों को एक में जोड़ कर मलयेशिया की कहानी को आगे बढ़ा सकते हैं।

जैसा तुम्हें मालूम है, मसाले (मिर्चे, इत्यादि,) केवल भूमध्यरेखा के समीपवर्ती उष्ण प्रदेशों ही में पैदा होते हैं; योरप में वे नहीं पैदा किए जा सकते। कुछ मसाले दक्षिणी भारत और लंका में भी पैदा होते हैं; लेकिन अधिकांश मसाले मलयेशिया के मलक्का-नामक द्वीप-समूह ही से सब देशों में भेजे जाते हैं। इसीलिए इन द्वीपों का नाम मसाले के टापू पड़ गया है। इन मसालों की योरप में बहुत पुराने ज़माने से माँग थी और वे बराबर इन द्वीपों से योरप को भेजे जाते थे। किंतु योरप तक पहुँचने में उनका दाम बहुत बढ़ जाता था। रोमन साम्राज्य के युग में योरप में एक तोला मिर्चे का मूल्य एक तोला सोना था। लेकिन मसालों का इतना अधिक मूल्य होते हुए और पश्चिम में उनकी इतनी अधिक माँग होने पर भी योरप-वासियों ने स्वयं इन द्वीपों से अपने यहाँ मसालों को ले जाने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। बहुत दिनों तक मसाले के व्यापार पर भारतीयों का अधिकार बना रहा। बाद में अरब-वासियों ने उस पर अधिकार जमा लिया। इन्हीं मसालों के आकर्षण से खिंच कर पुर्तगीज़ और स्पेनवाले संसार की विभिन्न दिशाओं से पूर्व की ओर दौड़ पड़े थे और अंत में मलयेशिया में दोनों की मुठभेड़ हो गई थी। इस खोज में पुर्तगीज़ आगे निकल गए; क्योंकि स्पेनवाले मार्ग में अमेरिका में अटक गए थे। इसका कारण यह था कि वहाँ उन्हें अपार धन की प्राप्ति हो गई थी।

जिन दिनों वास्को-डि-गामा केप-आफ़-गुडहोप का चक्कर लगा कर भारत पहुँचा था, उनके थोड़े ही दिनों बाद दूसरे कई पुर्तगीज जहाज़ उसी मार्ग से भारत की ओर बढ़ आए। वे पूर्व दिशा में दूर तक बढ़ते चले गए। इन्हीं दिनों में मलका के नवीन राष्ट्र ने मसाले, आदि, के व्यापार का कठोर नियंत्रण करना शुरू किया था। अतएव, उसकी तथा अरबी व्यापारियों की पुर्तगीज़ों के साथ गहरी खटपट हो गई। १५११ ई० प० में पुर्तगीज़ों के वायसराय, एलबुकर्क, ने मलका पर अधिकार जमा कर वहाँ के मुसलिम व्यापार का अंत कर दिया। इस प्रकार, योरप के

साथ इन देशों के बहुमूल्य व्यापार पर पुर्तगीज़ों का अधिकार हो गया। पुर्तगीज़ों का राज-नगर लिसबन एक प्रसिद्ध व्यापारी नगर बन गया, जहाँ से योरप के सब देशों को पूर्व के मसाले और अन्य पदार्थ बिक्री के लिए भेजे जाते थे। यह उल्लेखनीय बात है कि यद्यपि एलबुकर्क अरब-वासियों का कठोर शत्रु था, परंतु पूर्व की अन्य व्यापारी जातियों के साथ उसने सदा मैत्री का संबंध स्थापित करने की चेष्टा की। विशेष रूप से, चीनी लोगों के साथ उसने बड़ी सज्जनता का व्यवहार किया। इसका फल यह हुआ कि चीन में पुर्तगीज़ों के संबंध में बड़े प्रशंसात्मक समाचार पहुँचते रहे। मालूम होता है कि अरबों के साथ पुर्तगीज़ों के वैमनस्य का कारण पूर्वीय व्यापार पर अरब-निवासियों का आधिपत्य ही था।

मसाले के टापुओं की खोज बहुत दिनों तक जारी रही। इन मसाले के द्वीपों का जिन लोगों ने पहलेपहल पता लगाया, उनमें मैगेलन नामक व्यक्ति भी था। यह वही मैगेलन है, जिसने बाद में प्रशांत महासागर को पार कर संसार की परिक्रमा की थी। ६० वर्ष तक योरप के मसाला-संबंधी व्यापार पर पुर्तगीज़ों का एकच्छत्र आधिपत्य क़ायम रहा। इस व्यापार में उनका कोई भी प्रति-द्वंदी न था। लेकिन १५६५ ई० प० में जब स्पेन ने फिलीपाइन द्वीप-समूह पर अधिकार कर लिया, तब पूर्वीय समुद्रों में एक दूसरी योरपीय शक्ति का आगमन हुआ। लेकिन स्पेनवालों के कारण पुर्तगीज़ों के व्यापार की कोई विशेष हानि न हुई, क्योंकि स्पेननिवासियों को व्यापार से विशेष लगन न थी। उन पर तो पूर्वीय देशों में सैनिकों और धर्म-प्रचारकों को भेजने की धुन सवार थी। अतएव मसाले के व्यापार पर पुर्तगीज़ों ही का एकच्छत्र अधिकार जमा रहा। उनके कारण दूसरा कोई इस व्यापार के क्षेत्र में अपने पैर नहीं जमा पाता था। कुछ ही दिनों में पुर्तगीज़ों ने ऐसी धाक जमा ली कि ईरान और मिस्र भी उन्हीं से मसाला ख़रीदने लगे। पुर्तगीज़ अन्य देश के व्यापारियों को मसालों के द्वीपों में व्यापार करने की आज्ञा ही नहीं देते थे। इस प्रकार पुर्तगाल दिन-पर-दिन मालामाल होता गया। लेकिन उसने अपने उपनिवेशों को समुन्नत बनाने की कोई चेष्टा न की। तुम्हें मालूम ही है कि पुर्तगाल एक बहुत छोटा-सा देश है। उसकी जनसंख्या भी इतनी थोड़ी है कि दूसरे देशों में बसने के लिए आदमी भेजना उसके लिए कठिन था। तो भी यह देख कर आश्चर्य होता है कि इस छोटे से देश ने सोलहवीं शताब्दी के आदि से अंत तक, लगभग सौ वर्षों तक, दुनिया के पूर्वार्द्ध पर साहस और दृढ़ता के साथ अपना रोब जमा रक्खा था।

जिन दिनों पुर्तगीज़ मसाले के व्यापार में जुटे थे, उन्हीं दिनों में स्पेनवाले फिलीपाइन द्वीपों पर कब्ज़ा किए बैठे थे। वे वहाँ से अधिक से अधिक संपत्ति खींच कर ले जाने की भरपूर चेष्टा कर रहे थे। किंतु इस उद्देश की सिद्धि के लिए उन्होंने ज़बर्दस्ती करद वसूल करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया। उन्होंने पूर्वीय समुद्रों में संघर्ष मिटाने की नीयत से पुर्तगीज़ों के साथ समझौता भी कर लिया। स्पेन की सरकार फिलीपाइन-निवासियों को स्पेन-शासित अमे-रिका के साथ व्यापार करने की आज्ञा नहीं देती थी। उसे भय था कि इसके कारण कहीं मैक्सिको और पीरू का सोना-चाँदी पूर्वीय देशों में न चला जाए। इन द्वीपों में प्रति वर्ष केवल एक ही जहाज़ आता था। इसका नाम "मेनिला गैलियन" था। तुम कल्पना कर सकती हो कि किस

उत्सुकता से फिलीपाइन द्वीपों के निवासी स्पेन-निवासियों के इस जहाज़ के वार्षिक आगमन की प्रतीक्षा करते रहे होंगे। "मेनिला गैलिदन" लगभग २५० वर्षों तक अमेरिका और फ़िलीपाइन द्वीपों के बीच प्रशांत महासागर को प्रति वर्ष बार-बार पार करता रहा। स्पेन और पुर्तगाल की इन सफलताओं को देख कर योरप की दूसरी जातियां ईर्ष्या से जलने लगी। जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, इन दिनों योरप में स्पेन ही की तूती बोलती थी। तात्कालिक योरप में इंगलैंड को कोई प्रथम श्रेणी का राष्ट्र नहीं मानता था। इन्हीं दिनों नेदरलैंडस अर्थात् हालैंड और बेलजियम के एक भाग में स्पेन के शासन के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इस विद्रोह में अंगरेज़ों ने स्पेन के प्रति ईर्ष्या से प्रेरित होकर डचों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की और उन्हें गुप्त रूप से सहायता दी। उधर अंगरेज़ नाविकों ने स्पेन के जहाज़ों पर डाका डालना भी शुरू कर दिया। बहुत-से स्पेनिश जहाज़ प्रति वर्ष अमेरिका से सरकारी खज़ानों को स्पेन लाते थे। इन में से कई जहाज़ अंगरेज़ नाविकों द्वारा बीच ही में लूट लिए गए। स्पेन के प्रति विद्वेष से प्रेरित होकर ये लोग सामुद्रिक डाकज़नी के समान निंद्य काम करने से भी न बाज़ आए। इस संकटाकीर्ण किंतु लाभप्रद दुष्कर्म में जो लोग लगे थे, उनका सरगना सर फ्रैंसिस ड्रेक-नामक व्यक्ति था, जो इंगलैंड के हैरो-नामक स्कूल में प्रचलित एक गीत के शब्दों में "समुद्र का साहसी लुटेरा" था। वह अपने दुष्कर्मों की प्रशंसा प्रायः यह कह कर किया करता था कि उसने स्पेन-नरेश की दाढ़ी को झुलसा दिया है।

१५७७ ई० प० में ड्रेक, स्पेन के उपनिवेशों को लूटने के उद्देश से, पाँच जहाजों को लेकर रवाना हुआ। इस धावे में उसे सफलता तो मिली; लेकिन उसके चार जहाज़ इस यात्रा में नष्ट हो गए। बचा हुआ जहाज़—"सुनहला हिरन"—किसी तरह प्रशांत महासागर तक जा पहुँचा और इसी जहाज़ पर ड्रेक केप-आफ़-गुडहोप की परिक्रमा लगाता हुआ इंगलैंड वापस आया। इस प्रकार, उसने पूरी पृथिवी-परिक्रमा लगा डाली। 'सुनहला हिरन' दूसरा जहाज़ था, जो इस तरह की परिक्रमा लगाने में सफल हुआ था। पहला जहाज़ मैगेलैन का 'विटोरिया'-नामक जलपोत था। उन दिनों जहाज़ द्वारा संसार की परिक्रमा करने में पूरे तीन वर्ष लगते थे।

स्पेन-नरेश की दाढ़ी को झुलसाने का काम निर्विघ्न रूप से बहुत दिनों तक चलते रहना कठिन था। कुछ ही दिनों बाद इंगलैंड और स्पेन में गहरी लड़ाई छिड़ गई। डचों ने तो इसके पहले ही स्पेनवालों के साथ युद्ध की घोषणा कर दी थी। इस संघर्ष में पुर्तगाल ने भी भाग लिया था। उसने स्पेन का पक्ष लिया था। इसका कारण यह था कि कुछ वर्ष पूर्व स्पेन और पुर्तगाल एक ही शासक के अधिकार में आ गए थे। भाग्य की अनुकूलता तथा दृढ़ संकल्प के कारण इस युद्ध में इंगलैंड को काफ़ी सफलता मिली। उसकी इस सफलता को देख कर योरप चकित रह गया। तुम्हें याद होगा कि "अजेय आर्मेडा"-नामक वह विशाल जंगी बेड़ा, जिसे स्पेन ने इंगलैंड को जीतने के लिए भेजा था, तूफ़ान में नष्ट हो गया था। लेकिन इस समय तो हम पूर्व की चर्चा कर रहे हैं। डचों और अँगरेज़ों, दोनों, ने सुदूर पूर्व के देशों पर चढ़ाई कर वहाँ के पुर्तगीज़ों और स्पेनवालों पर हमला किया। पूर्व में जो भी स्पेन-निवासी रहते थे, वे सब प्रायः फ़िलीपाइन द्वीपों ही में एकत्रित थे। अतएव उनको परास्त

करना बहुत आसान सिद्ध हुआ। पुर्तगीज़ों को भी बुरी तरह हार खाना पड़ी। उनका पूर्वीय साम्राज्य लगभग ६००० मील तक लालसागर से मलक्का-नामक मसाले के द्वीपों तक फैला था। अदन, ईरान की खाड़ी और भारत के तटवर्त्ती स्थानों तथा पूर्वीय द्वीपों और मलय-प्रायद्वीप में भी उन्होंने अपने अड्डे क़ायम कर रक्खे थे। धीरे-धीरे यह पूर्वीय साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और नगर के बाद नगर तथा गाँव के बाद गाँव डच या अँगरेज़ों के अधिकार में आने लगे। १६४१ ई० प० में मलक्का भी पुर्तगीज़ों के हाथ से निकल गया। अब केवल भारत या दूसरे कुछ स्थानों ही में उनके इने-गिने अड्डे बच रहे थे। इन अड्डों में गोआ, जो पश्चिमीय भारत के तट पर स्थित था, मुख्य था। आज दिन भी गोआ में पुर्तगीज़ों का शासन है। वह नव-स्थापित पुर्तगीज प्रजातंत्र का अंग है। अकबर ने इस स्थान को पुर्तगीज़ों से छीन लेने की चेष्टा की थी, लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिल सकी थी।

इस प्रकार, पुर्तगाल पूर्वीय इतिहास से एकदम अंतर्धान हो गया। इस छोटे-से देश ने इतना बड़ा ग्रास मुख में डाल लिया कि उसको निगलना उसके लिए कठिन हो गया था। उसे निगलने की चेष्टा ही में उसकी सारी शक्ति नष्ट हो गई। इसके बाद भी स्पेनवाले फ़िलीपाइन द्वीपों में काफ़ी समय तक डटे रहे; लेकिन भविष्य में उन्होंने पूर्वीय जगत् के मामलों में कभी कोई भाग नहीं लिया। अब पूर्व के बहुमूल्य व्यापार पर हालैंड और इंगलैंड का आधिपत्य था। इन देशों ने अनेक व्यापारी संघों को स्थापित कर इस व्यापार से लाभ उठाने की पूरी तैयारी की। १६०० ई० प० में इंगलैंड की महारानी एलिज़ाबेथ ने ईस्ट इंडिया कंपनी-नामक संस्था को व्यापार करने की सनद दी। इसके दो ही वर्ष बाद डच ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई। इन दोनों कंपनियों की संस्थापना केवल व्यापार करने के उद्देश से हुई थी। ये दोनों ग़ैर-सरकारी कंपनियाँ थीं; लेकिन समय-समय पर उन्हें उनकी सरकारें मदद देती रहती थीं। ये दोनों कंपनियाँ विशेषकर मलयेशिया के मसालों ही का व्यापार करती थीं। इन दिनों भारत में मुग़लों का शासन था। वह एक शक्ति-संपन्न देश था। अतएव उसे छेड़ कर बेदाग़ निकल जाना असंभव था। डच और अंगरेज़ बहुधा आपस में लड़ते रहते थे। लेकिन अंत में अंगरेज़ों ने पूर्वीय द्वीपों को छोड़ कर भारत की ओर विशेष ध्यान देना शुरू किया। अब मुग़ल-साम्राज्य शक्तिहीन हो चला था और इसके कारण पूर्व में साहसपूर्ण विदेशियों का मार्ग निष्कंटक हो गया था। आगे चल कर हम देखेंगे कि किस तरह इंगलैंड और फ़्रांस के साहसिक लोगों ने पहुंच कर छल-कपट अथवा युद्ध द्वारा इस बिखरते हुए साम्राज्य के टुकड़ों को हड़पने की चेष्टा की।

(८०)

चीन में शांति और समृद्धि का एक युग

जुलाई २२, १९३२

सो तुम बीमार हो गई थीं, प्यारी बेटी? जहाँ तक मुझे मालूम है, संभवत: अब तक रोग से तुम्हारा छुटकारा नहीं हुआ है। जेल में प्राय: बहुत देर में समाचार मिलते हैं और मैं तुम्हें यहाँ से कुछ मदद पहुँचाने में भी असमर्थ हूं। स्वयं तुम्हें ही अपनी देख-रेख करनी होगी। लेकिन तुम्हारी चिंता हर घड़ी मुझे सताती रहेगी। यह कितनी विचित्र बात है कि हम सब एक दूसरे से इतने अधिक दूर हो गए हैं। तुम सुदूर पूना में हो; ममी प्रयाग में अस्वस्थ है और हममें से दूसरे सब भी भिन्न-भिन्न जगहों में बंद हैं। पिछले कुछ दिनों से इन पत्रों को लिखने में मुझे कुछ कठिनाई होने लगी है। जब मैंने इन पत्रों को लिखना आरंभ किया था तब मैंने तुम्हें लिखा था कि इनको लिखते समय मुझे ऐसा मालूम होता है, मानो इसी बहाने मैं तुमसे बातें कर रहा हूँ। लेकिन तुम्हारे साथ वार्तालाप करने की इस भ्रांति को अब अधिक दिनों तक बनाए रखना मेरे लिए दुस्साध्य है। मुझे बार-बार यह सुधि हो आती है कि तुम पूना में बीमार पड़ी हो। बार-बार मन में यह बात उठती रहती है कि फिर मैं तुम्हें कब देख सकूंगा। अभी तुमसे मिलने में न-जाने कितने महीने या वर्ष लगेंगे; और इस अवधि में तुम न जाने कितनी बड़ी हो जाओगी।

लेकिन, विशेषकर जेल में, बहुत अधिक सोचना-विचारना ठीक नहीं है। मुझे अपने को संभालना चाहिए और वर्तमान की सुधि भुला कर भूतकाल की याद करना चाहिए।

पिछले पत्र में हम मलयेशिया में थे, थे न? और हमने एक विचित्र घटना को घटित होते देखा था। योरप उग्र रूप धारण कर एशिया की ओर बढ़ने लगा था। पहले पुर्तगीज आए; उनके बाद स्पेनवालों का आगमन हुआ; और कुछ समय बाद अँगरेजों और डचों ने पूर्व की ओर क़दम बढ़ाया। लेकिन बहुत दिनों तक इन लोगों की उछल-कूद अधिकांश में मलयेशिया और उसके समीपवर्ती द्वीपों ही में होती रही। मलयेशिया के पश्चिम में मुग़ल-शासित भारत और उत्तर में चीन इतने सबल थे कि उनके सामने इन लोगों की दाल गलना कठिन था।

चीन मलयेशिया से अधिक समीप है। अतएव, आओ, पहले वहीं की सैर करें। मंगोल सरदार, कुबलाई, द्वारा संस्थापित युआन-राजवंश का चीन में अंत हो चुका था। १३६८ ई० प० में चीन में मंगोलों के विरुद्ध विद्रोह की एक लहर उठी और चीनियों ने मंगोलों को चीन की बड़ी दीवार के उस पार मार भगाया। इन विद्रोहियों का नेता हुङ-वू नामक एक व्यक्ति था। वह एक ग़रीब मजदूर के घर में पैदा हुआ था। यों तो वह बिलकुल अशिक्षित था, लेकिन जीवन-रूपी विस्तीर्ण विद्यालय का वह बहुत ही पटु विद्यार्थी था। वह एक सफल नेता बन गया और

कुछ ही दिनों में वह चीन के राज-सिंहासन पर जा बैठा। वह बड़ा ही बुद्धिमान शासक था। सम्राट् हो जाने पर उसका सिर गर्व और मद से नहीं घूम गया। उसने आजीवन इस बात को याद रक्खा कि उसका जन्म एक साधारण कुल में हुआ है। ३० वर्ष तक उसने चीन का शासन किया। इस अवधि में उसने प्रजा की दशा को सुधारने की निरंतर चेष्टा की। आज दिन भी चीनवासी उसकी याद किया करते हैं। कहते हैं कि जीवन के अंत तक उसका रहन-सहन सादा ही रहा।

हूङ-वू नवीन मिङ-राजवंश का प्रथम सम्राट् था। उसका पुत्र यूङ-लो भी प्रतापी शासक था। उसने १४०२ से १४२४ ई० प० तक शासन किया। लेकिन इन चीनी नामों का उल्लेख कर मैं तुम्हें तंग नहीं करना चाहता। इनमें बहुत-से अच्छे शासक भी हुए; लेकिन जैसा प्रायः होता है, बाद में कई शासक बड़े अयोग्य निकले। अतएव, आओ, सम्राटों को भुला कर चीनी इतिहास के इस महायुग का निरीक्षण करें। यह बहुत ही समुज्ज्वल युग था। इसकी छटा एकदम निराली थी। मिङ शब्द का अर्थ ही समुज्ज्वल होता है। मिङ-राजवंश ने २७६ वर्षों तक, अर्थात् १३६८ से १६४४ ई० प० तक, शासन किया। चीन में अब तक जितने राजवंश हो चुके थे, उन सब से यह राजवंश बढ़ कर था। इसके राज्य-काल में चीनी प्रतिभा को विकसित होने के लिए पूरा-पूरा अवसर मिला। मिङ युग प्रधानतया शांति का युग था। इस युग में चीन में घर-बाहर, सब कहीं, शांति विराजती थी। मिङ-राजाओं की परराष्ट्र-संबंधी नीति में उग्र उद्दंडता का भाव था। उनका एकमात्र ध्येय शांति को अक्षुण्ण बनाए रखना था। इसीलिए इस युग में हमें चीन में साम्राज्यिक आक्रमण और धावे नहीं दिखाई देते। पड़ोसी देशों के साथ चीन का मैत्री का संबंध था। केवल उत्तर दिशा की बनचर तातार जातियों से उसे थोड़ा-बहुत खतरा था। शेष पूर्वीय जगत् चीन को उस बड़े भाई के समान मानता था, जो बुद्धिमान, सुसंपन्न और सुसंस्कृत हो; जिसे अपने बड़प्पन का तो बहुत अधिक ध्यान रहता हो, लेकिन हृदय से वह सदा अपने छोटे भाइयों की भलाई चाहता हुआ उन्हें शिक्षा देने और उनके साथ मिलकर अपनी सभ्यता और संस्कृति का उपभोग करने का इच्छुक हो। इसलिए वे सब उसका बहुत आदर-सत्कार करते थे। जापान ने भी कुछ समय के लिए चीन को अपना चक्रवर्ती अधीश्वर स्वीकार कर लिया और वहाँ का शोगन, जिसके हाथ में जापान के शासन की बागडोर रहती थी, अपने को मिङ-सम्राट् का अनुयायी कहने लगा। इस युग में कोरिया तथा जावा, सुमात्रा, आदि, भारतीय एशियाई द्वीपों और हिंदी चीन के नरपति चीन को करद देते थे।

यूङ-लो ही के राज्यकाल में महानाविक-बलाधिकृत, चेङ-हो, के संचालन में मलयेशिया को विशाल चीनी नाविक बेड़ा भेजा गया था। चेङ-हो लगभग ३० वर्षों तक पूर्वीय समुद्रों में, ठेठ ईरान की खाड़ी तक, चक्कर लगाता रहा। शायद तुम यह सोचोगी कि चीनी सम्राट् ने यह नाविक बेड़ा किसी साम्राज्यिक भावना से भेजा होगा। लेकिन उसका उद्देश इन टापुओं पर केवल चीन का रोब जमाना था। इस जंगी बेड़े को भेजने में चीन को विजय अथवा किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं थी। संभव है कि श्याम और मदजापहित की

शक्ति को बढ़ते देख कर यूङ्-लो ने इस जंगी बेड़े को भेजने का निश्चय किया हो। जो कुछ भी बात रही हो, किंतु इस बेड़े को भेजने का परिणाम बहुत व्यापक हुआ। इसके कारण मदजापहित और श्याम की गति बिलकुल रुक गई। मलक्का के नव-मुसलिम राष्ट्र को भी इसके कारण काफी प्रोत्साहन मिला और समस्त हिंदी चीन और पूर्वीय द्वीपों में चीनी संस्कृति का प्रचार हो गया।

चीन का पड़ोसी राज्यों के साथ मैत्री का व्यवहार था। अतएव,उसके शासक देश की उन्नति की ओर विशेष रूप से ध्यान दे सकते थे। इसी कारण चीन का राज-काज अच्छी तरह से चलता था। राजकरों को घटा कर किसानों का बोझ हलका करने का प्रयत्न किया गया था। सड़कों, नहरों और जलाशयों में भी बहुत सुधार किए गए थे। अकाल और दुर्भिक्ष के समय के लिए अन्नागार भी खोले गए थे, जिनमें सरकार की ओर से अनाज जमा रहता था, ताकि आवश्यकता पड़ने पर पीड़ितों को सहायता दी जा सके। सरकार काग़ज़ी रुपए अर्थात् नोट या हुंडियाँ बनाती थी, अतएव व्यापार करने में लोगों को बहुत अधिक सुविधा होगई थी। इस काग़ज़ी रुपए का चीन में बहुत चलन था। जो कोई भी चाहता वह काग़ज़ी रुपए देकर ७० प्रतिशत राज-करों की भुगतान कर सकता था। किंतु इन सब बातों से भी अधिक महत्वपूर्ण और रोचक था इस युग का सांस्कृतिक इतिहास।

युग-युगांतरों से चीन-निवासी सुसंस्कृत और कला-प्रेमी होते चले आए हैं। मिङ्-युग के सुशासन और ललितकला-संबंधी प्रगति ने चीनियों की नैसर्गिक प्रतिभा को पूर्ण रूप से विकसित कर दिया। इस युग में वहां भव्य प्रासादों और परम सुंदर चित्रों की रचना हुई। मिङ्-कालीन मार्त्तिक अपनी सुचारु बनावट के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। उनकी कारीगरी दर्शनीय है। इस युग में चीन में जो चित्र बने, वे उन महान् चित्रों की जोड़ के हैं, जिनकी रचना इटली के चित्रकारों ने इन्हीं दिनों में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रेरणा से प्रेरित होकर की थी।

पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में चीन संपत्ति, वाणिज्य-व्यवसाय और संस्कृति में तात्कालिक योरप से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। मिङ्-युग की कालावधि में योरप या संसार का कोई भी देश, प्रजा के सुख या कला-परक क्रियाशीलता की दृष्टि से, चीन की बराबरी नहीं कर सकता था। तुम्हें इस बात को भी याद रखना चाहिए कि यह वह कालावधि थी जब योरप में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रेरणा के कारण अभूतपूर्व मानसिक चहल-पहल मची हुई थी।

कला की दृष्टि से मिङ्-युग की अन्यतम ख्याति का एक कारण यह भी है कि उस युग की अनेक सुंदर-सुंदर कृतियां आज दिन भी उपलब्ध हैं। उस युग के अनेक बड़े-बड़े स्मारक, लकड़ी, हाथी-दाँत, और जेड-नामक पत्थर की नक्काशी की कृतियां तथा ताँबे के सुंदर जलपात्र और मार्त्तिक मिलते हैं। मिङ्-युग के अंतिम दिनों में चीनी कारीगरों की कृतियां बहुत कुछ पेचीदा हो गईं, और इसके कारण वहां की चित्रकारी या नक्काशी पहले की अपेक्षा बहुत कुछ बिगड़ गई।

इसी युग में पहले-पहल पुर्तगीज़ जहाज़ चीन पहुंचे थे। १५१६ ई० प० में इन्होंने कैंटन के बंदरगाह में लंगर डाला था। बात यह थी कि जिस किसी चीनी से एलबुकर्क की मुलाक़ात होती थी, उससे वह बहुत अच्छी तरह से मिला करता था। इसके कारण पुर्तगीज़ों के संबंध

में चीन-निवासियों की बड़ी अच्छी भावना हो गई। अतएव, जब ये लोग चीन पहुँचे तब वहां उनकी बड़ी आवभगत हुई। लेकिन थोड़े ही समय बाद पुर्तगीज़ों ने चीनियों के साथ अनुचित व्यवहार करना शुरू कर दिया। उन्होंने बहुत-से स्थानों में अपने क़िले बना लिए। इस बर्बरता को देखकर चीनी सरकार चकित रह गई। लेकिन उसने जल्दी में कुछ करना उचित न समझा। जब अंत में उसने उन सब को अपने यहाँ से निकाल भगाया तब पुर्तगीज़ों को यह अनुभव हुआ कि अपनी चिरपरिचित नीति को चीन में काम में लाना कितनी भारी भूल थी। तब से वे ठंढे पड़ गए और बड़ी विनम्रता-पूर्वक आचरण करने लगे। १५५७ ई० प० में उन्हें कैंटन के पास बसने की आज्ञा मिल गई। यहीं उन्होंने मकाओ-नामक एक नए नगर को बसाया।

पुर्तगीज़ों के साथ कुछ ईसाई पादरी भी चीन जा पहुँचे थे। इनमें एक पादरी बहुत प्रसिद्ध था। उसका नाम सेंट फ़्रैंसिस ज़ेवियर था। वह भारत में भी बहुत दिनों तक रह चुका था। अपने देश में तुमको ऐसे बहुत-से ईसाई कालेज मिलेंगे, जो इस पादरी के नाम पर खोले गए हैं। वह जापान भी गया था। उसकी मृत्यु एक चीनी बंदरगाह में हुई। कहते हैं कि जहाज़ से उतरने की आज्ञा मिलने के पहले ही वह दूसरे लोक को चल बसा। चीनवाले ईसाई पादरियों का स्वागत नहीं करते थे। किंतु जेसविट दल के दो पादरी बौद्ध भिक्षुओं का वेष धर कर कई साल तक चीनी भाषा का अध्ययन करते रहे। वे कन्फ्यूशियन शास्त्रों के बहुत बड़े विद्वान् हो गए और विज्ञानवेत्ता के रूप में उन्होंने बड़ा नाम कमाया। इनमें से एक का नाम मातिओरीटी था। वह बहुत ही योग्य और अपूर्व विद्वान् था। वह इतना चतुर था कि चीन के सम्राट् को भी उसने प्रसन्न कर लिया था। कुछ दिनों बाद उसने अपने जाली रूप को त्याग दिया। उसके प्रभाव से चीन में ईसाई मत की दशा में बड़ी उन्नति हुई।

सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में डच लोग मकाओ पहुँचे, और वहां उन्होंने व्यापार करने की आज्ञा माँगी। लेकिन पुर्तगीज़ों के साथ उनकी सदा अनबन रहती थी, अतएव पुर्तगीज़ों ने चीनियों को उनके विरुद्ध भड़काने की हर तरह से चेष्टा की। उन्होंने चीनियों से कहा कि डच जाति के लोग बड़े भयंकर डाकू होते हैं। इस पर चीनियों ने उन्हें व्यापार करने की आज्ञा देने से इनकार कर दिया। इसके कुछ समय बाद डचों ने जावा में स्थित बटेविया-नामक नगर से मकाओ को एक बहुत बड़ा जंगी बेड़ा भेजा। मूढ़ता-वश उन्होंने मकाओ पर बल-पूर्वक अधिकार करने की भी कोशिश की। लेकिन चीनियों और पुर्तगीज़ों के सामने उनकी एक भी न चली।

डचों के बाद अंगरेज़ चीन पहुँचे, लेकिन उन्हें भी विफल मनोरथ होना पड़ा। जब मिङ-युग का अवसान हो गया, तब कहीं अंगरेज़ों को चीनी व्यापार का कुछ अंश मिल सका।

सभी भली और बुरी बातों का एक न एक दिन अंत होता है। मिङ-युग का भी इसी तरह सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में अंत हो गया। इसी समय उत्तर दिशा की ओर तातारों का एक छोटा-सा बादल दिखाई देने लगा था। बढ़ते-बढ़ते यह बादल इतना विशाल हो गया कि अंत में उसने सारे चीन को घेर लिया। तुम्हें पुराने किनों अथवा सुनहले तातारों की याद होगी, जिन्होंने सुङ-राजवंश को चीन के दक्षिणी भाग में मार भगाया था और जो बाद में स्वयं मंगोलों द्वारा चीन से मार भगाए गए थे। इसी अवधि में चीन के उत्तर में, जहाँ आजकल मंचूरिया का प्रांत है, किन

तातारों से मिलती-जुलती एक नई प्रभावशाली जाति उठ खड़ी हुई थी। इस जाति के लोग अपने को मंचू कहते थे। इन्हीं मंचुओं ने चीन पर धावा कर मिङ-राजवंश से चीन की गद्दी छीन ली।

लेकिन मंचुओं के लिए चीन को विजय करना आसान नहीं होता, यदि चीन में विरोधी दलों की प्रतिद्वंद्विता के कारण आपसी वैमनस्य न होता। चीन, भारत, आदि, सभी देशों में प्रायः देश की दुर्बलता और प्रजा के घरेलू झगड़ों ही के कारण विदेशी विजेताओं को सफलता मिली है। चीन में इन दिनों तरह-तरह के घरेलू उपद्रव हो रहे थे। संभवतः, या तो उत्तर-कालीन मिङ-सम्राट् बहुत अधिक दुराचारी और अयोग्य थे अथवा देश की सांपत्तिक दशा इतनी बिगड़ गई थी कि उसके कारण चीन में सामाजिक विप्लव की आग भभक उठी थी। मंचुओं के साथ युद्ध जारी रखने में भी चीन को बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी, जिसके बोझ को सम्हालना उसके लिए कठिन हो गया। वहां लुटेरे सरदारों ने उपद्रव करना शुरू किया और इनमें से एक कुछ दिनों के लिए वहां का सम्राट् तक बन गया। मंचुओं से लड़ने के लिए जो चीनी सेनाएँ भेजी गई थीं, उनका सेनापति वु-सन्-क्विई-नामक एक व्यक्ति था। वह बड़े संकट में पड़ गया। एक ओर डाकू-सम्राट् को गद्दी से उतारने का प्रश्न था। दूसरी ओर मंचुओं के आक्रमण से देश के उद्धार की समस्या थी। वु-सन्-क्विई की समझ में नहीं आता था कि दोनों से एक ही समय पर वह कैसे लड़ाई जारी रक्खे। अंत में दृढ़ता से अथवा विश्वासघात की नीयत से उसने मंचुओं से लुटेरे सम्राट् के विरुद्ध सहायता की याचना की। मंचुओं ने सहर्ष उसके अनुरोध को स्वीकार कर तुरंत पेकिंग पर अधिकार कर लिया। जब वु-सन-क्विई को यह मालूम हुआ कि मिङ-राजवंश का पक्ष एकदम निर्बल हो गया है, तब वह उनका साथ छोड़ कर मंचुओं से जा मिला। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि चीन में इस समय तक वु-सन्-क्विई के नाम से लोग घृणा करते और उसे विश्वासघाती देशद्रोही समझते हैं; क्योंकि जिस आदमी को देश की रक्षा का भार सौंपा गया, वही शत्रुओं से जा मिला था। इतना ही नहीं, उसने दक्षिणी प्रांतों को अधीन करने में शत्रु की खुल कर सहायता भी की थी। इस सेवा के पुरस्कार के रूप में मंचुओं ने उसे उन प्रांतों का वायसराय बना दिया, जिनको उसने जीत कर शत्रुओं को भेंट किए थे।

१६५० ई० प० में मंचुओं ने कैंटन नगर पर अधिकार कर लिया। कैंटन के पतन के साथ ही समस्त चीन मंचुओ की अधीनता में आ गया। उनकी विजय का कारण संभवतः यह था कि चीनियों की अपेक्षा वे अधिक रण-कुशल सैनिक थे। चीनी बहुत दिनों तक शांति और समृद्धि के वातावरण में रहने के कारण लड़ने के योग्य न रह गए थे। लेकिन जिस तेजी से मंचुओं ने चीन को विजय किया, इसके दूसरे कई कारणों में एक विशेष कारण यह था कि मंचुओं ने चीनियों को खुश करने की हर तरह से चेष्टा की थी। पूर्वकाल में जब-जब तातारों के हमले हुए, तब-तब उन्होंने बड़ी नृशंसता दिखाई और हजारों-लाखों निरपराधियों को अकाल ही तलवार की धार मौत के घाट उतार दिया था। किंतु इस अवसर पर आक्रमणकारियों ने चीनी राज-कर्मचारियों को मिलाने की भरपूर चेष्टा की और लड़ाई बंद होने पर उन्हें ही फिर से अपने-अपने पदों पर नियुक्त कर दिया। इस प्रकार बड़े पदों पर चीनी अफ़सर नियुक्त हो गए। शासन की प्राचीन

मिङ्-कालीन प्रणाली में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। देखने में वह प्रणाली अब भी जैसी की तैसी बनी थी। केवल शिखर पर बैठे हुए राज्य के संचालक भिन्न थे।

लेकिन दो बातों से यह साफ़ मालूम हो जाता था कि चीनियों पर विदेशियों का शासन था। एक तो, मुख्य-मुख्य स्थानों पर मंचू-सेनाओं के अड्डे स्थापित हो गए थे; दूसरे, इस बात को प्रकट करने के लिए कि उन्होंने मंचुओं की अधीनता स्वीकार कर ली है, चीनियों को मंचू-प्रथा के अनुसार लंबी-लंबी चोटियाँ रखने को बाध्य किया जाता था। आज दिन चीनियों का नाम सुनते ही हममें से अधिकांश लोगों को उनकी लंबी चोटियों की सुधि हो आती है। लेकिन इन चोटियों के रखने की प्रथा कोई चीनी-प्रथा न थी। यह तो दासता का चिह्न था। यह उसी तरह का चिह्न था, जिस तरह के बहुत-से चिह्न आजकल के कुछ हिंदोस्तानी धारण करते हैं और जिनको धारण करने में उन्हें न लज्जा होती है और न ग्लानि। किंतु अब चीनियों ने लंबी चोटियां रखना छोड़ दिया है।

इस प्रकार चीन के एक समुज्ज्वल युग का अंत हो गया। यह देख कर अचरज होता है कि ३०० वर्षों तक सुशासन करने के बाद मिङों का अचानक ऐसी द्रुत गति से पतन हो गया। यदि उनकी शासन-प्रणाली वास्तव ही में उतनी अच्छी थी, जितनी वह कही जाती है, तो फिर क्यों समय-समय पर चीन में विद्रोह और उपद्रव होते रहते थे? मंचूरिया के विदेशी आक्रमणकारियों की गति को रोकने में वे असमर्थ क्यों रहे? संभवतः, अंतिम दिनों में चीनी प्रजा शासन-प्रणाली से बहुत ऊब उठी थी। यह भी संभव है कि शासन-प्रणाली के अत्यधिक मात्रा में कुटुम्बवत् होने के कारण जनता शक्तिहीन बन गई हो। चम्मच से खिलाना न तो बच्चों और न जातियों के लिए ही हितकर है। किंतु यह सोच कर विस्मय होता है कि यद्यपि इन दिनों चीन अत्यधिक सुसंस्कृत था, परंतु जीवन के अन्य क्षेत्रों में—जैसे विज्ञान, खोज, अन्वेषण, आदि, के क्षेत्रों में—उसकी तनिक भी प्रवृत्ति न हुई।

तात्कालिक योरप-निवासी चीनियों से बहुत पिछड़े हुए थे, किंतु इस पर भी हम उन्हें सांस्कृतिक पुनरुत्थान के युग में नई उमंगों से उत्साहित देखते हैं। तत्कालीन योरापियनों में साहस था। उनमें तरह-तरह के संकटों का सामना करने और उन पर विजयी होने का उत्साह था। वे खोज और अन्वेषण के लिए लालालित थे। तात्कालिक चीनियों और योरपनिवासियों को देखकर मुझे दो व्यक्तियों की याद आ जाती है। एक तो उस अधेड़ सुसंस्कृत व्यक्ति की, जिसे केवल शांतिमय जीवन से प्रेम हो, जो नए-नए खतरों को उठाने के लिए तैयार न हो, जो अपनी जीवन-चर्य्या में किसी प्रकार की बाधा पड़ते ही खिन्न और व्यथित हो जाता हो और रात-दिन अपने प्रिय ग्रंथों और अपनी चिरसंगिनी कला ही की सेवा में निरत रहता हो। इसके विपरीत उस किशोर बालक की भी याद आजाती है, जो अपरिष्कृत तो अवश्य मालूम होता है, लेकिन जिसमें उत्साह भरा रहता है, और जो नई-नई बातों की खोज में पागल हो कर इधर-उधर दौड़ता फिरता है। जहाँ कहीं भी वह जाता है, वहीं नए-नए अनुभवों को प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहता है। निस्संदेह चीन में परम रमणीयता है; लेकिन वह सायंकाल या दिवावसान की शीतल शांत रमणीयता है।

(८१)

जापान ने अपने को घिरौंदे में बंद कर लिया

जुलाई २३, १९३२

यही उचित मालूम होता है कि चीन से पूर्व की ओर बढ़ चलें और मार्ग में कुछ देर के लिए कोरिया में ठहर कर जापान की भी सैर कर डालें। मंगोल कोरिया पर तो अपना अधिकार जमा ही चुके थे, अब उन्होंने जापान पर भी हमला करने की चेष्टा की। लेकिन इसमें उन्हें सफलता न मिल सकी। कुबलाई खाँ ने जापान पर आक्रमण करने के लिए कई बार अपनी सेनाओं और जंगी जहाजों को भेजा, लेकिन उन्हें हर बार असफल हो कर लौटना पड़ा। मालूम होता है कि मंगोल समुद्र से बहुत घबड़ाते थे। वे विशेषतया स्थलवासी थे और जापान एक टापू था, इसलिए वे उसे अपने चंगुल में न ला सके।

चीन में मंगोलों के पतन के थोड़े ही दिनों बाद कोरिया में राज्यक्रांति हुई और जिन राजाओं ने मंगोलों की अधीनता को स्वीकार कर लिया था, वे वहां से निकाल दिए गए। इस क्रांति का नेता कोरिया का एक देशभक्त था, जिसका नाम यी-ताई-जो था। यह व्यक्ति कोरिया का राजा बन बैठा और उसके वंशज आगामी ५०० वर्षों तक कोरिया का शासन करते रहे। १३९२ ई० प० से कुछ वर्ष पहले तक कोरिया में इसी वंश के राजाओं का शासन बना रहा। इन्हीं दिनों में शिओल में कोरिया की राजधानी स्थापित की गई और तब से आज तक यही नगर वहां का राज-नगर रहा है। कोरिया के इतिहास के इन ५०० वर्षों का वर्णन करना हमारे लिए कठिन है। इस अवधि में कोरिया या चोसन, जिस नाम से वह पुकारा जाने लगा था, घरेलू मामलों में तो एक स्वतंत्र देश के रूप में अपना राज-काज चलाता रहा, लेकिन बाहरी मामलों में उसे सदा चीन का लिहाज करना पड़ता था। वह बहुधा चीनी दरबार को करद भी देता था। इस युग में जापान और कोरिया में अनेक लड़ाइयाँ हुईं, जिनमें कभी-कभी कोरियावासियों ही की विजय हुई। लेकिन आज दिन इन दोनों में कितना विशद अंतर है। आज जापान एक विशाल और शक्तिशाली साम्राज्य हो गया है। उसमें साम्राज्य-पंथियों के प्रायः सभी दोष मौजूद हैं; और अभागा कोरिया इसी साम्राज्य का एक अंग है। उस पर जापान का कठोर शासन है। वह उसे अच्छी तरह चूस रहा है। निर्बल और निस्सहाय कोरिया, अपनी मुक्ति के लिए, वीरता के साथ लड़ रहा है। किंतु उसे इस प्रबल शत्रु से छुटकारा पाने की अभी बहुत कम आशा है। पर यह तो आधुनिक समय की बात है। अभी तो हम सुदूर भूतकाल का जिक्र कर रहे हैं।

तुम्हें याद होगा कि किस तरह बारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में जापान की बागडोर शोगनों के हाथों में चली गई थी, और वे ही वहां के वास्तविक शासक बन गए थे। बादशाह तो अब महज एक नुमायशी पुतला रह गया था। प्रथम शोगन-वंश कामाकुरा शोगन-वंश के नाम से

प्रसिद्ध था। यह वंश लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक स्थायी रहा। इस वंश के शोगनों ने देश में शांति और सुशासन की स्थापना की। किंतु जैसा होता है, कुछ समय के बाद उसकी अवनति होने लगी। उसके शासन में ख़राबियाँ आ गईं, विलासिता बढ़ने लगी और गृह-कलह की आग भी सुलग उठी। जापानी सम्राट्‌ अपनी खोई हुई सत्ता को वापस पाने के लिए उत्सुक था। इसके कारण उसमें और शोगनों में कई बार संघर्ष भी हुआ। लेकिन सम्राट्‌ सदैव असफल ही रहा। प्राचीन वंश के शोगनों को भी विफल मनोरथ होना पड़ा। १३३८ ई० प० में शोगनों के एक नए वंश का उदय हुआ। यह वंश अशिकागा शोगन-वंश के नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश ने जापान में २३५ वर्ष तक राज्य किया। किंतु इसके राज्यकाल में वहां निरंतर संघर्ष और संग्राम होता रहा। अशिकागा शोगन-वंश चीन के मिङ-राजवंश का समसामयिक था। इस वंश के एक शोगन ने मिङ-सम्राटों का कृपाभाजन बनने के लिए बड़ी कोशिश की थी। इस मामले में वह यहाँ तक बढ़ गया था कि उसने मिङ-सम्राट्‌ का अनुचर तक होना स्वीकार कर लिया था। अपने देश के इस अपमान से जापानी इतिहासज्ञ बहुत रुष्ट हैं और वे उस आदमी की घोर निंदा करते हैं, जिसने इस तरह अपने देश को दूसरे का गुलाम बनाने की चेष्टा की थी।

इस युग में चीन के साथ जापान की घनिष्ठ मैत्री थी। इन्हीं दिनों में जापानियों में चीनी संस्कृति के प्रति विशेष अनुराग पैदा हुआ। उनमें चीनी सभ्यता के विभिन्न अंगों के अनुशीलन और अनुसरण की प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ने लगी। जो कुछ भी चीन से संबंधित होता, उसको जानने और समझने की चेष्टा की जाती थी। चारों ओर चीन ही की प्रशंसा सुनाई देती थी। चीनी चित्रकारी, कविता, शिल्पकला, दर्शन-शास्त्र और युद्धकला तक का जापान में आदर और अनुशीलन होता था। जापान की दो प्रसिद्ध इमारतें—किंककूजी अर्थात्‌ सुनहला मंडप और गिंककूजी अर्थात्‌ रुपहला मंडप—भी इसी युग में बनाई गई थीं।

किंतु जहां एक ओर उपर्युक्त कला-संबंधी विकास और विलासितामय जीवन की वृद्धि होती जा रही थी, वहां दूसरी ओर किसानों की दशा दिनोंदिन कारुणिक होती जाती थी। उन बेचारों पर राजकरों का बोझ तो था ही, साथ ही साथ अब घरेलू लड़ाइयों के ख़र्च का भी भार अधिकांश में उन्हीं के मत्थे मढ़ दिया गया। इस तरह देश की दशा दिन-पर-दिन बिगड़ती चली गई। अंत में, परिस्थिति इतनी खराब हो गई कि राजधानी के बाहर ऐसा मालूम होता था, मानो देश का कोई राजा ही नहीं रह गया है।

इसी लड़ाई के ज़माने में, १५४२ ई० प० में, पुर्तगीज़ों ने जापान में प्रवेश किया। यह उल्लेखनीय बात है कि पहलेपहल जापान में बंदूकों को ले जाने का श्रेय पुर्तगीज़ों को प्राप्त है। यह बड़ी विचित्र बात मालूम होती है; क्योंकि चीन को बहुत पहले से बंदूकों का ज्ञान था। सच पूछा जाय तो इस प्रकार के शस्त्र चीन ही से मंगोलों के ज़रिए योरप पहुँचे थे।

१०० वर्षों तक जापान में इसी तरह गृह-युद्ध होता रहा। अंत में वहां तीन महापुरुषों ने जन्म लिया, जिनके कारण जापान को इस संकट से छुटकारा मिल गया। इनमें से एक का नाम नोबुनाशा था। उसका जन्म सामंत कुल में हुआ था। दूसरे का नाम हिदेयोशी था और तीसरा टोकूगावा ईएयाशू के नाम से प्रसिद्ध था। ईएयाशू राज्य का एक बड़ा सरदार था।

सोलहवीं शताब्दी के अंत में जापान में फिर से केंद्रीय शासन की स्थापना हो गई और सारे देश ने इस नए शासन-विधान को स्वीकार कर लिया। हिदेयोशी एक मामूली किसान परिवार में पैदा हुआ था। वह एक परम प्रवीण राजनीतिज्ञ था। लोग कहते हैं कि वह बड़ा ही कुरूप था। उसका क़द नाटा और चेहरा बंदर का-सा था। जब जापान में एकाधिपत्य की स्थापना हो गई तब लोगों के सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि जो विशाल सेना उन्होंने जुटाई थी, वह किस काम में लाई जाय। अतएव, जब और कोई बात न सूझी, तब उन्होंने पड़ोसी कोरिया ही पर हमला कर दिया। लेकिन इस दुस्साहस के लिए उन्हें बहुत जल्द पछताना पड़ा। कोरिया-वासियों ने जापानी जंगी बेड़े को बुरी तरह पछाड़ा, और इन दो देशों के बीच में जापान-सागर-नामक जो समुद्र है, उस पर उन्होंने अपना अधिकार कर लिया। इस कार्य में कोरियावालों को एक विशेष प्रकार के जहाज़ से बड़ी सहायता मिली। इस जहाज़ की छत कछुए की पीठ जैसी होती थी, और वह लोहे के पत्तरों से मढ़ी रहती थी। ये जहाज़ कच्छप-पोत कहलाते और इच्छानुसार आगे और पीछे की ओर खेये जा सकते थे। कोरियावालों ने इन पोतों के द्वारा जापानियों के जंगी जहाज़ों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। इन लड़ाई-झगड़ों से लाभ उठाते हुए टोकूगावा ईएयाशू, जो ऊपर उल्लिखित व्यक्तियों में तृतीय था, बहुत धनवान् हो गया। वह इतना धनाढ्य हो गया कि सारे देश की भूमि का सातवां भाग उसके अधिकार में आ गया। उसने अपनी ज़मींदारी के बीचोबीच में येडो-नामक एक नगर की स्थापना की, जो बाद में टोकियो कहलाने लगा। १६०३ ई० प० में याशू शोगन हो गया। इस प्रकार जापान में तृतीय और अंतिम शोगन-वंश का आरंभ हुआ, जो २५० वर्षों तक स्थायी रहा। यह वंश टोकूगावा शोगन वंश के नाम से प्रसिद्ध है। इस अवधि में पुर्तगीज़ों का जापान के साथ थोड़ा-बहुत व्यापार जारी था। ५० वर्ष तक इस व्यापार में उनका एक भी योरपीय प्रतिद्वंदी न था, क्योंकि स्पेनवाले १५९२ ई० प० में और अँगरेज़ एवम् डच इससे भी बाद में जापान पहुँचे थे। मालूम होता है कि फ्रेंसिस जेवियर ने १५४९ ई० प० में पहले पहल जापान में ईसाई धर्म का प्रचार शुरू किया था। जेसावेटों को प्रचार करने की आज्ञा मिल गई थी और इस कार्य में उन्हें प्रोत्साहन भी दिया जाता था। इसके राजनीतिक कारण भी थे। बौद्ध भिक्षुओं के विहार राजनीतिक षड्यंत्रों के केंद्र समझे जाते थे। अतएव जापानी सरकार ने बौद्ध-भिक्षुओं को दबा कर ईसाई पादरियों के साथ अनुग्रहपूर्ण व्यवहार करना शुरू किया। लेकिन थोड़े ही दिनों में जापानियों को आशंका होने लगी कि ईसाई पादरी बड़े ख़तरनाक हैं। अतएव, तुरंत ही उन्होंने अपनी नीति बदल दी और पादरियों को निकाल बाहर करना शुरू किया। १५८७ ई० प० में एक ईसाई-विरोधी राजाज्ञा निकाली गई, जिसमें यह निर्देश था कि सब ईसाई पादरी २० दिन के अंदर जापान को छोड़ कर निकल जायँ, अन्यथा वे मार डाले जाएंगे। यह राजाज्ञा व्यापारियों पर लागू न थी। इसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि जो व्यापारी चाहें वे जापान में रह कर व्यापार कर सकते हैं; लेकिन यदि वे अपने जहाज़ों पर किसी ईसाई पादरी को लाएँगे तो उस जहाज़ को और उस पर लदे हुए माल को सरकार ज़ब्त कर लेगी। इस आज्ञा को जारी करने के कारण भी राजनीतिक थे। हिदेयोशी को

ईसाइयों से ख़तरे की भारी आशंका रहती थी। उसकी यह धारणा हो गई थी कि संभवतः भविष्य में ये पादरी और उनकी शिष्य-मंडली राजनीतिक दृष्टि से जापान के लिए अत्यंत ख़तरनाक सिद्ध होंगे। उसने सचमुच ही बहुत-कुछ ठीक समझा था।

कुछ ही समय के उपरांत एक ऐसी घटना घटित हुई, जिससे ईसाइयों की बाबत हिदेयोशी की धारणा और भी दृढ़ हो गई और वह उनसे और भी अधिक नाराज़ हो गया। तुम्हें याद होगा कि 'मेनिला गैलियन'-नामक एक स्पेनिश जहाज़ साल में एक बार फिलीपाइन-द्वीपों को आता और वहाँ से फिर दक्षिणी अमेरिका को वापस लौट जाता था। एक बार समुद्र में इतने ज़ोर का तूफ़ान आया कि 'मेनिला गैलियन' बह कर जापानी तट पर जा लगा। जहाज़ के स्पेनिश कप्तान ने तटवासी जापानियों को संसार का नक़्शा दिखा कर तथा स्पेन के विशाल साम्राज्य की ओर विशेष रूप से उनका ध्यान आकर्षित कर उन्हें डराने की कोशिश की। इस पर उन लोगों ने कप्तान से पूछा कि कैसे स्पेन इतने बड़े साम्राज्य का अधिपति बन गया। उत्तर में उसने कहा कि "यह कोई खिलवाड़ थोड़े ही था। पहले पादरी भेजे गए, और जब उनके बहुत-से अनुयायी हो गए तब फ़ौजें भेजी गईं, ताकि सैनिक और पादरियों के अनुयायी मिल कर तख़्त को उलट दें।" जब इस घटना की सूचना हिदेयोशी को मिली तब वह बहुत अप्रसन्न हुआ और उस समय से उसने पादरियों के साथ और भी कठोरता का बर्ताव करना शुरू किया। उसने 'मेनिला गैलियन' को तो जाने की आज्ञा दे दी, लेकिन कुछ पादरियों और उनके अनुयायियों को उसने तुरंत मरवा डाला।

जब ईएयाशू जापान का शोगन हुआ, तब विदेशियों की कठिनाइयां कुछ-कुछ दूर हो गईं, क्योंकि उनके प्रति उसके भाव बड़े उदार थे। ख़ास कर उसको अपने बंदरगाह, येडू, के विदेशी व्यापार की बड़ी चिंता रहती थी। लेकिन ईएयाशू की मृत्यु के बाद ईसाइयों के साथ फिर कठोरता का व्यवहार होने लगा। ईसाई पादरी बलपूर्वक देश से निकाल दिए गए और उनके जापानी अनुयाइयों को ईसाई धर्म को त्यागने के लिए विवश होना पड़ा। जापानियों के मन में विदेशियों की राजनीतिक चालबाज़ी का इतना अधिक भय समा गया कि उन्होंने अपनी व्यापारिक नीति भी बदल दी। वे हर हालत में जापान को विदेशियों से दूर ही रखना चाहते थे। विदेशियों के संबंध में जापानियों की इस धारणा को हम आसानी से समझ सकते हैं। विस्मय केवल यही देख कर होता है कि यद्यपि योरपवासियों के साथ उनका इतना कम संपर्क था तो भी वे इतने कुशाग्र-बुद्धि निकले कि उन्होंने धर्म-रूपी बकरी की खाल में छिपे हुए योरप के साम्राज्यपंथी भेड़िए को तुरंत पहचान लिया; क्योंकि हमें अच्छी तरह से मालूम है कि कैसे आगे चल कर उत्तरकाल में योरपीय राष्ट्रों ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरे देशों में धर्म का दुरुपयोग किया।

अब इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना का आरंभ हुआ। जापानियों ने जापान में विदेशियों का आना-जाना और जापानियों का विदेशों को जाना एकदम बंद कर दिया। वास्तव में उन्होंने निषेध और विच्छेद अथवा एकांतवास और बहिष्करण की यह नीति बहुत समझ-बूझ कर ग्रहण की थी, और जब एक बार उन्होंने इस नीति को ग्रहण कर लिया तब उसको कार्य्य रूप में परिणित करने के लिए उन्होंने ऐसी दृढ़ता-पूर्वक काम किया कि देख कर अचरज होता है।

उन्होंने अपने सिद्धांतों पर दृढ़ रहने की पूरी-पूरी चेष्टा की। जब अंगरेजों ने देखा कि जापानियों को उनका जापान में जाना नहीं भाता तब उन्होंने १६३० ई० प० में वहाँ आना-जाना बिलकुल बंद कर दिया। इसके दूसरे ही वर्ष स्पेनवाले भी, जिनसे जापानी बेहद सशंकित रहते थे, जापान से निर्वासित कर दिए गए। जापानी सरकार ने यह नियम बना दिया कि सिर्फ़ वे ही लोग व्यापार के लिए विदेशों में जाएँ जो ईसाई न हों। लेकिन उनको भी फ़िलीपाइन द्वीपों में जाने की इजाज़त नहीं थी। अंत में, १२ वर्ष बाद, १६३६ ई० प० में, जापान ने अपने सभी बाहरी फाटकों पर ताले जड़ दिए और उन पर मोहरें लगा दीं। पुर्तगीज़ भी वहां से निकाल दिए गए और ईसाई या ग़ैर-ईसाई सभी जापानियों का किसी भी कारण से जापान के बाहर जाना एकदम रोक दिया गया। और तो और, विदेशों में रहनेवाले जापानी भी लौट कर जापान नहीं जा सकते थे; क्योंकि ऐसा करने पर उनके लिए प्राणदंड की आज्ञा थी।

सिर्फ़ थोड़े-से डच वहाँ रह गए, लेकिन उन्हें भी बंदरगाहों को छोड़ कर देश के और किसी भाग में जाने की इजाज़त नहीं थी। १६४१ ई० प० में वे नागासाकी बंदरगाह के समीप एक छोटे-से टापू में भेज दिए गए, जहाँ वे क़ैदियों की तरह रक्खे जाते थे। इस प्रकार पुर्तगीज़ों के आगमन की तिथि से ठीक ६६ वर्ष बाद जापान ने विदेशियों से पूरी तरह अपना नाता तोड़ लिया।

१६४० ई० प० में एक जहाज़ पर कुछ पुर्तगीज़ राजदूत जापान पहुँचे। उनके जाने का यह उद्देश था कि विदेशी व्यापार पर जापान ने जो रोक लगा रक्खी थी वह हटा ली जाय। लेकिन उनके वहां जाने का कुछ भी फल न हुआ। जापानियों ने इन राजदूतों और उनके बहुत-से मल्लाहों को मार डाला। केवल कुछ मल्लाहों को उन्होंने ज़िंदा रहने दिया ताकि जो कुछ हुआ था उसका समाचार वे अपने स्वदेश तक पहुँचा सकें।

दो सौ से अधिक वर्षों तक जापान सारे संसार से—अपने पड़ोसी चीन और कोरिया तक से—नाता तोड़े अपने पुराने ढर्रे पर चलता रहा। टापू के इने-गिने डचों अथवा एक-आध चीनी के द्वारा ही, जिन पर सख़्त निगरानी रहती थी, यदा-कदा बाहरी दुनिया से उसका संपर्क होता था। यह निषेध-विच्छेद का प्रकरण एक अपूर्व घटना है। न तो इतिहास के किसी युग में और न किसी देश ही में इस तरह का दूसरा उदाहरण हमें मिलता है। रहस्यमय तिब्बत या मध्य अफ़्रीका तक का अपने पड़ोसियों के साथ समय-समय पर संपर्क होता रहा है। संसार से नाता तोड़ना व्यक्ति और जाति दोनों ही के लिए ख़तरनाक़ बात है। लेकिन जापान इसे सफलतापूर्वक निबाह ले गया। इसके कारण वहां शांति स्थापित हो गई और दीर्घकालीन घरेलू युद्धों के कारण जो बरबादी हुई थी उसको भी दूर करने का उसे अवसर मिल गया। यही कारण था कि जब १८५३ ई० प० में उसने फिर से अपने फाटक और दरवाजे खोल दिए, तब एक बार फिर उसने एक अभूतपूर्व काम कर दिखाया। वह द्रुतगति से आगे बढ़ गया, और जिन बातों में वह पिछड़ गया था, उनकी भी उसने तुरंत क्षति-पूर्ति कर डाली। उसने उन्नति-पथ में योरप की जातियों से बाज़ी मार ली और उन्हें उन्हीं के फ़न में नीचा दिखा दिया।

कितनी नीरस है इतिहास की यह शुष्क रूप-रेखा, और कितनी क्षीण और निर्जीव हैं वे

मूर्तियाँ, जिनका उसमें उल्लेख है। फिर भी कभी-कभी जब हम प्राचीन समय में लिखी गई किसी पुस्तक को पढ़ने लगते हैं, तब निर्जीव भूतकाल में जान-सी आ जाती है; उसका रंगमंच हमारे बहुत ही समीप दिखाई देने लगता है, और उस पर सजीव, स्नेहपूर्ण एवम् घृणास्पद, सभी तरह के, व्यक्ति चलते-फिरते नजर आने लगते हैं। इन दिनों मैं एक किताब पढ़ रहा हूँ, जिसमें जापान की एक लावण्यवती वृद्ध महिला—महिषी मुरासाकी—का वर्णन है। यह महिला आज से कई सौ वर्ष पहले हुई थी। जिन गृह-युद्धों का मैंने जिक्र किया है, उनसे भी बहुत पहले उसका जन्म हुआ था। उसने जापानी सम्राट् के राज-दरबार में अपनी दिनचर्य्या का विस्तृत वर्णन लिखा है। जब मैंने उसकी पुस्तक के उन रोचक अवतरणों को पढ़ा, जिनमें प्रफुल्ल शैली में विषद आत्मीयता और राज-दरबारों के कार्य-कलापों का उल्लेख किया गया है, तब उस महिषी की मूर्ति मेरी आँखों के सामने सजीव हो उठी और प्राचीन जापान की राज-सभा के संकीर्ण, किंतु कलारंजित, जीवन का सुस्पष्ट चित्र मेरी आँखों के सामने नाचने लगा॥

(८२)

योरप में खलबली

अगस्त ४, १९३२

मैंने तुम्हें बहुत दिनों से कोई पत्र नहीं लिखा। अंतिम पत्र को लिखे हुए भी दो हफ़्ते बीत गए। जेल में तरह-तरह की चित्तवृत्ति हो जाती है। कभी कैसा भाव रहता है, कभी कैसा। यही हाल बाहरी दुनिया का भी है। इधर कुछ दिनों से इन पत्रों को, जिनको मेरे अतिरिक्त अभी और कोई देख भी नहीं पाता, आगे लिखने को जी नहीं चाहता। मैं उन्हें नत्थी कर अलग रखता जाता हूँ। वे उस दिन की बाट जोहते हैं, जब संभवतः कुछ महीनों अथवा वर्षों बाद तुम उन्हें देखने का अवसर पाओगी। किंतु महीनों या वर्षों बाद, जब हम फिर मिलेंगे और जी खोल कर बातें करेंगे—जब मुझे यह देख कर अचरज होगा कि तुम कितनी बड़ी हो गई और कितनी अधिक बदल गई हो—तब हमें इतनी बातें कहने-सुनने को होंगी और इतना अधिक काम करने-धरने को होगा कि इन पत्रों को देखने का तुम्हें समय ही न मिलेगा। उस समय तक इन पत्रों का खासा पहाड़ बन जायगा और उसमें मेरे जेल-जीवन के न-जाने कितने सौ घंटे क़ैद होंगे।

लेकिन इस पर भी मैं इन पत्रों का लिखना ज्यों-का-त्यों जारी रक्खूंगा और अभी तक जो ढेर जमा हो चुका है, उसको और भी अधिक बड़ा बनाने का प्रयत्न करूंगा। संभव है कि जब तुम इन्हें पढ़ोगी तब वे तुम्हें रोचक मालूम हों। मुझे तो, निस्संदेह, वे बहुत अधिक रोचक मालूम होते हैं।

हमने पिछले कुछ दिन एशिया में बिताए और इस अवधि में भारत, मलयेशिया, चीन और जापान के विकास-क्रम को देखने का प्रयत्न किया। जल्दी में हमें योरप को ठीक उसी समय छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा, जब उसकी चिरनिद्रा भंग हो रही थी और उसके इतिहास का एक अतीव रोचक अध्याय आरंभ होने जा रहा था। यह योरप के पुनरुत्थान की वेला थी। उसका फिर से नया जन्म हो रहा था। योरप के इस पुनर्जागरण को 'रैनेसैंस*' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि योरप का सांस्कृतिक पुनरुत्थान हो रहा था। अथवा यह कहना कहीं अधिक उपयुक्त होगा कि योरप का नया जन्म हो रहा था। क्योंकि सोलहवीं शताब्दी में योरप का जो रूप विकसित हुआ, वह उसके किसी प्राचीन रूप की नक़ल न थी। वह एक बिलकुल नवीन वस्तु थी; अथवा यह कहा जा सकता है कि पुरानी चीज़ पर एक नया रंग चढ़ा दिया गया था।

इस युग के आरंभ होते ही योरप में चारों ओर एक अजीब उथल-पुथल और बेचैनी दिखाई

* 'रैनेसैंस' फ्रेंच-भाषा का एक शब्द है। इसका अर्थ है फिर से जन्म लेना अर्थात् पुनर्जन्म। रैनेसैंस के अर्थ को व्यक्त करने के लिए हमने कहीं पर पुनरुत्थान या पुनरुज्जीवन और कहीं पर पुनर्जागरण का प्रयोग किया है। आगे से रैनेसैंस के लिए हम हिंदी में पुनर्जन्म शब्द का प्रयोग करेंगे, क्योंकि वास्तव में, रैनेसैंस का युग योरप के सांस्कृतिक पुनर्जन्म का युग था।

देने लगी। उसके बंधन टूटने लगे और उसके निवासी अवरुद्ध कोठरी के दरवाज़ों को तोड़ने का प्रयत्न करने लगे। इसके पूर्व कई सौ वर्षों से समस्त योरप का सामाजिक और सांपत्तिक संघटन मनसबदारी प्रथा पर अवलंबित था। मनसबदारी प्रथा के जाल में योरप बुरी तरह फँस गया था और इस बंधन के कारण कुछ समय तक उसका विकास बिलकुल रुक गया था। लेकिन कालांतर में यह बंधन ढीला पड़ गया और कोलंबस, वास्को-डि-गामा, आदि, सामुद्रिक मार्गों के अन्वेषक उस जाल को तोड़ कर बाहर निकल गए। स्पेन और पुर्तगाल की आकस्मिक और विस्मयोत्पादिनी विजय ने भी योरपवासियों को चकाचौंध कर उनमें नवीन परिवर्तन की प्रवृत्ति को पहले की अपेक्षा अधिक सबल बना दिया था। अब योरपवासी अपने संकीर्ण समुद्रों के आगे नज़र दौड़ाने लगे थे। अभी तक उनकी दृष्टि केवल योरप ही तक सीमित थी, किंतु इस समय से उनका दृष्टिकोण विशद और संसारव्यापी हो गया। वे विश्वव्यापी व्यापार और साम्राज्य के सपने देखने लगे। मध्यम श्रेणी के लोगों की शक्ति दिनोंदिन बढ़ने लगी और पश्चिमी योरप के मनसबदारी वर्ग उनकी उन्नति के मार्ग में बाधा पहुँचाने का प्रयत्न करने लगे।

मनसबदारी प्रथा का दिन अब ढल चुका था। इस प्रणाली का एकमात्र उद्देश्य ही यह था कि यथासंभव और यथाशक्ति किसानों का निर्लज्जतापूर्वक शोषण किया जाय। बेगार-प्रथा की धूम थी; मुफ़्त में काम लिया जाता था। इसके अतिरिक्त, तरह-तरह के कर और नज़राने भी वसूल किए जाते थे। स्वयमेव ज़मींदार साहब ही न्यायाधीश की गद्दी पर बैठ कर न्याय करते थे। जब किसानों की मुसीबतों की पराकाष्ठा हो गई तब, जैसा हम पहले देख चुके हैं, उन्हें समय-समय पर विद्रोह का झंडा उठाने को बाध्य होना पड़ा। किसानों के ये संघर्ष हर स्थान में और लगातार होने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि योरप के बहुतेरे देशों का सांपत्तिक ढाँचा बदल गया। अब मनसबदारी प्रथा के स्थान में एक नया विधान स्थापित होने लगा। इससे समाज में मध्यम श्रेणी का प्रभाव बढ़ गया। यह सामाजिक और सांपत्तिक क्रांति मुख्यतया किसानों के विद्रोह ही की बदौलत हुई थी।

लेकिन यह समझना भूल है कि थोड़े ही समय में यह सब परिवर्तन हो गया। वास्तव में इसमें काफ़ी समय लगा था। वर्षों तक योरप में गृह-युद्ध जारी रहा, जिसके कारण उसका बहुत बड़ा भाग बरबाद हो गया। इन दिनों योरप में न सिर्फ़ किसानों ही के विद्रोह हुए; लेकिन, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, प्रोटेस्टैंट और कैथलिक संप्रदायों के धार्मिक द्वंद, नेदरलैंडस का स्वतंत्रता-संग्राम, राजाओं की निरंकुश सत्ता के विरुद्ध मध्यम श्रेणीवालों का विद्रोह, आदि, अनेक विप्लव हुए। यह सब एक गोरखधंधा-सा प्रतीत होता है। ये सब बातें हमें चक्कर में डाल देती हैं। सचमुच ही ये बड़ी पेचीदा हैं; लेकिन जब हम बड़ी-बड़ी घटनाओं और महत्व-पूर्ण आंदोलनों पर अपनी दृष्टि रक्खेंगे तभी इस गोरखधंधे के अभिप्राय को कुछ-कुछ समझने में हम समर्थ हो सकेंगे।

पहली बात, जिसे ध्यान में रखना आवश्यक है, यह है कि किसानों की दशा बड़ी दयनीय हो गई थी, जिसके कारण बार-बार उनके विप्लव हुए। दूसरी उल्लेखनीय बात है मध्यम श्रेणी का अभ्युदय तथा उत्पादक शक्तियों का विकास। अब से मनुष्य नए नए माल

तैयार करने की अधिकाधिक चेष्टा करने लगे और व्यापार भी उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि रोमन कैथलिक चर्च योरप में सब से बड़ा ज़मींदार था। अतएव ज़मींदारी प्रथा को कायम रखने में उसका परम हित और स्वार्थ था। इसी कारण वह मनसबदारी प्रथा का सब से बड़ा समर्थक और पृष्ठपोषक बना हुआ था। वह नहीं चाहता था कि कोई ऐसा सांपत्तिक परिवर्तन हो, जिसके कारण उसको अपनी दौलत और जायदाद के बहुत बड़े अंश से हाथ धोना पड़े। अतएव जब लोगों ने रोम के विरुद्ध धार्मिक विद्रोह का झंडा उठाया तब स्वभावतः उनका विद्रोह सांपत्तिक क्रांति का अंग बन गया; क्योंकि धार्मिक विद्रोह और सांपत्तिक विप्लव के ध्येय बहुत अंशों में समान थे।

इस सांपत्तिक महाक्रांति के साथ-साथ अथवा उसके कारण जीवन के सभी क्षेत्रों में—सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में—उथल-पुथल मच गई और तरह-तरह की उलट-फेर होने लगी। यदि तुम सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के योरप का तनिक विस्तृत सिंहावलोकन करोगी तो तुम्हें दिखाई देगा कि उपर्युक्त प्रयत्नों और आंदोलनों में अन्योन्याश्रित संबंध था। साधारणतया इस युग के तीन बड़े-बड़े आंदोलनों का विशेष रूप से उल्लेख किया जाता है—सांस्कृतिक पुनर्जन्म या पुनर्जागरण, सुधार और सांपत्तिक महाक्रांति। लेकिन इन सब के पीछे सांपत्तिक संकट और हलचल की विभीषिका खड़ी थी। इस दृष्टि से सांपत्तिक क्रांति और सब आंदोलनों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण थी।

सांस्कृतिक पुनर्जन्म, वास्तव में, ज्ञानोपार्जन की प्रवृत्ति का पुनर्जन्म था। इस युग में कला, विज्ञान, वाङ्मय, और योरपीय भाषाओं का विकास बड़ी द्रुत गति से होने लगा। रोमन कैथलिक संप्रदाय के विरुद्ध जो विद्रोही आंदोलन छिड़ा था, वह धर्म-सुधार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके तीन रूप थे। एक ओर जनता ने इस संप्रदाय के भ्रष्ट और गर्हित विधानों तथा आचारों को मिटाने के लिए आंदोलन उठाया दूसरी ओर, निरंकुश और अनियंत्रित सत्ता को समूल नष्ट कर देने के लिए कुछ लोगों ने तलवार उठा ली, और ताल ठोककर वे मैदान में कूद पड़े। तीसरी उल्लेखनीय बात यह थी कि कुछ लोग रोमन कैथलिक चर्च को जड़ से नष्ट करने के बजाय उसमें जो बुराइयाँ आ गई थीं, उन्हें दूर करने पर ज़ोर दे रहे थे, ताकि फिर से संसार के सामने उसका विशुद्ध रूप प्रकट हो सके। राजाओं की सत्ता को नियंत्रित करने तथा उनके अधिकारों को घटाने के उद्देश से मध्यम श्रेणी के लोगों ने इस युग में जो राजनीतिक आंदोलन करना शुरू किया था और इस संबंध में जो-जो संघर्ष और संग्राम हुए थे उन सबको समष्टि रूप से महाक्रांति के नाम से पुकारते हैं।

इन सब आंदोलनों के पीछे एक और प्रेरक कारण विद्यमान था। यह था मुद्रण-कला का आविष्कार। तुम्हें याद होगा कि अरब-वासियों ने चीनियों से कागज़ बनाने की विधि सीख कर उसका योरप में प्रचार किया था। किंतु इस पर भी प्रचुर परिमाण में और कम लागत पर कागज़ को तैयार करने में बहुत समय लगा। पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण से योरप के अनेक देशों में, उदाहरणार्थ हालैंड, इटली, इंगलैंड, और हंगरी में, किताबों की बाकायदा छपाई होने लगी। ज़रा कल्पना तो करो कि मुद्रण-कला के साधारण प्रयोग में आने से पहले

संसार की क्या दशा रही होगी? आज दिन हम लोग किताबों, काग़ज़ और छपाई के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि हमारे लिए उस दुनिया की कल्पना करना भी बहुत कठिन है, जिसमें ये चीज़ें न हों। बहुत-से आदमियों को तो छपी हुई पुस्तकों की सहायता के बिना पढ़ना-लिखना सिखाना भी असंभव-सा प्रतीत होता है। जहाँ पुस्तकों को छापने का कोई साधन नहीं है, वहाँ बड़ी मेहनत के साथ हाथ से लिख कर उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार की जाती हैं। किंतु ये हस्तलिखित किताबें थोड़े से आदमियों ही को उपलब्ध हो सकती हैं। ऐसी जगहों में पढ़ाई का अधिकांश काम मौखिक ही होता है और विद्यार्थियों को प्रत्येक बात कंठस्थ करनी पड़ती है। आज दिन भी पुराने ज़माने के कुछ मक़तबों और पाठशालाओं में तुम्हें ये बातें दिखाई देंगी।

जब से काग़ज़ और छपाई का आविष्कार हुआ, तब से इस स्थिति में व्यापक परिवर्तन हो गया। अब स्कूली और दूसरी सभी तरह की किताबें छपी हुई मिलने लगीं। इससे थोड़े ही समय में ऐसे आदमियों की संख्या बहुत अधिक हो गई, जो लिख-पढ़ लेते थे। यह स्वाभाविक ही है कि लोग जितना ही अधिक पढ़ेंगे उतना ही अधिक उन्हें मनन और चिंतन करने की आदत होगी। लेकिन ऐसा केवल गंभीर ग्रंथों ही के पढ़ने से होता है (आजकल की रद्दी किताबों के पढ़ने से नहीं)। जो जितना ही अधिक सोचेगा, उतना ही अधिक वर्तमान परिस्थिति की भलाई-बुराई को परखने और उसकी आलोचना करने में वह समर्थ होगा। फलस्वरूप उपस्थित विधान के प्रति उसके मन में अवश्य ही अश्रद्धा और असंतोष उत्पन्न होने लगेंगे। मनुष्य प्रायः अज्ञान से डरता और अपनी ही लीक के साथ, चाहे वह कितनी ही दुखदाई क्यों न हो, चिपटा रहता है। अपनी ही मूर्खता के कारण वह बार-बार ठोकरें खाता है, लेकिन यदि वह ठीक ढंग से पढ़ने लगे तो वह थोड़ा-बहुत ज्ञान पा लेता है और उसकी आँखें कुछ-कुछ खुल जाती हैं।

काग़ज़ और छपाई की सहायता से मनुष्य की आँखें इसी तरह कुछ-कुछ खुल गईं। इनसे उन तमाम बड़े-बड़े आंदोलनों में, जिनका हम ज़िक्र कर रहे हैं, उसे बहुत बड़ी सहायता मिली। सब से पहले छपनेवाली किताबों में ईसाइयों की बाइबिल सर्वप्रथम थी। इससे बहुत-से आदमी, जिन्होंने बिना अर्थ समझे-बूझे लैटिन भाषा में उसके मूल भाग को सुना था, इस पुस्तक को अपनी ही भाषा में पढ़ने लगे। इससे उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ आलोचनात्मक हो गया और उन पर से पादरियों का रोब-दाब भी बहुत कुछ जाता रहा। स्कूली किताबें भी अब बहुत बड़ी संख्या में धड़ाधड़ प्रकाशित होने लगीं। इस समय से हम योरप की भाषाओं को, जिन पर अभी तक लैटिन हावी थी, तेज़ी के साथ पनपते और उन्नति करते हुए देखते हैं।

योरप का इतिहास जिन महापुरुषों के नामों से भरा पड़ा है, उनमें से अधिकांश का जन्म इसी युग में हुआ था। उनमें से कुछ के साथ आगे चल कर हमारा विशेष परिचय होगा। प्रायः जब कभी कोई देश या महाद्वीप उस जाल को, जिसमें फँसे रहने के कारण उसकी सारी गति मारी जाती है, तोड़ कर मुक्त होता है, तब वह तेज़ी के साथ विभिन्न दिशाओं में उन्नति करने लगता है। यही बात इस युग में हमें योरप में भी दिखाई देती है। योरप का इतिहास

तात्कालिक सांपत्तिक तथा अन्य महापरिवर्त्तनों के कारण बहुत ही अधिक रोचक और शिक्षाप्रद हो गया है। उसकी समसामयिक भारत या चीन के इतिहास से ज़रा तुलना तो करो। जैसा मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ, इस युग में ये दोनों देश बहुत-सी बातों में योरप से बहुत आगे बढ़े हुए थे; लेकिन तात्कालिक योरप के इतिहास की चंचल क्रियाशीलता को देखते हुए इन देशों का इतिहास निश्चेष्ट और गतिहीन मालूम होता है। इस युग में भारत और चीन में अनेक प्रतापी राजा और महापुरुष पैदा हुए। दोनों ही देशों में उच्चकोटि की संस्कृति फली-फूली। लेकिन, विशेष रूप से भारत के संबंध में इन दोनों देशों की जनता प्रायः हतोत्साह, निस्तेज और निश्चेष्ट ही रही। उन पर चाहे जो कोई राज्य करता, उन्हें इसकी कुछ भी चिंता नहीं थी। किसी के स्थान में चाहे जो राजगद्दी पर बैठ जाता, इसकी उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। मालूम होता है कि वे इतने अधिक कुचल दिए गए थे कि उसके कारण वे बड़े दब्बू बन गए थे। शासक की सत्ता का विरोध करने की अपेक्षा अंध आज्ञापालन करने की उन्हें लत-सी पड़ गई। इस प्रकार उनका इतिहास, रोचक होते हुए भी, प्रायः सार्वजनिक आंदोलनों की अपेक्षा घटनाओं और शासकों ही का इतिवृत्त है। मुझे नहीं मालूम कि चीन के संबंध में यह बात कहाँ तक लागू हो सकती है; लेकिन भारत पर तो पिछले सौ वर्षों से यही बात निरंतर लागू होती चली आई है। इस कालावधि में भारत पर जो-जो संकट आए, उन सब का मूल कारण इस देश के निवासियों की यह शोचनीय प्रवृत्ति ही है।

भारत में हमें एक और प्रवृत्ति दिखाई देती है। वह है पीछे, न कि आगे, की ओर देखते रहने की उत्कंठा। हमें भूतकाल की, न कि भविष्य की, पूजा अधिक भाती है। हमें उन शृंगों का मनन करना अधिक रुचता है, जिन पर हम एक दिन खड़े थे। जिन शृंगों पर हम आगे चल कर अपना अधिकार जमाएँगे, उनका मनन हमें प्रिय नहीं है। इस प्रकार हमारे देशवासी सदैव भूतकाल के नाम पर आँसू बहाते रहे और स्वतः आगे की ओर बढ़ने के बजाय, जो उन्हें हाँकता रहा, उसी के सामने सिर झुकाते रहे। वास्तव में कोई साम्राज्य अपने बल के सहारे नहीं क़ायम रहता, वह क़ायम रहता है अपनी शासित प्रजाओं की गुलामी और दास-वृति पर।
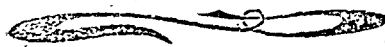
(८३)

सांस्कृतिक पुनर्जन्म

अगस्त ५, १९३२

मध्ययुग का अंत होते ही सारे योरप में जो अद्‌भुत उथल-पुथल और हाहाकार का तुमुलरव मचने लगा था, उसी में से सांस्कृतिक 'पुनर्जन्म' का परम रमणीक कुसुम विकसित हुआ। इस नवीन पौधे के अंकुर पहले पहल इटली में प्रस्फुटित हुए थे। लेकिन उसे स्फूर्ति और नवोत्तेजना प्राचीन ग्रीस से मिली थी, जो कई सौ वर्ष पूर्व फल-फूल चुका था। ग्रीस से उसे सौंदर्य के प्रति अनुराग की भावना मिली। लेकिन ग्रीस भौतिक सौंदर्य ही का उपासक था। उसमें मानसिक सौंदर्योपासना का अभाव था। इसके विपरीत योरप में अब शारीरिक सौंदर्य के साथ-साथ उस अव्यक्त सौंदर्य की भी उपासना होने लगी, जो शारीरिक संबंध से कहीं अधिक गूढ़ और व्यापक है। वह मानसिक सौंदर्य था, जिसका आत्मा से संबंध होता है। पुनर्जन्म का यह पौधा पहले पहल नगरों ही में, विशेषकर उत्तरीय इटली के नगरों में, प्रस्फुटित हुआ था। फ्लोरेंस का नगर इस आदिकालीन पुनर्जागरण का मुख्य जन्मस्थान था।

इसके बहुत पहले ही से फ्लोरेंस अपनी सांस्कृतिक महत्ता की धाक जमा चुका था। इसी नगर में तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में इटैलियन भाषा के दो महाकवि, दाँते और पैट्रार्क, का जन्म हुआ था। मध्यकालीन युगों में यह नगर बहुत दिनों तक योरप का प्रधान आर्थिक केंद्र बना रहा। यहाँ बड़े-बड़े महाजनों और साहूकारों का जमघट लगा रहता था। इस नगर में ऐसे संकुचित प्रकृतिवाले धनिकों का प्रजातंत्र स्थापित था, जो अपने महापुरुषों तक के साथ असद्‌व्यवहार किया करते थे। इसीसे यह नगर 'चंचल फ्लोरेंस' के नाम से पुकारा जाता है। लेकिन महाजनों, स्वेच्छाचारी शासकों और आततायियों के होते हुए भी इस नगर ने, पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, तीन उल्लेखनीय महापुरुषों को जन्म दिया। ये थे लियोनार्डो डिविंशी, माइकेल एंजिलो और रफेएल। तीनों ही उच्चकोटि के कलाविद् और चित्रकार थे। लियोनार्डो और माइकेल एंजिलो की तो दूसरे विषयों में भी अपूर्व गति थी। माइकेल एंजिलो प्रस्तर मूर्तियों का अद्‌भुत निर्माता था। उसने संगमरमर की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ बनाई थीं। वह उच्च-कोटि का शिल्पी भी था और रोम में सेंट पीटर्स के विशाल कैथीड्रल की रचना में उसने बहुत बड़ा भाग लिया था। वह बहुत दिनों तक जीवित रहा—लगभग ९० वर्ष की अवस्था में उसका निधन हुआ—और मरने के दिन तक वह सेंट पीटर्स में निरंतर काम करता रहा। किंतु उसे कभी सुख न मिला। सभी वस्तुओं की सतह के नीचे पैठ कर उनके अंतस तक पहुँचने की धुन उसे सदा सताया करती थी। वह सदैव चिंतित और असंभव कार्यों को कर दिखाने की चेष्टा में निरत रहता था। वह प्रायः कहा करता था कि "चित्रकार अपनी खोपड़ी से, न कि अपने हाथों से, अपनी कृतियां बनाता है।"

लियोनार्डो वय में सब से बड़ा था; किंतु उसकी बहुमुखी प्रतिभा को देख कर सब लोग चकित रह जाते थे। वास्तव में, वह अपने युग का सर्वश्रेष्ठ महापुरुष था; और यह याद रखना आवश्यक है कि उसका युग वह युग था, जिसमें अनेक महापुरुष पैदा हुए थे। वह न केवल बहुत बड़ा चित्रकार और मूर्ति-निर्माता था, किंतु साथ ही गंभीर विचारक और वैज्ञानिक भी था। प्रयोगों में सदैव रत, अन्वेषण में निरंतर लीन और प्रत्येक घटना के प्रेरक कारणों को ढूँढ़ निकालने की धुन में मस्त, वह उन महावैज्ञानिकों का अगुआ था, जिन्होंने आधुनिक विज्ञान की नींव डाली है। उसका कहना था कि "दयालु प्रकृति ने ऐसा विधान रचा है कि संसार में सभी जगह कुछ-न-कुछ सीखने के लिए मिल सकता है।" उसने जो कुछ भी सीखा, वह अपने ही प्रयत्नों से सीखा था। उसकी ज्ञान-राशि स्वोपार्जित थी। लैटिन और गणित-शास्त्र को उसने तीस वर्ष की अवस्था में पढ़ना शुरू किया था। वह बहुत बड़ा इंजीनियर भी था और उसी ने ही पहले पहल इस बात का पता लगाया था कि शरीर में रक्त का बराबर संचालन होता रहता है। मानव शरीर की बनावट पर वह मुग्ध था। उसका कहना था कि "अनाड़ी, असाधु और छिछली बुद्धिवाले मनुष्य को मानव शरीर के समान सुंदर, भव्य और पेचीदा आवरण न मिलना चाहिए था। उन्हें तो पेट में भोजन को भर लेने और उसे फिर बाहर निकाल फेंकने के लिए सिर्फ एक बोरा मिल जाना चाहिए था; क्योंकि वे शरीर को महज भोजन की नली-मात्र समझते हैं। वह स्वयं निरामिषभोजी था। जानवरों को वह बहुत प्यार करता था। वह प्रायः बाज़ार में जाता और वहाँ पिंजड़ों में बंद चिड़ियों को खरीद कर तुरंत ही उन्हें मुक्त कर देता था।

लियोनार्डो ने जो अनेक अद्भुत काम किए, उनमें सब से अधिक विस्मयकारी कार्य था हवा में उड़ने का उसका प्रयत्न। इस प्रयास में वह सफल तो नहीं हुआ, लेकिन सफलता के बहुत समीप तक अवश्य पहुँच गया था। इस संबंध में उसने जो सिद्धांत निर्धारित किए अथवा उन सिद्धांतों की सत्यता को सिद्ध करने के लिए जिन-जिन प्रयोगों को करने की चेष्टा की, उनके सत्यासत्य को परखने और उसके अन्वेषणों को आगे बढ़ानेवाला, उसकी मृत्यु के बाद, दूसरा कोई न पैदा हुआ। यदि लियोनार्डो की मृत्यु के बाद उसकी जोड़ के दो-एक और लियोनार्डो पैदा हो गए होते, तो संभव है कि आधुनिक हवाई जहाज़ का आविष्कार आज से दो-तीन सौ साल पहले ही हो गया होता। यह विलक्षण और आश्चर्यजनक महापुरुष १४५२ से १५१९ ई० प० तक जीवित रहा। वह सदैव किसी प्रश्न को उठा कर प्रयोगों द्वारा उसका उत्तर प्राप्त करने की चेष्टा किया करता था। ऐसा भासित होता था कि मानो वह आगे की ओर लपक कर भविष्य को पकड़ लेने का निरंतर प्रयत्न करता रहता था।

मैंने फ्लोरेंस के इन तीन महापुरुषों के विषय में, विशेषकर लियोनार्डो के संबंध में, कुछ विस्तार के साथ लिखा है। इसका कारण यह है कि उसके प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा है। फ्लोरेंस के प्रजातंत्र का इतिहास न तो बहुत रोचक और न विशेष शिक्षाप्रद ही है। वह तो निरंकुश अत्याचारियों और दुष्ट प्रकृति के शासकों के छल-कपट का इतिहास है। लेकिन उसने जिन महापुरुषों को जन्म दिया, उनकी बदौलत उसके अनेक दोष क्षमा किए जा सकते हैं।

उसके सूदखोर महाजनों तक को हम क्षमा कर सकते हैं। आज दिन भी उस पर उसके सपूतों की छाया अंकित है। इस सुंदर नगर की सड़कों पर चलते-फिरते, अथवा उसकी युगप्राचीन पुलों के नीचे बहती हुई सुरम्य आरनो नदी को देखते समय, मनुष्य मंत्रमुग्ध-सा हो जाता है और उसकी आँखों के सामने भूतकाल सजीव होकर अपनी अपूर्व छटा दिखाने लगता है। ऐसा भासित होने लगता है कि मानो अभी-अभी दाँते पास से होकर निकल गया है, और जिस देवी बिएट्रिस को वह प्यार करता था, वह भी अपने पीछे हलकी सुगंध फैलाती हुई आगे की ओर चली जा रही है। ऐसा मालूम होता है, मानो विचार-मग्न और जीवन एवम् प्रकृति के रहस्यों के चिंतन में लीन लियोनार्डो तंग गलियों के मार्ग से तेजी के साथ आगे बढ़ता हुआ चला जा रहा है॥

इस प्रकार, पंद्रहवीं शताब्दी से इटली में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का आरंभ हुआ। वहाँ से वह धीरे-धीरे योरप के दूसरे देशों में भी फैल गया। इस युग के बड़े-बड़े कलाविदों ने चित्रपटों और प्रस्तर की मूर्त्तियों में मानो जान फूँक दी। उनकी चित्रकारी और मूर्ति-निर्माण-कला के नमूनों से योरप की चित्रशालाएँ और अजायबघर भरे पड़े हैं। सोलहवीं शताब्दी के अंत में इटली में कला-संबंधी पुनर्जागृति का ह्रास हो गया। १७ वीं शताब्दी में हालैंड ने बड़े-बड़े चित्रकारों को जन्म दिया, जिनमें रैम्ब्रांट की बहुत बड़ी ख्याति है। इन्हीं दिनों स्पेन में भी वैलास्क्वेज़-नामक एक प्रसिद्ध चित्रकार ने जन्म लिया था। लेकिन मैं अब और अधिक नामों का उल्लेख करना नहीं चाहता। उनकी संख्या बहुत अधिक है। यदि तुम्हें बड़े-बड़े चित्रकारों के प्रति श्रद्धा और अनुराग है, तो तुम चित्रशालाओं में जाकर उनकी कृतियों का निरीक्षण कर सकती हो। उनके नाम से कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। उनकी कला से और जिस सौंदर्य की उन्होंने सृष्टि की उससे हमें जीवन का एक नूतन संदेश मिलता है।

इस अवधि में, १५वीं से १७वीं शताब्दी तक, धीरे-धीरे विज्ञान की भी उन्नति होने लगी और अंत में उसने अपनी महत्ता के अनुरूप आसन पाने में सफलता प्राप्त की। इस प्रयास में उसे रोमन ईसाई संघ के घोर विरोध का सामना करना पड़ा; क्योंकि ईसाई संघ इस बात को कदापि सहन नहीं कर सकता था कि लोग मनन और अनुशीलन तथा प्रयोगों द्वारा नई-नई बातों का अन्वेषण करें। उसकी दृष्टि में तो हमारी यह पृथ्वी ही विश्व का केंद्र थी, सूर्य्य उसके चारों ओर घूमता था और तारे आकाश में अचल बिंदु के समान स्थिर थे। जो कोई इस धारणा के विरोध में बातें करता वह धर्मद्रोही घोषित कर दिया जाता और उसे इनक्वीजीशन द्वारा दंड दिलाने का प्रयत्न किया जाता था। इसके होते हुए भी कापर-निकस-नामक एक पौल ने—पौलैंड-निवासियों को पौल कहते हैं—इस विश्वास का खंडन और प्रतिवाद किया। वह खुले आम कहने लगा कि उपर्युक्त धारणा निस्सार और भ्रांतिमूलक है। उसने लोगों को अपने पक्ष की सत्यता को सिद्ध करने और उसके मत का खंडन करने के लिए ललकारा। उसने यह भी सिद्ध कर दिखाया कि पृथिवी गोल है। इस प्रकार उसने सृष्टि-संबंधी आधुनिक मत की नींव डाली। वह १४७३ ई० प० में पैदा हुआ था और १५४३ ई० प० में उसकी मृत्यु हुई थी। वह स्वयं तो अपने क्रांतिकारी एवम् धर्म्मद्रोही विचारों के लिए चर्च के

कोप-प्रहार से किसी न किसी प्रकार वच गया। लेकिन जो लोग उसके वाद हुए, उनकी वहुत वुरी गति हुई। १६०० ई० प० में एक इटैलियन, जिओर्डेना व्रूनो, चर्च द्वारा रोमनगर में जला कर मार डाला गया; क्योंकि वह इस वात का हठ करता था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमा करती है और आकाश के तारे भी सूर्य्य जैसे हैं। उसके एक समसामयिक, गैलिलियो, को भी, जिसने दुरवीन को ईजाद की थी, चर्च ने वहुत डराया-धमकाया। लेकिन वह व्रूनों की अपेक्षा अधिक दुर्वल निकला। उसने अपने सिद्धांतों को असत्य और भ्रांतिमूलक मान लेने ही में खैरियत समझी। इसलिए चर्च के सामने उसने यह स्वीकार कर लिया कि अल्पज्ञता और मूर्खता ही के कारण उससे ऐसी भूल हो गई थी; निस्संदेह पृथ्वी विश्व का केंद्र है और सूर्य्य उसकी परिक्रमा किया करता है। किंतु इतना सव करने पर भी उसे कुछ समय तक क़ैदखाने में रह कर अपनी भ्रांति के लिए प्रायश्चित्त करना पड़ा।

सोलहवीं शताब्दी के प्रमुख वैज्ञानिकों में से एक का नाम हार्वे था। उसने शरीर में रक्त-संचालन की क्रिया को पूर्ण रूप से सिद्ध कर दिया। १७ वीं शताब्दी में विज्ञान के एक दूसरे आचार्य का जन्म हुआ। उसका नाम आइज़ैक न्यूटन था। वह उत्कृष्ट कोटि का गणितज्ञ था। उसने आकर्षण के इस महान् नियम या सिद्धांत को खोज निकाला कि पदार्थ ऊपर से नीचे क्यों गिरते हैं। इस तरह मनुष्य को प्रकृति के एक और रहस्य का पता लग गया।

विज्ञान के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह स्वल्प होते हुए भी पर्य्याप्त होगा। इस युग में योरपीय वाङ्मय में भी वहुत अधिक उन्नति हुई। जो नवीन लहरें चारो ओर उमड़ पड़ी थीं, उनसे योरप की नवजात भाषाओं को वहुत अधिक उत्तेजना मिली। इन भाषाओं का चलन इसके कुछ दिनों पहले ही से शुरु हो गया था। हम देख चुके हैं कि किस तरह इसके पहले ही इटैलियन भाषा में कई महाकवियों की रचनाएं प्रकट हो चुकी थीं। इंगलैंड में भी चासर ने वहुत पहले ही प्रचलित भाषा का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया था। लेकिन लैटिन भाषा के सामने इन देशी वोलियों का वहुत कम मान था। सारे योरप में पंडित-वर्ग और धर्म्माधिकारी वोलचाल और लिखा-पढ़ी में लैटिन भाषा ही का प्रयोग करते थे। तात्कालिक देशी भाषाएँ अपढ़ों की, गंवारों की, भाषाएँ मानी थीं। उन्हें लोग 'वरनैक्यूलर' कहकर पुकारते थे, जैसे कुछ लोग आज दिन भारतीय भाषाओं को 'वरनैक्यूलर' कहते हैं। यह एक विचित्र वात है कि इन भाषाओं में रचना करना अपमानजनक समझा जाता था। लेकिन नई तरंग तथा काग़ज़ और मुद्रण-कला के आविष्कार ने इन भाषाओं के विकास में वड़ी सहायता पहुंचाई। उनके कारण इनकी दिन-पर-दिन तरक्की होती गई। सव से पहले इटैलियन भाषा आगे वढ़ी; उसका अनुसरण करती हुई फ्रेंच इंगलिश और स्पेनिश भाषाएँ भी उन्नति करने लगीं। सव से पीछे जर्मन भाषा का विकास हुआ। फ्रांस में सोलहवीं सदी के कुछ नवयुवक लेखकों ने यह संकल्प किया था कि वे लैटिन भाषा में न लिखेंगे; जो कुछ लिखेंगे, उसे अपनी ही मातृ-भाषा में लिखेंगे। उनका यह प्रण था कि व्यवहार करते-करते वे अपनी 'गंवारू वोली' को इतना अधिक सुधार-संवार लेंगे कि कुछ समय वाद वह साहित्यिक रचना के लिए उपयुक्त साधन वन जायगी।

इन्हीं नवजवान फ्रेंच साहित्य-सेवियों में जोकिम-दु-बेला नामक एक लेखक हुआ है। कुछ दिन हुए, उसके एक निबंध से उद्धृत एक अवतरण को मैं पढ़ रहा था। निबंध का शीर्षक था 'फ्रेंच भाषा के पक्ष का सोदाहरण प्रतिपादन'। जब मैंने इसे पढ़ा तब तुरंत ही मुझे यह अनुभव हुआ कि उसमें जो कुछ लिखा है वह आज दिन भारत में हम लोगों के संबंध में कितना उपयुक्त जँचता है। हमारा पक्ष तो कहीं अधिक सबल है। वर्तमान फ्रेंच एक बड़ी ही सुंदर भाषा है। उसके भांडार में अनेकानेक अपूर्व रत्न भरे पड़े हैं। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों और भाव-ध्वनियों को व्यक्त करने में पूर्ण रूप से समर्थ है। लेकिन जोकिम-दु-बेला के समय में फ्रेंच भाषा की बहुत हीन दशा थी। वह सचमुच ही एक "गंवारू भाषा" थी। लेकिन हमारी भाषाएँ—हिंदी, मराठी, गुजराती और उर्दू—तो न सिर्फ़ काफ़ी दिनों से प्रचलित हैं, बल्कि उनका बहुत-कुछ विकास भी हो चुका है। उनका वाङ्मय भी बड़ा सुंदर है; यद्यपि इन के वाङ्मयों में, योरपीय भाषाओं की तरह, विविध विषयों पर पर्याप्त ग्रंथ नहीं मिलते। द्राविड़ी भाषाएँ तो और भी अधिक प्राचीन हैं। उनमें भी दिव्य वाङ्मय हैं। इस प्रकार सब प्रकार की चेष्टाओं और भावनाओं को व्यक्त करने के लिए हमारे पास बने-बनाए साधन मौजूद हैं। ऐसी दशा में यही उचित है कि हम लोग इन्हीं भाषाओं को व्यवहार में लाने का आग्रह करें। हमें एक विदेशी भाषा के प्रयोग का अभिमान न होना चाहिए। तुम कहोगी कि मैं कितना बड़ा ढकोसलेबाज़ हूँ, क्योंकि मैं स्वयमेव वही काम कर रहा हूँ, जिससे बचने की तुम्हें सलाह दे रहा हूँ। मैं इन पत्रों को अँगरेज़ी में क्यों लिख रहा हूँ? इस प्रश्न का उठाना स्वाभाविक है; क्योंकि मुझे जो शिक्षा दी गई है, वह अत्यंत दूषित थी। मैं हृदय से चाहता हूँ कि मैं हिंदी में सुगमता के साथ लिख सकूँ; और भविष्य में मैं उचित बात ही को करने की विशेष रूप से चेष्टा करूँगा।

इस प्रकार योरप की भाषाएँ उन्नति करतीं और दिन-पर-दिन समृद्धिशालिनी और शक्ति-संपन्ना होती जाती थीं। कालांतर में, उन्होंने उस भव्य और रमणीक रूप को धारण कर लिया; जिसे हम आज दिन देखते हैं। मैं तुम्हें इस युग के अनेक प्रसिद्ध लेखकों के नामोल्लेख से तंग नहीं करूँगा; केवल कुछ के नाम यहाँ बताऊँगा। इँगलैंड में इन्हीं दिनों महाकवि शेक्सपियर हुआ, जिसकी जीवन-लीला १५६४ से १६१६ ई० प० तक रही। उसके थोड़े ही दिनों बाद सत्रहवीं शताब्दी में "पैरेडाइज़ लास्ट"-नामक महाकाव्य का रचयिता अंध कवि मिल्टन पैदा हुआ। फ्रांस में भी दार्शनिक देकार्ते और नाटककार मौलियर ने सत्रहवीं शताब्दी जन्म लिया था। मौलियर ही ने पेरिस की विशाल राज-नाट्यशाला, कामेडी फ्रांस, की संस्थापना की थी। स्पेन में शेक्सपियर का समसामयिक सर्वेंटीज़ था जिसने इसी युग में में जन्म लिया था। उसीने "डानक्यूज़े"-नामक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा।

एक और व्यक्ति के नाम का मैं यहां उल्लेख कर देना चाहता हूँ। इसका कारण यह नहीं है कि उसका अधिक महत्व है, किंतु इसलिए कि वह सुविख्यात है। वह व्यक्ति मैकेवली था। वह भी फ्लोरेंस नगर में उत्पन्न हुआ था। वह पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों का एक साधारण राजनीतिज्ञ था, लेकिन अपने प्रिंस-नामक एक ग्रंथ के कारण उसकी चर्चा चारो ओर फैल

गई। इस पुस्तक के द्वारा हमें तात्कालिक राजाओं और राजनीतिज्ञों की आंतरिक प्रवृत्तियों की एक झलक मिल जाती है। मैकेवली का कथन है कि धर्म राज-व्यवस्था का आवश्यक अंग है। यह इसलिए नहीं कि—इस बात को ज़रा ध्यान देकर सुनना आवश्यक है—वह मनुष्यों को सदाचारी बनाता है, वरन् इसलिए कि उससे प्रजा के ऊपर राज्य करने और उनको काबू में रखने में बड़ी सहायता मिलती है। वास्तव में, राजा के लिए ऐसे ही धर्म का प्रतिपालन उचित है, जिसे वह असत्य और भ्रांतिमूलक समझता हो। आगे चलकर मैकेवली कहता है, कि "राजा में एक ही समय पर नर और हिंसक जंतु—सिंह और लोमड़ी—के समान आचरण करने की क्षमता होनी चाहिए। उसके लिए अपने वचन का पालन करना न उचित है न संभव ही है, विशेष कर उस समय जब ऐसा करने से उसका अहित होता हो।......................मैं इस बात को दावे के साथ कहने का साहस रखता हूँ कि ईमानदारी से सदैव काम करना बहुत हानिकारक है; इसके विपरीत धर्मात्मा और सज्जन, दयालु और श्रद्धालु, होने का ढोंग करना कहीं अधिक लाभप्रद है। धर्मनिष्ठ होने के ढकोसले से बढ़कर हितकर और कुछ भी नहीं है।"

काफ़ी बुरी बातें क्या नहीं हैं? जो जितना ही बढ़ा-चढ़ा धूर्त होगा, वह उतना ही अच्छा और सफल राजा होगा। यदि उस युग में योरप के साधारण राजाओं तक की मनोवृत्ति इस प्रकार की थी तो यह कोई अचरज की बात नहीं है कि वहाँ पर निरंतर लड़ाई-झगड़े होते रहते थे। लेकिन इतने अधिक प्राचीन समय की बात को लेकर टीका-टिप्पणी करने की कोई जरुरत नहीं है। आज दिन भी तो साम्राज्यपंथी शक्तियां बहुत कुछ मैकेवली के प्रिंस ही के समान आचरण किया करती हैं। आज दिन सदाचार की ओट में लिप्सा, क्रूरता और निर्लज्जता का तांडव हो रहा है; सभ्यता के मुलायम दस्ताने में हिंसक जंतु का खूनी पंजा छिपा है।
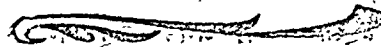
(८४)

प्रोटैस्टैंट-विद्रोह और किसानों का संघर्ष

अगस्त ८, १९३२

मैंने तुम्हें इधर कई पत्र लिखे हैं, जिनमें मैंने पंद्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक के योरप की दशा का वर्णन करने का प्रयत्न किया है। मध्यकालीन युगों के अवसान, किसानों की दयनीय दशा, मध्यम श्रेणी के अभ्युदय, अमेरिका और सुदूर पूर्व के समुद्री-मार्गों की खोज, कला की उन्नति, तथा विज्ञान और योरपीय भाषाओं के विकास का कुछ-कुछ हाल मैं तुम्हें बता चुका हूँ। लेकिन अपने चित्र की रूप-रेखा को पूरा करने के लिए अभी इस युग के संबंध में बहुत-कुछ बताना बाक़ी है। तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि प्रस्तुत पत्र ही की तरह मेरे अंतिम दो पत्र, तथा वे पत्र भी जो मैंने समुद्र-मार्गों के संबंध में लिखे थे और संभवतः एक या दो आगामी पत्र एक ही युग-विशेष से संबंधित हैं। इन पत्रों में मैंने विभिन्न आंदोलनों और कार्य-कलापों का अलग-अलग उल्लेख किया है। लेकिन वास्तव में, ये सब बातें एक ही समय में, कुछ आगे-पीछे, हुई थीं और इन सब का एक-दूसरे पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था।

सांस्कृतिक पुनर्जन्म के आरंभ के बहुत पहले ही रोमन कैथलिक चर्च में असंतोष और अशांति की लहरें उठने लगी थीं। ईसाई संघ के शासन और अत्याचार से योरप के राजा-प्रजा सब कोई व्याकुल हो उठे थे। कभी-कभी लोग उसके विरुद्ध अपने असंतोष को प्रकट भी कर देते थे। अब चर्च के उपदेशों तथा महत्ता के दावे के विरुद्ध लोगों की अश्रद्धा और अविश्वास की भावना साकार होने लगी। तुम्हें याद होगा कि किस तरह सम्राट् फ़्रैडरिक द्वितीय ने खुल कर पोप के पक्ष का खंडन किया था। जब चिढ़ कर पोप ने उसे धर्मच्युत कर दिया तब भी वह रत्ती भर विचलित न हुआ। शंका और विद्रोह के इन लक्षणों को प्रकट होते देख कर रोम (अर्थात् रोमन कैथलिक चर्च, जिसका केंद्र रोम में था) कुपित हो उठा; और उसने इस विद्रोह की लहर को समूल नष्ट कर डालने का दृढ़ संकल्प कर लिया। इसी उद्देश से 'इनक्विज़िशन'-नामक संस्था की स्थापना की गई, जिसके कारण ऐसे अनेक अभागे पुरुष, जिन पर धर्मद्रोही होने का अपराध लगाया गया था, और कई निर्दोष स्त्रियां, जो जादू-टोना करनेवाली—टोनही—कहलाती थीं, जगह-जगह पर सजीव जला कर मार डाली गईं। प्रेग या प्रागछ* का सुप्रसिद्ध जान हस इसी तरह धोखे से ज़िंदा जला दिया गया था। उसकी मृत्यु ने बोहीमिया+ के उसके अनुयायियों में, जो हसाइट कहलाते थे, विद्रोह की आग

* जेकोस्लोवाकिया की राजधानी। यहाँ पर बोहीमिया के प्राचीन राजाओं का एक क़िला है।

+ जेकोस्लोवाकिया प्रजातंत्र का पश्चिमीय भाग। मध्यकालीन युगों में वह एक स्वतंत्र राष्ट्र था। १५२६ से १९१८ ई० प० तक वह आस्ट्रिया-हंगरी का अंग था। लेकिन १९१९ में वह स्वतंत्र होकर जेकोस्लोवाकिया प्रजातंत्र का केन्द्र हो गया।

सुलगा दी। इस विद्रोहाग्नि को इनक्वीजीशन की भयंकरता भी न दबा सकी। वह दिनोदिन फैलती ही गई। इसमें भी संदेह नहीं कि चर्च के विरुद्ध जहाँ एक ओर धार्मिक और राजनीतिक कारणों से विद्रोह का भाव बढ़ रहा था वहाँ किसान भी उससे दिन-पर-दिन रुष्ट होते जाते थे; क्योंकि बड़े जमींदार के रूप में वह खेतिहरों को रात-दिन लूटा और सताया करता था। बहुत-से स्थानों में राजाओं ने भी स्वार्थ-वश इस विद्रोह के भाव को प्रोत्साहन दिया। वे चर्च की अपार संपत्ति और जायदाद को देख कर डाह से जलते रहते; और उसे हड़पने के लिए सदैव तरसा करते थे। इस सुलगती हुई अग्नि को भड़काने में बाइबिल तथा अन्य पुस्तकों के मुद्रण और प्रकाशन ने घी का काम किया।

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में जर्मनी में मार्टिन ल्यूथर-नामक एक ईसाई सुधारक का अभ्युदय हुआ, जो आगे चल कर रोमन कैथलिक चर्च के विरुद्ध विद्रोह का प्रतापी नेता हुआ। वह एक साधारण ईसाई पादरी था। एक बार उसने रोम की यात्रा की, जिसका परिणाम यह हुआ कि कैथलिक चर्च की विलासप्रियता और आचार-भ्रष्टता से उसे अत्यंत ग्लानि हो गई। उसने रोमन चर्च की पथ-भ्रष्टता और धर्म-हीनता की खुल कर निंदा करना शुरू किया। इससे सारे योरप में तहलका मच गया और चारों ओर मतभेद और विवाद की आग भभक उठी। क्रमशः यह मतभेद यहाँ तक बढ़ गया कि रोमन चर्च दो संप्रदायों में विभक्त हो गया और योरप में राजनीतिक और धार्म्मिक मामलों में मत-भिन्नता के आधार पर दो दल हो गए। इस वाद-विवाद में रूस और पूर्वीय योरप के प्राचीन आरथाडाक्स चर्च ने कोई भाग न लिया; क्योंकि उसकी दृष्टि में स्वयमेव रोमन चर्च ही सत्य सनातन धर्म से कोसों दूर था।

इस प्रकार सुप्रसिद्ध प्रोटेस्टैंट विद्रोह का श्रीगणेश हुआ। इस विद्रोह का नाम प्रोटेस्टैंट (प्रतिवादी) इसलिए पड़ा, क्योंकि उसमें रोमन चर्च के मूल सिद्धांतों और मंतव्यों का प्रतिवाद किया गया था। तब से पश्चिमीय योरप में ईसाई मत के दो प्रमुख भेद हो गए, जो रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टैंट कहलाते हैं। प्रोटेस्टैंट संप्रदाय के और भी अनेक फ़िरक़े हैं।

ईसाई चर्च के विरुद्ध विद्रोह के रूप में जो आंदोलन शुरू किया गया था, वह सुधार आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध है। मुख्यतः, यह आंदोलन चर्च की भ्रष्टता और परमज्ञानमन्यता के प्रतिवाद के रूप में उठाया गया था। इसके साथ ही साथ बहुत-से राजा भी उन पर रोब जमाने और स्वेच्छापूर्वक उनका नियंत्रण करने की पोप की चेष्टाओं का अंत कर देना चाहते थे। राजनीतिक मामलों में पोप की दस्तनदाज़ी उन्हें बहुत खलती थी। इस सुधार-आंदोलन का एक तीसरा पहलू भी था। बहुत-से ऐसे लोग भी थे, जो चर्च में रहकर उसका सुधार करना चाहते थे। उनकी यह कदापि इच्छा न थी कि वे चर्च को त्याग दें और किसी नए संप्रदाय के अनुयायी बन जाएँ।

संभवतः, तुम्हें चर्च के उन दो भिक्षु-संघों की याद होगी, जो फ्रैंसिस्कन और डोमीनिकन के नाम से प्रसिद्ध थे। सोलहवीं शताब्दी में, ठीक उन्हीं दिनों जब मार्टिन ल्यूथर की शक्ति बढ़ रही थी, योरप में एक नवीन संघ की स्थापना हुई। इसका संस्थापक एक स्पेन-निवासी था। उसका नाम इगनेशियस था। वह लायोला का रहनेवालाथा। उसने अपने संघ का नाम

'जीसस का संघ' रक्खा। इस संघ के सदस्य जैसविट कहलाते थे। मैं तुम्हें पहले ही बतला चुका हूँ कि कैसे इन्हीं जैसविटों में से कुछ चीन और पूर्वीय देशों में जा पहुँचे थे। यह संघ एक बहुत ही महत्वपूर्ण संघ था। इसका मुख्य ध्येय रोमन चर्च और पोप की आजन्म और सुचारु रूप से सेवा करने के हेतु भिक्षुओं को तैयार करना था। इस संघ में भिक्षुओं को बड़ी कठोर शिक्षा दी जाती थी। इनकी शिक्षण-प्रणाली इतनी सार्थक हुई कि उसकी बदौलत चर्च को आगे चल कर बड़े दृढ़ और सच्चे सेवक मिले। इन लोगों की चर्च के प्रति इतनी अधिक श्रद्धा और निष्ठा थी कि वे उसकी सब आज्ञाओं का आँख मूँद कर और निःशंक भाव से पालन करते थे। उन्होंने उसकी वेदी पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था। जहाँ कहीं भी चर्च को इनके बलिदान से लाभ पहुँचने की संभावना होती वहाँ वे सदैव आत्म-त्याग के लिए तैयार रहते थे। इस आत्म-बलिदान में उन्हें विशेष आनंद होता था। वास्तव में, यह कहा जाता था कि वे चर्च की सेवा में उचित-अनुचित का भी विचार नहीं करते थे। उनकी दृष्टि में चर्च की भलाई के सामने हर एक बात उचित और क्षम्य थी।

इस महत्वपूर्ण संघ ने रोमन चर्च की सब से अधिक सहायता की। इन लोगों ने न केवल उसकी कीर्ति और संदेश ही को दूर-दूर देशों तक फैलाया, किंतु योरप में ईसाई चर्च की मान-मर्यादा को बढ़ाने में भी बहुत बड़ा योग दिया। कुछ तो सुधार के आंतरिक आंदोलन के कारण और विशेष रूप से प्रोटैस्टैंट-विद्रोह के आतंक के कारण, रोमन चर्च की भ्रष्टता भी बहुत-कुछ कम हो गई। इस प्रकार, सुधार के आंदोलन ने जहाँ चर्च के दो टुकड़े कर दिए, वहाँ उसने उसको कुछ अंश तक परिमार्जित भी कर दिया।

ज्यों-ज्यों प्रोटैस्टैंट-विद्रोह फैलने लगा, त्यों-त्यों योरप के कुछ रोजे-महाराजे भी उसका साथ देने लगे। लेकिन कुछ ने इसका विरोध भी किया। परंतु राजाओं ने धार्मिक प्रेरणा के वशीभूत होकर सुधार-आंदोलन का समर्थन अथवा विरोध नहीं किया था। उनका प्रेरक भाव अधिकांश में राजनीतिक था। इसके मूल में थी स्वार्थ-सिद्धि की लिप्सा। पुनीत रोमन साम्राज्य की गद्दी पर उन दिनों हैप्सबर्ग-वंशीय चार्ल्स पंचम था। वह अपने पिता और पितामह के वैवाहिक संबंधों के कारण एक बहुत बड़े साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ था। इस साम्राज्य के अंतर्गत आस्ट्रिया, (केवल नामचार के लिए) जर्मनी, स्पेन, नैपल्स, सिसिली, नैदरलैंड्स और स्पेन-शासित अमेरिका थे। तात्कालिक योरप में विवाह-संबंध द्वारा अपने राज्य को बढ़ाने की प्रथा का बड़ा मान था। इस प्रकार किसी गुण-विशिष्ट के न होते हुए भी, चार्ल्स, योरप के आधे भू-खंड पर राज्य करता था और अल्पकाल के लिए ऐसा मालूम होने लगा था मानो वह एक महाप्रतापी पुरुष है। उसने प्रोटैस्टैंटों के विरुद्ध पोप का साथ देने का निश्चय किया। वास्तव में, सुधार आंदोलन का प्रेरक भाव साम्राज्यिक भावना के प्रतिकूल था। लेकिन जर्मनी की बहुत-सी छोटी-छोटी रियासतों ने प्रोटैस्टैंटों का पक्ष ग्रहण किया। इस प्रकार सारा जर्मनी दो दलों में विभक्त हो गया। एक दल रोमन चर्च का मददगार था, दूसरा मार्टिन ल्यूथर का समर्थन करता था। इसके कारण जर्मनी में भीषण गृह-कलह की आग धधक उठी।

इंगलैंड में बहु-विवाहित हेनरी अष्टम पोप का विरोधी हो गया। वह प्रोटेस्टेंटों के अर्थात् अपने ही पक्ष का समर्थन करने लगा। रोमन कैथलिक चर्च इंगलैंड में बहुत बड़ी जायदाद का मालिक था। हेनरी को बहुत पहले से इस जायदाद को हथियाने का लोभ सता रहा था। अतएव इंगलैंड में चर्च की जितनी मालदार जायदादें थीं, उन सब को हेनरी ने रोमन चर्च से संबंध-विच्छेद करने के बाद जब्त कर लिया। पोप से उसके वैमनस्य का एक व्यक्तिगत कारण भी था। वह अपनी पत्नी को तलाक़ देकर दूसरी स्त्री से विवाह करना चाहता था।

इन दिनों में फ्रांस की परिस्थिति बड़ी विचित्र थी। वहाँ का प्रधान मंत्री कार्डिनल रिसलो नामक सुप्रसिद्ध व्यक्ति था। वही राज्य का वास्तविक शासक था। रिसलो ने फ्रांस को पोप और रोमन चर्च के पक्ष में बनाए रखने का भरपूर प्रयत्न किया। उसने फ्रांस में प्रोटेस्टेंट-संप्रदाय के अनुयायियों को समूल नष्ट कर डाला। लेकिन बलिहारी है राजनीतिक चालों की! स्वदेश में प्रोटेस्टेंट-संप्रदाय का घोर विरोध करते हुए भी रिसलो ने जर्मनी में उसको शक्ति भर प्रोत्साहन दिया, ताकि वहां गृह-युद्ध छिड़ जाय और आपस की फूट के कारण कमजोरी बढ़ जाय। योरप के इतिहास में फ्रांस और जर्मनी का यह पारस्परिक विद्वेष सूत्रवत् पिरोया हुआ है।

ल्यूथर एक परम प्रसिद्ध प्रोटेस्टेंट था। उसने रोम की सत्ता और सत्ताधारिमन्यता का घोर विरोध किया। लेकिन इसका तुम कहीं यह अर्थ न लगा लेना कि धार्म्मिक मामलों में वह उदार था। वास्तव में वह उतना ही अनुदार और कट्टर था जितने पोप और अन्य ईसाई धर्म्माचार्य थे। अतएव, सुधार-आंदोलन के कारण योरप में धार्म्मिक स्वतंत्रता की संस्थापना नहीं हुई। इसके विपरीत उसके कारण वहाँ कट्टरपंथियों की एक नई नस्ल पैदा हो गई; जो प्यूरिटन और कैलविनिस्ट कहलाते थे। कैलविन प्रोटेस्टेंट-आंदोलन का एक उत्तरकालीन नेता था। उसमें संघटन करने की विशेष शक्ति थी। कुछ दिनों तक उसने जनीवा के नगर-राष्ट्र का नियंत्रण भी किया था। क्या तुम्हें जनीवा के उद्यान में स्थित सुधार-आंदोलन के विशाल स्मारक की याद है? वह स्थान लंबी दीवार से घिरा हुआ है और उसमें कैलविन तथा अन्य महापुरुषों की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। कैलविन इतना कट्टर था कि उसने बहुत-से आदमियों को केवल इसीलिए मरवा डाला था कि उनके विचार उसके विचारों से भिन्न थे। अथवा वे स्वतंत्र विचारक थे।

जनता ल्यूथर और प्रोटेस्टेंटों के पक्ष में थी, क्योंकि रोमन चर्च के विरुद्ध उसकी धारणा बहुत बिगड़ गई थी। जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इस युग में किसानों की दशा बहुत ही खराब हो गई थी, जिससे समय-समय पर उपद्रव का तांडव होता रहता था। जर्मनी में इन उपद्रवों ने किसानों के युद्ध का रूप धारण कर लिया। खेतिहरों ने उस अमानुषिक शासन-प्रणाली के विरुद्ध बग़ावत का झंडा उठा लिया, जिसके द्वारा वे निर्दयतापूर्वक कुचले जाते थे। उनकी माँगें बहुत ही साधारण और न्यायोचित थीं। वे अब मनसबदारी सरदारों के गुलाम रहने को तैयार नहीं थे। इसके अलावा वे मछली और जंतुओं के शिकार के अधिकार

चाहते थे। लेकिन उनकी ये माँगें भी नामंजूर कर दी गईं। जर्मनी के नरपतियों ने हर तरह की बर्बरता से उन्हें कुचलने की चेष्टा की। इस संघर्ष में महासुधारक ल्यूथर की क्या स्थिति थी? क्या उसने ग़रीब किसानों का साथ दिया और उनकी उचित माँगों का समर्थन किया? नहीं, वह ऐसा कैसे कर सकता था! किसानों की इस माँग के संबंध में कि मनसबदारी और गुलामी प्रथा का अंत हो जाय, ल्यूथर ने कहा कि "इस माँग से सब मनुष्य समान हो जाएंगे। सब का दर्जा एक-सा हो जायगा। ऐसा होने से ईसा मसीह का आध्यात्मिक साम्राज्य एक बाह्य सांसारिक साम्राज्य में परिवर्तित हो जायगा। यह असंभव है! सांसारिक साम्राज्य का अस्तित्व ही मनुष्य की असमानता पर अवलंबित है। ऊँच-नीच के बिना संसार का राज्य कभी चल ही नहीं सकता। इसलिए कुछ मनुष्यों को स्वाधीन होना चाहिए। और कुछ को गुलाम; कुछ शासक होंगे और कुछ शासित। ल्यूथर ने किसानों को जी भर कर कोसा और उनको दबाने और मार डालने के लिए लोगों को अपनी शक्ति भर उत्तेजित किया। "इसलिए जिनके बाहु में बल है, उनको चाहिए कि किसानों को मैदान में या छिपकर मार डालें और तलवार भोंक कर उन्हें नष्ट कर डालें। सदा याद रक्खो कि विद्रोही से बढ़कर अधिक जहरीला, अधिक भयानक और अधिक राक्षसी कोई दूसरा न मिलेगा। तुम्हें उसको उसी तरह से मार डालना चाहिए, जिस तरह तुम पागल कुत्ते को मार डालते हो। यदि तुम उसे न मारोगे तो वह तुम्हीं को मार कर सारे देश को नष्ट-भ्रष्ट कर डालेगा।" कैसे सुंदर शब्द हैं, विशेष रूप से एक धार्मिक नेता और सुधारक के मुँह में!

इस प्रकार, हम देखते हैं कि स्वाधीनता और स्वतंत्रता की जो कुछ चर्चा योरप में होने लगी थी, उस सब का एकमात्र उद्देश्य, यह था कि केवल बड़े-बड़े आदमी स्वाधीन और स्वतंत्र हो जाएँ। उसका यह उद्देश्य कदापि न था कि जन-साधारण अपने बंधनों से मुक्त होकर स्वाधीन हो जाएँ। प्रायः प्रत्येक युग में साधारण जनता को बहुत-कुछ जानवरों का-सा जीवन बिताना पड़ा है। ल्यूथर के कथनानुसार उसको उसी प्रकार गुजर-बसर करते रहना चाहिए; क्योंकि यही विधि का विधान है। वास्तव में, रोमन चर्च के विरुद्ध प्रोटैस्टैंट-विद्रोह के मूल में जनता की व्यापक सांपत्तिक दुर्गति थी। उसकी सांपत्तिक दुरवस्था के साथ प्रोटैस्टैंट विद्रोह बहुत-कुछ मेल खाता था, इसीलिए प्रोटैस्टैंट विद्रोहियों ने रोम के विरुद्ध जनता के असंतोष और अशांति का उपयोग किया। लेकिन जब इस बात की आशंका होने लगी कि ये मनसबदारी गुलाम बहुत आगे बढ़ जाएंगे और अपनी दासता की बेड़ियों को तोड़ कर स्वाधीन हो जाएंगे—यद्यपि यह बहुत छोटी-सी बात थी—तब प्रोटैस्टैंट-नेता भी जनता को कुचलने में राजाओं का साथ देने लगे। जनता के अभ्युदय में अभी बहुत दिन बाक़ी थे। जिस नवीन युग का उदय हो रहा था, वह मध्यम श्रेणी का युग था। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में जितने भी संग्राम हुए, उन सब का यही अवश्यंभावी परिणाम हुआ कि मध्यम श्रेणी पग-पग पर ऊपर की ओर बढ़ती गई।

जहाँ कहीं इस नवोदित मध्यम श्रेणी के लोगों का बल अधिक था, वहीं प्रोटैस्टैंट संप्रदाय का विशेष प्रचार हुआ। प्रोटैस्टैंट मत के अनेक रूप और विचित्र संप्रदाय थे। इंगलैंड में राजा

स्वयं ईसाई चर्च का प्रधानाचार्य या अधिनायक—धर्म का संरक्षक—बन बैठा। वहां व्यावहारिक सत्ता में एक स्वतंत्र संस्था के रूप में चर्च का बिलकुल अस्तित्व मिट गया। वह शासन-प्रणाली का केवल एक विभाग-मात्र हो गया। तब से "इंगलैंड का चर्च" राज्य का एक शासन-विभाग-सा बन गया है।

दूसरे देशों में, विशेष रूप से जर्मनी, स्विट्ज़रलैंड और नैदरलैंडस में, प्रोटैस्टैंटों के अन्य संप्रदायों का विशेष प्रचार हुआ। इनमें कैलविन पंथ का सब से अधिक प्रचार हुआ; क्योंकि वह मध्यम श्रेणी की वृद्धि के अनुरूप था। धार्मिक मामलों में कैलविन अत्यंत अनुदार था। उसके मत को न माननेवाले हर तरह से सताए जाते थे। उनमें से कई तो जला दिए गए। कैलविन के श्रद्धालु अनुयायियों को कठोर नियंत्रण में रहना पड़ता था, लेकिन धार्मिक मामलों में इस मत के सिद्धांत बढ़ते हुए वाणिज्य-व्यापार के सिद्धांतों के अनुकूल थे। इसके विपरीत रोमन कैथलिक चर्च के सिद्धांत वाणिज्य-व्यापार के विरोधी थे। कैलविन-पंथी व्यापार में अधिकाधिक लाभ का स्वागत करते थे और साख के आधार पर रोज़गार को प्रोत्साहन देते थे। अतएव नवोदित मध्यम श्रेणी के लोगों ने प्राचीन धर्म्म के इस नवीन रूपांतर का हृदय से स्वागत किया। वे निःशंक भाव से रुपये कमाने में जुट गए। उन्होंने मनसबदारी सरदारों का विरोध करने के लिए जन-साधारण के सहयोग का उपयोग किया। लेकिन जब उन्होंने सरदारों पर विजय प्राप्त कर ली, तब वे सामान्य जनता की उपेक्षा करने लगे। अब उन्होंने जनता ही की पीठ पर सवार होकर उसको रौंदना शुरू किया।

लेकिन इस पर भी मध्यम श्रेणी के लोगों को अनेक अड़चनों का सामना करना बाक़ी था। उनके मार्ग में अभी राजा बाधक था। राजा ने सरदारों को अपदस्थ करने में नगर-निवासियों का साथ दिया था, लेकिन सरदारों की शक्ति छिन जाने पर उसने अपनी शक्ति बहुत अधिक बढ़ा ली और ऐसा मालूम होने लगा कि देश में वही सर्वेसर्वा है।

अनुक्रमणिका

(भाग-५)

अ

आ

इ

ट

ड

त

द

ध

न

प

म

य

1809.